साङ्ख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा

प्रोफेसर आद्याप्रसाद मिश्र
एम० ए० डी० फिल्० शास्त्री
भूतपूर्व कुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय



अक्षयवट प्रकाशन
८, बाघम्बरी मार्ग—इलाहाबाद

प्रकाशक
अक्षयवट प्रकाशन
८, बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद

मूल्य—चालीस रुपये
Price—Forty Rupees

मुद्रक
शाकुन्तल मुद्रणालय
३४, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद-२११००२

समर्पणम्

शरीरतन्त्रं प्रशमाय पाप्मनां
तथात्मबोधाय विवित्सतां सताम् ।
प्रभुं प्रपद्ये कपिलं महीयसां
महत्तमं साङ्ख्यपथावतारिणम् ॥

त्वत्प्रसादात् प्रसादोऽयमाद्यापूर्वः कथञ्चन ।
प्रवेशं प्राप्तवान् साङ्ख्ये, तुभ्यं कृतिमिमां कृती ॥
निवेदयति शुद्धात्मा मिश्रोपाह्वो महात्मने ।
प्रीतये सिद्धवर्यस्य सिद्धिमिच्छन् महीयसीम् ॥

प्राक्कथन

सन् १६५१ की जनवरी में जब मेरी नियुक्ति प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई तो मैं सागर विश्वविद्यालय से कुछ कम तीन वर्षों का स्नेह-सम्बन्ध छुड़ा कर प्रयाग आ गया। आने के समय से ही स्नातकोत्तर कक्षाओं में भारतीय दर्शनों के अध्यापन का भार मुझे सौंपा गया। एम्० ए० प्रथम वर्ष के दर्शन-प्रश्नपत्र के तीन पाठ्य-ग्रन्थों में एक 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक ग्रन्थ भी था, जो आज भी पूर्ववत् ही पाठ्य-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अन्य दोनों ही ग्रन्थोंकी अपेक्षा सुकुमार-मति छात्रों के लिए कुछ अधिक प्रौढ़ एवं क्लिष्ट है। उन दिनों इसे पढ़ाते समय छात्र प्रायः कहते—"गुरु जी ! जैसी व्याख्या आप इस ग्रन्थ की करते हैं, वैसी कम से कम हिन्दी में तो नहीं ही मिलती। अच्छा होता कि अपनी व्याख्या के साथ आप इसका एक हिन्दी संस्करण प्रकाशित करते।" 'छात्रों की बात है'—इस भाव से पहले तो उनके कथन की उपेक्षा की, परन्तु जब आगे आने वाले छात्र भी अपने पूर्ववर्तियों की बात साग्रह दोहराते रहे, तब विशेषतः उनकी कठिनाइयों को दूर करने के भाव से 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' की एक हिन्दी व्याख्या लिखने का भाव मन में दृढ़ रूप से बैठ गया। व्याख्या का अधिकांश १६५५ के उत्तरार्द्ध में तथा शेष सन् ५६ के पूर्वार्ध में लिखा गया। सन् १६५६ के उत्तरार्ध में यह व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा के नाम से छपी। सन् १६६२ एवं, ६६ में उसके द्वितीय एवं तृतीय संस्करण भी निकल गए। विस्तार के भय से प्रथम संस्करण की भूमिका में सांख्य दर्शन की केवल ऐतिहासिक परम्परा और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही दी गई। द्वितीय में उसकी सैद्धांतिक परम्परा भी दी गई पर पूर्ववत् संक्षेप में ही। अतः उससे मन को संतोष नहीं हुआ। उसी समय से मन में यह बात घर कर गई कि सांख्य-जैसे पुरातन, प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण दर्शन के उभय पक्षों का, उपलब्ध सामग्री के आधार पर, एक साङ्गोपाङ्ग एवं पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अद्यावधि लिखे गए ग्रन्थ एकदेशीय एवं अत्यन्त परिमित क्षेत्र वाले हैं। अतएव तभी से उधर झुकाव हो गया और फलतः तदर्थ प्रयत्न भी होने लगा। परन्तु ज्यों-ज्यों सामग्री इकट्ठा होती गई त्यों-त्यों उसकी विपुलता के कारण यह भाव मन में निश्चय का रूप धारण करता गया कि एक ग्रन्थ इस सारी सामग्री के लिए पर्याप्त न होगा। फलतः दोनों पक्षों पर पृथक्-पृथक् दो ग्रन्थ प्रस्तुत करने का निश्चय किया। प्रस्तुत ग्रन्थ १६६४ के अन्त तक लिखा जा चुका था, जो दो वर्षों के निरन्तर प्रयास के अनन्तर अब प्रकाश में आ रहा है। द्वितीय ग्रन्थ भी अब समाप्त ही है। आशा है कि वह भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। उसमें मुख्यतः सांख्य के सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है एवं तदनुसार ही उसका नामकरण भी किया गया है— 'साङ्ख्य दर्शन की सैद्धान्तिक परम्परा'।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेच्य विषय, जैसा अभी निवेदन किया जा चुका है, सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा है। इसमें सांख्य का यावच्छक्य क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इसी से इसका नाम 'साङ्ख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा' रक्खा

गया है। ऐतिहासिक परम्परा अथवा इतिहास से हमारा प्रयोजन या तात्पर्य वस्तुत: उपलब्ध तथ्यों एवं साक्ष्यों के आधार पर सत्य अथवा वास्तविकता के यावच्छक्य अन्वेषण एवं निर्धारण से है। किसी देश, राष्ट्र या समाज के दीर्घकालीन जीवन में क्या-क्या घटनायें घटी, और क्यों अर्थात् किन शक्तियों, व्यक्तियों और परिस्थितियों के कारण घटीं, इसका अन्वेषण करना, और साथ ही यावच्छक्य इसका भी अन्वेषण करना कि वे घटनाएँ निरवधि काल के किस भाग या अंश में घटीं—वस्तुत: इसी का नाम इतिहास है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों, विचारों तथा घटनाओं का देश, काल आदि की निश्चित परिधि में अनिवार्य रूप से बाँधा या रक्खा जाना ही इतिहास नहीं है। यह भी इतिहास है। पर यही इतिहास है, ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत सत्य घटनाओं तथा परिस्थितियों के पीछे रहने वाली शक्तियों एवं विचारों, अथच अपनी शक्तियों और अपने विचारों द्वारा उन-उन घटनाओं तथा परिस्थितियों को उत्पन्न या प्रभावित करने वाले महान् पुरुषों का इतिहास ही वास्तविक इतिहास है। विश्व के चित्र-फलक पर अपनी गति-विधि तथा अपने विचारों की अमिट छाप छोड़ने वाले महापुरुषों के व्यक्तित्वों, विचारों एवं कार्यों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन ही वस्तुत: ऐतिहासिक अध्ययन है। इसी अर्थ में सांख्य दर्शन के पुरातन मनीषियों, विचारकों तथा आचार्यों के विचारों एवं कार्यों का इतिहास प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम खण्ड में उपस्थित करने का यावच्छक्य प्रयास किया गया है। उनके देश, काल इत्यादि के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय पर पहुँचने की न तो सामग्री ही मिलती है और न पूर्ण निश्चय यहाँ मिलेगा ही। 'इतिहास' शब्द को इस अर्थ में समझने वाले बहुसंख्यक आधुनिक इतिहासज्ञों की दृष्टि से हमारी आर्य-जाति के प्राण एवं आर्य संस्कृति के प्रबल पोषक कपिल, पञ्चशिख, वाल्मीकि, वसिष्ठ, व्यास आदि मनीषी प्रागैतिहासिक पुरुष ही ठहरते हैं, और कुछ तो केवल काल्पनिक ही।

पं० उदयवीर शास्त्री के 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ की भूमिका में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि "सांख्य दर्शन के मूल प्रवर्तक महर्षि कपिल के सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की प्राय: वही दशा है जो प्राचीन भारत के दूसरे मनीषियों के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में है। अर्वाचीन दृष्टि से जिसे हम इतिहास समझते हैं, और देश-काल के निश्चित चौखटे में व्यक्ति-विशेष को जकड़ कर उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध करने की जो नई परिपाटी है, उसके द्वारा महर्षि कपिल हमारे ऐतिहासिक ज्ञान से परे रह जाते हैं। इस सत्य के मानने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। लेकिन जहाँ तिथि-क्रम का अभाव हो, वहाँ विचारों के पौर्वापर्य का आधार ऐतिहासकों का एक-मात्र साधन होता है। इस दृष्टि से सांख्य शास्त्र की महती आचार्य-परम्परा में भगवान् कपिल इस शास्त्र के मूल प्रवर्तक के रूप में सबसे ऊपर स्थान रखते हैं[१]।"

किसी व्यक्ति या घटना की ऐतिहासिकता सिद्ध करने की जो नई परिपाटी है, अर्थात् उनका देश-विशेष और काल-विशेष निश्चित करने की, उससे कपिल मुनि अनैतिहासिक सिद्ध होते हैं—इस सत्य को मानने में सङ्कोच न करने का निवेदन डा० अग्रवाल ने किया

१. द्रष्टव्य उक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृष्ठ ४।

है। हमारी दृष्टि तो इस सम्बन्ध में यह है कि उपनिषद्, शास्त्र, पुराण, काव्य आदि भारतीय वाङ्मय के विविध रूपों में जिनका उल्लेख बार-बार हुआ है, जिनके विचारों तथा कार्यों की चर्चा अनेक रूपों में हुई है, जिनसे हम तथा हमारी संस्कृति अनुप्राणित एवं जीवित हैं, उनकी अनैतिहासिकता सिद्ध करने वाली दृष्टि या विचार-परिपाटी निश्चित ही सदोष है, फिर चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, सामान्य व्यक्तियों द्वारा अनुसृत एवं मान्य हो अथवा विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा। निस्सन्देह प्राचीन काल से ही इस देश के विचारकों की दृष्टि में विचारों एवं शक्तियों का ही प्राधान्य था, उनके उन विचारों एवं शक्तियों के फल-स्वरूप घटने वाली घटनाओं तथा उनकी निश्चित तिथियों और स्थानों का नहीं। महापुरुषों के व्यक्तित्वों, उनके सर्वाभिभावी विचारों और कार्यों की ही प्रधानता यहाँ सदा रही, उनके जन्म की तिथियों, और स्थानों अथवा माता-पिता आदि की नहीं। यह हमारी संस्कृति और विचार-धारा की कमी या दोष नहीं, उनका वैशिष्ट्य है। अपनी अमर कृतियों के माध्यम अथवा द्वार से हमारे प्राचीन आचार्य एवं मनीषी समय की शिला पर अपने सर्वाभिभावी व्यक्तित्वों एवं विचार-धाराओं की जो अमिट छाप छोड़ गए हैं, उन्हीं को समझने एवं हृदयङ्गम करने से अपने सांस्कृतिक या वैचारिक विकास के समस्त सोपानों, अपनी भाव-शृङ्खला की सारी कड़ियों का साक्षात्कार या प्रत्यक्ष बोध हो जाता है। किसी राष्ट्र या जाति के वास्तविक इतिहास का इसके अतिरिक्त और क्या प्रयोजन होता है अथवा हो सकता है? जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, माता-पिता एवं अन्य भौतिक तथ्यों का विवरण उसका गौण ही प्रयोजन कहा जा सकता है। अपने ऋषि-मनीषियों की इतिहास-विषयक इसी दृष्टि का यह फल है कि इस पवित्र देश की उर्वरा भूमि में आविर्भूत होकर इसके जन-जीवन को सुप्रभावित करके काल की गति-विधि पर अपना अमिट चरण-चिह्न छोड़ने वाले त्यागी, उदार महात्माओं की विचार-सरणि का प्रायेण पता होने पर भी उनके काल, स्थान, माता-पिता आदि का प्रायेण कुछ भी पता नहीं है। कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, वार्षगण्य आदि सांख्य दर्शन के महान् मनीषियों के भी विषय में न्यूनाधिक रूप से यही बात सत्य है। तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न आचार्यों का इतिहास उपस्थित करते समय यावच्छक्य इस अर्वाचीन दृष्टि की उपेक्षा नहीं की गई है।

यह प्रयास महान् है या तुच्छ, सफल है या असफल—इसका निर्णय तो विज्ञ महानुभाव सुधी जन ही करेंगे। उन्हें सन्तोष हुआ जानकर अपने को भी अवश्य ही सन्तोष का अनुभव होगा, मानव का कुछ ऐसा दुर्बल या सबल चाहे जो कहा जाय—स्वभाव ही है।

जिन प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के ग्रन्थों तथा लेखों का हमने इस ग्रन्थ के लिखने में उपयोग किया है, उनके हम हृदय से कृतज्ञ हैं। हम सबसे अधिक ऋणी योगी हरिहरानन्द आरण्यक, डा० यज्ञेश्वर घोष, डा० रिचर्ड गार्बे, डा० कीथ, महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र, तथा पण्डितप्रवर श्री उदयवीरशास्त्री के हैं जिनके निबन्धों एवं ग्रन्थों का हमने विशेष उपयोग किया है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण तथा उनके प्राचीन टीकाकार युक्तिदीपिकाकार राजा तथा तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पतिमिश्र, सांख्यसूत्र-वृत्तिकार अनिरुद्ध, तथा सांख्यसूत्र-भाष्यकार विज्ञानभिक्षु के ऋण की तो चर्चा ही क्या करें, जिनके ग्रन्थों के

अभाव में सांख्य शास्त्र का आधुनिक काल में ज्ञान असम्भव ही है। ये पाँचों तो सांख्य दर्शन के ज्ञान-महासागर की यात्रा में मार्ग-दर्शक पञ्च प्रकाश-स्तम्भ ही हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में सांख्य-ज्ञान नाम की जो कुछ भी वस्तु है, वह मुख्यतः इन्हीं महामहिम आचार्यों की है। यदि कहीं इनके विचारों से कुछ भी अन्यथा लिखा या कहा गया है, तो वह अपने को सत्य प्रतीत होने वाले विचारों में सच्ची निष्ठा के कारण, इन आचार्यों के प्रति किसी भी प्रकार के असम्मान या उपेक्षा के भाव के कारण नहीं। बहुत सम्भव है, ऐसे स्थलों में अपना प्रमाद ही हो। ऊपर नाम्ना उल्लिखित आधुनिक विचारकों में पं० उदयवीर शास्त्री का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। प्रस्तुत निबन्ध में उनके ग्रन्थ **'सांख्य दर्शन का इतिहास'** का अपेक्षाकृत अधिक उल्लेख हुआ है। इतना ही नहीं अपितु उनकी अनेक स्थापनाओं एवं मान्यताओं को हमने इस निबन्ध में न्यूनाधिक भेद से मान्यता दी है। वैसे यह बात सत्य है कि शास्त्री जी के अनेक अभिनव अनुसन्धानों के लिये, चाहे उनमें कुछ अनुसन्धान अंशतः या पूर्णतः भी किन्हीं विद्वानों को मान्य न भी हों, दार्शनिक विचारक उनके सदैव ऋणी रहेंगे।

बस इन्हीं शब्दों के साथ यह कृति वेद-गर्भ भगवान् कपिल के श्रीचरणों में समर्पित है। अपने परम-प्रिय शिष्य आसुरि तथा प्रशिष्य पञ्चशिख के साथ वे हमें अपना कृपा-पात्र बनायें ताकि हमारा वास्तविक जीवन-मार्ग प्रशस्त हो सके। बस इतनी ही अभ्यर्थना है, इतना ही निवेदन है। उनके पाद-पद्मों की अर्चा के निमित्त इन भाव-पुष्पों के अतिरिक्त मुझ अकिञ्चन के पास और है ही क्या? मैं तो उनके आविर्भावक प्रजापति कर्दम एवं देवहूति के :—

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा, सदाभिवादार्हणपादपीठम्।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोधवीर्यश्रिया पूर्तमहं प्रपद्ये॥

[श्रीमद्भागवत ३।२४।३२]

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं, प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं, वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्॥

[वही, ३।३३।८]

इन स्तुति-सुमनों को ही उनके श्रीचरणों में समर्पित करके अपने को कृतकृत्य एवं धन्य मानूँगा।

———

विषयानुक्रमणि

प्रथम अध्याय

सांख्य दर्शन एवं उसकी प्राचीनता

(१) दर्शन

भारतीय मनीषियों के लिए मानव जीवन सदा से ही एक बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु रहा है। वे इसे यों ही गँवा देने की वस्तु नहीं समझते रहे हैं। इसकी उपयोगिता एवं प्रयोजनवत्ता के सम्बन्ध में हमारे विचारशील पूर्वज सदा से ही जागरूक रहे हैं। हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, क्यों और किस लिये आए हैं, हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इत्यादि प्रश्नों के सम्बन्ध में वे सदा से विचारते रहे हैं। प्रथम प्रश्न मानव के वास्तविक स्वरूप से सम्बद्ध है, द्वितीय उस स्वरूप के मूल स्रोत या उद्गम से, तृतीय जीवन के महनीय उद्देश्य से, तथा चतुर्थ उस उद्देश्य की संसिद्धि के लिये अपेक्षित साधनों से। इस प्रकार भारतीय विचारकों का जीवन इन प्रश्नों के विविध विचारों एवं उनसे सतत प्राप्त होते रहने वाले नए-नए प्रकाश से नये मोड़ पाकर नए-नए ढंग से गतिमान् होता रहता था। जीवन की नई गति-विधि से, उसके नये आचार से जो नये अनुभव होते थे, उससे वे अपने विचारों में भी तोड़-मरोड़, परिवर्तन करते रहते थे। इस प्रकार उनके विचारों से उनके आचार तथा उनके आचार से उनके विचार सतत प्रेरणा पाते थे, प्रभावित होते थे; तथा विचार और आचार दोनों उनके जीवन को नई प्रेरणा और नया अर्थ दिया करते थे। यही दिव्य प्राचीन भारतीय जीवन था। प्राचीन काल के इस दिव्य भारतीय जीवन में विचारों की दृढ़ता तथा आचार की स्थिरता अवश्य थी, किन्तु साथ ही उसमें थी उसका सुदृढ़ परिचय देने वाली गतिमत्ता, जङ्गमशीलता तथा परिवर्तनशीलता। जीवन के विरोधी तथा मृत्यु के परिचायक भावों—बद्धता तथा अपरिवर्तनशीलता—का उसमें अभाव था। तभी वह इतना सुसमृद्ध, इतना सुसंस्कृत, इतना उन्नत था।

विचार एवं आचार की एकरूपता के लिये होने वाला यह सतत प्रयास जीवन के प्रति भारतीय मनीषियों की तात्त्विक दृष्टि की ओर सङ्केत करता है। यह दृष्टि सत्य के अनुसन्धान की थी। सत्य क्या है ?—इसे जानने के लिये प्राचीन मनीषी सदा ही उद्योगशील रहते थे। सतत चिन्तन से जो धारणायें बनतीं, जो विचार निश्चित होते, उनकी सत्यता का अनुभव या साक्षात्कार करने के लिये ही वे उसे आचार में उतारते थे, आचार के साथ उनका समन्वय करते थे। उनका यह ध्रुव विश्वास था और वह ठीक ही था कि मनुष्य जो कुछ आँखों से देखे, उसी को सत्य माने—"चक्षुर्वै सत्यम्"। चक्षुरिन्द्रिय तथा उससे होने वाला दर्शन यद्यपि मुख्यतः बाह्य वस्तुओं से ही सम्बद्ध है, तथापि लक्षणा से उद्धृत श्रुति में वह अनुभव-मात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में जिसे 'दर्शन' कहते हैं, वह जीवन की प्रयोग-शाला में अनुभव किया गया सत्य है, चाहे वह साध्य-विषयक हो और चाहे साधन-विषयक। विभिन्न समयों में विभिन्न परिस्थितियों के बीच विभिन्न मनीषियों द्वारा किए गए सत्य के अनुसन्धान एवं अनुभव यद्यपि सर्वथा अनुरूप या एक से नहीं हैं और वैयक्तिक एवं अन्य प्रकार की विषमताओं के कारण एक-से हो भी नहीं सकते थे, तथापि हैं वे सब सत्य की ही खोज के विभिन्न

प्रयोग एवं अनुभव। इसीलिए उनकी 'दर्शन' संज्ञा तथा उनके द्रष्टाओं की 'ऋषि' संज्ञा सर्वथा सार्थक है।

'दर्शन' को इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हमारा सारा का सारा आर्ष-साहित्य—वैदिक संहितायें, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—ही 'दर्शन' हो जाता है और यह ठीक ही होता है। क्योंकि जब वह 'दर्शन' है, तभी तो उसके द्रष्टा 'ऋषि'—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'—हैं, अन्यथा उनका आर्षत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समस्त वैदिक वाङ्मय का आर्षत्व सिद्ध करने के लिये उसे 'दर्शन' मानना है। इसके विपरीत इसका तात्पर्य यह है कि चूंकि सारा वैदिक वाङ्मय प्राचीन तपस्वी मनीषियों एवं चिन्तकों के द्वारा दृष्ट अर्थात् साक्षात्कृत तत्त्वों या धर्मों की अभिव्यक्ति-मात्र है, उनका दर्शन है, इसलिए वे दर्शक—साक्षात्कृतधर्मा मनीषी—'ऋषि'[1] हैं जिसके कारण समस्त वैदिक वाङ्मय आर्ष-साहित्य कहा जाता है। यह अन्य बात है कि वेदों का संहिता-साहित्य विभिन्न देवता-तत्त्वों का दर्शन है, उनकी अभिव्यक्ति और स्तुति-रूप आराधना है; उसका ब्राह्मण-साहित्य उन्हीं देवता-तत्त्वों की आराधना के एक विशिष्ट प्रकार अर्थात् यज्ञ-तत्त्व—वैदिक कर्म—का दर्शन है, आरण्यक-साहित्य उसके दूसरे विशिष्ट प्रकार अर्थात् उपासना-तत्त्व—वैदिक भक्ति—का दर्शन है तथा उपनिषत्-साहित्य मुख्यतः विभिन्न देवता-तत्त्वों में अनुस्यूत एक ही मूल तत्त्व—परमाधिदेवता, परम पुरुष या ब्रह्म—तथा उसकी आराधना के तीसरे विशिष्ट प्रकार अर्थात् ज्ञान-तत्त्व का दर्शन है। परवर्ती काल में जब 'दर्शन' शब्द से सर्व-प्रमुख आत्म-दर्शन ही ग्रहण किया जाने लगा होगा, तब धीरे-धीरे अध्यात्म-ज्ञान-प्रधान उपनिषदों तथा उनके आधार पर रचित न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा इत्यादि के सूत्रों के लिए ही विशेष रूप से उसका प्रयोग होने लगा होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण (बृहदा० ४।५) से भी इसी बात की पुष्टि होती है। इस ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्य तथा उनकी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी के बीच अमृतत्व-प्राप्ति के विषय में संवाद हुआ है। मैत्रेयी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य की एक और पत्नी कात्यायनी थी जो 'स्त्री-प्रज्ञा'—सामान्य स्त्रियों की सी बुद्धि वाली—थी। गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते हुए याज्ञवल्क्य ने एक समय में अपनी ब्रह्मवादिनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी से कहा कि "हे मैत्रेयि! मैं कात्यायनी के साथ तुम्हारा निपटारा कर देना चाहता हूँ ताकि मेरे न रहने पर तुम दोनों में कलह न हो।" मैत्रेयी ने उत्तर में कहा कि "हे भगवन्! यदि यह सारी पृथ्वी वित्त से परिपूर्ण होकर मुझे प्राप्त हो जाय तो मैं अमर हो सकूँगी या नहीं?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"नहीं! समस्त उपकरणों से युक्त जनों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा भी होगा! वित्त से अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ ही है।" तब मैत्रेयी ने कहा कि "हे भगवन्! जिस वित्त से मैं अमर न हो सकूँगी, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? जिसे अमृतत्व की प्राप्ति का साधन जानते या समझते हों, उसी का उपदेश कृपया मुझे दें।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे मैत्रेयि! ध्यान दो, मैं उपदेश दे रहा हूँ। पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, लोक, देव, वेद, प्राणी—सभी कुछ आत्मा के ही लिए, अपने ही लिए

---

१. साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। —निरुक्त में यास्काचार्य।

प्रिय होता है, पति-पुत्रादि के लिए नहीं। अतः सर्वप्रिय आत्मा का ही 'दर्शन'—अनुभव या साक्षात्कार—करना चाहिए; उसी का श्रुति-वाक्यों से 'श्रवण' तथा श्रुत्यनुकूल तर्कों या युक्तियों से 'मनन' करके अहर्निश 'निदिध्यासन' करना चाहिए। श्रवण, मनन तथा सतत निदिध्यासन से उसका दर्शन हो जाने पर, उसका विज्ञान हो जाने पर अन्य सभी कुछ दृष्ट या विज्ञात हो जाता है, सारे रहस्य का उद्घाटन हो जाता है।''

इस संवाद से स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के आविर्भाव-काल तक आते-आते आत्म-दर्शन ही मुख्यतम दर्शन हो गया था, सर्व-प्रमुख पुरुषार्थ 'अमृतत्व-प्राप्ति' का एकमात्र साधन ज्ञात होने से यह आत्म-दर्शन मानव जीवन का एकमात्र वास्तविक लक्ष्य बन गया था तथा लक्ष्य-भूत इस दर्शन का मुख्य साधन होने से उपनिषद् इत्यादि अध्यात्म-श्रुतियों का श्रवण तथा मनन एवं तदनन्तर आत्म-निदिध्यासन जीवन की वस्तुतः सार्थक चर्या। अन्य साधनों की सार्थकता आत्म-दर्शन के इन्हीं साक्षात् साधनों की प्राप्ति में सहायक होने में थी। इस प्रकार आत्म-दर्शन के स्वरूप, साधन इत्यादि के निरूपण द्वारा उसकी प्राप्ति में मुख्य साधन होने से उपनिषदों तथा उन पर आधृत अन्य अध्यात्म-विद्या-ग्रन्थों को भी 'दर्शन' संज्ञा प्राप्त हुई। ठीक ही तो हुआ, 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्' [दृश् धातु + ल्युट् प्रत्यय करणे] अर्थात् जिनके स्वाध्याय तथा तदनुसार अभ्यास या आचरण से तत्त्व का दर्शन हो, वे ही 'दर्शन' हैं। अवान्तर काल में रुचि, शक्ति, अभ्यास आदि के भेद से तत्त्व के विषय में ज्यों-ज्यों विचार-भेद होते गए, त्यों-त्यों दर्शन के भी भेद होते गए और एक समय वह आ गया जब भेद के अन्तर्गत अवान्तर भेद होने से ढेर के ढेर दर्शन-सम्प्रदाय देश में उत्पन्न हो गए। ये ही चार्वाक लोकायत, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध इत्यादि नाम से अभिहित हुए।

(२) सांख्य-दर्शन

पहले कह आये हैं कि 'सत्य' या 'परमार्थ' का दर्शन विभिन्न स्तर के अधिकारियों या साधकों द्वारा सम्पन्न होने के कारण, साथ ही विभिन्न स्तर के अधिकारियों तथा साधकों के लिए अभिप्रेत होने के कारण भी अनेक-विध हुआ। 'दर्शन' की इन्हीं अनेक विधाओं या प्रकारों में से सांख्य भी एक था जो अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष में अत्यन्त लोकप्रिय तथा प्रथित हुआ था। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने ठीक ही लिखा है कि ''भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार-पद्धति से सोचते थे। महाभारतकार ने यहाँ तक कहा है कि 'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्' (शान्ति पर्व ३०१।१०६)। वस्तुतः महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्य-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शान्ति पर्व के कई स्थलों पर पञ्चशिख और उसके शिष्य धर्मध्वज जनक के संवाद-रूप में, ब्रह्मवादिनी सुलभा और इसी जनक के संवाद-रूप में, वसिष्ठ एवं कराल जनक के संवाद-रूप में एवं याज्ञ-वल्क्य और देवराति जनक के संवाद-रूप में सांख्य दर्शन के विचारों का बड़े काव्य-मय और रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। सांख्य दर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुतः सांख्य दर्शन किसी समय अत्यन्त लोक-प्रिय हो गया था।''[1]

---

१. द्रष्टव्य पं० उदयवीर शास्त्री-कृत 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ की भूमिका, पृष्ठ १

इसकी इस लोकप्रियता के और चाहे जो भी कारण रहे हों पर एक तो यह अवश्य रहा प्रतीत होता है कि इस दर्शन ने जीवन में दिखाई पड़ने वाले वैषम्य का समाधान त्रिगुणात्मक प्रकृति की सर्व-कारण रूप में प्रतिष्ठा करके बड़े सुन्दर ढंग से किया। सांख्यों के इस प्रकृति-कारणवाद का महान् गुण यह है कि पृथक्-पृथक् धर्म वाले सत्त्व, रजस् तथा तमस् तत्त्वों के आधार पर जगत् के वैषम्य का किया गया समाधान न्याय्य, युक्त तथा बुद्धिगम्य प्रतीत होता है[1]।

'सांख्य' शब्द की निष्पत्ति 'संख्या' शब्द के आगे अण् प्रत्यय जोड़ने से होती है और 'संख्या' शब्द की व्युत्पत्ति सम् + चक्षिङ् धातु → ख्याञ् दर्शने + अङ् प्रत्यय + टाप् है, जिसके अनुसार इसका अर्थ 'सम्यक् ख्याति' अर्थात् साधु दर्शन या सत्य ज्ञान है। सांख्यों की यह सम्यक् ख्याति, उनका यह सत्य ज्ञान व्यक्ताव्यक्त रूप द्विविध अचित् तत्त्व से पुरुष रूप चित् तत्त्व को पृथक् जान लेने में निहित है। ऊपर-ऊपर से प्रपञ्च में सना हुआ दिखाई पड़ने पर भी पुरुष वस्तुतः उससे अछूता रहता है, उसमें आसक्त या लिप्त दिखाई पड़ने पर भी वस्तुतः अनासक्त या निर्लिप्त रहता है—सांख्यों की यह सबसे बड़ी दार्शनिक खोज उन्हीं के शब्दों में सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति, विवेक-ख्याति, व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञान, विवेक-ज्ञान (discriminative knowledge) आदि नामों से व्यवहृत होती है। इसी विवेक-ज्ञान से वे परम पुरुषार्थ अर्थात् मानव-जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार 'संख्या' शब्द सांख्यों की सबसे बड़ी दार्शनिक खोज का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने वाला संक्षिप्ततम नाम है जिसके सर्व-प्रथम तथा सर्व-प्रबल व्याख्याता होने से वे अत्यन्त प्राचीन काल में 'सांख्य' नाम से अभिहित हुए, और ऐसा होना सर्वथा ठीक ही था।

जैसा अभी कहा गया, सांख्यों का यह विवेक-ज्ञान प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक विवेक या पार्थक्य का ज्ञान है। इस विवेक-ज्ञान की उत्पत्ति पर ईश्वरकृष्ण की ५१वीं कारिका[2] से प्रकाश पड़ता है जिसमें उन्होंने आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। उनमें प्रथम 'अध्ययन' है जो यथाविधि गुरु-मुख से अध्यात्मविद्या—सांख्य-शास्त्र—का शब्दतः श्रवण है। द्वितीय 'शब्द' है जो उसी शब्द-पारायण का अर्थतः ज्ञान है। इस प्रकार प्रथम दोनों सिद्धियाँ पारायण तथा अर्थ रूप द्विविध श्रवण ही हुईं। तृतीय 'ऊह' है जो तर्क या शास्त्रानुकूल युक्तियों द्वारा शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा है। चौथी सिद्धि 'सुहृत्प्राप्ति' अर्थात् गुरु, शिष्य तथा सहाध्यायियों (सतीर्थ्यों) के साथ संवाद है। इस प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ सिद्धियाँ द्विविध मनन ही हुईं। पाँचवीं 'दान' अर्थात् विवेक-ज्ञान की शुद्धि है जिससे अन्तिम तीन सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। ये तीनों दुःख-त्रय के विनाश रूप ही हैं और सब की फल-रूप होने से मुख्य हैं। ये दुःखों के त्रिविध होने से तीन कही गई हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं जिसे 'अपवर्ग' या 'कैवल्य' कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपवर्ग का साधन-भूत विवेक-ज्ञान सांख्य-शास्त्र के श्रवण, तथा उस श्रवण का समर्थन करने वाले अनुकूल तर्कों के द्वारा किये गये मनन से उत्पन्न होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि सांख्य-शास्त्र अपनी प्रणाली में तर्क-प्रधान है। वर्तमान समय में प्राप्त ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका, तथा सांख्य-प्रवचन-सूत्र, दोनों ही ग्रन्थों में सांख्य के दोनों मूल-भूत

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का 'प्रकृति एवं तीन गुण' नामक चतुर्थ अध्याय।

२. ऊहः, शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥—सांख्यका० ५१

तत्त्वों—प्रकृति तथा पुरुष—की सत्ता हेतुओं के आधार पर अनुमान द्वारा ही सिद्ध की गई है। पुरुष की अनेकता में भी युक्तियाँ ही दी गई हैं। 'सत्कार्यवाद' की स्थापना भी हेतुओं के ही आधार पर की गई है। इस प्रकार से शास्त्र का 'श्रवण,' जो विवेक-ज्ञान का मूलाधार है, प्रायेण तर्क-प्रधान है। 'मनन' तो अनुकूल तर्कों द्वारा शास्त्रोक्त तथ्यों तथा सिद्धान्तों का चिन्तन है ही। इस प्रकार जिस 'संख्या' या विवेक ज्ञान के कारण सांख्य दर्शन का 'सांख्य' नाम पड़ा, उसका विशेष सम्बन्ध तर्क और बुद्धि-वादिता—rationalism—से है। अवश्य ही इस बुद्धिवाद के कारण अवान्तर-काल में सांख्य दर्शन के कई सिद्धान्त वैदिक परम्परा से बहुत-कुछ पृथक् स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए जिसके कारण बादरायण वेदव्यास तथा शङ्कराचार्य जैसे महनीय आचार्यों ने इसे अवैदिक तक कह डाला। परन्तु, जैसा आगे स्पष्ट करेंगे, यह शास्त्र मूल में अवैदिक नहीं था और अपने अर्वाचीन—classical—रूप में भी वैदिक-परम्परा के सर्वथा विरुद्ध नहीं है।

गणनार्थक 'संख्या' शब्द से भी 'साङ्ख्य' शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। महाभारत में साङ्ख्य के विषय में आये हुए एक श्लोक में ये दोनों ही प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं। वह इस प्रकार है:—**संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन साङ्ख्या प्रकीर्तिताः** ॥ महाभा० १२।३११४२ ॥इसका शब्दार्थ यह है कि जो संख्या अर्थात् प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान का उपदेश करते हैं, जो प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं, तथा जो तत्त्वों की संख्या चौबीस निर्धारित करते हैं, वे साङ्ख्य कहे जाते हैं।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि ज्ञानार्थक 'संख्या' शब्द से की जाने वाली 'सांख्य' की व्युत्पत्ति ही मुख्य है, गणनार्थक 'संख्या' शब्द से की जाने वाली गौण। चूँकि सांख्य में प्रकृति एवं पुरुष के विवेक-ज्ञान से ही जीवन के परम लक्ष्म 'कैवल्य' या 'मोक्ष' की सिद्धि मानी गई है, अतः उस ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य है और इस कारण सांख्य का सारा बल उसी पर है। सांख्य (पुरुष के अतिरिक्त) चौबीस तत्त्व मानता है, यह तो एक सामान्य तथ्य या वास्तविकता का कथन-मात्र है, अतः गौण है। पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ६ पर सांख्य शास्त्र के कपिल द्वारा प्रणीत होने में भागवत ३।२५।१ पर श्रीधर स्वामी की व्याख्या को उद्धृत करते हुए इस प्रकार लिखा है:—"अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने स्पष्ट लिखा है—'तत्त्वानां संख्याता गणक: सांख्यप्रवर्तक इत्यर्थ:'। इससे यह निश्चित हो जाता है कि यही कपिल सांख्य का प्रवर्तक या प्रणेता है।" श्रीधर स्वामी के 'गणक:' शब्द पर शास्त्री जी ने नीचे दिए गए फुटनोट में इस प्रकार लिखा है:—"मध्य काल के कुछ व्याख्याकारों ने 'सांख्य' पद में 'संख्या' शब्द को गणना-परक समझ कर इस प्रकार के व्याख्यान किए हैं। वस्तुतः इसका अर्थ 'तत्त्वज्ञान' है, इसका विस्तृत विवेचन हमने 'सांख्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है।" परन्तु गहराई से विचार करने पर यह बात उतनी सामान्य या गौण नहीं है जितनी आपाततः प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल में दार्शनिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जब तत्त्वों की संख्या निश्चित नहीं हो पाई थी, तब सांख्य ने सर्वप्रथम इस दृश्यमान भौतिक जगत् की सूक्ष्म मीमांसा का प्रयास किया था जिसके फल-स्वरूप उसके मूल में वर्तमान तत्त्वों की संख्या सामान्यतः चौबीस निर्धारित की थी। इनमें भी प्रथम तत्त्व, जिसे उन्होंने 'प्रकृति' या 'प्रधान' नाम दिया, को शेष तेईस

का मूल सिद्ध किया था। उन्होंने चित् पुरुष के सान्निध्य से इसी एक तत्त्व 'प्रकृति' को क्रमशः तेईस अवान्तर तत्त्वों में परिणत होकर समस्त जड़ जगत् को उत्पन्न करती हुई माना था।

श्रीधर स्वामी जैसे महा-महिम व्याख्याकार के एतदनुसारी मत का उद्धरण तो अभी पीछे कर ही चुके हैं। स्वामी वल्लभाचार्य का भी व्याख्यान इसी विचार का पोषक प्रतीत होता है, यद्यपि यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है। उनके शब्द इस प्रकार हैं—"**तत्त्वसंख्याता तत्त्वसंख्यानकर्ता तत्त्वानां सन्दिग्धत्वात्...**"। 'सन्दिग्धत्वात्' पद के प्रयोग से वल्लभ स्वामी का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जब तत्त्वों की संख्या के विषय में लोगों में सन्देह था, उस समय उसको (मीमांसा, विश्लेषण आदि के द्वारा) निश्चय करने वाले 'सांख्य' कहलाये। वस्तुतः तत्त्वों की संख्या का निर्णय 'तत्त्व क्या है अथवा तत्त्व किसे कहना चाहिए' इस प्रश्न के समाधान पर निर्भर है और जब तक यह समाधान निश्चयात्मक रूप से प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक 'तत्त्व कितने हैं'—इस प्रश्न का समाधान प्राप्त होना असम्भव है; और 'तत्त्व क्या है'—इसी प्रश्न का उत्तर पाने के लिए सारी बौद्धिक साधना करनी पड़ती है। वस्तुतः इसी प्रश्न का समाधान पाने के प्रयास में विभिन्न दर्शनों का जन्म हुआ। इस प्रकार तत्त्व-संख्या के निर्धारण के पीछे सांख्यों की बहुत बड़ी बौद्धिक साधना छिपी हुई प्रतीत होती है। आखिर सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा दीर्घकाल तक चिन्तन और विश्लेषण किए बिना तत्त्वों की संख्या का निर्धारण कैसे सम्भव हुआ होगा? प्रो० डालमान का भी यही विचार है कि इस दर्शन का विशेष उद्देश्य विश्व की मीमांसा करके उसके तत्त्वों की संख्या निर्धारित करना तथा ब्रह्म से उसका विकास-क्रम बताना है[1]।

प्रो० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री ने 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—" 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति सामान्य ज्ञान, अथवा तत्त्व-गणना से सम्बद्ध विशिष्ट ज्ञान के वाचक 'संख्या' शब्द से बताई जाती है। परन्तु दोनों में कौन सा समीचीन है, इस बात का निर्णय करने के लिए कोई साधन नहीं है।"[2] स्पष्ट है कि शास्त्रीजी ने 'संख्या' शब्द के अन्य लोगों द्वारा लिए जाने वाले ही दोनों अर्थ इन पंक्तियों में दिए हैं। उनका स्वारस्य इन दोनों में से किसी भी अर्थ में नहीं है। इसीलिए उन्होंने एक और भी अर्थ आगे दिया है। इसका आधार उन्हें महाभारत पर्व १२ अध्याय ३०६ से और विशेषतः उसके ४२-४३ वें श्लोकों[3] में मिला है। उनके विचार से यह मत आकर्षक और सम्भव दोनों ही है। उन्हीं के शब्दों[4] में यह इस प्रकार है—

"A third susgestion however, which comes from Mahabharata (XII. ch. 306) is both interesting and plausible. It is said there that the aim of the system is to grasp the twenty-fifth principle (ie the spirit) as discriminated from the twenty-four, which are material. The discrimination does not amount to treating the material world as illusory (मिथ्या), but only to the recognition of the

---

१. द्रष्टव्य कीथ-कृत Sankhya System, पृ० ५५।

२. द्रष्टव्य एस्० सूर्य नारायण शास्त्री द्वारा अनूदित सांख्यकारिका की भूमिका, पृष्ठ ६।

३. सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम्। सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः। सांख्याःसह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वपञ्चविंशक॥

४. द्रष्टव्य, वही, पृ० ६॥

fact that that world froms no part of the true nature of the self, who is pure spirit. The Sankhya teaching seems to lead thus to discrimination of matter from spirit and the abandonment of the viles of the former. It is not unlikely that this discrimination and final abandonment (परिसंख्यान) gave its name to the system".

प्रो० शास्त्री के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे 'संख्या' शब्द का अर्थ 'प्रकृति तथा उसके विकार-भूत तेईस तत्त्वों का अपने से विवेक, भेद अथवा पार्थक्य जानकर अन्ततोगत्वा पुरुष के द्वारा उसका परित्याग, लेते हैं। 'संख्या' शब्द का जो 'विवेक-ज्ञान' अर्थ पहले कर आये हैं, उससे इस अर्थ में यह विशेषता है कि जहाँ पहले अर्थ में विवेक या भेद का ज्ञान ही प्रधान वस्तु थी और विवेक-ज्ञान के अनन्तर पुरुष द्वारा प्रकृति का परित्याग 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वेताश्वतर ४।५) के अनुसार विवेक-ज्ञान का अनिवार्य फल होने से साक्षात् कथित नहीं था, वहाँ इस अर्थ में 'परित्याग' पर ही विशेष बल दिया गया है, उसी को प्रधानता दी गई है, यद्यपि 'विवेक-ज्ञान' अर्थ को भी उसके द्वार-रूप से कहा गया है। इस प्रकार दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता, केवल गौण-मुख्य दृष्टि का भेद है। अब दोनों की गौण-मुख्य दृष्टि के औचित्य की दृष्टि से भी शास्त्री जी के अर्थ की अपेक्षा प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि साधक के लिए मुख्य साध्य तो विवेक-ज्ञान ही है, प्रकृति का परित्याग तो उसका अनिवार्य फल है, साध्य नहीं। इसके अतिरिक्त शास्त्री जी के अर्थ में एक और अपरिहार्य दोष है, वह यह कि 'परिसंख्यान' या 'संख्या' का 'परित्याग' रूप अर्थ अश्रुतपूर्व अतश्च असम्भव-प्राय है, जैसा कि डा० बार्नेट ने प्रथम संस्करण की समीक्षा —Review—करते हुए रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन के १६३१ के जरनल में लिखा था :—"The suggested etymology of the name ('parisankhyana' with the impossible meaning of abandonment) is not at all convincing." द्वितीय संस्करण की भूमिका में इसका खण्डन करने का प्रयास करते हुए प्रो० शास्त्री ने महाभारत के मूल अंश को उद्धृत करके इस प्रकार लिखा है :—"The purport of the whole passage seems to be not the enumeration of categories which 'parisankhyana' is usually taken to mean, but the knowledge of the self as other than the twenty-four tattvas and different from them in nature; that is to say, tattvas are to be known, in order that they may be excluded from the self. It is not pretended that the evidence for this is convincing or conclusive but it seems far more plausible than the suggestion of release resulting from enumeration......"

प्रो० शास्त्री द्वारा इस उद्धरण में 'परिसंख्यान' शब्द के अपने द्वारा किए 'परित्याग' अर्थ की सम्भाव्यता तथा समीचीनता प्रदर्शित करने के सम्बन्ध में कोई प्रयास नहीं किया गया है। अतः डा० बार्नेट द्वारा आरोपित दोष पूर्ववत् स्थित है। इसके स्थान में 'परिसंख्यान' के 'तत्त्वगणना' रूप दूसरे अर्थ का मोक्ष के साथ साध्य-साधन सम्बन्ध ग्रहण करके उसकी असम्भाव्यता तथा असमीचीनता प्रदर्शित करने का व्यर्थ ही प्रयास किया गया है। यह तो सर्व-सामान्य को स्पष्ट होना चाहिए कि प्रकृति से लेकर पञ्च महाभूतों तक के चौबीस तत्त्वों तथा पचीसवें 'पुरुष' तत्त्व

के जिह्वया परिगणन या जप से मोक्ष नहीं होगा। अतः एतदर्थ किया गया प्रयास उपहासास्पद ही है। अतः जैसा पूर्व में कह चुके हैं, सूक्ष्म मीमांसा द्वारा तत्त्व-परिगणन में सांख्यों की अपूर्व साधना छिपी हुई है। ऐसी मीमांसा, तथा उस मीमांसा द्वारा तत्त्वों का निर्धारण करने वाले पुरुष अवश्य ही ज्ञानी एवं मुक्तप्राय रहे होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा निश्चय होता है कि सांख्य दर्शन का 'साङ्ख्य' नाम दोनों ही प्रकारों से उसके बुद्धिवादी—तर्क प्रधान—होने का सूचक है। सांख्यों का अचित् प्रकृति तथा चित् पुरुष, दोनों ही मूल-भूत तत्त्वों को आगम या श्रुति प्रमाण से सिद्ध मानते हुए भी मुख्यतः अनुमान प्रमाण के आधार पर सिद्ध करना भी इसी बात का परिचायक है, यह इसके पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। सां० सूत्र, अ० १, सूत्र १३०-३७ में प्रकृति तथा अ० १, सूत्र १४०-४४ में पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के लिए कई हेतु दिए गए हैं। इसी प्रकार १।१४९ सूत्र में पुरुष-बहुत्व के लिए भी हेतु ही उपस्थित किए गए हैं। ईश्वरकृष्ण-कृत कारिकाओं में भी १५वीं में प्रकृति एवं १७वीं में पुरुष की सत्ता तथा १८वीं में पुरुष की अनेकता हेतुओं के ही बल पर सिद्ध की गई है। सांख्य दर्शन का प्रसिद्ध सत्कार्यवाद भी ९वीं कारिका में पाँच पृथक्-पृथक् हेतुओं के आधार पर ही सिद्ध किया गया है। प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञान भिक्षु ने भी सांख्य को आगम या श्रुति का सत् तर्कों द्वारा किया जाने वाला 'मनन' ही माना है। उन्होंने अपने सांख्यप्रवचनसूत्र-भाष्य के अवतरणिका-श्लोकों में यही बात इस प्रकार कही है :—"जो 'एकोऽद्वितीयः' इत्यादि पुरुष-विषयक वेद-वचन जीव का सारा अभिमान दूर करके उसे मुक्त कराने के लिये उस पुरुष को सर्व प्रकार के वैधर्म्य रूप भेद से रहित बताते हैं, न कि उसकी अखण्डता का प्रतिपादन करते हैं, उन्हीं वेद-वचनों के अर्थ के मनन के लिए अपेक्षित सद् युक्तियों का उपदेश करने के लिए सांख्य-कर्ता नारायणावतार भगवान् कपिल आविर्भूत हुए थे"। **"अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः"** ॥ सां० सं० १।६०॥ के भाष्य[1] में भी उन्होंने यही बात कही है। भाष्य की पंक्तियों का तात्पर्य यह है कि 'सांख्य के अनुमान-प्रधान शास्त्र होने के कारण ही प्रस्तुत सूत्र में अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल अनुमान प्रमाण द्वारा बताया गया है, न कि इसलिए कि यह मत आगम या शब्द प्रमाण की उपेक्षा करता है। यही बात छठीं सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने भी सुस्पष्ट की है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि सांख्य-शास्त्र मनन-शास्त्र है'।

(२) सांख्य शास्त्र वैदिक या अवैदिक ?

विज्ञानभिक्षु के पूर्व वचनों से यह भी स्पष्ट है कि वे सांख्य शास्त्र को वेदानुसारी मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'एकोऽद्वितीयः' इत्यादि वेद-वचनों के अर्थ का ही वह सद् युक्तियों एवं तर्कों द्वारा समर्थन करता है, उसका प्रतिपादन और विवेचन करके उसे बोधगम्य बनाता है। विज्ञान भिक्षु ने वस्तुतः लोक में प्रचलित पूर्व परम्परा का ही अनुसरण करते हुए अपना पूर्वोक्त मत प्रकट किया है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही महाभारत, गीता, रामायण, स्मृतियों तथा

---

१. प्रत्यक्षेणासिद्धानां प्रकृतिपुरुषादीनामनुमानेन प्रमाणेन बोधः पुरुषनिष्ठफलसिद्धिर्भवति...... अनुमानासिद्धमप्यागमात् सिध्यतीत्यपि बोध्यम्। अस्य शास्त्रस्यानुमानप्राधान्यात् तु केवलानुमानस्य मुख्यतयैवोपन्यासो, न त्वागमस्यानपेक्षेति। तथा च कारिका—सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥ इति। अनेन च सूत्रेणेदं मननशास्त्रमित्यवगम्यते।

पुराणों में सर्वत्र सांख्य का न केवल उच्च ज्ञान के रूप में उल्लेख भर हुआ है, अपितु उसके सिद्धान्तों का यत्र-तत्र विस्तृत विवरण भी हुआ है। श्रीमद्भागवत पुराण में सांख्य को मोक्षप्रद कहा गया है। भगवान् कपिल माता देवहूति से कहते हैं कि "माँ! जो पुरुष मुझ में चित्त लगा कर श्रद्धा-पूर्वक एक बार भी इस सांख्य ज्ञान को सुन लेता है अथवा दूसरे के प्रति कथन करता है, वह मेरे परम पद को प्राप्त हो जाता है।"[1] सांख्य-प्रकरण की समाप्ति पर भागवतकार स्वयं कहते हैं कि "जो पुरुष भगवान् में चित्त लगा कर कपिल मुनि के इस परम गुह्य आत्म-योग को सुनते और कहते हैं, वे भगवच्चरणों को प्राप्त होते हैं।"[2] महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि "लोक में जो ज्ञान सांख्य-सम्प्रदाय से प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"[3] उसी में अन्यत्र फिर कहा गया है कि "सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं है **और** योग के समान कोई बल नहीं है।"[4] महाभारत के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश श्रीमद्भगवद्गीता में भी सांख्य दर्शन के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त को बड़ी सुन्दर रीति से अपनाया गया है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति नित्य-परिणामिनी है, उसके तीनों गुण ही सदा कुछ न कुछ परिणाम, कोई न कोई कार्य उत्पन्न करते रहते हैं, पुरुष तो अकर्ता है—सांख्य का यह सिद्धान्त गीता के निष्काम कर्म-योग का आवश्यक अङ्ग बन गया है। गीताकार के "**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥**" [गीता १३।२७, २९] इत्यादि शब्दों में यह सिद्धान्त स्पष्ट देखा जा सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धान्त परवर्ती दर्शनों के सिद्धान्तों के पूरक रूप में प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दर्शन अपने मूल में वैदिक ही रहा है, अवैदिक नहीं। क्योंकि यदि सत्य इससे विपरीत होता तो निस्सन्देह वेद-प्राण इस देश में सांख्य के इतने अधिक प्रचार-प्रसार के लिये उपयुक्त क्षेत्र न मिलता। इसके अनीश्वरवाद, प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद, (प्रकृति) परिणामवाद आदि तथाकथित वेद-विरुद्ध सिद्धांतों के कारण वेद-बाह्य कहकर इसका खण्डन करने वाले वेदान्त-भाष्यकार शङ्कराचार्य को भी ब्रह्मसूत्र २।१।३ के भाष्य में लिखना ही पड़ा कि "अध्यात्मविषयक अनेक स्मृतियों के होने पर भी सांख्य-योग स्मृतियों के ही निराकरण में प्रयत्न किया गया, क्योंकि ये दोनों लोक में परम पुरुषार्थ के साधन रूप में प्रसिद्ध हैं, शिष्ट महापुरुषों द्वारा गृहीत हैं तथा '**तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः**' (श्वेता० ६।१३) इत्यादि श्रौत लिङ्गों से युक्त हैं।"[5] स्वयं भाष्यकार के अपने साक्ष्य से भी स्पष्ट है कि उनके तथा उनके पूर्ववर्ती सूत्रकार

---

१. द्रष्टव्य भागवत ३।३२।४३:—य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत्। यो वाऽभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं मम॥

२. द्रष्टव्य भागवत ३।३३।३७ :—य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम्। भगवति कृतधीः सुपर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम्॥

३. द्रष्टव्य शान्ति पर्व का मोक्षधर्म-प्रकरण, ३०१।१०९ :—...ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित्, सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥

४. द्रष्टव्य उसी का ३१६।२ :—नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं, नास्ति योगसमं बलम्।... ॥

५. सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वेता० ६।१३) इति।

के समय में भी अनेक शिष्ट पुरुष सांख्य दर्शन को वैदिक दर्शन मानते थे तथा परम-पुरुषार्थ का साधन मानकर उसका अनुसरण करते थे।

आखिर सांख्य के विषय में उस सुदूर अतीत काल में भी शिष्ट जनों की इस मान्यता का क्या कारण हो सकता है? अहैतुक अथवा अकारण तो यह मान्यता हो नहीं सकती। इसका एक कारण तो भाष्यकार शङ्कराचार्य के पीछे दिए गए उद्धरण से ही स्पष्ट है, और वह कारण यह है कि यह दर्शन श्रौत लिङ्गों से युक्त है अर्थात् **'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१३) इत्यादि श्रुति-वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस दर्शन को समस्त बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाला कहा गया है। सच तो यह है कि शंकराचार्य की दृष्टि से सांख्य का उपनिषदों से कई बातों में जो भेद दीख पड़ता है, जैसे उपनिषदों के ईश्वरवाद के विरुद्ध सांख्य निरीश्वरवादी है[१], उपनिषदों के प्रज्ञानात्मक-ब्रह्माद्वयवाद (Idealistic monism) के विपरीत सांख्य प्रकृति-पुरुष-द्वैतवादी है, उपनिषदों के विवर्तवाद (मायावाद या अजातिवाद) के विपरीत सांख्य प्रकृति-परिणामवादी है, उपनिषदों के ऐकात्म्यवाद के विपरीत सांख्य पुरुषबहुत्व-वादी है, वह सब उनकी विशेष दृष्टि के कारण। उन की दृष्टि में केवल सांख्य दर्शन का ही उपनिषदों से विरोध हो, ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत न्याय, वैशेषिक, योग, और यहाँ तक कि अपने एवं अपने परम-गुरु गौडपाद से पूर्ववर्ती वेदान्त का भी तथा-कथित औपनिषद मत के साथ स्पष्ट विरोध है। यही कारण है कि अपने वेदान्त-भाष्य में शङ्कराचार्य को औपनिषद मत का अपनी दृष्टि से उपन्यास कर चुकने के बाद उसके विरोधी इन सभी मतों के सविस्तर खण्डन का प्रयास करना पड़ा। ऐसी स्थिति में उपनिषदों के साथ सांख्य दर्शन के इस तथा-कथित विरोध की मीमांसा करने के अनन्तर ही इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। इसे अगले अध्याय में करेंगे।

पं० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री आदि कुछ आधुनिक विचारकों का मत है कि "यद्यपि सांख्य सच्चे अर्थों में बाह्यार्थवादी है, चित् पुरुष के अतिरिक्त अचित् प्रकृति को जड जगत् का कारण मानकर चलता है, और इस प्रकार विज्ञानात्मक ब्रह्माद्वयवाद से भिन्न प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद का अनुयायी है, तथापि इस मत का अन्त या पर्यवसान उस स्थिति में होता है जिसमें जड प्रकृति मुक्त पुरुष के लिए नित्य-परिणामिनी रूप से रह ही नहीं जाती। सांख्य दर्शन का इस स्थिति में पर्यवसान तो उसके विषय में इस मान्यता या कल्पना के साथ अधिक मेल में है, अधिक संगत है कि सांख्य दर्शन में भी उपनिषदों की ऐक्य-दृष्टि की ही प्रकारान्तर से खोज की जा रही थी, न कि उस दृष्टि के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह किया जा रहा था[२]।" शास्त्री

१. यह कथन निरीश्वरवादी (Classical) सांख्य को दृष्टि में रखकर किया गया है, उपनिषद्-मूलक महाभारत, भागवत आदि के सेश्वर सांख्य के विषय में नहीं। इसे द्वितीय अध्याय में स्पष्ट करेंगे।

२. द्रष्टव्य, एस्० सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा सम्पादित सांख्यकारिका की स्वलिखित भूमिका, पृष्ठ २:—

While it may be truly said that the Sankhya is undoubtedly realistic, in that it starts with the two realities–spirit and matter, yet it concludes with a state when matter, as a mutable evolvent, does not exist for the released spirit, and this conclusion would seem to accord better with the hypothesis that the vision of oneness was being sought after than that it was rebelled against.

जी ने अपना यह मत प्रो० गार्बे के उस मत के विरोध में प्रकट किया है जो प्रो० गार्बेने "सांख्य"[१] नामक अपने एक निबन्ध में प्रकट किया है। वह मत यह है कि सांख्य दर्शन उपनिषदों के प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic monism) के विरोध में, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। प्रो० शास्त्री ने प्रो० गार्बे के इस मत का जो विरोध किया, वह तो ठीक ही किया; क्योंकि जैसा प्रो० शास्त्री ने स्वयं भी लिखा[२] है, ऐसा मानना उपनिषदों की बहुविधता तथा सांख्य दर्शन के विकास के इतिहास, दोनों के ही विरुद्ध है। न तो उपनिषदों में एक मात्र प्रज्ञानाद्वैतवाद ही प्रतिपादित है जिसके विरुद्ध सांख्य दर्शन का प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद उद्भूत हुआ कहा जा सके, और न सांख्य दर्शन अपने विकास-क्रम में आदि से अन्त तक एक सा ही है जिससे उसे औपनिषद या वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध कहा जाय, क्योंकि कारिकाओं से पूर्व का सांख्य दर्शन औपनिषद मत के बहुत समान है। परन्तु प्रो० गार्बे के मत का विरोध करते हुए प्रो० शास्त्री ने जो यह कहा है कि सांख्य में भी प्रकारान्तर से उपनिषदों की ऐक्य-दृष्टि ही प्राप्त होती है, वह अनपेक्षित होने के साथ ही अयुक्त भी है। जैसा आगे सविस्तर प्रतिपादित करेंगे, भारतीय दर्शन का 'सांख्य' प्रस्थान मूलत: वैदिक होने के कारण अनेक सिद्धान्तों में उसके समान होने पर भी एक विशिष्ट प्रस्थान है। उसकी सबसे बड़ी विशिष्टता रही है उसका द्वैत-प्रतिपादन, उसका प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद तथा पुरुष-बहुत्ववाद। ऐसी स्थिति में उसके सिर पर ऐक्य मढ़कर शास्त्री जी ने उसके साथ पर्याप्त अन्याय किया है। सांख्य को वैदिक अथवा वेदविरोधी सिद्ध करने के लिए इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि इस मढ़े हुए सिद्धान्त के अतिरिक्त सांख्य के अनेक वास्तविक सिद्धान्त भी ऐसे हैं जिनके आधार पर उसका मूलतः वैदिक होना सिद्ध होता है। इस प्रकार शास्त्री जी के पूर्व उद्धृत कथन का निर्दिष्ट अंश अयुक्त एवं अनपेक्षित, दोनों ही है।

वास्तविक बात तो यह है कि यह मान्यता केवल शाङ्कर वेदान्त की है कि उपनिषदों में एक-मात्र प्रज्ञानाद्वैत-वाद प्रतिपादित है और यह प्रज्ञान-घन अद्वैत तत्व ही औपनिषद 'ब्रह्म' शब्द का वाच्यार्थ है। इसी प्रकार ब्रह्म-विवर्तवाद भी शाङ्कर तथा उनके अनुयायियों का ही है, अन्य सभी का नहीं। ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च, भास्कर इत्यादि शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भी अनेक वेदान्तियों के मत से उपनिषदों में ब्रह्म-परिणामवाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादित है। ऐसी स्थिति में सांख्यों के प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद और प्रकृति-परिणामवाद को ही उपनिषदों का विरोधी मत कहना कहाँ तक उचित है ? परिणामवादी होने के नाते तो सांख्य शंकराचार्य के वेदान्त की अपेक्षा पूर्व वेदान्तियों के मत के अधिक समीप है; क्योंकि जहाँ शंकराचार्य सृष्टि को ब्रह्म में विवर्त या मिथ्यारोप मानते हैं, वहाँ ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च आदि पूर्व वेदान्ती तथा सांख्याचार्य, दोनों ही उसे परिणाम या वास्तविक कार्य मानते हैं, भले ही एक उसे ब्रह्म का परिणाम

---

१. द्रष्टव्य Encyclopeadia of Religion and Ethics का एकादश भाग, पृष्ठ १८९।

२. द्रष्टव्य एस्० सूर्यनारायण शास्त्री की भूमिका, पृ० १:—To say that the Sankhya is a re-action against the idealistic monism of the Upanishads is to ignore both, the diversified character of the Upanishadic teaching and the history of the Sankhya doctrine itself which in its pre-classical stages seems to have had considerable affinities with Upanishadic doctrtne.

मानते हों और दूसरे प्रकृति का। शंकराचार्य के उत्तरवर्ती अनेक वेदान्तियों ने भी उनके मत के विपरीत उपनिषदों में मूलतः ब्रह्म-परिणामवाद मानते हुए रुचि-भेद से अपने-अपने भिन्न मार्ग चलाये। इसी प्रकार द्वैत-अद्वैत आदि के सम्बन्ध में भी मत-भेद है। एवं जब वेदान्त के ही विभिन्न, आचार्यों में परस्पर भेद है, तब सांख्यों को ही उनके मत-भेद के लिए वेद-विरोधी या अवैदिक कहना कहाँ तक ठीक है? सच तो यह है कि भारत का उपनिषत्-साहित्य एक नहीं अपितु अनेक तथा विभिन्न स्तर और रुचि के महर्षियों का 'दर्शन' है अतएव उसमें अनेक प्रकार से और अनेक दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा प्रकट हुई है। ऐसी स्थिति में उसमें किसी विशिष्ट वाद या मत की स्थापना देखना साम्प्रदायिक दृष्टि का परिचय देना होगा। उसकी उत्कृष्ट मौलिकता के कारण ही उसके अनेक प्रकार के भाष्य या व्याख्यान अत्यन्त प्राचीन काल से होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं। इससे उस साहित्य की उत्कृष्टता जितनी प्रकट होती है, किसी व्याख्या-विशेष की साधुता या असाधुता उतनी नहीं। और फिर यदि निस्सन्देह रूप से उपनिषदों की शंकराचार्य-कृत व्याख्या साधुतम मान भी ली जाय तो भी यह बात सब को निस्सन्देह माननी ही होगी कि उपनिषदों के मतों के व्याख्यान एवं विकास के अन्य प्रकार भी, चाहे वे समग्रता की दृष्टि से उतने संगत भले ही न लगें, सम्भव ही नहीं अपितु प्राप्त भी हैं। सांख्य भी उनमें से एक अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण प्रकार रहा होगा।

वैदिक परम्परा के साथ सांख्य के जिस विरोध की चर्चा अभी पीछे कर आये हैं, वह भी विशेष रूप से सांख्य-कारिकाओं के (Classical) सांख्य को दृष्टि में रखकर कहा गया है। पर यदि इस सांख्य की पूर्ववर्ती परम्परा अर्थात् महाभारत, गीता, और भागवत इत्यादि पुराणों में प्रतिपादित सांख्य को दृष्टि में रक्खा जाय तो वैदिक परम्परा के साथ सांख्य का तथा-कथित विरोध और भी कम होता दिखाई पड़ेगा। महाभारत के अनेक स्थलों में, विशेषतः गीता, अनुगीता तथा शान्ति पर्व के मोक्ष-धर्म प्रकरण में सांख्य के सिद्धान्तों के विवरण प्राप्त होते हैं। इन में प्रकृति के अधिष्ठाता और प्रेरक रूप में परम पुरुष की सत्ता मानी गई है। उदाहरण के लिए महाभारत के शान्ति पर्व का मोक्षधर्म-प्रकरण देखा जा सकता है। इसमें जनदेव जनक तथा आचार्य पञ्चशिख का संवाद आया है जिसमें आसुरि द्वारा अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादन की चर्चा की गई है :—"**यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते। आसुरि मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम्**" [अध्याय २१८।१४]। इसी पर्व में आगे असित-नारद-संवाद है जिसमें असित मुनि ने नारद जी के प्रति अपने उपदेश का उपसंहार इस प्रकार किया है :—"**पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते। तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्**" ॥ [२७५।३८]। इसी में युधिष्ठिर से संवाद करते हुए भीष्म पितामह जी एक स्थान पर कहते हैं :—**सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छान्ति परमां गतिम्। ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते॥ अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्। अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्**"॥ [३०१।१००,१०१] फिर इसी में आगे वसिष्ठ मुनि ने कराल जनक से संवाद करते हुए इस प्रकार है :—"**अनादि-निधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः। केवलं त्वाभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते॥ अप्रबुद्ध-मथाव्यक्तमगुणं प्राहुरीश्वरम्। निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव॥**" [३०५।२८,३२]। इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी देवराति जनक को उपदेश देते हुए कहा है—"**अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव। एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि**"॥ [३१४।१२]। व्यास-

शिष्य वैशम्पायन ने राजा जनमेजय से अपने गुरु के पूर्वोक्त वाक्यों का उद्धरण करते हुए इस प्रकार कहा है :—"**यथावृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञान चक्षुषा । परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः । महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा । तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥**" [३४०।२८,२९] । इन समस्त उद्धरणों में यद्यपि एक-सा वर्णन नहीं है, तथापि सांख्य के ईश्वर वादी होने के विषय में प्रायेण ऐकमत्य है । इस प्रकार महाभारतकार के मत से सांख्य सम्प्रदाय के ईश्वरवादी होने पर ही सांख्य दार्शनिकों के सम्बन्ध में उनका '**यथाश्रुतिनिदर्शिनः**', '**ब्राह्मणा-स्तत्त्वदर्शिनः**' [शान्ति० ३०२।२९] इत्यादि कथन भी संगत होता है अन्यथा नहीं । गीता में भी अनेकशः प्रकृति के अधिष्ठाता और प्रेरक रूप में ईश्वर का कथन हुआ है । जैसे एक स्थल पर श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! मेरी अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और इस कारण से यह सृष्टि-चक्र सदा घूमता रहता है' ।[1] भागवत के तृतीय स्कन्ध के सांख्योपदेश-परक अध्यायों में तो प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में एक परम पुरुष या ईश्वर की कल्पना को ढूंढ़ना ही नहीं है । भागवत का सांख्य तो मुख्यतः विष्णु-भक्तियोग ही है जिसका प्रतिपादन तृतीय स्कन्ध के २५ वें तथा २८ वें अध्यायों में विशेष रूप से हुआ है । ब्रह्मपुराण में चौबीस भेदों वाली प्रकृति को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति कहा है । विष्णु पुराण में भी सृष्टि के प्रकरण में काल के साथ प्रधान और पुरुष को भी भगवान् विष्णु के ही भिन्न रूप बताकर[2] आगे कहा है कि "अव्यक्त या प्रधान भगवान् विष्णु के चतुर्थ रूप 'व्यक्त'—कार्य जगत्—की योनि, उसका उपादान कारण है । यह सारा कार्य या प्रपञ्च प्रलय के होने से लेकर सृष्टि के आरम्भ तक इसी प्रधान से व्याप्त था, तद्रूप था । उस समय न दिन था, न रात थी, न आकाश था, न भूमि थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न और ही कुछ था । बस श्रोत्रादि इन्द्रियों और बुद्धि आदि का अविषय एक प्रधान ही था । सर्ग-काल उपस्थित होने पर परमेश्वर ने अपनी इच्छा से 'व्यय' प्रधान एवं 'अव्यय' पुरुष में प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित किया । इस प्रकार क्षोभित होने पर गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान जब परमेश्वर के 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् पुरुष रूप से अधिष्ठित हुआ, तब उससे महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ[3] ।"

इन सारे उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभारत एवं पुराणों से मौलिक सांख्य की परम्परा सेश्वर ही ज्ञात होती है, यद्यपि सांख्य सिद्धान्त के विपरीत इनमें प्रकृति को परमेश्वर से अभिन्न बताने के भाव से उसका अंश या रूप अथवा उससे उत्पन्न कहा गया है । इसी कारण से उनमें आये हुए सांख्य को अनेक विद्वान् विशुद्ध मौलिक सांख्य मानने से ही इनकार करते हैं । लोकमान्य

---

१. द्रष्टव्य गीता, अ० ९, श्लोक १० :—मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

२. द्रष्टव्य विष्णु पुराण, १।२।१५,१६ :—परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज । व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ॥ प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत् । पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

३. द्रष्टव्य, उसी के श्लोक १९,२१,२३,२६,३१ :—अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः । प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥ त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् । तेनाग्रे सर्वमेवासीद् व्याप्तं वै प्रलयादनु ॥ नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत् । श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥ प्रधानपुरुषौ चापि प्रापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले द्विजोत्तम ॥ गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने । गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ॥

श्री बाल गङ्गाधर तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' के 'कापिल सांख्य शास्त्र' नामक सप्तम प्रकरण के पृ० १६१ पर लिखा है कि "महाभारत में सांख्य-मत का निर्णय कई अध्यायों में किया गया है। परन्तु उसमें वेदान्त-मतों का भी मिश्रण हो गया है। इसलिए कपिल के शुद्ध सांख्य-मत को जानने के लिए दूसरे ग्रन्थों को भी देखने की आवश्यकता है। इस काम के लिए उक्त सांख्य-कारिका की अपेक्षा कोई भी अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।" आगे इसी प्रकरण के अन्त में, पृ० १७५ पर उन्होंने फिर लिखा है कि "....गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की छाप लगी हुई है।" प्रो० गार्बे भी महाभारत के सांख्य को मिश्रित, अविशुद्ध ही मानते हैं। उन्होंने अपने Sankhya Philosophy नामक ग्रन्थ के ५४-५६ पृष्ठों पर यह बात सविस्तर स्पष्ट की है। संक्षेप में उनका मत इस प्रकार रक्खा जा सकता है कि महाभारत का सांख्य वास्तविक या मौलिक सांख्य का लोक-प्रिय, अतश्च अविशुद्ध रूप है, मौलिक सांख्य स्वरूपतः इतना विशिष्ट है कि वह किसी विशिष्ट महापुरुष के ही मस्तिष्क की उपज हो सकता है। लोकमान्य जी के शब्दों से ऐसा लगता है कि वे गीता, महाभारत आदि में प्रतिपादित सांख्य में उपलब्ध अद्वैतभाव को वेदान्त के प्रभाव का फल मानते हैं। हम लोकमान्य जी की इस मान्यता से सर्वथा सहमत हैं क्योंकि विशुद्ध सांख्य आदि से अन्त तक कट्टर द्वैतवादी है और फिर यह बात कोई भी बुद्धिमान् पुरुष न मानेगा कि अपने उद्भव के समय में सांख्य जैसा कुछ भी था, वैसा ही महाभारत, भागवत आदि में भी वर्णित हुआ है एवं उसमें कुछ भी विकास या परिवर्तन नहीं हुआ है। वस्तुतः ऐसा मानना इतिहास और विकास के नियमों के प्रतिकूल होगा। इसी प्रकार गार्बे के मत के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि निस्सन्देह महाभारत जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ में सांख्य क्या, किसी भी विशिष्ट दर्शन या सम्प्रदाय का ज्यों का त्यों ग्रहण किया जाना अस्वाभाविक तथा असम्भव है, क्योंकि ऐसा करके उसे लोकप्रिय नहीं बनाया जा सकता था। परन्तु यदि लोकमान्य जी का बल 'अद्वैत' शब्द पर न होकर 'परब्रह्म' शब्द पर हो और उनका यह तात्पर्य हो कि मूलतः निरीश्वर सांख्य वेदान्त के प्रभाव से महाभारत इत्यादि में आकर सेश्वर हो गया, तो इसके विरुद्ध इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इस बात में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत इस बात के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हैं कि महाभारत और भागवत इत्यादि में प्राप्त होने वाला सांख्य-सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है और उनके समय तक उसमें कोई आमूल-चूड़ परिवर्तन नहीं हुआ है। अपितु अपनी पूर्व धारा को बहुत-कुछ अक्षुण्ण रखता हुआ ही वह किसी भी अन्य जीवित वस्तु की भाँति ही विकास और वृद्धि को प्राप्त हुआ है। महाभारत के शान्ति पर्व (अ० ३०१।१०८-१०६) में भीष्म पितामह का वचन है कि "सांख्यों ने सृष्टि-रचना इत्यादि के बारे में एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है, वही पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि सबमें पाया जाता है[1]।" महाभारत में अनेक स्थलों में संवादों के रूप में सांख्य का विवेचन मिलता है। ये संवाद पञ्चशिख और धर्मध्वज जनक, मैत्रावरुणि वसिष्ठ तथा कराल जनक, ऋषि याज्ञवल्क्य तथा दैवराति जनक इत्यादि के बीच हुए हैं। इन्हें सर्वत्र ही पुरातन इतिहास कहा गया है। 'पुरातन' कहने से स्पष्ट रूप से पूर्वोद्धृत वचन का ही समर्थन होता है। ये परम्परायें निराधार हैं, ऐसा कहना तो दुस्साहस-मात्र होगा।

१. यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृपशिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥ —शान्ति० ३०१।१०६

(४) सांख्य दर्शन की प्राचीनता

पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि सांख्य की परम्परा महाभारत और भागवत से अत्यन्त प्राचीन है। अब प्रश्न यह है कि सांख्य की इस प्राचीन परम्परा का उद्गम क्या है और इन्हें कहाँ से यह प्राप्त हुई ? प्रो० गार्बे का मत इसके पूर्व उद्धृत किया जा चुका है जिससे उनका यह विचार प्रकट हुआ है कि "सांख्य स्वरूपतः इतना विशिष्ट है कि वह किसी विशिष्ट महापुरुष के ही मस्तिष्क की उपज हो सकता है"। अपने Sankhya Philosophy ग्रन्थ के ५५-५६ पृष्ठों पर उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि "सांख्य महाभारत के उद्भव या कम से कम उसके वर्तमान विकसित एवं विशाल रूप ग्रहण करने के पूर्व ही आविर्भूत हुआ होगा। इसी कारण से इस जैसे महत्त्वपूर्ण दर्शन का महाभारत पर अमिट प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है।" इससे गार्बे के द्विविध विचार सामने आते हैं। एक तो यह कि सांख्य दर्शन की परम्परा महाभारत से पर्याप्त प्राचीन है, यह स्थापना इसके पूर्व की जा चुकी है। दूसरा यह कि सांख्य मूल में किसी विशिष्ट व्यक्ति के मस्तिष्क की ही उपज हो सकता है। गार्बे के शब्दों से यह बात प्रायेण स्पष्ट है कि वे सांख्य के उद्भावक मूल पुरुष के विचारों का अन्य कोई मूल या आधार नहीं मानते। डा० कीथ ने भी प्रो० गार्बे के शब्दों का यही अर्थ लिया है और ऐसा उन्होंने सम्भवतः ठीक ही किया है। इसका खण्डन करते हुए डा० कीथ ने ठीक ही लिखा है कि गार्बे के एतत्सम्बन्धी तर्कों में कोई गुरुता नहीं है, वे ठोस नहीं कहे जा सकते।[1]

प्रो० जैकोबी भी सांख्य का विकास प्राचीन उपनिषदों से नहीं मानते। उनका कथन है कि सांख्य दर्शन भौतिकवाद पर आधारित है, अतः यह उपनिषदों के विचारों से विकसित हुआ हो, ऐसा नहीं हो सकता। डा० कीथ ने इस मत को काटते हुए इस प्रकार लिखा है :— "स्पष्ट है कि सांख्य विशुद्ध अमिश्रित भौतिकवादी विचार-धारा से कदापि कथमपि विकसित हुआ नहीं माना जा सकता। इसका जन्म तथा विकास ऐसे भौतिकवाद से मानना पड़ेगा जिसका पूरक अध्यात्मवाद रहा हो। इस प्रकार फिर वही समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि भौतिक तत्त्वों के विरुद्ध पुरुषों की सत्ता स्थापित करने वाली विचार-धारा कहाँ से आई ? इसका सबसे सरल तथा सीधा उत्तर यही है कि यह विचार-धारा उपनिषदों से विकसित हुई।"[2]

डा० कीथ के ग्रन्थ से उद्धृत उपर्युक्त अंश से उनका यह मत स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वे सांख्य को गार्बे तथा जैकोबी की तरह मूलतः अवैदिक या ब्राह्मणेतर सम्प्रदाय का नहीं मानते। अन्तिम पंक्ति से यह भी स्पष्ट है कि उनके विचार से उपनिषदों से ही इसका विकास हुआ। अन्यत्र भी डा० कीथ ने इसे स्पष्ट किया है :—

"There is every evidence that the system is a natural growth from the philosophy of the Upanishads. We have seen that the Upanishads, in their later period of development beginning with Katha, show traces of the doctrines which we find in the Sankhya, such as the evolution of principles and the drawing up of classes of principles. These Upanishads, however, differ essentially from the Sankhya in the fact that they definitely accept either the doctrine of the absolute in

---

१. द्रष्टव्य कीथ का Sankhya System, पृ० ५८।

२. द्रष्टव्य कीथ का Sankhya System, पृ० २१-२२।

its pure form, as does the Katha, or the doctrine in a theistic form, as does the Shvetashvatara.[1]

डा० कीथ के उद्धरण से एक नई बात यह प्रकट होती है कि उनके मत से सांख्य के महत्, अहंकार इत्यादि विशिष्ट तत्त्व नहीं, अपितु उनके केवल पूर्व लक्षण ही, जिनसे अवान्तर काल में उन विशिष्ट तत्वों या पदार्थों की धारणा विकसित हुई, उपनिषदों में प्राप्त होते हैं; और ये पूर्व लक्षण भी सर्वाधिक प्राचीन बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में नहीं, अपितु बाद के कठ, श्वेताश्वतर आदि में ही मिलते हैं। साथ ही उनकी यह मान्यता भी स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि कठ, श्वेताश्वतर इत्यादि सेश्वर उपनिषदों से विकसित होने पर भी सांख्य दर्शन आरम्भ से ही निरीश्वर था। डा० कीथ के ये दोनों ही मत अमान्य प्रतीत होते हैं। प्रथम पर विचार अगले अध्याय में करेंगे। द्वितीय के सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना ही कहना है कि डा० कीथ का यह मत अस्वाभाविक होने के साथ ही स्वतो-विरुद्ध भी है। जब डा० कीथ यह मानते हैं कि सांख्य की विचार-धारा कठ आदि परवर्ती उपनिषदों से क्रमशः विकसित हुई, तब बिना कोई विशिष्ट कारण बताये उसे ब्रह्म या परमेश्वर की कल्पना के विषय में उन उपनिषदों से भिन्न बताना सर्वथा अस्वाभाविक है। स्वाभाविक तो यही है कि कठ, श्वेताश्वतर आदि से निकल कर विकसित होने वाला सांख्य दर्शन मूल में ईश्वरवादी ही माना जाय। स्वाभाविक होने के अतिरिक्त यह मान्यता सांख्य के पूर्व इतिहास से प्रामाणिक भी सिद्ध होती है, जैसा कि पिछले प्रतिपादन से स्पष्ट है। न केवल कठ, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों एवं भागवत, विष्णु आदि पुराणों में वर्णित सांख्य ही सेश्वर है, अपितु महाभारत में वर्णित सांख्य दर्शन भी सेश्वर ही है। यद्यपि सांख्य दर्शन के महाभारत-स्थित कई वर्णनों में से कुछ में प्रकृति के अधिष्ठाता एवं प्रेरक परम पुरुष या ईश्वर का स्पष्ट कथन या संकेत कुछ भी नहीं प्राप्त होता, तथापि अन्य वर्णनों में उसका स्पष्ट कथन होने से महाभारतीय सांख्य के सेश्वर होने में सन्देह नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि कूर्म पुराण में **"यं न पश्यन्ति योगीन्द्राः सांख्या अपि महेश्वरम्। अनादिनिधनं ब्रह्म तमेव शरणं व्रज॥"** इत्यादि श्लोक में सांख्य को निरीश्वर ही कहा गया है, एवं पराशर उपपुराण में भी **"अक्षपाद-प्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः। त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽंशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः॥ जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन। श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने, श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥"** इत्यादि श्लोकों में सांख्य को अन्य शास्त्रों के साथ कुछ अंशों में श्रुति-विरोधी तथा सेश्वर ब्रह्ममीमांसा-शास्त्र को सर्वांश में श्रुति-सम्मत कहने से सांख्य के अनीश्वर होने का आभास अथवा संकेत मिल सकता है,[2] तथापि कूर्मादि पुराणों तथा पराशर आदि समस्त उपपुराणों का समय बहुत बाद का होने के कारण ये कथन बौद्ध धर्म एवं दर्शन से प्रभावित निरीश्वर सांख्य के विषय में

१. द्रष्टव्य डा० कीथ का Sankhya system, पृ० ५६-६०।

२. 'मिल सकता है' ऐसा कथन करने का उद्देश्य इस तथ्य को प्रकट करना है कि उक्त कथन का यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं है, क्योंकि सर्वथा श्रुति-सम्मत शास्त्रों में अनीश्वरवादी जैमिनीय मीमांसा का भी तो कथन किया गया है और कुछ अंशों में श्रुति-विरोधी शास्त्रों में सेश्वर न्याय एवं योग शास्त्रों का भी कथन है। हाँ, सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु पराशर के उद्धृत वचन का उपर्युक्त ही निष्कर्ष निकालते प्रतीत होते हैं (द्रष्टव्य सांख्य-प्रवचन-भाष्य की अवतरणिका)।

किए गए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार इनसे पूर्व की गई स्थापना में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता।

यद्यपि श्रीयुत बाल गङ्गाधर तिलक का भी यही मत है कि सांख्य दर्शन मूलतः श्रुतियों से ही विकसित हुआ, जैसा कि अगले उद्धरण से स्पष्ट है, तथापि उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि तिलक जी के मत से सांख्य मूलत: ईश्वरवादी दर्शन था या निरीश्वरवादी। उनके कथन का सारांश यह है कि सम्भवतः प्राचीन वेदान्त[1] के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्य शास्त्र की उपपत्ति कर दी है। उन्होंने गीता-रहस्य के "कापिल सांख्य-शास्त्र" नामक सप्तम प्रकरण में पृ० १५६-५७ पर इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—"यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदान्त और सांख्य के जो सिद्धांत आपस में मिलते-जुलते हैं, उन्हें पहले किसने निकाला था, वेदान्तियों ने या सांख्यवादियों ने ? इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है। पहला यह कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनों की वृद्धि, दो सगे भाइयों के समान साथ ही साथ हुई हो; और उपनिषदों में जो सिद्धान्त सांख्यों के मतों के समान दीख पड़ते हैं, उन्हें उपनिषत्कारों ने स्वतन्त्र रीति से खोज निकाला हो। दूसरा यह कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्य शास्त्र से लेकर वेदान्तियों ने उन्हें वेदान्त के अनुकूल स्वरूप दे दिया हो। तीसरा यह कि कदाचित् प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही कपिलाचार्य ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्य शास्त्र की उपपत्ति कर दी हो। इन तीनों में से तीसरी बात ही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है; क्योंकि यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्य से भी अधिक प्राचीन हैं।"

जैसा अभी ऊपर कह आए हैं, तिलक जी के शब्दों से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में अपने मत के अनुसार अपेक्षित परिवर्तन करके कपिलाचार्य जी ने जिस मौलिक सांख्य दर्शन की उपपत्ति की, उसमें ईश्वर के लिए स्थान था या नहीं। हो सकता है कि यह परिवर्तन प्रकृति-पुरुष-द्वैत तक ही सीमित रहा हो अथवा यह भी हो सकता है कि श्रुति-प्रतिपादित ईश्वरवाद में भी परिवर्तन करके कपिल देव ने निरीश्वरवाद का प्रतिपादन किया हो।

तिलक जी के शब्दों से यह भी बात स्पष्ट नहीं है कि प्राचीन उपनिषदों से सांख्य शास्त्र की उपपत्ति कपिल मुनि ने कितने समय बाद की। यह काल-व्यवधान अल्प भी हो सकता है, अधिक भी। यद्यपि श्वेताश्वतर में 'सांख्य', 'कपिल' आदि नाम अवश्य आये हुए हैं, तथापि भाष्यकार शंकराचार्य, तथा उनका अनुसरण करते हुए प्रो० रानाडे, डा० कीथ इत्यादि विद्वान् इन्हें सांख्य-शास्त्र और उसके प्रवर्तक कपिल मुनि के लिए प्रयुक्त नहीं मानते। परन्तु इस सम्बन्ध में अपनी तो दृढ़ धारणा यही है कि कठ में आए हुए अव्यक्त, महत् आदि शब्द अवश्य ही सांख्य शास्त्र से सम्बद्ध हैं तथा श्वेताश्वतर के सांख्य, कपिल आदि शब्द भी 'सांख्य' दर्शन एवं उसके प्रवर्तक कपिल मुनि के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। फलतः कठ और श्वेताश्वतर इत्यादि प्राचीन उपनिषदों के पूर्व सांख्य दर्शन अवश्य ही एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित

---

१. यह शब्द तिलक जी ने उपनिषद् के लिए ही प्रयुक्त किया है, परवर्ती बादरायण-कृत वेदान्त-सूत्र आदि के लिए नहीं। आगामी उद्धरण की अन्तिम पंक्ति से यह बात स्पष्ट है।

हो चुका था । और इन उपनिषदों की शब्दावली तथा विचार, दोनों ही न्यूनाधिक रूप में सांख्य से प्रभावित हैं और बदले में दोनों ने सांख्य को भी थोड़ा-बहुत अवश्य ही प्रभावित किया होगा । इस सब पर सविस्तर विचार अगले अध्याय में होगा। परन्तु निष्कर्ष रूप में यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि चूँकि कठोपनिषद् में सांख्य के अव्यक्त, महत् इत्यादि तत्त्वों का क्रम कथित है, तथा श्वेताश्वतर में सांख्य, कपिल आदि का स्पष्ट निर्देश है, एवं चूँकि अत्यन्त प्राचीन बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में सांख्य के विचार सूत्र रूप में सूक्ष्मतया मिलते हैं, अतः कपिल मुनि तथा उनके सांख्य-शास्त्र का काल अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीन उपनिषदों के सन्धि-काल में होना चाहिए ।

प्रो० जैकोबी भी सांख्य दर्शन की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीन उपनिषदों के मध्य-काल में मानते हैं । यह काल उनके मत से महाभारत एवं बौद्ध धर्म के उद्‌भव से पूर्व का है । प्रो० जैकोबी के अनुसार बौद्धधर्म-गत बारह हेतुओं की संहिता या सन्तान सांख्य दर्शन की परिणाम-परम्परा की स्पष्ट प्रतिच्छाया है । उनका कथन है कि "महाभारत में सांख्य एवं योग के सनातन मार्ग कहे जाने से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि महाभारत, जो ई० सन् के प्रारम्भ के बाद का नहीं हो सकता, के काल में सांख्य और योग मत बहुत प्राचीन हो चुके थे, एवं बुद्ध के समय में सारा वातावरण सांख्य के विचारों से परिपूर्ण था । इस प्रकार उनसे प्रभा-वित होकर ही बुद्ध ने कारण-कार्य के विषय में वह सिद्धान्त निकाला जिससे सांख्य तथा स्वयं उनके अपने मत में भी प्रधानतया प्रतिपादित जीवन-दुःखों के उद्‌भावक हेतुओं की सन्तोषप्रद व्याख्या की जा सके" । बौद्ध धर्म को सांख्य दर्शन से परवर्ती एवं उससे प्रभावित हुआ मानने में प्रो० जैकोबी डा० गार्बे के ही समकक्ष हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में तथा सांख्य-प्रवचन-सूत्रों की स्व-सम्पादित अनिरुद्ध-वृत्ति की भूमिका में भी इस मत का सुदृढ़ शब्दों में प्रतिपादन किया है । डा० गार्बे से भी पूर्व प्रो० वेबर ने अपना यही मत प्रकट किया था, जिसके समर्थक तथ्यों के सविस्तर प्रतिपादन का प्रस्ताव करते हुए डा० गार्बे ने पूर्वोक्त भूमिका में पृ० २ पर इस प्रकार लिखा है :—

Prof. Webr, too, who regards the Sankhya philosophy as the oldest of the existing systems and Buddhism as having been orignalty only a form of the Sankhya doctrine (Hist of Indian Literature, translated by Man and Zachariae, 235seq., 165), will, I suppose, not think it superfluous to adduce further arguments for the pre-Buddhistic age of the Sankhya system and for Buddha's dependence on the same."

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेबर, गार्बे तथा जैकोबी, तीनों ही सांख्य की उत्पत्ति बौद्ध धर्म के उद्‌भव से पूर्व काल की मानते हैं । इसके पूर्व यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि प्रो० गार्बे सांख्य दर्शन को उपनिषदों के विज्ञानाद्वैतवाद के विरुद्ध उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ मानते हैं[1] । यह तो सर्व-विदित ही है कि नित्य-विज्ञानाद्वैत का सिद्धान्त सर्व-प्रथम सर्वाधिक प्राचीन

१. द्रष्टव्य, प्रो० गार्बे की अनिरुद्ध-वृत्ति की भूमिका, पृ० १६ ······there can be no doubt in my opinion that the idealistic doctrine of the Upanish-

बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों में प्रतिपादित हुआ है। इस प्रकार प्रो० गार्बे के मत से भी सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव प्राचीनतम उपनिषदों के बाद और बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व हुआ। सामान्यतः विद्वानों एवं विचारकों की ऐसी धारणा है और यह ठीक ही है कि बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व प्रायेण सभी प्राचीन उपनिषदें बन चुकी थीं। अतः सभी प्रकार से हम उसी पूर्व निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों के मध्य काल में सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव या जन्म होना चाहिए।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि प्राचीनतम एवं प्राचीन उपनिषदों का मध्य काल काल-गणना के अनुसार क्या हो सकता है? इस प्रश्न पर अनेक शताब्दियों से अनेक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विचारकों ने विचार करके अपने-अपने मत प्रकाशित किए हैं। इनमें परस्पर महान् भेद दीख पड़ता है। यहाँ उन मतों एवं उनकी स्थापनाओं में घुसना अप्रासङ्गिक न होने पर भी अनुपादेय या अनुपयोगी, अतएव निरर्थक भी है, क्योंकि इस विषय में अन्तिम निर्णय पर पहुँचना दुस्साध्य होने के साथ ही प्रभूत-स्थान-साध्य भी है और यहाँ उतना स्थान देना वस्तुतः इसे एक पृथक् एवं अप्रासङ्गिक विषय बना देने के तुल्य होगा। अतएव यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वान् अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों का समय उनकी भाषा आदि के आधार पर यास्क अथवा पाणिनि के समय के आस-पास रखते हैं, वे ठीक नहीं करते। प्राचीनतम बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों का समय इससे कहीं अधिक प्राचीन है। इनमें चित्रित तात्कालिक भारतीय समाज एवं संस्कृति तथा राज-कुलों एवं ब्राह्मण-कुलों के विषय में वर्तमान अनेक उल्लेखों के आधार पर जब कभी तत्काल-सम्बन्धी भारतीय इतिहास लिखा जायगा, तब इस रहस्य का उद्घाटन होगा। "सांख्य दर्शन का इतिहास" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक पं० उदयवीर शास्त्री महोदय ने सांख्य शास्त्र के मूल प्रवर्तक आदि-विद्वान् कपिल मुनि का काल भारतीय परम्पराओं के अनुसार महाराज सगर के काल को ही माना है और यह वर्तमान कल्प के सत्य युग का अन्तिम काल था। इस प्रकार कपिल मुनि से उद्भूत सांख्य-शास्त्र सत्य युग के अन्त का है। यह काल पं० उदयवीर जी के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों के पूर्व का है या पश्चात् का, इसका पता नहीं चलता; क्योंकि इस सम्बन्ध में उन्होंने उपनिषदों एवं उनके काल की कोई चर्चा ही नहीं की है।

---

ads regarding Brahman-Atman......is an older product of philosophical thinking than the leading ideas of the other systems. Apparently the foundation of the Sankhya philosophy is to be sought in a reaction against the propagation of the consistent idealism which began to be proclaimed with enthusiam.

द्वितीय अध्याय

"प्राचीन उपनिषदों में सांख्य के मूल तत्त्व"

(१) सांख्य के आविर्भाव-काल के विषय में जैकोबी, गार्बे तथा कीथ के मत

गत अध्याय में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सांख्य दर्शन की परम्परा भागवत, महाभारत इत्यादि से पर्याप्त प्राचीन है। उसमें यह भी कह आये हैं कि इस सांख्य का मूल अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में प्राप्त होता है एवं अनेक तत्त्वदर्शी मनीषियों तथा विचारकों के विविध अनुभवों—दर्शनों—के समुदाय-भूत इन उपनिषदों से विकसित अनेक दर्शन-शास्त्रों में सांख्य भी न केवल एक था, अपितु अत्यन्त विशिष्ट प्रकार का दर्शन-शास्त्र था। प्रस्तुत अध्याय में इसी द्वितीय कथन या मान्यता की विशेष परीक्षा एवं जाँच-पड़ताल करनी है।

गत अध्याय के अन्तिम पृष्ठों में कहा जा चुका है कि बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपलब्ध उपनिषदों में सर्वाधिक प्राचीन हैं तथा इनमें भी सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्तों का कुछ-कुछ आभास प्राप्त होता है। यह अन्य बात है कि सांख्य की परवर्ती विकसित अवस्था की विशिष्टतायें इन उपनिषदों में नहीं मिलतीं और इनके स्थान में केवल वे ही सिद्धान्त प्राप्त होते हैं जो वेदान्त और सांख्य सम्प्रदायों में आरम्भ से ही समान रहे हैं। जो लोग इस मत के पक्ष में हैं कि सांख्य वैदिक परम्परा का अनुयायी नहीं है, वह श्रुति के उपनिषद् रूप अथवा प्रकार पर आधारित नहीं है, उससे नहीं विकसित हुआ है, वे लोग इन दोनों सम्प्रदायों के समान सिद्धान्तों को, जो छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में मिलते हैं, केवल वेदान्त के ही सिद्धान्त मानने के पक्ष में हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में इन प्राचीनतम उपनिषदों में सांख्य दर्शन के सिद्धान्त सूक्ष्मतम रूप में भी नहीं मिलते। डा० कीथ का मत है कि 'उपनिषदों में सांख्य दर्शन या सम्प्रदाय का किसी प्रकार का वास्तविक साक्ष्य पाना असम्भव है। फिर भी उनमें यत्र-तत्र ऐसे बीज मिलते हैं जिनसे उन विचारों का विकास लक्षित होता है जो आगे चल कर सांख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप में रक्खे गए। किन्तु इन बिखरे हुए संकेतों में इस बात का लक्षण पाना असम्भव है कि उस समय सांख्य दर्शन के निर्माण या व्यवस्था की प्रक्रिया चल रही थी। शङ्कराचार्य के वेदान्त की भाँति अथवा बादरायण के वेदान्त की भाँति ही सांख्य भी एक ऐसा सम्प्रदाय या दर्शन है जो कि उपनिषदों से ही उद्भूत एवं विकसित हुआ है। परन्तु इन दोनों से ही यह दर्शन इस अर्थ में भिन्न है कि यह मूलतः और तत्त्वतः भी उपनिषदों की शिक्षा के बहुत आगे चला जाता है।'[1] इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट है कि डा० कीथ सांख्य दर्शन के व्यवस्थित विचारों का उपनिषदों की शिक्षा के साथ बहुत दूर का ही अन्वय या सम्बन्ध मानते हैं। यह दूरी काल की दृष्टि से अनेक शताब्दियों की है, एक-दो की नहीं। इन्हीं अनेक शताब्दियों की दीर्घकालीन लम्बी यात्रा समाप्त करने के अनन्तर ही प्राचीन उपनिषदों के विचार मौलिक एवं तात्त्विक भेद के साथ सांख्य दर्शन में स्थान पा सके।

गत अध्याय में कह आये हैं कि गार्बे एवं जैकोबी, दोनों ही सांख्य-दर्शन को बौद्ध धर्म के उद्भव से पूर्व का मानते हैं। इसके लिए गार्बे महोदय यह तर्क उपस्थित करते हैं कि बुद्ध

१. द्रष्टव्य Sankhya System, पृ० ७।

का तृष्णा, ज्ञान, संयम, सत्य आदि अत्यन्त सूक्ष्म विषयों को भी भेदों अथवा प्रकारों में बाँट करके ही समझाना संख्या या गणना के प्रति उनके मोह या पक्षपात का द्योतक है। 'सांख्य', जिसका नाम ही 'संख्या' या परिगणन की प्रवृत्ति के कारण पड़ा, में भी बिल्कुल यही विशिष्टता या विलक्षणता दीख पड़ती है। तत्त्वसमास-सूत्र जैसे अत्यन्त लघुकाय ग्रन्थ के पचीस सूत्रों में से केवल आठ में नहीं, शेष सभी में संख्या द्वारा ही तत्त्वों का उपदेश किया गया है। कारिकाओं एवं सांख्य-प्रवचन सूत्र में भी त्रिविध दुःख, चतुर्विध वैराग्य, पचास प्रकार का प्रत्यय-सर्ग या बौद्धिक सृष्टि [जिसमें पाँच प्रकार की अविद्या, अट्ठाइस प्रकार की अशक्तियाँ, नौ प्रकार की तुष्टियाँ तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ सम्मिलित हैं] तथा पञ्चविध अविद्या के अवान्तर भेदों को लेकर कुल बासठ प्रकार (अष्टविध तमस् तथा मोह, दशविध महामोह, तथा अष्टादश-विध तामिस्र एवं अन्धतामिस्र) की अविद्यायें कही गई हैं। दोनों सम्प्रदायों का इस प्रकार का संख्या-विषयक अत्यधिक साम्य तत्त्व-गणना के प्रति भारतीयों का सामान्य मोह या पक्षपात कह कर नहीं टाला जा सकता, बल्कि इसे वैदुषिक विचार की एक विशिष्ट प्रणाली या पद्धति के रूप में स्वीकार करना होगा। अब यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि दोनों में से किसने किससे यह विशिष्ट प्रणाली प्राप्त की तो उत्तर में निस्सन्देह यही कहना पड़ेगा कि बुद्ध ने कपिल से। समस्त आस्तिक दर्शनों में सांख्य का ही त्रिविध दुःख को विशेष बल देकर प्रतिपादित करना तथा उसी से सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा सांख्यकारिकाओं, दोनों का आरम्भ होना जबकि अन्य आस्तिक दर्शन-ग्रन्थ किसी न किसी मङ्गल-वाचक शब्द से आरम्भ होते हैं, तथा बुद्ध का भी अपनी अनेक उक्तियों द्वारा उसी को जीवन-सत्य के रूप में प्रतिपादित करना तथा उससे छुटकारा पाने के लिए सर्वथा प्रयत्न करने को ही वास्तविक पुरुषार्थ कहना इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि बुद्ध अपनी दुःख-धारणा में कपिल के सांख्य से ही प्रभावित थे। वैदिक यज्ञों को उनमें होने वाली हिंसा के कारण अविशुद्ध साधन तथा उनसे उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि फलों को क्षय तथा न्यूनाधिक्य दोष से युक्त बताकर सांख्याचार्यों[1] ने श्रेयः-साधन के रूप में यज्ञों का महत्त्व घटा दिया, उन्हें गौण बना दिया। बुद्ध ने वैदिक यज्ञों के विरुद्ध 'अहिंसा परमो धर्मः' का प्रबल प्रचार करके उनका महत्त्व और भी अधिक घटा दिया। सांख्याचार्यों से इस माने में बुद्ध के बहुत आगे जाने से यही बात निस्सन्देह प्रतीत होती है कि बुद्ध अपनी इस यज्ञ-विरोधी भावना में सांख्य से ही प्रभावित थे। सांख्य दर्शन का जगत् को सत्य कहना तथा बौद्ध धर्म एवं दर्शन का उसी को शून्य कहना उपर्युक्त सत्य के विरुद्ध अवश्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में ओल्डेनवर्ग का यह मत सर्वथा ठीक है कि बौद्ध धर्म अपने मूल में शून्यवादी नहीं, सद्वादी ही था। प्रो० गार्बे ने अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में तथा अनिरुद्ध-वृत्ति की अपनी भूमिका (पृ० २-१५) में भी यह सब सविस्तर प्रतिपादित किया है। प्रो० जैकोबी का मत तो इसके पूर्व प्रथम अध्याय में दे चुके हैं। वे भी सांख्य को बौद्ध धर्म से बहुत पूर्व का मानते हैं। दुःख के प्रत्यय अथवा हेतुओं को ढूँढ़ने में बुद्ध ने जो द्वादश हेतुओं की

---

१. द्रष्टव्य, आचार्य पञ्चशिख का प्रसिद्ध सूत्र "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति।" आचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी बहुत बाद अपनी "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥" इत्यादि द्वितीय कारिका में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है।

शृङ्खला खोज निकाली, उसमें प्रो० जैकोबी को स्पष्ट सांख्य-प्रभाव दीख पड़ता है। गार्बे के मत का खण्डन करते हुए डा० कीथ ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इस प्रकार लिखा है :—"प्रो० गार्बे के इस तर्क के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि महाभारत-काल, जो कि २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० सन् के बीच माना जा सकता है, तक सांख्य दर्शन अपने पूर्ण एवं विकसित रूप में स्थित हो चुका था, इस तथ्य या सत्य को सिद्ध करने के लिए कोई भी सही या वास्तविक प्रमाण नहीं मिलता; क्योंकि जैसा पहले देखा जा चुका है, सांख्य के बौद्ध धर्म के पूर्ववर्ती सिद्ध होने के जो भी प्रमाण या साक्ष्य प्राप्त होते हैं, वे प्रतीति-जनक या निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते। इसके अतिरिक्त इस धारणा के लिए भी वस्तुतः कोई पर्याप्त आधार नहीं मिलता कि सांख्य दर्शन किसी विशिष्ट मस्तिष्क की मौलिक एवं साहसपूर्ण उपज है। इसके विपरीत सूक्ष्म पर्यालोचन से यह बात देखी जा सकती है कि सांख्य दर्शन औपनिषद ब्रह्मवाद में व्यक्त हुए सिद्धान्तों का बहुत कुछ अनुपपन्न या अयुक्त समाहार अथवा व्यवस्थीकरण मात्र है। इसके अतिरिक्त औपनिषद दर्शन से सांख्य दर्शन के द्रुत विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध क्रमिक विकास का सिद्धान्त माना जाना चाहिए, जो कि प्रथम की अपेक्षा कहीं अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस दर्शन के तत्त्वों को परवर्ती कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में देखा जा सकता है, जिनमें सांख्य-दर्शन के ढंग का तत्वों के विकास-सिद्धान्त के पूर्व रूप या लक्षण स्पष्ट प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी बात यह है कि यदि पूर्ण व्यवस्थित सांख्य दर्शन महाभारत के पूर्व वर्तमान था, जैसा कि माना जाता है, तो सचमुच यह बड़ी विलक्षण बात लगती है कि उसमें पञ्च तन्मात्रों के सिद्धान्त की, जिसका सांख्य दर्शन में स्पष्ट प्रतिपादन है और जो उस दर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है, सर्वथा उपेक्षा ही कर दी जाय, उसकी चर्चा तक न की जाय।"

डा० कीथ के इन दोनों ही उद्धरणों से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि उनके मत से सांख्य 'दर्शन' या 'शास्त्र' के रूप में बहुत बाद का है, अर्थात् २०० ई० से भी बाद का है, भले ही उसके पूर्व लक्षण परवर्ती कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रो० कीथ स्वमतानसार ई० चतुर्थ शताब्दी में होने वाले ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिकाओं के classical सांख्य को ही व्यवस्थित सांख्य अर्थात् सांख्य 'दर्शन' मानते हैं।

(२) डा० कीथ के मत की पर्यालोचना

प्रो० कीथ के ये विचार कई कारणों से युक्त अथवा संगत नहीं जान पड़ते। सर्व प्रथम तो उनका यही विचार असंगत लगता है कि महाभारत का समय २०० ई० पूर्वसे लेकर २०० ई० तक के मध्य हो सकता है। महाभारत के काल का इस स्थल में निर्धारण तो विषयान्तर होगा परन्तु कीथ महोदय के विचार के विरुद्ध इतना अवश्य कहना है कि जिस महाभारत के लेखक का उल्लेख[1] अन्यान्य आचार्यों के साथ पञ्चम शताब्दी ई० पू०[2] के आश्वलायन-गृह्यसूत्र में आया है, तथा जिस महाभारत के ययाति-उपाख्यान का एक श्लोक तथा उसके गीता-अंश का **"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥"**

---

१. द्रष्टव्य आश्वलायन-गृह्यसूत्र ३।३ :—सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः॥

२. प्रायः सभी पौर्वात्य विद्वानों के साथ पाश्चात्य विद्वानों का भी मत है कि आश्वलायन-गृह्यसूत्र का समय ई० पू० पञ्चम शताब्दी से बाद का नहीं होगा।

इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक पञ्चम शताब्दी ई० पू० के ही आस-पास के बौधायन-गृह्यसूत्र में उद्धृत हुआ है, वह २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक के बीच का कैसे कहा जा सकता है? विद्वानों की यह मान्यता अब निश्चित हो चली है कि सम्पूर्ण महाभारत, जो आज एक लाख श्लोकों का मिलता है और जिसे पाँचवीं-छठीं ई० शताब्दी के लेखों में 'शतसाहस्री संहिता'[1] कह कर उद्धृत किया गया है, एक साथ अथवा एक ही बार में नहीं लिखा गया है। इसका क्रमिक विकास हुआ है और इस क्रमिक विकास के तीन निश्चित सोपान हैं: पहला वह जब यह विशुद्ध इतिहास-ग्रन्थ था और 'जय'[2] नाम से प्रसिद्ध था; दूसरा वह जब इसे वेदव्यास जी के शिष्य वैशम्पायन ने उनसे पढ़ कर जनमेजय को पढ़ाया; तब इसमें आज के अनेक आख्यान तथा उपाख्यान नहीं जुड़े थे और यह **'चतुर्विंशति-साहस्री संहिता'** ही था तथा 'भारत' नाम से प्रसिद्ध था;[3] तीसरा वह जब यह अनेक आख्यानों तथा उपाख्यानों के योग से विपुल आकार धारण करके लक्ष-श्लोकात्मक धर्म-संहिता बन गया और 'महाभारत' नाम से आज तक उसी रूप में उपलब्ध है। अठारह अध्यायों में उपलब्ध गीता इसी तृतीय सोपान अर्थात् महाभारत में आकर सम्पूर्ण हुई होगी। प्रथम अध्याय में उद्धृत सांख्य-प्रतिपादक अनेक संवादात्मक आख्यान भी इसी विस्तृत महाभारत के अंश हैं। इसी महाभारत के कर्ता आचार्य का उल्लेख धर्माचार्य के रूप में पूर्वोक्त आश्वलायन-गृह्यसूत्र में हुआ है और जब यह सूत्र-ग्रन्थ पञ्चम शताब्दी ई० पू० का है तो पूर्ण विकसित महाभारत का काल उससे कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व का होगा, क्योंकि आश्वलायन-गृह्यसूत्र जैसे प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ में महाभारतकार का धर्माचार्य के रूप मे उल्लेख तथा बोधायन-गृह्यसूत्र में उसके किसी श्लोक का उद्धरण बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, जिसका होना तभी सम्भव हो सकता है जब उसके समय तक महाभारत प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्धि पा चुका हो, और इसके लिए दो सौ वर्षों से क्या कम समय चाहिए? तात्पर्य यह कि वर्तमान महाभारत भी षष्ठ शताब्दी ई० पू० से पर्याप्त पूर्व का होना चाहिए। इन तथ्यों से यह बात निश्चित एवं निस्सन्देह रूप से ज्ञात होती है कि महाभारत अपने वर्तमान रूप में भी षष्ठ शताब्दी में उद्भूत बौद्ध धर्म से पूर्व का है और उसमें उपलब्ध सांख्य दर्शन का विवरण या वर्णन भी बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पर्याप्त पूर्व का है। इस प्रकार कीथ महोदय का यह कथन कि २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच के महाभारत में व्यवस्थित सांख्य दर्शन का कोई वास्तविक प्रमाण या आधार नहीं मिलता, निराधार एवं निर्मूल है। महाभारत में व्यवस्थित सांख्य दर्शन का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता, इस कथन का इसके अतिरिक्त और क्या आधार हो सकता है कि उसमें प्राप्त होने वाले सांख्य का सूक्ष्म एवं सांगोपांग विवरण नहीं मिलता जिससे उस काल में इसके विशिष्ट शास्त्र रूप में स्थित होने का पता चले। पर इस निषेधात्मक आधार पर ऐसा कथन करना सर्वथा अनुचित एवं अयुक्त है, क्योंकि महाभारत जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ में, जो कि जनसाधारण को अपेक्षाकृत सरल एवं सामान्य भाषा में सुगम-सुबोध एवं दर्शन आदि का ज्ञान देने के उद्देश्य से लिखा गया हो, किसी भी शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्तों

---

१. द्रष्टव्य, गुप्त-संवत् २१४ का खोह-स्थित ताम्र-लेख:—उक्तं च महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां ...वेदव्यासेन व्यासेन।

२. द्रष्टव्य, महाभारत का मङ्गल-श्लोक:—नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

३. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानं विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

के गहन एवं सांगोपांग विवेचन की आशा करना एवं उसमें उसे खोजना उस ग्रन्थ के साथ अन्याय करना है। स्वयं महाभारत के ही अनेक कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके निर्माण का उद्देश्य वेद-विद्या एवं कठिन शास्त्रों के ज्ञान से वञ्चित रहने वाले स्त्री, शूद्र आदि के लिए विशेष रूप से तथा द्विजातियों के लिए भी सामान्य रूप से धर्म एवं दर्शन आदि के ज्ञान का प्रचार करना ही था। ऐसी स्थिति में उसमें सांख्य या अन्य किसी भी विचार-धारा या सम्प्रदाय के समस्त अंगों का सूक्ष्म विवेचन न मिलने भर से ऐसी कल्पना करना कि वह सम्प्रदाय उसके समय तक विशिष्ट तन्त्र या शास्त्र के रूप में विकसित ही नहीं हुआ था, अनर्गल प्रतीत होता है।

प्रो० कीथ ने यह भी कहा है कि सांख्य के बौद्ध धर्म से पूर्व का होने में जो प्रमाण या तथ्य मिलते हैं, वे कथमपि निश्चयात्मक अथवा प्रतीतिजनक नहीं हैं। इस कथन का जो कारण उन्होंने दिया है, उसका सारांश यह है कि सांख्य दर्शन और बौद्ध धर्म में कोई वास्तविक साम्य या सादृश्य नहीं है। जो कुछ साम्य आपाततः प्रतीत भी होता है, वह अनेक सिद्धान्तों में दोनों सम्प्रदायों के बहुत भिन्न या विषम होने के कारण कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। जैसे सांख्य नित्यात्मवाद तथा यथार्थवाद का प्रबल पोषक है, परन्तु इसके विपरीत बौद्ध धर्म नैरात्म्यवाद तथा अवस्तुवाद आदि का पोषक है। सांख्य शास्त्र की परिणाम-परम्परा के साथ भी बौद्ध धर्म के द्वादश प्रत्ययों अथवा हेतुओं के सन्तान का विशेष मेल नहीं मिलता। अतः सांख्य से बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धान्त प्रभावित तथा विकसित नहीं कहे जा सकते। प्रो० कीथ के इन तर्कों का उत्तर एक प्रकार से प्रो० गार्बे के पूर्वोद्धृत उन तर्कों से प्राप्त हो जाता है, जो उन्होंने बौद्ध धर्म पर सांख्य दर्शन का ऋण सिद्ध करने के लिए दिये हैं। वहाँ उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अपने आरम्भ-काल में बौद्ध धर्म न तो नैरात्म्यवादी ही था और न अवस्तुवादी ही। अर्थात् आन्तरिक एवं बाह्य, उभय जगत् की वास्तविक अवस्तुता या शून्यता का सिद्धान्त परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय में विकसित हुआ, भगवान् बुद्ध के शब्दों से कहीं भी इसका आभास नहीं मिलता। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के प्रो० ओल्डेनबर्ग द्वारा दिए गए विवरण को प्रो० गार्बे ने अपने कथन में प्रमाण बताया है। सांख्य शास्त्र की परिणाम-परम्परा एवं बौद्ध धर्म की द्वादश-हेतु-शृङ्खला में विशेष साम्य न होने का कारण वही प्रतीत होता है जो सामान्यतः इस प्रकार के अन्य सभी स्थलों में होता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब कोई परवर्ती विचार-धारा किसी पूर्ववर्ती विचार-धारा से प्रभावित होती है, उससे कुछ ग्रहण करती है, तो गृहीत अथवा उधार ली गई वस्तु सर्वथा पूर्ववत् नहीं होती। कम से कम उसका वैसा ही होना अनिवार्य नहीं है, किसी विशेष कारण से कभी वैसी ही हो भी सकती है। सामान्यतः तो रुचि-भेद से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से गृहीत वस्तु में भेद ही देखा जाता है। ऐसी वस्तु-स्थिति में बहुत-कुछ सांख्य से गृहीत होने पर भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का सांख्य के सिद्धान्तों के सर्वथा समान होना न केवल अनिवार्य नहीं है, अपितु ऐसा होना अस्वाभाविक ही होता।

प्रो० कीथ का तीसरा कथन है कि सांख्य दर्शन किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की एक काल की उपज न होकर औपनिषद सिद्धान्तों से धीरे-धीरे कई शताब्दियों में विकसित हुआ। सांख्य का यह क्रमिक विकास परवर्ती कठ और श्वेताश्वतर इत्यादि उपनिषदों के बीच देखा जा सकता है। इनमें तत्त्वों के विकास का सिद्धान्त आगे आने वाले सांख्य के ढंग पर ही प्राप्त होता

है। परन्तु पूर्ववर्ती बृहदारण्यक और छान्दोग्य में इस शास्त्र के तत्त्वों का कोई आभास नहीं मिलता। प्रो० कीथ की इन मान्यताओं के विपरीत संक्षेप में पहले कह आये हैं कि छान्दोग्य और बृहदारण्यक में भी सांख्य दर्शन के कुछ मुख्य सिद्धान्त अपने पूर्व रूप में स्पष्ट प्राप्त होते हैं। साथ ही यह भी कह आये हैं कि कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों के समय तक सांख्य शास्त्र उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उनमें सांख्य, कपिल आदि नाम न प्राप्त होते। इस प्रकार सांख्य का निर्माण कपिल मुनि ने प्राचीनतम उपनिषदों के ही आधार पर कठ और श्वेताश्वतर के पूर्व ही किया होगा, ऐसी सम्भावना प्रतीत होती है। हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि श्वेताश्वतर के 'सांख्य', 'कपिल' आदि शब्दों का सांख्य शास्त्र और उसके प्रवर्तक कपिल मुनि से तात्पर्य है अथवा अन्य किन्हीं से, इस विषय में बड़ी विप्रतिपत्तियाँ हैं। इसी प्रकार छान्दोग्य में 'तेजोऽबन्न' अर्थात् तेजस्, जल और पृथ्वी रूप जो त्रिरूप या त्रिगुणात्मक जगत्-कारण प्रतिपादित है, वह सांख्य प्रतिपादित लोहित-शुल्क-कृष्ण जड़ प्रकृति ही है, अथवा उससे भिन्न, इस विषय में भी विप्रतिपत्ति है। ऐसी स्थिति में जब तक इस विषय का विचार करके किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच लिया जाय, तब तक अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों में सांख्य शास्त्र के तत्त्वों की उपलब्धि का प्रश्न सुलझा हुआ नही माना जा सकता।

(३) श्वेताश्वतर आदि में सांख्य के उल्लेख

श्वेताश्वतर ६।१३[1] का भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार लिखा है :— **"सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः।"** भाष्य की इस पंक्ति में 'सांख्य' और 'योग' शब्दों के वाच्यार्थ पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। परन्तु ब्रह्मसूत्र २।१।३ [**एतेन योगः प्रत्युक्तः**] के भाष्य में पहले सांख्य और योग शास्त्रों को श्रौत लिङ्ग से युक्त प्रदर्शित करने के लिए इसी श्वेताश्वतर श्रुति को उद्धृत करके फिर उसी बात का खंडन करते हुए उत्तर पक्ष में इस प्रकार लिखा है :—**"यत्तु दर्शनमुक्तं 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम्"**। यहाँ भाष्यकार ने 'सांख्य' शब्द का स्पष्ट ही 'वैदिक ज्ञान' अर्थ लिया है, न कि सांख्य-शास्त्रीय ज्ञान जिसे वे अवैदिक कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी 'भामती'[2] में इसी अभिप्राय को लेते हुए 'सांख्य' शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति दी है: **संख्या सम्यग्बुद्धिर्वैदिकी, तया वर्तन्त इति सांख्याः**। भाष्य की स्वकृत टीका 'न्याय-निर्णय' में आनन्दगिरि ने भी आचार्य वाचस्पति मिश्र का ही अक्षरशः अनुसरण किया है :—**"वैदिकी सम्यग्बुद्धिः संख्या, तया सह वर्तते इति सांख्यम्"**। भाष्यकार के अनुयायी होने के कारण वाचस्पति मिश्र एवं आनन्दगिरि के इन लेखों का कारण स्पष्ट है। परन्तु आचार्य शङ्कर के 'सांख्य' शब्द का प्रसिद्ध या रूढ़ 'सांख्य-शास्त्रीय ज्ञान' अर्थ छोड़कर 'वैदिक ज्ञान' अर्थ लेने में क्या उपोद्बलक हो सकता है? इसका संक्षिप्त उत्तर भाष्य के 'प्रत्यासत्तेः' शब्द में मिलता है। 'प्रत्यासत्ति' शब्द का अर्थ सामीप्य या सन्निधि होता है। 'प्रत्यासत्तेः' कहने का तात्पर्य यह है कि सन्निकृष्ट होने के कारण वैदिक परम्परा के सम्यग् ज्ञान और ध्यान ही 'सांख्य' आदि पदों

---

१. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं (भिपन्नं— ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का पाठ) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

२. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की वाचस्पतिमिश्र-कृत टीका, पृ० ३५४।

के वाच्य हैं।[१] वैदिक ज्ञान और ध्यान कहाँ और कैसे प्रत्यासन्न या प्रकरणस्थ हैं, इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि श्वेताश्वतर ६। १३, जिसमें ये दोनों शब्द 'सांख्य' तथा 'योग' आये हुए है, के ठीक पूर्व स्थित मन्त्र ६। १२ में कहा गया है कि "जो एक अर्थात् अद्वितीय एवं वशी अर्थात् स्वतन्त्र (देव) बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक कर देता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उसे जो धीर पुरुष देखते हैं, साक्षात् कर लेते हैं, उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं।"[२] स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में स्थित दर्शन अर्थात् साक्षात्कार के लिए ही भाष्यकार अगले मन्त्र में स्थित सांख्य और योग शब्दों को प्रयुक्त मानते हैं। परन्तु इसमें एक कठिनाई यह है कि 'दर्शन' तो एक ही है और सांख्य-योग दो हैं। तब सांख्य और योग, इन दोनों ही शब्दों से एक ही दर्शन का परामर्श हुआ है, यह कैसे माना जा सकता है ? समस्त उपनिषद् का प्रतिपाद्य अथवा प्रकरणस्थ तो सब का एक मात्र कारण ब्रह्म या परमात्मा है, जैसा "किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः" (श्वेताश्व० १। १) इत्यादि उपक्रम, तथा, 'तपः-प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्' (श्वेताश्व० ६/२१) इत्यादि उपसंहार से स्पष्ट है। उपक्रम-मन्त्र में प्रकट की गई ब्रह्म-जिज्ञासा तथा उपसंहार-मन्त्र में प्रकट किए गए ब्रह्म-ज्ञान से यह भी स्पष्ट है कि उसी सर्व-कारण ब्रह्म का ज्ञान ही मानव-जीवन का उद्देश्य या लक्ष्य है जो प्रस्तुत श्रुति में अभीष्ट रूप से प्रतिपादित है। उपक्रम-मंत्र में प्रकट हुई ब्रह्म-विषयिणी जिज्ञासा के अनन्तर ही तृतीय मन्त्र में 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि कहा गया है। यहाँ भी पूर्वोद्धृत मन्त्र ६।१३ की भाँति परा देवता और उसको सब के कारण रूप में देखने या साक्षात् करने की बात कही गई है। ६।१३ में 'सांख्ययोगाधिगम्यं' पद आया है, यहाँ 'ध्यानयोगानुगताः' पद आया है। भाष्यकार ने 'ध्यानं नाम चित्तैकाग्र्यं तदेव योगो युज्यतेऽनेनेति ध्यातव्य स्वीकारोपायः, तमनुगताः' इत्यादि अर्थ किया है, जो सर्वथा ठीक ही है। अब यदि ६।१३ के सांख्य-योग के जोड़ में यहाँ भी 'ध्यान और योग' अर्थ किया जाय, तो 'ध्यान' शब्द को 'सांख्य' के लिए अथवा 'सांख्य' शब्द को 'ध्यान' के लिए प्रयुक्त हुआ मानना पड़ेगा। परन्तु 'सांख्य' शब्द का अर्थ सदा ज्ञान ही लिया जाता है, ध्यान नहीं; यह ज्ञान चाहे रूढ़ प्रयोग लेकर 'सांख्यशास्त्रीय विवेक-ज्ञान' माना जाय और चाहे 'वैदिक ब्रह्म-ज्ञान' माना जाय। गीता इत्यादि में 'सांख्य' शब्द ज्ञान-मार्ग के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। भाष्यकार ने इसीलिए 'ध्यानं चित्तैकाग्र्यं, तदेव योगः' ऐसा विग्रह किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'ध्यान' शब्द योग के ही लिए प्रयुक्त हुआ है। अतएव प्रो० गार्बे के मत का खण्डन करते हुए डा० कीथ ने जो "The parallel of I. 3, where in place of Sankhya and Yoga are found Dhyana and Yoga, show clearly that we have here Sankhya in the simple sense of meditation as opposed to devotion in Yoga"[३] इत्यादि लिखा है, वह अयुक्त और अयथार्थ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ६/१३ के 'सांख्य' और 'योग' पदों द्वारा १।३ के ध्यान

---

१. द्रष्टव्य आनन्दगिरि की न्यायनिर्णय टीका :—'अतः सन्निकृष्टं सम्यग् ज्ञानं वैदिकं सांख्यादि-शब्दितमित्यर्थः।'

२. एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

३. द्रष्टव्य, Sankhya System, P. 14.

और योग का भी परामर्श नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में 'सांख्य' और 'योग' शब्दों से किनका परामर्श है, यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्व-कारण ब्रह्म या परमात्मा का जो दर्शन अथवा साक्षात् ज्ञान समस्त श्वेताश्वतर का प्रतिपाद्य या लक्ष्य पहले कहा गया है, तथा जिसका फल प्रस्तुत मन्त्र में 'सर्वपाश-विमुक्ति'[1] अर्थात् मोक्ष और उसके पूर्व मन्त्र में 'शाश्वत सुख'[2] कहा गया है, उसी ज्ञान की विधि या पद्धति का संकेत उक्त 'सांख्ययोगाधिगम्यं' पद में किया गया है। 'अधिगम्यम्' पद से इस सूझ की पुष्टि होती है। इस प्रकार श्रुति के इस समस्त पद का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि योगशास्त्रीय विधि से ध्यान अर्थात् चित्तैकाग्र्य सम्पादित करके सांख्य-विधि से पूर्व ग्रन्थ में प्रतिपादित त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अपने पृथक्त्व तथा परमेश्वर से अपने अभेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि इस ज्ञान से साधक समस्त बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। इस मन्तव्य के विपरीत यदि कोई यह शङ्का करे कि निरीश्वर सांख्य में प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक विवेक या भेद के ज्ञान की बात तो समझ में आती है परन्तु परमेश्वर के साथ पुरुष के अभेद के ज्ञान की बात समझ के परे है तथा निरर्थक एवं अयुक्त है, तो इसका समाधान, जैसा कि पूर्व भी कह आये हैं, यह है कि सेश्वर उपनिषदों, महाभारत, भागवत आदि का सांख्य सेश्वर ही है, निरीश्वर नहीं। क्योंकि यदि सत्य इसके विपरीत माना जाय, तो ईश्वरवादी महाभारत, भागवत आदि के सांख्य-ज्ञान-विषयक सारे स्तुतिपरक वचन, जिनका उद्धरण पहले किया जा चुका है, असंगत एवं निरर्थक हो जायँगे। इस पर यदि कोई यह शङ्का करे कि मौलिक सांख्य के ईश्वरवादी होने पर प्राचीन वेदान्त से उसका क्या भेद ही रह जायगा जिसके कारण अत्यन्त प्राचीन समय से ही सांख्य पृथक् प्रस्थान या मार्ग माना जाता रहा है, तो इसका समाधान यह है कि सांख्य एवं वेदान्त दर्शनों के मुख्य भेद, जो अत्यन्त प्राचीन काल से ही उनके पृथक्-पृथक् प्रस्थान होने के आधार बने, दो हैं :—एक तो है सांख्य दर्शन का इस जगत् को द्विसत्तात्मक अर्थात् प्रकृति-पुरुष-मूलक या जड-चेतनात्मक मानना और वेदान्त दर्शन का उसे ब्रह्माद्वैत-मूलक अथवा एकात्मक मानना; दूसरा है सांख्य का चेतन तत्त्व अर्थात् पुरुष को परमार्थतः अनेक मानना तथा वेदान्त का उसे परमार्थतः एक अर्थात् अद्वैत मानना। इस प्रकार सांख्य जहाँ एक ओर प्रकृति और पुरुष के बीच तथा दूसरी ओर अनेक पुरुषों के बीच भी वास्तविक भेद मानने के कारण सदा से ही सवा सोलह आने द्वैतवादी रहा है, वहाँ वेदान्त एक ओर प्रकृति और पुरुष अथवा माया और ब्रह्म के बीच और दूसरी ओर ब्रह्म एवं प्रत्यगात्माओं या जीवों के बीच पारमार्थिक अभेद मानने के कारण सदा से ही अद्वैतवादी रहा है। यद्यपि वेदान्त सूत्रों का मध्वाचार्य-कृत द्वैतपरक भाष्य भी है, तथापि अन्य सम्प्रदायों के भाष्यों से यही प्रतीत होता है कि किसी न किसी रूप में अभेद या ऐक्य को प्रतिपादित करना ही सूत्रों को अभीष्ट है एवं मध्वाचार्य का भाष्य बहुत-कुछ उनकी अपनी विशिष्ट रुचि को ही प्रकट करता है, वेदान्त-सूत्रकार के मौलिक सिद्धान्तों को नहीं।

श्वेताश्वतर[3] में आए हुए 'कपिल' शब्द को भी आचार्य शङ्कर तथा उनका अनुसरण

---

१. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

२. तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

३. द्रष्टव्य ५।२ :—यो योनिं योनिमधितिष्ठत्यको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥

करते हुए अन्य अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य भी सांख्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक कपिलाचार्य का वाचक नहीं मानते। ब्रह्मसूत्र २।१।१ के भाष्य[1] में आचार्य शङ्कर ने सांख्य मत की अवैदिकता और हीनता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "विरोधी द्वारा जो श्वेताश्वतर-श्रुति कपिल का परमोच्च ज्ञान वर्णन करने वाली उद्धृत या उपस्थित की गई है, उसके आधार पर श्रुति-विरुद्ध भी सांख्य मत मान्य अथवा अङ्गीकार्य नहीं हो सकता। क्योंकि एक तो 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' इत्यादि श्रुति में कपिल का सामान्य रूप से ही कथन है, उनके विषय में ऐसी विशिष्ट बात नहीं कथित है जिससे अनेक कपिलों में से सांख्य-प्रवर्तक विशिष्ट कपिल मुनि का ही उक्त श्रुति में ग्रहण हो सके। वस्तुतः तो महाराज सगर के साठ हज़ार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक अर्थात् विष्णु के अवतार सांख्य प्रणेता कपिल से भिन्न कपिल का ही उसमें स्मरण या निर्देश हुआ है। दूसरे, यदि उक्त श्रुति में 'कपिल' पद का अर्थ सांख्य-प्रवर्तक कपिल ही मान लिया जाय, तो भी परमेश्वर की प्राप्ति के प्रसङ्ग में उन्हीं का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए कपिल की सर्वज्ञता का उसके अङ्ग रूप से किया गया यह वर्णन अथवा कथन उस (सर्वज्ञता) का साधक नहीं हो सकता।" भाष्य में आए हुए 'प्रतप्तुः' और 'वासुदेवनाम्नः' इन दोनों पदों को पञ्चम्यन्त मान कर उपर्युक्त अर्थ किया गया है। परन्तु ये पद षष्ठ्यन्त भी हो सकते हैं। भाष्य की 'न्यायनिर्णय' टीका के रचयिता आनन्दगिरि तथा 'रत्नप्रभा' के रचयिता गोविन्दानन्द, दोनों ने इन पदों को षष्ठ्यन्त ही माना है और उनका अर्थ यह किया है कि "श्रुति में महाराज सगर के पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक किसी अन्य कपिल का ही उल्लेख है। इस लिए 'कपिल' इस शब्द-मात्र की समानता से श्रुति में सांख्य-प्रवर्तक कपिल का वर्णन मानना भ्रम है, क्योंकि सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाला वासुदेव नामक वैदिक कपिल सांख्य-प्रणेता अवैदिक कपिल से भिन्न है।[2] इस व्याख्या में मूल का 'अन्यस्य' पद साकांक्ष रहता है, क्योंकि इसमें वाक्यार्थ को पूरा करने के लिए 'सांख्यप्रणेतुरवैदिकात् कपिलात्' का अध्याहार करना पड़ता है। किन्तु ऐसी व्याख्या करने पर भाष्यकार के लेख का यह आशय प्रकट होता है कि 'वासुदेव' नामक अर्थात् विष्णु के अवतार कपिल सांख्य के प्रणेता नहीं हैं और इसका श्रीमद्भागवत, विष्णु इत्यादि पुराणों के '**पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥**' (भागवत १।३।११), **कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज। विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः॥** (विष्णु पुराण २।१४।६.) इत्यादि[3] वचनों के साथ स्पष्ट ही विरोध है। इससे ऐसा लगता है, जैसे भाष्यकार का स्वारस्य इस अर्थ में नहीं है। पञ्चम्यन्त मान कर प्रथम अर्थ करने पर न तो

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ३४६ :—या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्।

२. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २।१।१ के शां० भा० की आनन्दगिरि-कृत व्याख्या, पृ० ३५० :—शब्दसामान्यादेव सांख्यप्रणेता कपिलः श्रौत इति भ्रान्तिरविवेकिनामित्यर्थः। वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा पितुरादेशादश्वमेधपशुमन्विष्य परिसरे पश्यतामिन्द्रचेष्टितमदृष्टवतां षष्टिसहस्रसंख्याजुषामात्मोपरोधिनां सगरसुतानां सहसैव भस्मीभावहेतुः सांख्यप्रणेतुरवैदिकादन्यः स्मर्यते।

३. द्रष्टव्य, वायु ८८।१४५-१४८, मत्स्य ३।२९ तथा १७१।१०, पद्म (सृष्टि-खंड) ८।१४७, स्कन्द (रेवाखण्ड) १७५।२-७॥

अध्याहार ही करना पड़ता है और न भागवत आदि के साथ विरोध ही होता है। अतः उसी में भाष्यकार का स्वारस्य प्रतीत होता है।

अब प्रथम अर्थ के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठता है और वह यह कि सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले, विष्णु के अवतार, सांख्य-प्रणेता कपिल ऋषि से भिन्न कौन से दूसरे कपिल हो सकते हैं जिनका उल्लेख भाष्यकार शङ्कराचार्य के मत से 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' इत्यादि श्रुति-वचन मे हुआ है। इसका समाधान भाष्यकार ने स्वयं ही अपने श्वेताश्वतर-भाष्य में इस प्रकार दिया है: **"ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः। कपिलं कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इत्यस्यैव जन्मश्रवणादन्यस्य चाश्रवणात्। उत्तरत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति वक्ष्यमाणत्वात् 'कपिलोऽग्रज' इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते।"** इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'कपिल' पद का अर्थ प्रस्तुत स्थल में हिरण्यगर्भ ही है। 'हिरण्य' का अर्थ है कनक जो 'कपिल' अर्थात् पीत वर्ण का होता है, अतएव 'कपिल' का अर्थ हिरण्यगर्भ है। प्रस्तुत श्रुति के 'प्रसूतमग्रे' पदों से भी यही बात सिद्ध होती है क्योंकि **'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'** इत्यादि श्रुति-वचन में सृष्टि के आदि में उसी का जन्म कथित है, अन्य किसी का नहीं। इसी श्रुति में आगे भी इसी अर्थ का प्रतिपादक **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'** (६।१८) इत्यादि वचन आया हुआ है। **'कपिलोऽग्रजः'** अर्थात् कपिल सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं, इस पौराणिक वचन से भी श्रुति के प्रस्तुत स्थल में कपिल या हिरण्यगर्भ का ही निर्देश सिद्ध होता है। सम्भवतः भाष्यकार के इसी व्याख्यान के आधार पर प्रो० रानाडे[1], डा० कीथ[2] तथा और भी कई अर्वाचीन विद्वानों ने उद्धृत श्वेताश्वतर-श्रुति में 'कपिल' का अर्थ हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा ही लिया है। इस प्रकार ये इसमें सांख्य-प्रवर्तक कपिल का कोई उल्लेख स्वीकार नहीं करते। इस मत के विपरीत प्रो० गार्बे का मत है कि श्वेताश्वतर ५।२ में 'कपिल' तथा ६।१३ में 'योग' के साथ 'सांख्य' का प्रयोग होने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस श्रुति के संग्राहक को सांख्य शास्त्र का निश्चित ज्ञान था[3]। परन्तु इसका खण्डन करते हुए प्रो० कीथ ने स्पष्ट लिखा है कि "यह बात पूर्व उद्धृत तथ्यों के आधार पर स्पष्टतः सिद्ध नहीं होती। कपिल, जैसा कि हम पीछे पृष्ठ ८ और ९ पर देख चुके है, मानव रूप में कभी रहे ही नहीं। श्वेताश्वतर ६।१३ में प्रयुक्त 'सांख्य-योग' शब्दों के लिए उसके जोड़ के मन्त्र श्वेताश्व० १।३ मे 'ध्यान-योग' शब्दों का प्रयोग स्पष्ट सिद्ध करता है कि इस स्थल में 'सांख्य' शब्द 'ध्यान' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है"।[4] डा० कीथ की दूसरी बात का खण्डन पीछे सविस्तर कर चुके है। प्रथम का सविस्तर खण्डन तो यद्यपि अगले अध्याय में करेंगे, तथापि यहाँ इतना अवश्य वक्तव्य है कि स्वयं भाष्यकार भी 'कपिल' शब्द का पूर्वोक्त प्रकार से 'हिरण्यगर्भ' अर्थ कर चुकने पर

---

१. द्रष्टव्य, प्रो० रानाडे का Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.

२. द्रष्टव्य, प्रो० कीथ-कृत Sankhya Systam, पृ० ८,४०।

३. द्रष्टव्य, प्रो० गार्बे-कृत Sankhya Philosophie, द्वितीय संस्करण, पृ० ४६ तथा उसके आगे।

४. द्रष्टव्य, प्रो० कीथ-कृत Sankhya System, पृ० १४।

सन्तोष का अनुभव न करते हुए से उसका फिर सप्रमाण सर्वप्रसिद्ध, सांख्य-कर्ता 'कपिल ऋषि' भी अर्थ करते हैं :—**"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्यवै किल । विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः"** ।। **'कृतेयुगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत् । ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्य जगतो हितम्'** ।। **'त्वं शक्रः सर्वदेवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि । वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः ।। ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि । सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शङ्करः'** ।। **इति परमर्षिः प्रसिद्धः ।...स एव वा कपिलः प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले"** । ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य का **'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्'** इत्यादि वचन भी, जिसका उद्धरण तथा संक्षिप्त विचार पीछे कर आए हैं, इसी बात का द्योतक है कि स्वयं भाष्यकार को भी स्व-कृत पूर्व अर्थ खटकता था और वह इसलिए कि प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग करके अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करने का कोई विशिष्ट कारण या आधार उपलब्ध नहीं है । पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने "सांख्य दर्शन का इतिहास" नामक ग्रन्थ में इस सारे विषय को सविस्तर प्रतिपादित किया है । **'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्'** इस भाष्य-पंक्ति का अर्थ देकर निष्कर्ष रूप में शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है—"शङ्कराचार्य ने इस पंक्ति को लिख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस श्वेताश्वतर श्रुति में सांख्यों का प्रसिद्ध कपिल ही उपादेय है, भले ही उसका उल्लेख प्रसङ्ग-वश आया हो । हम इस समय उसके (अर्थात् कपिल के) मत की मान्यता या अमान्यता पर विचार नहीं कर रहे हैं । हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस श्रुति में जिस कपिल का उल्लेख है, वह सांख्य-प्रवर्तक कपिल ही है और यह मत शङ्कराचार्य को भी मान्य है । इसीलिए प्रथम, 'कपिल' पद का जो अर्थ शङ्कराचार्य ने हिरण्यगर्भ (कनककपिल-वर्ण) किया है, वह प्रौढिवाद से ही किया है तथा उसमें श्रुति का स्वारस्य न जान कर ही अन्त में विस्तारपूर्वक, प्रमाणसहित सांख्य-प्रवर्तक कपिल का ही उल्लेख माना है ।"[१] ऐसी स्थिति में 'सांख्य' तथा 'कपिल' शब्दों की श्वेताश्वतर में उपलब्धि होने से हम प्रो० गार्बे के पूर्व-उद्धृत इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस श्रुति के संग्राहक को निश्चित रूप से सांख्य शास्त्र ज्ञात था और अवश्य ही सांख्य सम्प्रदाय शास्त्र रूप में भी इस श्रुति से पर्याप्त प्राचीन है ।

इसके अतिरिक्त भी ऐसी कई बातें इस उपनिषद् में मिलती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इसके वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने के पूर्व ही मौलिक सांख्य निर्धारित या व्यवस्थित हो चला था । सबसे पहली बात तो यही है कि इसमें सांख्योक्त प्रकृति तत्त्व के वाचक प्रधान, अव्यक्त, अजा इत्यादि पारिभाषिक पदों का कई बार प्रयोग हुआ है, जब कि बृहदारण्यक और छान्दोग्य में ये एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं । १।८ में व्यक्त के साथ 'अव्यक्त'[२] १।९ तथा ४।५ में 'अजा'[३], १।१० 'प्रधान'[४], तथा ४।१० में 'प्रकृति'[५] का प्रयोग हुआ है । ध्यान देने की

१. द्रष्टव्य, पृ० १६ ।
२. संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः ॥
३. (i) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।
(ii) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
४. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः । तस्याभिध्यानाद्योजनात् तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
५. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

बात तो यह है कि इनमें से प्रत्येक स्थल में जीव, प्रकृति तथा ब्रह्म या ईश्वर, ये तीनों पृथक्-पृथक् स्पष्ट कथित हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक मन्त्रों में भी यह त्रैत कथित है। जैसे **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"** [श्वेताश्व० ४।६], इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में जीव, ईश्वर, तथा प्रकृति के शरीर आदि कार्य का स्पष्ट ही पृथक्-पृथक् रूप से कथन किया गया है। यह त्रैत मौलिक सांख्य की अपनी विशिष्टता थी, अपनी अपूर्व कल्पना थी, जैसा कि आगे द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट करेंगे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौलिक सांख्य-दर्शन के इसी त्रैतवाद की पृष्ठभूमि मे श्वेताश्वतर की रचना हुई। यह अवश्य सत्य है कि उपयुक्त अनेक मन्त्रों में वेदान्त के ब्रह्मात्मैक्यवाद की मुहर या छाप लगी हुई है जिसके कारण शङ्करा-चार्य इत्यादि वेदान्ती दार्शनिक इस उपनिषद् मे सांख्य का त्रैतवाद न मानकर वेदान्त का ब्रह्मैक्यवाद ही प्रतिष्ठित हुआ मानते हैं, और **'किं कारणं ब्रह्म कुतःस्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा'** इत्यादि प्रथम ही मन्त्र में 'जगत् का कारण ब्रह्म है या काल, स्वभाव इत्यादि' यह शङ्का उठा कर **'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'** इत्यादि तृतीय मन्त्र में 'ब्रह्म देवता की परमातिपरम 'शक्ति' को ही ध्यान-योग द्वारा जगत् के कारण रूप में देखा" इत्यादि उत्तर देने से भी वेदान्त के अभेदवाद की ही प्रतिष्ठा होती प्रतीत होती है, तथापि प्राचीनतम बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में 'प्रधान' या 'अजा' तत्त्व की कल्पना परिनिष्ठित रूप में न प्राप्त होने से सामान्यतः ऐसा अनुमान होता है कि श्वेताश्वतर में 'अजा' की यह कल्पना सांख्य से आई होगी। 'प्रधान' तत्त्व की परिनिष्ठित कल्पना छान्दोग्य आदि में नहीं मिलती, इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि त्रिरूप जगद्योनि का सिद्धान्त छान्दोग्य में बीज रूप से ही प्राप्त है, विकसित रूप में नहीं। सांख्य ने इसी से अपना त्रिगुणात्मक-प्रधान-कारणवाद विकसित किया। इन दोनों कथनों की सत्यता अभी प्रतिपादित करेंगे। मन्त्र के 'स्वगुणैर्निगूढाम्' पदों से पूर्वोक्त अनुमान और अधिक दृढ़ तथा अनिवार्य सा हो जाता है, क्योंकि जगद्योनि के त्रिविध गुणों की कल्पना भारतीय दर्शनों के इतिहास में सांख्य की अपनी विशेषता है। प्राचीनतम छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में इनका उल्लेख नहीं है। किन्तु श्वेताश्वतर के पूर्वोद्धृत मन्त्र में ही नहीं, अपितु **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः"** इस प्रसिद्ध मन्त्र में भी तीनों गुण ही कथित प्रतीत होते हैं, क्योंकि कि जैसे सांख्य शास्त्र में तीनों गुणों अथवा त्रिगुणात्मिका प्रकृति को क्रमशः श्वेत, रक्त एवं कृष्ण वर्णित किया जाता है, उसी प्रकार इस मन्त्र में भी जगत् को उत्पन्न करने वाली 'शक्ति' को **'लोहितशुक्लकृष्णा'** कहा गया है। एवं जैसे सांख्य में प्रकृति को 'अजा' अर्थात् न उत्पन्न होने वाली कहा गया है, उसी प्रकार इसमें भी जगत्कर्त्री शक्ति को 'अजा' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, जैसे सांख्य में विविध एवं बहुरूप जगत् को अकेली प्रकृति से सम्भाव्य सिद्ध करने के लिए उसे स्वरूपतः त्रिगुणात्मक अर्थात् बहुविध—स्वगत भेद से युक्त माना जाता है, उसी प्रकार इस मन्त्र में भी जगत्कर्त्री अजा 'शक्ति' को त्रिविध कहा गया है। इन समस्त तथ्यों का विचार करने पर एक मात्र इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस मन्त्र में जगत् का उपादान कारण ईश्वर नहीं, अपितु प्रकृति ही कथित है। सांख्य के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के विषय में सांख्य-सूत्र **'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य**

[५।१२] में जिस श्रुति की दोहाई अथवा गवाही दी गई है, वह विज्ञान भिक्षु आदि आचार्यों के मत से भी यही है।

परन्तु शङ्कराचार्य के मत से 'अजा' शब्द से सांख्य की 'प्रकृति' का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने ब्रह्म-सूत्र १।४।८ के भाष्य में लिखा है कि इस मन्त्र में ऐसी कोई विशिष्ट बात नहीं आई है जिससे निश्चित रूप से यह सिद्ध होता हो कि 'अजा' शब्द से सांख्यों की प्रकृति ही अभिप्रेत अथवा गृहीत है। इस पर यदि कोई जिज्ञासु यह प्रश्न उठावे कि आखिर इस 'अजा' से किसका ग्रहण होना चाहिए, तो इसके उत्तर में शङ्कराचार्य का कथन है कि परमेश्वर से उत्पन्न तेजस्, जल और पृथ्वी ही चतुर्विध प्राणि-समूह को उत्पन्न करने वाली 'अजा' है।[1] अपनी इस मान्यता का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य[2] में लिखा है कि चूँकि छान्दोग्य उपनिषद् में परमेश्वर से इन तीनों की उत्पत्ति कह कर इन्हीं को क्रमशः लाल, सफेद और काला कहा है, अतः ये ही तीनों **'अजामेकालोहितशुक्ल-कृष्णाम्'** इत्यादि श्वेताश्वतर-मन्त्र में भी 'अजा' शब्द से गृहीत हैं। जैसे छान्दोग्य में तेजस् इत्यादि तीनों लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहे गये हैं, उसी प्रकार श्वेताश्वतर में 'अजा' भी। लाल, सफेद और काले वर्ण ही लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्दों के मुख्यार्थ हैं, सांख्योक्त सत्त्व रजस् एवं तमस् नामक विशेष गुण नहीं वे तो लोहित, शुक्ल और कृष्ण शब्दों के लक्ष्यार्थ ही हो सकते हैं। परन्तु वाच्यार्थ के संभव या सङ्गत न होने पर ही लक्ष्यार्थ लेना उचित और न्याय्य होता है। असन्दिग्ध छान्दोग्य श्रुति, जिसमें लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्दों से क्रमशः लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण वाले तेजस्, जल एवं पृथ्वी गृहीत होते हैं, के आधार पर इस सन्दिग्ध श्वेताश्वतर श्रुति में भी इन पदों का यही मुख्यार्थ प्रतीत होता है, और यह असम्भव या असंगत भी नहीं है। अतः इसी को यहाँ भी ग्रहण करना उचित है। निश्चित से ही अनिश्चित का निश्चय या ज्ञान किया जाता है, ऐसा नियम है। प्रस्तुत श्वेताश्वतर श्रुति में पहले **'ब्रह्मवादी** परस्पर संवाद करते हैं कि जगत् का कारण-भूत ब्रह्म कैसा है', इस प्रकार आरम्भ करके आगे **'ते ध्यानयोगानुगता' अपश्यन्'** इत्यादि मन्त्र मे समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली परमेश्वरीय शक्ति का कथन किया गया है। फिर **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** (४।१०) तथा **'योयोनिंयोनिमधितिष्ठत्येकः'** **(४।११)** इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्रों में भी उसी परमेश्वरीय शक्ति का कथन है। इससे निश्चित रूप से कहना पड़ता है कि सांख्य-प्रतिपादित 'प्रधान' नामक

---

१. द्रष्टव्य श्वेताश्वतर-भाष्य :—इदानीं तेजोऽबन्नलक्षणां प्रकृतिं छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति-अजामेकामिति।

२. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र 'ज्योतिरुपक्रमा तु, तथा ह्यधीयत एके [१।४।९] का शाङ्कर-भाष्य :—परमेश्वरादुत्पन्नाज्ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तु शब्दोऽवधारणार्थः। भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसतद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत् कृष्णं तदन्नस्य इति। तान्येवेह तेजोऽबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते रोहितादिशब्दसामान्यात्। रोहितादीनां च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद् भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य। असन्दिग्धेन च सन्दिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथा इहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारणं ब्रह्म' (श्वेताश्व० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेताश्व० १।३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति, 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वेताश्व० ४।१०,११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्।

कोई स्वतन्त्र प्रकृति अर्थात् जगत् का उपादान कारण श्वेताश्वतर के **'अजामेकाम्'** इत्यादि मन्त्र में कथित नहीं है।

भाष्यकार शङ्कराचार्य के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वे छान्दोग्य और श्वेताश्वतर उपनिषदों में एकवाक्यता या सामञ्जस्य मानते हुए दोनों को इसी सिद्धान्त का प्रतिपादक बताते हैं कि इस जगत् का उपादान कारण विविध सृष्टि में समर्थ पारमेश्वरी शक्ति है। उनके मत से वस्तुतः इसी सर्व-समर्थ शक्ति या माया के योग से निष्कल एवं अकारण ब्रह्म सकल (अर्थात् सगुण) एवं कारण कहा जाता है। मुख्य रूप से यही स्थापना उन्होंने उस कठ श्रुति के भाष्य में भी की है जिसमें कम से कम बाह्य दृष्टि मे तो अवश्य ही सांख्य दर्शन के महत्, अव्यक्त आदि पारिभाषिक पदों का उल्लेख या प्रतिपादन प्राप्त होता है। इसमें आए हुए **'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषःपरः'** वाक्य में सांख्य दर्शन के महत्, अव्यक्त और पुरुष तत्त्व कथित हैं। इसका सबल खण्डन उन्होंने कठ-भाष्य तथा **'आनुमानिकमप्येकेषाम्'** इत्यादि ब्रह्मसूत्र १।४।१ के भाष्य में भी किया है। **'महतः परमव्यक्तम्'** इत्यादि कठ-वाक्य के भाष्य में सांख्य के विरुद्ध उन्होंने अपने मत का उपन्यास बहुत संक्षेप में इस प्रकार किया है :—**"महतोऽपिपरं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपमव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मनि ओतप्रोत-भावेन समाश्रितं, वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः"**। इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'अव्यक्त' को भाष्यकार परमात्मा की ही सर्व-कारण-सामर्थ्य से युक्त अनन्त शक्ति, उसी की कारणावस्था मानते हैं, सांख्य दर्शन के 'प्रधान' की तरह उससे पृथक् स्वतन्त्र रूप से स्थित कोई तत्त्व नहीं। ब्रह्मसूत्र-भाष्य के अन्तर्गत की गई स्वमत-स्थापना विशेषतः खण्डन-परक होने के कारण संक्षिप्त न होकर बड़ी विस्तृत है। उस सबको यहाँ देना अप्रासङ्गिक होगा, प्रस्तुत प्रकरण या विषय—'प्राचीन उपनिषदों में सांख्य के मूल तत्त्व'—को छोड़कर अन्य विषय का ग्रहण या प्रस्ताव होगा। इस कारण से इसका विस्तार द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय में किया जायगा। यहाँ तो इतना ही विषयोपन्यास इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि शङ्कराचार्य के समीप सांख्यों का स्वतंत्र प्रकृतिवाद सर्वथा अवैदिक या वेद-विरुद्ध है, उनकी दृष्टि में विशुद्ध सिद्धान्त यही है कि समस्त विश्व की सृष्टि करने वाली अघटित-घटना-पटीयसी परमेश्वरीय शक्ति या माया है जो उसके सर्वथा अधीन है, उससे स्वतंत्र नहीं। इसे ही कठ उपनिषद् में अव्यक्त नाम से बोधित किया गया है तथा श्वेताश्वतर में इसे ही शक्ति, माया, प्रकृति, प्रधान आदि नामों से घोषित किया गया है। इस माया या शक्ति का त्रिरूपत्व इसके तेजस्, जल एवं पृथ्वी कार्यों के त्रिरूपत्व के कारण ही कहा गया है (अन्यथा तो यह विश्वरूप ही है), क्योंकि जब माया के कार्य-भूत तेजस्, जल एवं पृथ्वी में त्रिरूपता प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तब तो यह अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि यह त्रिरूपता मूल प्रकृति अर्थात् माया में अवश्य रही होगी जिससे यह तेजस् आदि कार्यों में आई; क्योंकि कारण के गुणों से ही कार्य के गुण उत्पन्न होते हैं। भाष्यकार की **'तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम्'**[1] पंक्ति का यही तात्पर्य है। वास्तविक बात तो यह है कि मूल प्रकृति अर्थात् ब्रह्म-शक्ति या माया के विषय में मन्त्र के **'लोहितशुक्लकृष्णाम्'** पद की संगति दिखाने के लिए ही भाष्यकार ने सूत्रकार का अनुसरण

१. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १।९ का शाङ्कर-भाष्य।

करते हुए छान्दोग्य-प्रतिपादित तेजोऽबन्न रूप त्रिविध अवान्तर प्रकृति को श्वेताश्वतरोपनिषद् के 'अजा' पद का वाच्यार्थ कहा है, अन्यथा त्रिरूप अवान्तर प्रकृति 'अजा' या मूल प्रकृति का कार्य है और इन्हीं के द्वार से अजा माया समस्त विविध विश्व को उत्पन्न करती है। परन्तु इस प्रकार कार्य प्रकृतियों के वर्णों का, मूल या कारण प्रकृति मे आरोप करके उसे त्रिरूप कहने, तथा मूल प्रकृति के अजात्व का, कार्य प्रकृतियों में आरोप करके उन्हें जगत् की मूल प्रकृति कहने में कोई अनौचित्य या दोष नहीं है, क्योंकि कारण और कार्य का एक दूसरे में आरोप लोक में भी देखा जाता है। एवं इस समस्त विवेचन का यह सारांश अथवा निष्कर्ष निकलता है कि त्रिरूप जगद्योनि का सिद्धान्त छान्दोग्य इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित है और यह सिद्धान्त भाष्यकार शङ्कराचार्य को भी मान्य है।

अब यदि निष्पक्षपात दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि छान्दोग्य में प्रतिपादित त्रिरूप जगद्योनि का यही सिद्धान्त सांख्य दर्शन के त्रिगुणात्मक प्रधान कारणवाद के मूल में था। छान्दोग्य के तेजस्, अप् और अन्न के रोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्णों का स्पष्ट प्रतिभास सांख्य की प्रकृति के लोहित रजस्, शुक्ल सत्त्व तथा कृष्ण तमस् गुणों में दीख पड़ता है। किन्तु छान्दोग्य के तेजोऽबन्न पहले तो एक नहीं, अपितु तीन हैं, फिर वे अज नहीं, अपितु ब्रह्म से जायमान या उत्पन्न हैं। इसके विपरीत सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक होने पर भी एक ही है, अनेक नहीं। फिर वह अजा अर्थात् अनादि है। श्वेताश्वतर भी जगत् के उपादान कारण को त्रिरूप, अज और एक ही मानता है।[1] हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि वह इस अजा को सर्वत्र समान रूप से ब्रह्म या परमेश्वर की शक्ति मानता है। जैसे इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही **"किं कारणं ब्रह्म कुतःस्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः"** इत्यादि प्रश्न करके, इसके उत्तर में **"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (१।१।३)** इत्यादि कह कर उपसंहार में **"अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।" "यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्"** (श्वेताश्व० ४।९,१०, ११) इत्यादि कहने से स्पष्ट है कि श्रुतियों को जगत्-योनि 'प्रकृति' या 'माया' का परमेश्वर के अधीन होना, परमेश्वर से अभिन्न उसकी शक्ति होना ही अभिप्रेत है, उससे पृथक् स्थित होना नहीं, जैसा कि सांख्य दर्शन मानता है। तथापि पूर्वोक्त अनेक समानताओं के कारण सांख्य दर्शन की प्रकृति-विषयक कल्पना को छान्दोग्य और श्वेताश्वतर के बीच की कड़ी मानना सत्य के अधिक समीप प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्वेताश्वतरोक्त त्रिगुणात्मक तथापि एक, एवं अज अर्थात् अजायमान अथवा अनादि प्रकृति की कल्पना को छान्दोग्योक्त त्रिरूप तेजोऽबन्न जगद्योनि से साक्षात् विकसित न मानकर सांख्योक्त त्रिगुणात्मक अजा प्रकृति की कल्पना के

---

१. द्रष्टव्य श्वेताश्व० १।९ [ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।......], ४।५ [अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्...] इत्यादि । केवल 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' इत्यादि श्वेताश्व० १।१० में प्रधान या प्रकृति को 'क्षर' अर्थात् विनाशी कहने से उसके जायमानत्व का आभास मिलता है। परन्तु 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इस चतुर्थ पंक्ति में 'माया की निवृत्ति' के कथन से तथा प्रथम पंक्ति के 'हरः' (हरत्यविद्यामित्यर्थः) शब्द के प्रयोग से 'अविद्या' अर्थ में ही प्रधान को 'क्षर' कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

द्वार या माध्यम से विकसित मानना ही अधिक युक्ति-युक्त एवं स्वाभाविक लगता है। इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् में 'सांख्य' 'कपिल' आदि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख होने तथा सांख्य दर्शन के 'अव्यक्त', 'प्रधान', 'गुण' इत्यादि कई पारिभाषिक पदों का प्रयोग होने से भी इसी बात की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है कि सांख्य इस श्रुति के वर्तमान रूप प्राप्त करने के समय से पहले का है और इसकी पृष्ठभूमि में सांख्य के सिद्धान्त वर्तमान रहे होंगे। किन्तु यदि शङ्कराचार्य तथा उनसे सहमत अन्य प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के विचार के अनुसार 'सांख्य' और 'कपिल' इत्यादि शब्द सांख्य शास्त्र एवं उसके प्रवर्तक के लिए आए हुए न माने जायँ, तब यह मानना होगा कि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक सबसे अधिक श्वेताश्वतर के ही ऋणी हैं। जो कुछ भी हो किन्तु इतनी बात तो निश्चित सी जान पड़ती है कि शङ्कराचार्य के भगीरथ-प्रयत्न के बाद भी यह बात निस्सन्देह रूप से सिद्ध नहीं होती कि सांख्याचार्यों की त्रिगुणात्मिका प्रकृति अश्रौत अथवा अवैदिक है। यह अन्य बात है कि सांख्य का यह प्रकृतिवाद श्रुति-प्रतिपादित एतद्विषयक सिद्धान्त का अनुकरण-मात्र नहीं बल्कि उससे स्वतंत्र रूप से विकसित है और स्वतन्त्र रूप से विकसित होने में उससे भिन्न हो गया है। वेदान्त-सूत्रों के कर्ता बादरायण व्यास से भी पूर्व ही मौलिक सांख्य निरीश्वर हो चुका होगा, यह बात सूत्रों के तर्क-पाद में सांख्य के निरीश्वर प्रकृतिवाद के खण्डन से प्रतीत होती है। किन्तु जब मौलिक सांख्य ईश्वरवादी रहा होगा तब भी वह प्रकृति को उसकी शक्ति न मान कर उससे पृथक् स्थित ही पदार्थ मानता रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि अपने प्रादुर्भाव या उद्भव के समय से ही यह एक पृथक् प्रस्थान माना जाता रहा है और ऐसी मान्यता के लिए उपनिषदों से इसका कुछ न कुछ मौलिक भेद तो होना ही चाहिए। शंकराचार्य ने अपना सारा दर्शन इन उपनिषदों तथा तन्मूलक वेदान्त-सूत्रों के ऊपर लिखे गए भाष्यों के ही रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनमें उनके विचारों की स्वतंत्रता एवं मौलिकता खूब प्रकट हुई है, तथापि उन्होंने स्वयमेव अपने को सगर्व श्रुतिवादी एवं सम्प्रदाय-विद् उद्घोषित करते हुए अपने भाष्यों को वस्तुतः श्रुति-परक एवं तदनुसारी कहा है। स्वमत-विरोधी अन्य भाष्यों एवं व्याख्यानों को श्रुति-विरुद्ध कह कर उनकी उन्होंने कटु आलोचना की है। इस प्रकार श्रुतियों का भाष्य-रूप होने से शङ्कर का दर्शन कम से कम उनकी विशिष्ट दृष्टि से सर्वथा श्रुति-सम्मत है। परन्तु सांख्य दर्शन बहुत कुछ श्रुतियों से ही विकसित होने पर भी उनका भाष्य नहीं अपितु स्वतंत्र विकास है। इस स्वतंत्रता के लिए स्वयं श्रुतियों में भी पर्याप्त अवकाश एवं छूट है। इनमें आत्मा, प्रकृति, सृष्टि आदि के विषय में अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। सिद्धान्तों की यह अनेकता या पारस्परिक भिन्नता यह कह कर भले ही बाह्य अथवा अवास्तविक कह दी जाय कि चूंकि सूक्ष्म पारलौकिक विषयों में श्रुतियाँ ही परम प्रमाण हैं और प्रमाण होने के लिए उनमें प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों में परस्पर विरोध नहीं अपितु एकवाक्यता, समन्वय या सामञ्जस्य का होना आवश्यक है और इस कारण से किसी भी विषय में परस्पर विरुद्ध या भिन्न प्रतीत होने वाले सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों से कहे जाने के कारण ही वैसे प्रतीत होते हैं, तथापि श्रुतियों में सिद्धान्त-वैभिन्न्य स्वीकार करने से इनकार नहीं किया जा सकता, उसका कारण दृष्टि-भेद, रुचि-भेद अथवा अधिकार-भेद आदि चाहे जो भी कहा जाय। ऐसी स्थिति में परवर्ती काल में अपने-अपने विशिष्ट विचारों के लिए इन्हीं श्रुति-कथित सिद्धान्तों से प्रेरणा एवं समर्थन पाकर विभिन्न आचार्यों का अपने-अपने विशिष्ट सम्प्रदायों एवं मतों को स्वतंत्र रूप से विकसित एवं स्थापित करना सर्वथा स्वाभाविक और संगत है।

उदाहरण के लिए आत्मा के एकत्व और अनेकत्व दोनों का कथन करने वाली पंक्तियाँ श्रुतियों में मिलती हैं। जैसे अद्वैत-परक सम्प्रदाय अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों को सिद्धान्त रूप से ग्रहण करते हुए द्वैत-प्रतिपादक वाक्यों को दृष्टि-विशेष से कहा गया बता कर उनका समन्वय पूर्वोक्त से करते है, ठीक उसी प्रकार न्याय, सांख्य, योग और यहाँ तक कि वेदान्त के भी कुछ सम्प्रदाय द्वैत या अनेकत्व के प्रतिपादक वाक्यों को सिद्धान्त रूप से ग्रहण करते हुए अद्वैत या एकत्व को ही विशेष दृष्टि से कहा गया बता कर उनका समन्वय द्वैत-परक वाक्यों के साथ स्थापित करते हैं। एवं प्रकृति के विषय में भी अनेक प्रकार के कथन आये हुए हैं, जैसे श्वेताश्वतर के **"देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"**[1] इत्यादि शब्दों में प्रकृति ब्रह्म की शक्ति कही गई है जिससे वह परमेश्वर से पृथक् अर्थात् उससे भिन्न सत्ता वाली नहीं प्रतीत होती और फिर उसी के **"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः"**[2] इत्यादि शब्दों में वही प्रकृति स्पष्ट रूप से जीव और परमेश्वर, दोनों से ही पृथक् वर्णित है। फिर **"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"**[3] मन्त्र में भी त्रिगुणात्मिका अजा (माया), भोक्ता अज (जीव) तथा अभोक्ता अज (परमेश्वर) से पृथक् कही गई है। सांख्य दर्शन भी प्रकृति के विषय में इसी मत का पोषक है। जैसा आगे[4] चल कर प्रतिपादित करेंगे, स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रथित अर्वाचीन विचारक इसी मत के हैं। अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में उन्होंने त्रैतवाद को ही श्रुति-सम्मत मत सिद्ध किया है। कठोपनिषद् के **'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः"** इत्यादि मंत्र में आए हुए 'अव्यक्त' शब्द द्वारा परमेश्वर से पृथक् स्थित तथापि उसके नियन्त्रण या अनुशासन में रहने वाली प्रकृति का ही ग्रहण अत्यन्त प्राचीन काल से ही किया जाता रहा है, न कि परमेश्वर या ब्रह्म की ही किसी विशिष्ट अवस्था का, जैसा कि भाष्यकार शङ्कराचार्य मानते हैं। क्योकि यदि ऐसी बात न होती तो शङ्कराचार्य उसके खण्डन का महान् प्रयास अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में क्यों करते ? इन सारी बातों की उपेक्षा करते हुए यह कहना कि सांख्योक्त प्रकृति अवैदिक तत्त्व है, एकदेशीय मत ही माना जा सकता है,[5] भले ही उसका प्रतिपादक बादरायण-कृत वेदान्त शास्त्र कितने भी शक्तिशाली तर्क अपनी इस मान्यता के लिए क्यों न देता हो। महर्षि बादरायण ने स्वयं ही अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख अपने वेदान्त-सूत्रों में किया है, जिससे प्रकट होता है कि उपनिषदों के एक नहीं अपितु अनेक प्रकार के भेद-परक, अभेद-परक अथवा भेदाभेद-परक आदि व्याख्यान

१. द्रष्टव्य अध्याय १, श्लोक ३।

२. द्रष्टव्य अध्याय १, श्लोक १०।

३. द्रष्टव्य अध्याय ४, श्लोक ५।

४. द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का प्रकृति और तीन गुण' नामक चतुर्थ अध्याय का पूर्व भाग।

५. द्रष्टव्य एस्० सूर्य नारायण शास्त्री की भूमिका, पृ० ४ :—In any case, it is not safe to assume that the antagonism of the Vedanta (of the Vedanta-sutras) to the Sankhya is a proof of the latter having arisen in antagonism to the former. And it may well be that Badarayana's evidence is that of a partisan.

अत्यन्त प्राचीन काल से ही होते रहे हैं। इसलिए सूत्रकार का मत एकदेशीय ही माना जा सकता है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उपनिषदों पर आधृत समस्त सम्प्रदायों में महर्षि बादरायण का वेदान्त सम्प्रदाय औपनिषद दर्शन की सर्वोत्तम व्याख्या प्रतीत होता है। पूर्वोक्त समस्त बातों का विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रुतियों में प्रकृति, जीव एवं ब्रह्म इत्यादि के विषय में आये हुए विचारों के एक नहीं अपितु अनेक प्रकार के व्याख्यान सम्भव ही नहीं अपितु सचमुच हुए भी हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से ही अनेक विचारकों एवं मनीषियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल अपने-अपने विशिष्ट सम्प्रदायों एवं मतों का विकास इन्हीं उपनिषदों से किया है। इनमें कुछ सम्प्रदाय कुछ बातों में श्रुतियों से स्वतंत्र रूप से भी विकसित हुए हैं। सांख्य इसी प्रकार का एक विशिष्ट सम्प्रदाय है।

सांख्य को छान्दोग्य जैसे अत्यन्त प्राचीन तथा श्वेताश्वतर जैसे अपेक्षाकृत कम प्राचीन उपनिषदों के बीच की कड़ी मानने तथा उससे श्वेताश्वतर को प्रभावित मानने के लिये प्रकृति-विषयक सिद्धान्त के अतिरिक्त और भी एकाध साक्ष्य प्राप्त होते हैं। जैसे श्वेताश्वतर १.४ में सबके अधिष्ठाता ब्रह्म का चक्र रूप से वर्णन किया गया है। वह चक्र इस प्रकार का है—**"तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं, शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः। अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्"** ॥ इस मंत्र का अर्थ यह है कि उन ब्रह्मवादियों ने उस ब्रह्म रूप चक्र को देखा जिसकी नेमि (अर्थात् नेमि के सदृश सबका आधार) है उसकी एकमात्र शक्ति या प्रकृति अथवा माया; जो सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों से घिरा हुआ है; ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पञ्चभूत—ये सोलह विकार जिसके अन्त अर्थात् जिसके विस्तार की समाप्ति हैं; पाँच प्रकार के विपर्यय या अज्ञान, अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति, नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धि—ये पचास जिसकी अरायें हैं; दस इन्द्रियाँ तथा उनके दश विषय—ये बीस जिसकी प्रत्यरायें हैं; आठ-आठ के छः गणों या समूहों [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के प्रकृत्यष्टक; त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र के धात्वष्टक, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व के ऐश्वर्याष्टक; धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के भावाष्टक; ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाच के देवाष्टक तथा दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास (श्रम-राहित्य), मंगल, अकृपणता और अस्पृहा—इन आठ आत्म-गुणों के गुणाष्टक] से जो संयुक्त है; स्वर्ग, पुत्र, अन्न आदि अनेक रूप वाला 'काम' नामक जिसका एक ही पाश है; धर्म, अधर्म तथा ज्ञान नामक जिसके तीन भिन्न मार्ग हैं तथा जो पुण्य और पाप, दोनों के एकमात्र निमित्त मोह या अज्ञान से युक्त है। यह मन्त्रार्थ शाङ्कर-भाष्य के आधार पर दिया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि इस मंत्र में न केवल सांख्य दर्शन की संख्यात्मक वर्णन-शैली ही अपनाई गई है अपितु उसका वर्ण्य-विषय भी बहुत-कुछ लिया गया है। कम से कम प्रथम पंक्ति में आया हुआ वर्णन तो निस्सन्देह केवल सांख्य से ही सम्बद्ध है। एक अजा, उसके तीन गुण, सोलह विकार तथा पचास बुद्धि-कृत सर्ग तो एकमात्र सांख्य दर्शन के ही वर्ण्य विषय या पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त दस इन्द्रियाँ तथा उनके दस विषय भी अन्य शास्त्रों के विषय होने पर भी सांख्य शास्त्र की सृष्टि-प्रक्रिया के अनिवार्य अंग होने से उसके अपने विशिष्ट विषय हैं। इसी प्रकार छः अष्टकों में भी धर्म, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य अधर्म, अज्ञान,

अवैराग्य तथा अनैश्वर्य भावों का अष्टक, जो पूर्वोक्त पचास का विकल्प है, तथा देवाष्टक भी सांख्य के विशिष्ट विषय हैं। धात्वष्टक भी सांख्य में वर्णित है। फिर आगे के पाँचवें मन्त्र में इसी ब्रह्म-चक्र का नदी रूप में वर्णन है और यह वर्णन भी सांख्य की विशिष्ट संख्यात्मक शैली में ही किया गया है। इससे भी पूर्व निष्कर्ष ही दृढ़ होता प्रतीत होता है कि श्वेताश्वतर सांख्य की प्रक्रिया और पारिभाषिक पदावली से प्रभूत प्रभावित है। प्रो॰ कीथ इस विषयाभेद को विशेष महत्त्व नहीं देते और उनकी दृष्टि में इसका साक्ष्य सांख्य के पूर्ववर्ती होने में अनिश्चित है क्योंकि संख्यात्मक वर्णन बहुत कुछ ब्राह्मण-सम्प्रदायों से प्रभावित हैं।[1] प्रो॰ कीथ के द्वारा दिया गया यह हेतु समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि ब्राह्मण-सम्प्रदाय की श्रुति होने से श्वेताश्वतर के सारे सिद्धान्त, यहाँ तक कि सांख्य से प्रभूत प्रभावित अजा-सिद्धान्त भी मूलतः तथा प्राधान्यतः परम्परानुगत ही है, उस पर प्रभाव है तो सांख्य का जो श्रुति-मूलक होने पर भी श्रुति से स्वतंत्र है। संख्यात्मक वर्णन वस्तुतः सांख्य की विशेषता है। प्रथम अध्याय में स्पष्ट कर आये हैं कि जिस 'सङ्ख्या' शब्द से 'सांख्य' शब्द बना या निकला है, उसका 'विवेक-बुद्धि' के अतिरिक्त 'तत्त्व-गणना' अर्थ भी अभिप्रेत है। सांख्य-सूत्रों का जो 'तत्त्व-समास' नामक अत्यन्त लघु (केवल पचीस सूत्रों का) ग्रन्थ है, उसके पचीस सूत्रों में से बाईस में तत्त्वों का विवेचन-विश्लेषण संख्याओं में ही हुआ है। 'सांख्यप्रवचनसूत्र' तथा 'सांख्यकारिका' में भी पूर्वोक्त सारा विषय तो संख्याओं द्वारा प्रतिपादित है ही, अन्य अनेक बातें भी संख्याओं के ही माध्यम से प्रतिपादित हैं। अतः सांख्य दर्शन के संख्यात्मक वर्णन से श्वेताश्वतर का परम्परागत उपर्युक्त वर्णन ही प्रभावित कहा जाना चाहिए। जो जिस परम्परा का ग्रन्थ है, उसमें उसकी बातों का होना तो स्वाभाविक ही है। जिस दूसरी परम्परा से किसी ग्रन्थ-विशेष की मूल परम्परा प्रभावित है, उसी को मूल परम्परा से प्रभावित हुई बताना और इस प्रकार उसके प्रामाण्य के विषय में सन्देह प्रकट करना उल्टी बात है। इस प्रकार यह निश्चित है कि श्वेताश्वतर के उपर्युक्त संख्यात्मक वर्णन में श्रौत परम्परा के तथ्यों के साथ जो सांख्य-परम्परा के तथ्य अत्यधिक मात्रा में मिलते हैं, वह निस्सन्देह सांख्य का ही प्रभाव है। इस कारण से प्रो॰ गार्बे का सांख्य को श्वेताश्वतर से पूर्ववर्ती मानना समुचित ही प्रतीत होता है। इस प्रकार का संख्या-परक वर्णन बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि पूर्ववर्ती उपनिषदों में तो मिलता नहीं जिससे कि सांख्य-गत प्रस्तुत वर्णन को वहाँ से लिया गया कहा जाय।

सांख्य का त्रिगुणात्मक प्रकृति-सिद्धान्त छान्दोग्य में विद्यमान तेजोऽबन्न रूप त्रिविध जगत्-प्रकृति से विकसित हुआ है, यह स्थापना पूर्व में की जा चुकी है। सांख्य की पुरुष-विषयक कल्पना भी छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि से ही विकसित हुई है, यह बात निश्चित सी लगती है। यह तो सर्व-विदित बात है कि सांख्य दर्शन 'पुरुष' को परमार्थतः शरीर के समस्त धर्मों से रहित मानता है। शरीर के जन्म, जरा, व्याधि, अशनाया, पिपासा, मृत्यु इत्यादि कोई भी धर्म उसका स्पर्श तक नहीं करते। जन्म तथा मृत्यु से रहित होने के कारण ही सांख्य उसे अज

१. द्रष्टव्य Sankhya system. p. 11:—The worth of such indetifications must be regarded as certain and no conclusive evidence is afforded by them as plays on numbers are much affected by the Brahmanical schools.

और नित्य मानता है। सांख्य दर्शन सारा कारण-कार्य भाव अचित् त्रिगुणात्मिका प्रकृति में ही मानता है। प्रकृति के तीनों गुण प्रतिक्षण-परिणामी होने के कारण निरन्तर अनन्त कार्य, अनन्त परिणाम, अनन्त परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं। शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियादि सभी कुछ उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम अथवा कार्य हैं। अतः परमार्थतः निर्गुण एवं अपरिणामी तथा शुद्ध चिद्रूप पुरुष इन सभी के जन्म, जरा, व्याधि, अशनाया, पिपासा आदि उपर्युक्त समस्त धर्मों से अस्पृष्ट एवं अछूता रहता है, ऐसी मान्यता सांख्य शास्त्र की है। यह सब प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के अष्टम अध्याय में सप्रमाण एवं सविस्तर प्रतिपादित करेंगे। पुरुष या आत्मा का ऐसा ही वर्णन छान्दोग्य में भी मिलता है। इस उपनिषद् के **'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः...'** (छान्दोग्य ८।१।५), **'न व सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'** (छा० ८।१२।१) इत्यादि वचनों से यह बात सर्वथा प्रमाणित होती है। इसी प्रकार बृहदाण्यक के **'एष ते आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः? योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति'** (३।५।१)' **'स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति, असङ्गो ह्ययं पुरुष इति'** (४।३।१५) **'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्'** (४।३।२१) इत्यादि वचनों में भी आत्मा का वही स्वरूप वर्णित है जो सांख्य दर्शन में प्राप्त होता है। निस्सन्देह सांख्य में वर्णित स्वरूप से इन उपनिषदों में वर्णित आत्म-स्वरूप में प्रदर्शित साम्य या अभेद के साथ कुछ वैशिष्ट्य, अथवा वैषम्य भी प्राप्त होता है जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे छान्दोग्य के सप्तम अध्याय में नारद जी के आत्मस्वरूप-विषयक प्रश्न[1] करनेपर अन्तिम उत्तर के रूप में भगवान् सनत्कुमार द्वारा कथित **'अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।'** (७।२५।२) इत्यादि वचनों में आत्मा के विभुत्व के अतिरिक्त उसके सुख-स्वरूप होने तथा निखिल विश्व के अद्वैत आत्मा से भिन्न कुछ भी न होने का वर्णन मिलता है, और इसी प्रकार बृहदारण्यक के **'यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवा लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एते आत्मानः समर्पिताः'** **'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'** (२।५।१५।१९), **'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्** (४।३।३२) इत्यादि वचनों में भी वही बात कथित है। तथापि इससे इस कथन का व्याघात नहीं होता कि सांख्य दर्शन ने जन्म, जरा, व्याधि, अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, मृत्यु आदि से परमार्थतः परे असङ्ग एवं अकर्ता आत्मा की कल्पना छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक श्रुतियों के उपर्युक्त वचनों से ही ग्रहण की है। यद्यपि रुचि-भेद के कारण सांख्य ने एकत्व अथवा अद्वैत को अपने सिद्धान्त में अङ्गीकार नहीं किया, तथापि उसने समस्त आत्माओं के पारस्परिक एकत्व के कथन को वस्त्वेकत्व अथवा **व्यक्त्येकत्व** की दृष्टि से नहीं **अपितु जात्येकत्व**[2] अर्थात् **चिन्मात्र**

१. द्रष्टव्य छान्दोग्य ७।१।३ :—सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवःशोचामि, तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।

२. द्रष्टव्य सांख्यसूत्र १।१५४ :—नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्; सांख्य-सूत्र ५।६१ :—नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः; तथा ६।५१ :—न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः।

की दृष्टि से किया गया माना और इस प्रकार श्रुतियों के साथ अपने 'पुरुष-बहुत्व' सिद्धान्त का समन्वय अथवा अविरोध अवश्यमेव प्रदर्शित किया। केवल 'पुरुष-बहुत्व' तक ही समन्वय का प्रयास सीमित रहा हो, ऐसी बात नहीं है। आत्मा के आनन्द-रूप होने के सम्बन्ध में जो श्रौत वचन प्राप्त होते हैं, उनके साथ भी अपने सिद्धान्त का समन्वय सांख्य ने यथा-कथञ्चित् किया ही। सांख्य पुरुष को चिन्मात्र मानता है, चिदानन्द रूप नहीं।[१] अतः आत्मा को आनन्द-रूप कहने वाले श्रौत वचनों को सांख्य ने दुःखाभाव का ही प्रतिपादक समझा। उसकी दृष्टि में एक ही आत्मा को चिद्रूप तथा आनन्द-रूप कहने से द्वित्व या भेद की आपत्ति होती है, अतः आत्मानन्द को दुःख का अभाव-रूप ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार सांख्य के अनुसार श्रुतियों के आनन्द-कथन का मुख्य अभिप्राय आत्मा को आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक नामक त्रिविध दुःख-मात्र से सर्वथा शून्य अथवा रहित बताना ही है।[२] अपने इसी स्वरूप की प्राप्ति मोक्ष है। दुःख-विध्वंस रूप मोक्ष को श्रुति आनन्द-रूप इसलिए कहती है ताकि सांसारिक बन्धनों में पड़े हुए अज्ञ जन उसकी ओर आकृष्ट हों।[३]

इस समस्त विवेचन का सारांश यह है कि सांख्य दर्शन ने अपने प्रकृति और पुरुष, दोनों ही मूल-भूत तत्त्वों की कल्पना श्रुतियों से ही ली है। इतना ही नहीं, उसने यह भी प्रदर्शित करने का अनेकशः प्रयास किया है कि श्रुतियों के साथ न केवल उसका विरोध नहीं है, अपितु वास्तविक समन्वय या सामञ्जस्य भी है। उसका यह प्रयास भी सम्भवतः इसीलिए रहा है क्योंकि रुचि-भेद और दृष्टि-भेद से श्रुतियों को अत्यन्त प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा जाता रहा है और उन विभिन्न प्रकारों में यहाँ-वहाँ परस्पर मत-भेद, वैषम्य या विरोध अवश्य रहा है।

———

१. द्रष्टव्य ५।६६ :—नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्।
२. द्रष्टव्य ५।६७ :—दुःखनिवृत्तेर्गौणः।
३. द्रष्टव्य ५।६८ :—विमुक्ति-प्रशंसा मन्दानाम्।

तृतीय अध्याय

सांख्य-प्रवर्तक परमर्षि कपिल एवं सांख्य-सूत्र

(१) प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में कपिल की चर्चा

गत अध्याय में अत्यन्त संक्षेप में स्पष्ट कर आए हैं कि श्वेताश्वतर श्रुति में 'सांख्य' और 'कपिल' नाम आए हुए हैं, और ये कपिल ऋषि परम्परागत सांख्य-प्रवर्तक कपिल मुनि के अतिरिक्त कोई अन्य कपिल नहीं हो सकते। परन्तु आधुनिक समय में तो कई ऐसे विद्वान् हुए हैं जो सांख्य-प्रवर्तक कपिल नाम के किसी ऐतिहासिक पुरुष को ही मानने को तैयार नहीं, फिर उनके माता-पिता तथा-देश काल इत्यादि के विषय में जानने के लिए प्रयास करने की तो बात ही कहाँ? इसी प्रकार सांख्य-प्रवर्तक कपिल के ऐतिहासिक पुरुष होने की सम्भावना न रहने पर उनके कृतित्व का प्रश्न उठाना भी उपहासास्पद ही है। अतएव प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय कपिल मुनि को वस्तुतः ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध करके उनके माता-पिता, देश-काल और कृतित्व का भरसक विचार करना है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में महर्षि कपिल का अनेकशः उल्लेख हुआ है। सबसे प्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् का है जिसकी ओर अभी संकेत किया है एवं जिस पर पिछले अध्याय में सूक्ष्म विचार किया जा चुका है। महाभारत के प्रसिद्ध अंश भगवद्गीता के दशम अध्याय में भी कपिल मुनि का उद्धरण आया है। अर्जुन से अपनी असंख्य विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् श्री कृष्ण जी कहते हैं :—**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः। गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥** [गीता १०।२६] 'सिद्ध' पद का तात्पर्य आगे सविस्तर स्पष्ट किया जायगा। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भगवान् द्वारा कपिल के 'सिद्ध-श्रेष्ठ' और 'मुनि' कहे जाने से यह बात स्पष्ट होती है कि किसी काल-विशेष में सशरीर विद्यमान होकर उन्होंने सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त की थी। महाभारत के अन्य अनेक स्थलों में महर्षि कपिल का वर्णन आया है। शान्ति पर्व के मोक्षधर्म-प्रकरण के नारायणीयोपाख्यान में भगवान् नारायण नारद जी से कपिल मुनि के विषय में इस प्रकार कहते हैं - **"विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम्। कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः॥ हिरण्यगर्भो भगवानेषच्छन्दसि सुष्टुतः। सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन् योगशास्त्रेषु शब्दितः"**॥ (अ० ३३९/६८,६९)। आगे इसी मोक्षधर्म प्रकरण के द्वैपायनोत्पत्ति-प्रसङ्ग की समाप्ति पर वैशम्पायन जी राजा जनमेजय से विभिन्न मतों का वर्णन करते हुए कहते हैं—**"सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥ सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः"**॥ (अ० ३५०।६४,६५)। इन दोनों ही उद्धरणों में और विशेषतः दूसरे में कपिल को सांख्य-प्रवर्तक के रूप में स्मरण किया गया है। वन-पर्व के सगरोपाख्यान में भी कपिल का इस प्रकार उल्लेख है :—महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों ने अपने पिता के यज्ञीय अश्व को जब कपिल के आश्रम में बँधा हुआ देखा, तो वे सब क्रुद्ध होकर कपिल का अनादर करते हुए घोड़े को अपने अधीन करने के लिए उनकी ओर

दौड़े। इस पर मुनियों में श्रेष्ठ 'वासुदेव' कपिल जी ने क्रुद्ध होकर अपने तेज से मन्दबुद्धि उन सगर पुत्रों को एक साथ ही भस्मकर दिया।[1] इस घटना का सविस्तर वर्णन वाल्मीकि-रामायण के बालकाण्ड में भी आया है। महाभारत की ही भाँति उसमें भी लिखा है कि महाराज सगर के उन सारे महाबली पुत्रों ने वहाँ (अर्थात् पृथ्वी के नीचे) सनातन वासुदेव कपिल को देखा और उनके समीप ही घोड़े को चरते हुए देखकर परम प्रसन्न हुए। किन्तु उन कपिल को घोड़ा-चोर समझ कर अत्यन्त क्रुद्ध होकर 'ठहरो-ठहरो, तुम हमारा यज्ञीय अश्व चुरा ले आये हो, दुर्बुद्धे! हम आ गए हैं, हमें महाराज सगर के पुत्र समझो, इत्यादि दुर्वचन कहते हुए खनित्र, शिला, वृक्ष आदि लेकर उन पर टूट पड़े। उनके दुर्वचनों को सुनकर महान् रोष से युक्त होकर कपिल मुनि ने हुंकार किया जिससे समस्त सगर पुत्र जल कर भस्म-राशि बन गए।[2] दोनों ही वर्णनों में ध्यान देने की बात यह है कि कपिल मुनि को 'वासुदेव'[3] कहा गया है। रामायण में उन्हें 'वासुदेव' के अतिरिक्त 'सनातन' भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि महाभारत और वाल्मीकि-रामायण दोनों की दृष्टि में सगर-पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल मुनि सनातन भगवान् विष्णु के अवतार हैं। विष्णु पुराण २।१४।६,[4] वायु पुराण ८८।१४३-१४०,[5] पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड) ८।१४७[6] तथा स्कन्द पुराण (रेवाखण्ड) १७५।२-७ में तो साक्षात् शब्दों में कपिल मुनि को भगवान् विष्णु का रूप या अंश कहा गया है। इसी प्रकार भागवत के विस्तृत कापिलेयोपाख्यान (तृतीय स्कन्ध अ० २३-३३) से भी यह बात स्पष्ट हो जायगी कि जो निष्कर्ष महाभारत और वाल्मीकि-रामायण में कपिल के लिए प्रयुक्त 'वासुदैवम्' तथा 'सनातनम्' पदों से निकलता है, वह भागवत के कपिलोपाख्यान में कई बार कई प्रकार से साक्षात् कथित है। आरम्भ ही में देवहूति की सेवा तथा पातिव्रत्य से प्रसन्न हुए उनके पति कर्दम ऋषि कहते हैं:— **मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते। भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात् सम्प्रपत्स्यते।।** (भाग० ३।२४।२)। स्पष्ट है कि भागवत के मत से कर्दम ऋषि से स्वायम्भुव मनु की पुत्री देवहूति में जन्म लेने वाले कपिल मुनि साक्षात् अक्षर, अविनाशी भगवान् विष्णु ही थे। जन्म के समय स्वयं देवाधिदेव ब्रह्मा जी माता देवहूति से कहते हैं:—"**एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दन। अविद्यासंशयग्रन्थि छित्त्वा गां विचरिष्यति।। अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः**

---

१. द्रष्टव्य वनपर्व, अध्याय १०७, श्लोक २९-३३।

२. द्रष्टव्य बालकाण्ड, अध्याय ४०, श्लोक २५-३०॥

३. (i) वनपर्व १०७।३२:—वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवम्। स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन्॥

(ii) बालकाण्ड ४०।२५:—ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः। ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम्॥

४. कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज। विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः॥

५. स धर्मविजयी राजा विजित्येमां वसुन्धराम्। अश्वं विचारयामास वाजिमेधाय दीक्षितः॥ तस्य चारयतः सोऽश्वः समुद्रे पूर्वदक्षिणे। वेलासमीपेऽपहृतो भूमिं चैव प्रवेशितः। स तं देशं सुतैः सर्वैः खानयामास पार्थिव। आसेदुश्च ततस्तस्मिंस्तदन्तस्ते महार्णवे॥ तमादिपुरुषं देवं हरिं कृष्णं प्रजापतिम्। विष्णुं कपिलरूपेण हंसं नारायणं प्रभुम्॥ तस्य चक्षुः समासाद्य तेजस्तत् प्रतिपद्यते। दग्धाः पुत्रास्तदा सर्वे चत्वारस्त्ववशेषिताः॥

६. ततः षष्टिसहस्राणि सुषुवे यादवी प्रभा। खनन्तः पृथिवीं दग्धा विष्णुना येऽश्वमार्गणे॥

सुसम्मतः। लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः ॥ (भा० ३।२४।१८,१६)। ब्रह्मा जी के इन शब्दों से यह बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं कि देवहूति के गर्भ से उत्पन्न होने वाले सिद्ध-श्रेष्ठ कपिल भगवान् वि णु के अवतार थे। परन्तु भागवत के इस उद्धरण में महाभारत और रामायण के उद्धरणों से जो बात अधिक कही गई है, वह यह है कि यही कपिल सांख्य के प्रथम उपदेष्टा थे। ये ही दोनों बातें भागवतकार के **"कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया। जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञसये नृणाम्"** ॥ (भाग० ३।२५।१) इत्यादि शब्दों से भी स्पष्ट होती हैं। भागवत के अन्य स्थलों में भी भगवान् के विभिन्न अवतारों की गणना के प्रसंग में कपिल का नाम आया है। उदाहरणार्थ भागवत के प्रथम ही स्कन्ध में कपिल मुनि को भगवान् विष्णु का पञ्चम अवतार कहा गया है:—**"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्"** ॥[1] यही श्लोक गरुड पुराण [खं १, अ० १, श्लो० १८] में भी आया हुआ है। इसमें 'आसुरये' तथा 'तत्त्वग्रामविनिर्णयम्' पदों के आने सेयह बात स्पष्ट है कि जो सांख्य सर्व-प्रथम आ ुरि को दिया गया कहा जाता है और जिसमें तत्त्वों के समुदाय अथवा उनकी सख्या का निर्णय किया गया है, उसी लोक-प्रसिद्ध सांख्य का उपदेष्टा भागवत और गरुड पुराण कपिल को मानते हैं।

पं० श्रीकृष्णशास्त्री तैलङ्ग ने 'सांख्य शास्त्र के कर्ता' शीर्षक अपने एक लेख में कपिल मुनि को सांख्य का उपदेष्टा न मानकर वेदान्त का उपदेष्टा मान लिया है। उनकी यह मान्यता है तो वस्तुतः निराधार और निर्मूल होने के कारण भ्रम ही तथापि इस भ्रम का भी कोई कारण तो होना ही चाहिए। ऐसा समझ पड़ता है कि चूँकि भागवत इत्यादि का सांख्य सेश्वर है और लोक-प्रसिद्ध आधुनिक सांख्य निरीश्वर है, अतः तैलंगजी ने सांख्य' शब्द का व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ लेकर उसे सेश्वर वेदान्त का वाचक मान लिया। 'संख्या' शब्द का अर्थ 'सम्यक् ख्याति' या 'वास्तविक ज्ञान' होने से 'सांख्य' का अर्थ ज्ञानवादी, ज्ञान से मोक्ष मानने वाला सिद्धान्त हुआ। इसी प्रकार 'वेदान्त' का भी अर्थ 'वेद' [विद् ज्ञाने + घञ्] अर्थात् ज्ञान का अन्त या उत्कृष्ट ज्ञान और उससे मोक्ष मानने वाला सिद्धान्त हुआ। पर यह मान्यता सर्वथा भ्रममूलक ही है, क्योंकि सांख्य एवं वेदान्त सम्प्रदायों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान तथा उनसे प्राप्त होने वाली अन्तिम गतियों में भेद या वैषम्य है। इस प्रकार का भ्रम आधुनिक काल में ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। इसके पूर्व मध्यकाल के भी एकाध लेखकों को इसी प्रकार का भ्रम हुआ है। महाभारत के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार नीलकण्ठ ने अपने 'भारत-भाव-दीप' में एक से अधिक ,स्थल में 'सांख्य' का अर्थ कपिलोपदिष्ट शास्त्र न लेकर वेदान्त ही लिया है। महाभारत के **"जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात्। उत्सृज्य शतमाचार्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥ तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः। अब्रवीत् परमं मोक्षं यत्तत् सांख्येऽभिधीयते"** [महा० शान्ति २१८।२०,२१] इत्यादि श्लोकों पर टीका लिखते हुए आचार्य नीलकण्ठ ने इस प्रकार लिखा है:—"सांख्ये उपनिषत्काण्डे विधीयतेऽपूर्वतया ज्ञाप्यते, न तु युक्त्या उन्नीयते।" इसी प्रकार महाभारत के **"सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति**

१. भागवत १।३।१०

२. हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के अगस्त, सन् १९१६ के अंक में प्रकाशित।

योगा योगं द्विजातयः। वदन्ति कारणं तत्तत् स्वपक्षोद्भावनाय च" ॥ (शां० ३००।२) श्लोक की व्याख्या में भी नीलकण्ठ ने इस प्रकार लिखा है :—"**अत्र सांख्यं नाम ऐकात्म्यज्ञानं इदं सर्वं यदयमात्मेति श्रुतिप्रसिद्धं न तु कापिलं षष्टितन्त्राख्यं, 'संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा' इत्युपसंहारात्।**" इस उद्धरण में आचार्य ने 'सांख्य' से वेदान्त शास्त्र' अर्थ ग्रहण करने का कारण भी दिया है और वह कारण पूरे प्रकरण का '**संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थम्**' इत्यादि विशिष्ट ढंग का उपसंहार बताया है। परन्तु यह उपसंहार प्रसिद्ध सांख्य शास्त्र का भी तो हो सकता है। क्योंकि जैसा पहले कह चुके हैं, महाभारतीय सांख्य सेश्वर है और सांख्य की प्रकृति ईश्वर से पृथक् तत्त्व होने पर भी उसके सर्वथा अधीन या वशीभूत होने के कारण अंश, शरीर, कार्य इत्यादि रूप में भी कल्पित और कथित है। अतः इस प्रकार के उपसंहार में कोई विरोध नहीं दीख पड़ता।

(२) एक से अधिक कपिलों की समस्या तथा उसका समाधान

कपिल के सम्बन्ध में महाभारत में दो एक ऐसे भी उद्धरण हैं जिनसे पूर्वोक्त इस कथन का विरोध होता है कि देवहूति और कर्दम के पुत्र कपिल सांख्य के उपदेष्टा थे। वन पर्व में ही एक अन्य स्थल में भानु नामक मनु की तीसरी पत्नी निशा की रोहिणी नामक कन्या, एवं अग्नि, सोम तथा पञ्च पावक, इन आठ सन्तानों में चौथा पावक कहा गया है—"**शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम्। अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः॥ कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः॥**"[1] इस उद्धरण के आधार पर सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक कपिल मुनि अग्नि के अवतार सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार वायु पुराण के '**आदित्यसंज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः** [५।४५] अंश में भी कपिल को अग्नि कहा गया है। महाभारत के एक और उद्धरण में इन्हें ब्रह्मा जी के सात निवृत्ति-धर्मी मानस पुत्रों में से एक कहा गया है—"**सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः। सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः॥ सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः। स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः**" ॥[2] अगले श्लोक[3] में इन सातों को ही सांख्य-विशारद एवं मोक्षधर्म-प्रवर्तक कहा गया है। महाभारत के इन दोनों उद्धरणों में पारस्परिक विरोध तो दिखता है ही, साथ ही भागवत के उन समस्त उद्धरणों के साथ भी इनका विरोध प्रतीत होता है जिनमें विष्णु के अवतार, एवं देवहूति और कर्दम के पुत्र कपिल को सांख्य शास्त्र का उपदेष्टा कहा गया है। महाभारत के इस तृतीय उद्धरण के ही सदृश वचन आचार्य गौडपाद ने अपने सांख्यकारिका-भाष्य के आरम्भ में उद्धृत किये हैं। वे वचन इस प्रकार हैं :—"**सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा।**

---

१. महाभारत, वन पर्व २२१।२०, २१।

२. इसी के ठीक पूर्व ब्रह्मा जी के सात प्रवृत्ति-धर्मी तथा वेदज्ञ मानस-पुत्रों का भी वर्णन है :—मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥ एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः॥३४०।६९,७०॥

३. महाभारत, शान्ति० ३४०।७२।

४. **एते योगविदो मुख्याः** सांख्यज्ञानविशारदाः। आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः।

इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः"।। इन्हीं ब्रह्म-सुत कपिल मुनि को गौडपाद ने सांख्योपदेष्टा माना है, जैसा कि इस उद्धरण के ठीक पूर्व आए हुए उनके **'इह भगवान् ब्रह्मसुतो कपिलो नाम'** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। परन्तु महाभारत में अग्नि के अवतार-भूत कपिल महर्षि को ही सांख्य का प्रवर्तक माना गया है, जब कि ब्रह्मसुत कपिल को केवल सांख्यज्ञान-विशारद ही और वह भी सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार, इन छः अन्य मानस-पुत्रों के साथ। यदि अकेले कपिल के लिए 'सांख्यज्ञान-विशारद' पद का प्रयोग किया गया होता तो उसे कथञ्चित् 'सांख्य-प्रवर्तक' अर्थ में प्रयुक्त माना भी जा सकता था। इस प्रकार गौडपाद द्वारा उद्धृत वचन के साथ भी महाभारत के परस्पर-विरुद्ध कथनों का विरोध है। द्वाविंशति-सूत्री 'तत्त्वसमास' की 'सर्वोपकारिणी' नामक टीका में भी महाभारत की ही भाँति 'कपिल' नामक दो पृथक्-पृथक् ऋषियों का उल्लेख है। एक कपिल तो तत्त्वसमास के रचयिता कहे गए हैं। वे भगवान् विष्णु के अवतार तथा देवहूति और कर्दम प्रजापति के पुत्र थे। दूसरे कपिल 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' के रचयिता थे और वे अग्नि के अवतार थे। जिस अवतरण में यह उल्लेख हुआ है, वह इस प्रकार है:—**'अथात्र अनादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रपतिताननाथदीनानुद्दिधीर्षुः परमकृपालुः स्वतःसिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्। सूचनात् सूत्रमिति हि व्युत्पत्तिः। तत एतैः समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति। इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि च एतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः।'** परन्तु पं० श्रीकृष्ण शास्त्री तैलंग ने अपने लेख [सांख्य शास्त्र के कर्त्ता] में इस अवतरण को कुछ भेद—और यह भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—के साथ उद्धृत किया है। पहले तो आरम्भ में 'महर्षिर्भगवान् कपिलः' के आगे 'ब्रह्मसुतः' पद अधिक पठित है। दूसरे अन्त में नारायणावतार' के स्थान में फिर 'ब्रह्मसुत' पठित है। इस पाठ-भेद के आधार पर तैलंग जी ने यह सिद्ध किया है कि 'तत्त्व-समास' नामक द्वाविंशतिसूत्री के रचयिता ब्रह्मा जी के पुत्र कपिल मुनि हैं। परन्तु उन्होंने अपने इस उद्धरण का मूल स्रोत नहीं दिया। ऐसी स्थिति में इस पाठ-भेद की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। इसका एक कारण तो यही है कि मुद्रित 'सांख्य-संग्रह'[1] में पूर्वोद्धृत पाठ ही मिलता है। दूसरा एक कारण यह भी है कि एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के सरकारी संग्रह में कापिल सूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ की जो पाण्डु-लिपि (सं० ८५६१) सुरक्षित है, उसमें भी उक्त स्थलों में 'ब्रह्मसुत' पाठ नहीं मिलता।[2] इसलिए तैलंग जी की उक्त मान्यता प्रामाणिक और मान्य नहीं कही जा सकती। तथापि पूर्व उद्धृत समस्त वचनों के पारस्परिक विरोध का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः यावच्छक्य विरोध-परिहार के साथ वास्तविकता को जानने के लिए कपिल-विषयक समस्त वचनों का सामूहिक या समन्वयात्मक रूप से विचार अवश्य अपेक्षित है।

---

१. द्रष्टव्य—चौखम्बा संस्कृत सीरीज में काशी से सन् १९१८ ई० में प्रकाशित, जिसमें शिमानन्द-विरचित सांख्य-तत्त्व-विवेचन, भावागणेश-विरचित तत्त्वयाथार्थ्यदीपन तथा अज्ञातनामा लेखक वाली सर्वोपकारिणी, सांख्यसूत्र-विवरण एवं क्रम-दीपिका—ये पाँच व्याख्यायें तथा अन्त में कुछ स्वतंत्र निबन्ध भी संगृहीत हैं।

२. द्रष्टव्य—पं० उदयवीर शास्त्री-कृत 'सांख्य दर्शन का इतिहास', पृ० ४।

विज्ञानभिक्षु की दृष्टि इस प्रातीतिक विरोध पर अवश्य पड़ी होगी। तभी तो उन्होंने षडध्यायी सांख्य-प्रवचन-सूत्र के स्वकृत भाष्य के अन्त में इसके परिहार का प्रयास किया है, जो इस प्रकार है :—"**तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्। यत्तत्र वेदान्तिब्रुवः कश्चिदाह, सांख्यप्रणेता कपिलो न विष्णुः किन्त्वग्न्यवतारः कपिलान्तरम् 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः' इति स्मृतेरिति, तल्लोकव्यामोहनमात्रम्। 'एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्। प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने॥' इत्यादि स्मृतिषु विष्णववतारस्य देवहूतिपुत्रस्यैव सांख्योपदेष्टृत्वावगमात्, कपिलद्वयकल्पनागौरवाच्च। तत्र चाग्निशब्दोऽग्न्याख्यशक्त्यावेशादेव प्रयुक्तः, यथा 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इति श्रीकृष्णवाक्ये कालशक्त्यावेशादेव कालशब्दः। अन्यथा विश्वरूपप्रदर्शककृष्णस्यापि विष्णवतारकृष्णाद् भेदापत्तेरिति दिक्।**" उनके इस कथन का सारांश इतना ही है कि विष्णु के अवतार कपिल ने ही अपनी माता देवहूति और उनके द्वारा से सारे लोक को सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया था, यह तथ्य भागवत आदि ग्रन्थों से सुप्रमाणित है। रहा इसका विरोधी '**अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः**' इत्यादि महाभारतीय वचन, इसका तात्पर्य केवल यह बताना है कि 'अग्नि' नामक शक्ति का आवेश होने के कारण यत्र-तत्र उनका 'अग्नि' नाम से भी उल्लेख हुआ है। जैसे 'काल' शक्ति के आवेश से भगवान् कृष्ण ने गीता के एकादश अध्याय में अपने को 'काल' कहा है, ठीक उसी प्रकार महर्षि कपिल की 'अग्नि' संज्ञा के विषय में भी जानना चाहिए। पृथक्-पृथक् दो कपिल मानने में व्यर्थ का कल्पना-गौरव होगा। ऐसा न मानने पर अर्जुन को अपनी माया से अपना विश्वरूप (विराट् रूप) दिखाने वाले कृष्ण का विष्णु के अवतार-भूत कृष्ण से भेद का प्रसङ्ग उठेगा।

भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का उपर्युक्त समाधान मनगढन्त या निराधार नहीं है। महाभारत, रामायण इत्यादि प्रायः सभी के कपिल-प्रसङ्गों में कपिल मुनि में विशिष्ट तेज का वर्णन किया गया है। सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर देने वाले वासुदेव कपिल का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने इस प्रकार लिखा है :—"**अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले। कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम्। तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम्॥**" [वनपर्व १०७।२६] श्लोक की अन्तिम पंक्ति और विशेषतः उसमें दी गई उपमा विचारणीय है। लगता है, जैसे महाभारतकार के मस्तिष्क में कपिल का 'अग्नि' नाम रहा हो और उसी का निर्वचन इस पंक्ति में किया गया हो—'वे तेज से वैसे ही उद्दीप्त हो रहे थे जैसे अपनी ज्वालाओं से अग्नि'। जिस प्रसङ्ग में कपिल का 'अग्नि' नाम कहा गया है, वहाँ भी 'क्रोधाश्रित' शब्द का प्रयोग करके जैसे उनके अग्नित्व की मीमांसा ही की गई है—**शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्त्ति हुताशनम्। अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः॥** [वनपर्व २२१।२०] वाल्मीकि रामायण के भी पूर्व उद्धृत प्रसङ्ग में इसी प्रकार कपिल मुनि में महान् तेज और रोष बता कर तथा हुँकार-मात्र से समस्त सगर-पुत्रों को भस्म करने का वर्णन करके वही बात कही गई है :—'**श्रुत्वा तद्वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन। रोषेण महताविष्टो हुङ्कारमकरोत्तदा॥ ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना। भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः॥**" [वाल्मीकिरामायण, बाल० ४०।२६-३०]। इन सब तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि विष्णववतार कपिल को ही उनकी आत्यन्तिक तेजस्विता तथा क्रोधशीलता के कारण यत्र-तत्र 'अग्नि' कहा

गया है। पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'सांख्य दर्शन का इतिहास' के पृष्ठ ६ पर ठीक ही लिखा है कि "इस प्रकरण से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि विष्णु के अवतार कपिल से अग्नि का अवतार कपिल भिन्न है। प्रत्युत यही बात स्पष्ट होती है कि जिस कपिल को विष्णु का अवतार कहा जाता है, जो देवहूति और कर्दम का पुत्र है, उसी कपिल को साठ हजार सगर-पुत्रों के भस्म कर देने के कारण ही अग्नि रूप वर्णन किया गया है।" इसी प्रकार कपिल को जो ब्रह्मा जी का मानस पुत्र कहा गया है, उसका भी निरूपण करते हुए शास्त्री जी ने लिखा है कि "सम्भवत: ब्रह्मा का मानस पुत्र कपिल को इसलिए बताया गया हो कि उनमें ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य के अद्भुत गुण थे। पुराणों में इसका भी वर्णन आता है कि इसके जन्म-समय में ब्रह्मा ने स्वयं उपस्थित हो कर इसके सम्बन्ध में बहुत-कुछ बतलाया था। यह भी सम्भव हो सकता है कि इसने ब्रह्मा ही से ज्ञान प्राप्त किया हो, अथवा शास्त्र का अध्ययन किया हो[1]।" अथवा यह भी हो सकता है कि सांख्योपदेष्टा कपिल किसी एक कल्प में विष्णु के अवतार रहे हों और किसी दूसरे में अग्नि के अवतार अथवा ब्रह्मा जी के पुत्र। योगसूत्र **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्** [१।२५] के व्यास-भाष्य में उद्धृत "**आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय**" इत्यादि पञ्चशिख-सूत्र पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में "**कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः**", ऐसा लिखा है। इसकी टिप्पणी में गोस्वामी दामोदर शास्त्री ने इस सम्भावना को ही वास्तविकता कहा है :— "**प्रसिद्ध इति 'पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥' इति परमहंससंहिताभागवतोक्तेरिति शेषः। 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः' इति भारतीयवचनं कल्पभेदाशयकं ज्ञेयम्**"। अब चाहे यह सम्भावना वास्तविकता हो, अथवा चाहे पूर्वोक्त, परन्तु इतना तो ध्रुव सत्य है कि ब्रह्मा का मानस पुत्र अथवा अग्नि कहने भर से कपिल मुनि की कल्पना काल्पनिक या अयथार्थ नहीं कही जा सकती।

(३) कपिल के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विचार

स्वयं भाष्यकार शङ्कराचार्य भी कपिल को काल्पनिक नहीं मानते। वेद-विरुद्ध सांख्य मत का मण्डन करते हुए शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र २।१।१ के भाष्य में इस प्रकार लिखा है :— '**या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्।**' भाष्यकार के इस कथन का तात्पर्य यह है कि कपिल के आत्यन्तिक ज्ञान का कथन करने वाली जो श्रुति[2] सांख्य दार्शनिक द्वारा प्रस्तुत की गई है, उसके आधार पर वेद-विरुद्ध भी कपिल-मत में श्रद्धा नहीं की जा सकती। क्योंकि 'कपिल' इस शब्द-मात्र की समानता होने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त श्रुति में सांख्य-प्रवर्तक कपिल का ही निर्देश अथवा कथन हुआ है। उसमें तो सगर-पुत्रों को जलाने वाले वासुदेव नामक [अर्थात् विष्णु के अवतार] कपिल से भिन्न कपिल का ही निर्देश है। आनन्दगिरि एवं गोविन्दानन्द, दोनों ही भाष्य-टीका-

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ५।

२. द्रष्टव्य श्वेताश्व० ५।२ :—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्।' ब्रह्मसूत्र२।१।१ पर सांख्य का पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते समय सांख्य-प्रवर्तक कपिल मुनि की प्रशंसा में इसी श्रुति को उद्धृत किया गया है।

कारों ने 'प्रतप्तुः' तथा 'वासुदेवनाम्नः' पदों को षष्ठ्यन्त माना है और इन्हें 'अन्यस्य च कपिलस्य' के साथ अन्वित करके समस्त पंक्ति का यह अर्थ किया है कि 'कपिल' इस शब्द-मात्र की समानता से उक्त श्वेताश्वतर श्रुति में सांख्य-प्रणेता कपिल का वर्णन मानना भ्रम है। श्रुति में तो अवैदिक सांख्य-प्रणेता कपिल से भिन्न वासुदेव नामक कपिल जिन्होंने साठ हजार सगर-पुत्रों को सहसा भस्म कर दिया था, का ही वर्णन है।[1] परन्तु भाष्य की पंक्तियों का यह अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता। इसका एक कारण तो यही है कि इसमें 'सांख्यप्रणेतुरवैदिकात् (कपिलात्) का अध्याहार करना पड़ता है, अन्यथा 'अन्यस्य' पद के सांकांक्ष रहने के कारण सारा वाक्य अधूरा ही रहेगा। इसका दूसरा और मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार का अध्याहार करने पर भाष्यकार का जो यह आशय निकलता है कि विष्णु के अवतार कपिल सांख्य-प्रणेता वेद-विरोधी कपिल नहीं है, इसका महाभारत एवं भागवत आदि के पूर्वोद्धृत कथनों के साथ स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है। इसीलिए पं० उदयवीर शास्त्री ने इस अध्याहार में भाष्यकार का स्वारस्य नहीं माना है।[2]

किन्तु जिस प्रकार आनन्दगिरि के वाक्यान्त के 'सांख्यप्रणेतुरवैदिकात्' शब्दों का प्रसङ्गतः 'सांख्यप्रणेतुरवैदिकात् (कपिलात्)' अर्थ किया गया है, उसी प्रकार यदि उनके वाक्यारम्भ के 'वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा' शब्दों का प्रसङ्गतः 'वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा (सांख्य-प्रणेता)' अर्थ किया जाय तो पूरे वाक्य का अर्थ थोड़ा भिन्न हो जायगा और वह यह होगा कि सांख्य-प्रणेता अवैदिक कपिल से सांख्य-प्रणेता विष्णववतार वैदिक कपिल अन्य अर्थात् भिन्न हैं। तब इसका तात्पर्य यह होगा कि आनन्दगिरि के अनुसार भाष्यकार शङ्कराचार्य के मत में वैदिक और अवैदिक के भेद से दो सांख्य होंगे जिसमें वैदिक सांख्य के प्रणेता तो भगवान् विष्णु के अवतार कपिल होंगे और अवैदिक सांख्य के प्रणेता कोई और कपिल। यह सम्भावना भाष्य के दूसरे टीकाकार गोविन्दानन्द के शब्दों से वास्तविकता में परिणत हो जाती है। उनकी 'रत्नप्रभा' व्याख्या के शब्द इस प्रकार हैं :—"**कपिलशब्दमात्रेण सांख्यकर्ता श्रौत इति भ्रान्तिरयुक्ता, तस्य द्वैतवादिनः सर्वज्ञत्वायोगात्। अत्र च सर्वज्ञानसम्भृतत्वेन श्रुतःकपिलो वासुदेवांश एव। स हि सर्वात्मत्वज्ञानं वैदिकसांख्यमुपदिशतीति सर्वज्ञ इति भावः।**" इसका स्पष्ट और सीधा अर्थ यह है कि "उद्धृत श्रुति में केवल 'कपिल' शब्द देखकर यह समझ लेना कि सांख्य शास्त्र के कर्ता कपिल ऋषि ही इसमें गृहीत है, युक्त नहीं है अपितु भ्रान्ति है। क्योंकि वह द्वैतवादी कपिल तो अद्वैतवादिनी श्रुति में सर्वज्ञ कहा ही नहीं जा सकता। यहाँ तो सर्वज्ञता से सम्पन्न कहे जाने के कारण कपिल ऋषि भगवान् वासुदेव के अंश ही हैं। उन्होंने ही सर्वात्मत्व-ज्ञान रूप वैदिक सांख्य का उपदेश दिया है, अतः वे ही सर्वज्ञ हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ आनन्दगिरि के शब्दों से वासुदेवांश सर्वज्ञ कपिल द्वारा उपदिष्ट वैदिक सांख्य एवं उनसे भिन्न असर्वज्ञ कपिल द्वारा उपदिष्ट अवैदिक सांख्य, इन दो प्रकार के सांख्य-शास्त्रों की सत्ता सम्भाव्य प्रतीत होती है, वहाँ गोविन्दानन्द के शब्दों में वह साक्षात् कथित है। अब यदि भाष्य की पूर्वोद्धृत पंक्ति का

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २।१।१ के शाङ्कर-भाष्य की (i) आनन्दगिरि-कृत व्याख्या :—शब्दसामान्यादेव सांख्य-प्रणेता कपिलः श्रौत इति भ्रान्तिरविवेकिनामित्यर्थः। वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा पितुरादेशादश्वमेधपशुमन्विष्य परिसरे पश्यतामिन्द्रचेष्टितमदृष्टवतां षष्टिसहस्रसंख्याजुषामात्मोपरोधिनां सगरसुतानां सहसैव भस्मीभावहेतुः सांख्यप्रणेतुरवैदिकादन्यः स्मर्यते ;

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृष्ठ १३।

अर्थ यही हो, तब तो महाभारत और भागवत आदि के वचनों के साथ भाष्यकार शंकराचार्य के लेख का पूर्व-प्रदर्शित विरोध नहीं होगा और तब पूर्वोक्त अध्याहार में उनका स्वारस्य भी हो सकता है, क्योंकि सांख्योपदेष्टा कपिल भागवत आदि के अनुसार भी वेदानुयायी ही हैं, वेद-विरोधी नहीं। यह बात और है कि भागवत इत्यादि में वैदिक एवं अवैदिक, दो प्रकार के सांख्य एवं उनके उपदेष्टा पृथक्-पृथक् दो कपिल कहीं भी नहीं कहे गए हैं हाँ, पद्म पुराण में अवश्य ऐसा उल्लेख है। उसमें एक स्थल पर कहा गया है कि वासुदेव कपिल ने भृगु इत्यादि महर्षियों को वैदिक सांख्य का उपदेश दिया और दूसरे कपिल ने वेद-विरुद्ध सांख्य का प्रचार किया[1]। पीछे कहा जा चुका है कि महाभारत के टीकाकार आचार्य नीलकण्ठ ने भी महाभारत में वर्णित सांख्य का यत्र-तत्र 'उपनिषत्काण्ड' और 'श्रुति-प्रसिद्ध ऐकात्म्य-शास्त्र' अर्थ लेते हुए उसे कपिल-प्रोक्त षष्टि-तंत्रात्मक सांख्य से भिन्न कहा है। पर जैसा वहाँ स्पष्ट कर चुके हैं, ऐसी मान्यता भ्रममूलक ही प्रतीत होती है। दो कपिल और दो सांख्य मानने से व्यर्थ का कल्पना गौरव होता है। महाभारत के सांख्य-प्रसंगों में यत्र-तत्र वर्णित ऐकात्म्य का समन्वय तो षष्टितन्त्रात्मक सांख्य में भी चैतन्य-सामान्य के आधार पर हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में शांकर-भाष्य की पूर्व उद्धृत पंक्ति का वही अर्थ होना चाहिए जो पहले दिया जा चुका है।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रथम ही अर्थ ठीक है, तो विष्णु-अवतार कपिल से भिन्न दूसरे कौन से कपिल हैं जो शांकर-भाष्य की उक्त पंक्ति में अभिप्रेत हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत श्रुति-पंक्ति[2] के भाष्य में शङ्कराचार्य ने स्वयं ही दिया है। वह भाष्य इस प्रकार है :— **"ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः। कपिलं कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इत्यस्यैव जन्मश्रवणात् अन्यस्य चाश्रवणात्। उत्तरत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति वक्ष्यमाणत्वात्। 'कपिलोऽग्रजः' इतिपुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते।"** इससे स्पष्ट है कि शङ्कराचार्य श्रुति में आए हुए 'कपिल' पद का अर्थ हिरण्यगर्भ करते हैं, चाहे कपिलोऽग्रजः' आदि पुराण-वचन के आधार पर कपिल को अग्रज अर्थात् सृष्टि के आदि में सर्व-प्रथम उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ का पर्याय मान लिया जाय और चाहे तो 'कपिल' का 'कनक के समान कपिल अर्थात् पीत वर्ण वाला' अर्थ करके उसे हिरण्यगर्भ का विशेषण माना जाय। आगे इसी पद का इस अर्थ के विकल्प रूप से लोक-प्रसिद्ध 'परमर्षि कपिल' अर्थ भी शङ्कराचार्य ने किया है और उसमें विष्णु पुराण आदि का प्रमाण भी उद्धृत किया है।[3]

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि शङ्कराचार्य ने 'कपिल' पद का 'हिरण्यगर्भ' अर्थ करके फिर प्रसिद्ध 'विष्णवतार परमर्षि कपिल' अर्थ क्यों किया, जबकि 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्

---

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य के २.१.१ पर डा० बेल्वलकर-लिखित टिप्पणी, पृ० ४:— कपिलो वासुदेवाख्यः सांख्यं तत्त्वं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च॥ तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्यो जगाद ह॥

२. द्रष्टव्य, श्वेताश्वतरोप० ५।२।

३. द्रष्टव्य, वही श्वेताश्व० ५।२ का शां० भा०:—"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल। विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः"॥ "त्वं शक्रः सर्वदेवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि। वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः॥ ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि। सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शङ्करः"॥ इति परमर्षिः प्रसिद्धः।

(श्वेताश्व० ३।४) तथा 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वेताश्व० ६।१८) इत्यादि पूर्व एवं अनन्तर स्थित मन्त्रों में आए हुए 'पूर्वं जनयामास' और 'पूर्वं विदधाति' पदों का 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' (श्वेताश्व० ५।२) इत्यादि प्रस्तुत मन्त्र के 'अग्रे प्रसूतम्' पदों के साथ अत्यधिक साम्य होने से 'कपिल' का 'हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा' अर्थ प्रसङ्ग-प्राप्त अतश्च युक्त प्रतीत होता है। द्वितीय अर्थ के प्रमाण रूप से उद्धृत विष्णु पुराण आदि के वचनों तथा 'प्रसिद्धः' पद के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक वचनों एवं लोक-मत के अनुरोध से ही भाष्यकार शङ्कराचार्य को दूसरा अर्थ करना पड़ा। उन्होंने यह भी देखा होगा कि ऐसा अर्थ करने पर भी कपिल ऋषि की सर्वज्ञता, तथा उनके द्वारा उपदिष्ट सांख्य शास्त्र की प्रामाणिकता 'गले पतित' अर्थात् अवश्य मान्य नहीं होगी; क्योंकि, जैसा उन्होंने ब्रह्मसूत्र २। ११ के भाष्य में पूर्वोद्धृत पंक्तियों के आगे वाली **'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्'** पंक्ति में स्वयं स्पष्ट किया है, **'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'** इत्यादि श्रुति-पंक्ति में परमात्मा का ही मुख्यतः अभिधान या निर्देश हुआ है और कपिल की सर्वज्ञता का प्रसंगतः या गौण रूप से। अतः यह पंक्ति कपिल की सर्वज्ञता अथवा तत्प्रणीत सांख्य शास्त्र की प्रामाणिकता की साधक नहीं हो सकती। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि जिसने सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञान से सम्पन्न किया था और उत्पन्न होते हुए भी देखा था, वही परमात्मा सबका शासक है। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि जिसने सृष्टि के आरम्भ में प्रसिद्ध कपिल ऋषि को उत्पन्न करके ज्ञान से सम्पन्न किया था, उसी परमात्मा का दर्शन या साक्षात्कार करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत श्रुति में कपिल की सर्वज्ञता का अभिधान या कथन वस्तुतः उनके रचयिता परमात्मा की सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता को सूचित या ज्ञापित करने के लिए ही किया गया है। अतः यह कपिल की सर्वज्ञता का साधक या प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार द्वितीय अर्थ से पुराण-वचनों तथा लोक-प्रसिद्धि, दोनों की रक्षा भी हो गई और कपिल तथा तत्कृत सांख्य शास्त्र की प्रामाणिकता भी नहीं माननी पड़ी। सम्भवतः इसीलिए भाष्यकार ने ऐसा अर्थ किया। पं० उदयवीर शास्त्री ने इसके सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ के पृ० १५-१६ पर इस प्रकार लिखा है :—"परन्तु शङ्कराचार्य को 'कपिल' पद का 'कनककपिल वर्ण' अर्थ करके सन्तोष नहीं हुआ। उसको भी यह बात तो अवश्य सूझती ही थी कि हमारे ऐसा अर्थ करने में उपोद्बलक ही क्या है ? इसलिए शंकराचार्य ने श्वेताश्वतर में उपर्युक्त श्रुति का अर्थ करते हुए अन्त में 'कपिल' पद का अर्थ 'परमर्षि कपिल' ही अङ्गीकार किया है।... इसीलिए शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य मे भी उपर्युक्त पंक्तियों[1] के अनन्तर एक पंक्ति लिख दी है, जिससे उसके हृदय का स्पष्टीकरण हो जाता है। पंक्ति इस प्रकार है—**'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहिस्यासाधकत्वात्'** ।..शङ्कराचार्य ने इस पंक्ति को लिख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस श्वेताश्वतर श्रुति में सांख्यों का प्रसिद्ध कपिल ही उपादेय है, भले ही उसका उल्लेख प्रसङ्ग-वश आया हो। हम इस समय उसके मत की मान्यता या अमान्यता पर विचार नहीं कर रहे हैं। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस श्रुति में जिस कपिल का उल्लेख है,

---

१. या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्।

वह सांख्य-प्रवर्तक कपिल ही है और यह मत शङ्कराचार्य को भी मान्य है। इसीलिए प्रथम, 'कपिल' पद का जो अर्थ शङ्कराचार्य ने हिरण्यगर्भ (कनककपिलवर्ण) किया है, वह प्रौढिवाद से ही किया है तथा उसमें श्रुति का स्वारस्य न जान कर ही अन्त में विस्तारपूर्वक प्रमाण सहित सांख्य-प्रवर्तक कपिल का ही उल्लेख माना है"। हम शास्त्री जी के इन विचारों से सर्वथा सहमत नहीं हैं। उन्होंने अपने मन के भावों को शङ्करचार्य पर थोपे हैं। पहला अर्थ प्रौढिवाद से किया गया है, उसमें कोई उपोद्बलक नहीं है, उसमें श्रुति तथा शङ्कराचार्य का अपना भी स्वारस्य नहीं है, यह जानकर ही शंकराचार्य ने प्रमाण-सहित दूसरा अर्थ किया है, इत्यादि बातें अनर्गल ही हैं। प्रथम अर्थ में कुछ न कुछ उपोद्बलक तो है ही, जिसकी ओर संकेत इसके पूर्व कर चुके हैं। उपोद्बलक होने पर श्रुति-स्वारस्य भी माना ही जायगा। इसीलिए वहाँ लिख आए हैं कि भागवत, विष्णु आदि पुराणों में तथा लोक में भी परमर्षि कपिल के विष्णु-अवतार तथा सांख्योपदेष्टा के रूप में ही प्रसिद्ध होने के कारण उसके अनुरोध से ही दूसरा अर्थ 'परमर्षिः कपिल:' किया है, पहले अर्थ के अनिष्ट एवं दूसरे अर्थ के अभीष्ट होने के कारण नहीं। वस्तुतः भाष्यकार को यही कहना अभिप्रेत प्रतीत होता है कि दो पृथक्-पृथक् कारणों से दोनों ही अर्थ सम्भव हैं और दोनों में से किसी भी अर्थ के लिए जाने पर प्रस्तुत श्रुति से सांख्यों का यह अभिप्रेत कथमपि सिद्ध नहीं होता कि सांख्य दर्शन और उसके उपदेष्टा कपिल श्रुति में प्रामाणिक घोषित किए गए हैं।

इस समस्त विवेचन का तात्पर्य सांख्य शास्त्र और उसके कर्ता परमर्षि कपिल के सम्बन्ध में श्वेताश्वतर श्रुति के प्रामाण्य को खण्डित करना नहीं, अपितु इस तथ्य को स्पष्ट करना है कि भाष्यकार शङ्कराचार्य के किसी भी लेख से कपिल काल्पनिक नहीं सिद्ध होते। उनके मत से श्वेताश्वतर श्रुति से उनकी सर्वज्ञता अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान की प्रामाणिकता भले न सिद्ध हो परन्तु उनकी सत्ता तो सिद्ध होती ही है और फिर जब उनके लिए 'ज्ञानी' के पर्याय 'ऋषि' शब्द का प्रयोग श्रुति में हुआ है और इतना ही नहीं अपितु 'ज्ञानैर्बिभर्ति' पदों से उसकी पुष्टि भी हुई है, तब चाहे वह अनुवाद-मात्र ही हो, उससे उनकी ज्ञानवत्ता भी सूचित होती ही है। इसके अतिरिक्त **'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्'** इत्यादि लेख द्वारा सांख्योपदेष्टा कपिल की परमर्षिता या आप्तता को खण्डित करने का भाष्यकार-कृत प्रयास इस बात का सबसे प्रबल प्रमाण है कि उनकी परमर्षिता और आप्तता का उद्घोष करने वाले पुराण-वचनों का शङ्कराचार्य के समीप विशेष महत्त्व था, वे उन वचनों की किसी प्रकार से उपेक्षा नहीं कर सकते थे और इसी कारण से उन्हें कपिल को सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुआ ऋषि मानना ही पड़ा।

(४) वाचस्पति मिश्र के कपिल-विषयक विचार

कपिल के सम्बन्ध में अभी तक जो मत स्थापित कर चुके हैं, उसी का समर्थन षड्दर्शनों के व्याख्याकार प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र के लेखों से भी होता है। ६९वीं सांख्य-कारिका[1] में आए हुए 'परमर्षिणा' पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने 'कपिलेन' ही किया है। फिर ४३वीं सांख्य-कारिका की व्याख्या में सांसिद्धिक भावों का उदाहरण देते हुए वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार लिखा है :—"यथा **सर्गादावादिविद्वान् भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्म-**

१. पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्। स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्॥

ज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति।" इस सन्दर्भ में आए हुए 'आदिविद्वान्' 'महामुनिः' एवं 'प्रादुर्बभूव' पदों से स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र के मतानुसार कपिल नामक एक ऋषि सृष्टि के आरम्भिक काल में उत्पन्न हुए थे, जो जन्म ही से ज्ञानी थे। वाचस्पति मिश्र के इस सन्दर्भ में पञ्चशिखाचार्य के प्रसिद्ध सूत्र '**आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय करुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच**' के ही भाव प्रतिध्वनित होते दिखते हैं। इस सूत्र को व्यासदेव ने योगसूत्र '**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्**' (१।२५) का भाष्य करते हुए प्रसंगतः उद्धृत किया है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य मिश्र ने योगभाष्य की अपनी टीका तत्त्ववैशारदी में इस प्रकार लिखा है:—"**आदिविद्वानिति पञ्चशिखाचार्यवचनमादिमुक्तस्वसन्तानादिगुरुविषयं, न त्वनादिमुक्तपरमगुरुविषयम्। आदिमुक्तेषु कदाचिन्मुक्तेषु विद्वत्सु कपिलोऽस्माकमादिविद्वान् मुक्तः, स एव च गुरुरिति। कपिलस्यापि जायमानस्य महेश्वरानुग्रहादेव ज्ञानप्राप्तिः श्रूयत इति। कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।**" इस व्याख्या का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर अनादिमुक्त परम गुरु हैं, वे '**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**' (योगसू० १।२६) इत्यादि के अनुसार काल से अनवच्छिन्न हैं। कपिल, हिरण्यगर्भ आदि भी जीवों के कल्याण के लिए सर्ग के आदि में ज्ञान का उपदेश करने के कारण गुरु हैं। परन्तु वे सब परमेश्वर के अनुग्रह से किसी काल-विशेष में ही मुक्त हुए थे, अतएव आदि-मुक्त हैं। इन सभी को अनुग्रह-पूर्वक ज्ञान देकर मुक्त करने के कारण ही परमेश्वर इन लोक-गुरुओं के भी गुरु अर्थात् परम गुरु हैं। वे ईश्वर ही जीवों के कल्याणार्थ कपिल, विष्णु, हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) बनते रहते हैं। इनमें भी कपिल विष्णु के पंचम अवतार थे और परमेश्वर के अनुग्रह से इन्हें ज्ञान-प्राप्ति हुई थी, ऐसा श्रुति में प्रसिद्ध है।

वाचस्पति मिश्र की इस व्याख्या से दो बातें सुस्पष्ट हैं: एक तो यह कि जो कपिल श्वेताश्वतर[1] श्रुति में ज्ञान-युक्त कहे गए हैं, वे ही विष्णु के अवतार थे; दूसरी बात यह कि उन्होंने किसी काल-विशेष में ही परमेश्वरानुग्रह से ज्ञान-संवलित होकर सिद्धि या मुक्ति पाई थी। इससे सिद्ध है कि मिश्र महोदय के अनुसार कपिल काल्पनिक नहीं थे अपितु किसी समय-विशेष में विष्णु की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे और सिद्धि प्राप्त कर लोक-कल्याणार्थ उन्होंने आसुरि के द्वार से विश्व को सांख्य-ज्ञान का उपदेश दिया था। यह समय कौन सा था, इसे इसी अध्याय में आगे स्पष्ट करेंगे।

(५) कपिल की काल्पनिकता का खण्डन

किन्तु संस्कृत वाङ्मय के पूर्वोद्धृत समस्त साक्ष्यों के विपरीत अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विचारक भी कपिल को काल्पनिक ही मानने के पक्ष में हैं। कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर आदि विद्वानों ने कपिल को अनैतिहासिक ही पुरुष माना है। इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए डा० कीथने अपने ग्रन्थ[2] में लिखा है कि 'कपिल' पद हिरण्यगर्भ का पर्याय है और अग्नि, विष्णु तथा शिव आदि के साथ कपिल की एकात्मता का भी

१. श्वेताश्वतर को छोड़कर अन्य किसी प्रसिद्ध श्रुति में कपिल का उल्लेख नहीं हुआ है।

२. द्रष्टव्य, Sankhya System, पृ० ६।

उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है। इसलिए कहा जा सकता है कि सांख्य-प्रवर्तक कपिल नामक कोई भी व्यक्ति वस्तुतः पृथ्वी पर कभी अवतीर्ण ही नहीं हुआ। पाश्चात्य विद्वानों एवं विचारकों ने ही कपिल मुनि के ऐतिहासिक व्यक्ति होने का खंडन किया हो, अथवा उसमें सन्देह प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं है। कुछ आधुनिक भारतीय विद्वन्मूर्धन्य भी कपिल की ऐतिहासिक सत्ता मानने से हिचकते अथवा इनकार करते हैं। महामहोपाध्याय डा० हरदत्त शर्मा ने लिखा है कि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में कोई सबल प्रमाण नहीं मिलता[1]। महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज ने भी सांख्यकारिका की 'जयमङ्गला' टीका की स्व-लिखित भूमिका में कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि आसुरि के प्रति उनके सांख्य-विषयक उपदेश को कविराज जी ने ऐतिहासिक घटना ही माना है। 'जयमङ्गला' टीका की भूमिका[2] में पृष्ठ २,३ पर उन्होंने लिखा है कि "'ऐतिहासिक' शब्द के लोक-प्रचलित अर्थ में सांख्य के आदि प्रवक्ता वस्तुतः तो वर्तमान कल्प में मानव जाति के सर्व-प्रथम ज्ञानी—कपिल ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे, यह बात निस्सन्देह है। नाथ सम्प्रदाय तथा प्राचीन रसायनशास्त्र के अनुयायियों के साहित्य में भी उनको सिद्ध कहा गया है। भगवद्गीता में भी उन्हें सिद्ध-श्रेष्ठ कहा गया है। किसी न किसी रूप में किए गए अपने वैयक्तिक प्रयत्नों से प्राप्त हुई जन्म-सिद्धि के दृष्टान्त रूप से उनका प्रायेण उल्लेख किया जाता है। योगसूत्र १।२५ के व्यास-भाष्य में एक सूत्रात्मक उद्धरण प्राप्त होता है। वाचस्पति ने इसे पञ्चशिख का कहा है, जो इस प्रकार है :—**'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'**। इससे जान पड़ता है कि कपिल ने गुरु रूप से 'तन्त्र' अर्थात् गूढ ज्ञान (नामतः सांख्य-सिद्धान्त या षष्टितन्त्र) का उपदेश जिज्ञासु शिष्य आसुरि को दिया। निर्माणकाय की कल्पना से ही ध्वनित होता है कि गुरु का अपना कोई भौतिक शरीर नहीं था और इसलिए आसुरि के सम्मुख उनका प्रकट होना कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। किन्तु इस अर्थ में यह घटना निस्सन्देह ऐतिहासिक थी कि आसुरि एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और उनके द्वारा सांख्य का उद्धार या पुनरुज्जीवन काल-विशेष में होने वाली वास्तविक घटना थी। **पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥** भागवत १।३।११ में कपिल की प्रेरणा से आसुरि द्वारा होने वाले इस सांख्योद्धार का उल्लेख हुआ है।"[3]

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी के पूना संस्करण की भूमिका, पृ० १४

२. ओरियण्टल सीरीज् कलकत्ता में डा० नरेन्द्रनाथला द्वारा प्रकाशित तथा पं० हरदत्त शर्मा द्वारा सम्पादित जयमंगला-सहित सांख्यकारिका की कविराज जी द्वारा लिखित भूमिका।

३. That Kapila. the first teacher of Sankhya–in fact the first Englishtened Human Bing during the current cycle–was not a historical personage in the usually accepted sense of the term, is without any doubt. He is referred to as a Siddha in the literature of the Nathas and of the votaries of the ancient Science of Alchemy (रसायन) And in the Bhagvadgita 'too he is described as the best of the Siddhas. His case is often cited in illustration of what is technically known

प्रस्तुत उद्धरण में कविराज जी ने पञ्चशिख-सूत्र में आये हुये 'निर्माण-चित्त' पद का अर्थ 'निर्माण-काय' किया है और इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आसुरि के गुरु परमर्षि कपिल का अपना कोई भौतिक शरीर नहीं था और इसलिए आसुरि के सम्मुख उनका प्रकट होना कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। जिस 'निर्माण काय' अर्थ के आधार पर उन्होंने इतना महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है, उसे नीचे दी गई पाद-टिप्पणी[१] में स्पष्ट करते हुए कविराज जी ने लिखा है कि 'निर्माणकाय तथा निर्माण-चित्त वस्तुतः एक ही हैं। पतञ्जलि ने निर्माण-चित्त और 'अस्मिता' अर्थात् अहङ्कार से उसकी उत्पत्ति के प्रकार का वर्णन किया है। व्यास और पञ्चशिख ने भी इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। किन्तु उदयन ने बिलकुल इसी अर्थ में 'निर्माण-काय' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध लेखकों ने भी ऐसा ही किया है, जिनमें इसी अर्थ का द्योतक 'काय' शब्द बहुत प्रचलित है। वस्तुतः सिद्धि चित्त और काय की आश्चर्यजनक एकता उत्पन्न कर देती है जिसके कारण उससे उत्पन्न वस्तु 'चित्त' एवं 'काय' दोनों ही

as janmasiddhi i.e. perfection obtained through pesonal exertion in some shape or the other.

There is an aphoristic statement quoted in Vysa's commentary on the yogasutras 1·25. It is attributed by Vacaspati to Pancashikha and runs thus : आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच It appears from the above that Kapila disclosed Tantra i.e. the secret Wisdom (viz. the Sankhya-doctrines or the Shashtitantra) to Asuri, as a Master to a seeking Disciple. The assumption of Nirmana-kaya implies that the Master had not a physical body and his appearance before Asuri does not therefore represent an historical fact. But it was certainly historical in the sense that Asuri was a historical person and that his revival of Sankhya was an actual event in time [The Bhagavata 1.3.11 refers to this revival of Sankhya by Asuri under the inspiration of Kapila].

१. Nirmana-Kaya and Nirmana-Citta are practically identical. Patanjali speaks of the Nirmana-Citta and how it is evolved from the stuff of 'asmita'. Vyasa and Pancashikha also refer to it under this name. But Udayana employs the term nirmana-kaya, in exactly the same sense. So do the Buddhist writers with whom this 'kaya' is a familiar expression........The fact is that Siddhi leads in a wonderful manner to the unification of citta (mind) and kaya (body), so that the resultant product may be fitly described as a Mind as well as a body. This process of unification, which of course presupposes an elimination of impurities in each, is to be sharply differentiated from the other process of Discrimination. The so called Kaya-siddhi, effected through Alchemy, Hatha-yoga, Raja-yoga or Mantra, is identical with the realization of nirmana-kaya. Before he had plunged into nirvana, Kapila furnished himself with a siddha-deha and appeared before Asuri to impart to him the secrets of Sankhya-vidya.

कही जा सकती है।"..."निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व कपिल ने एक सिद्ध देह धारण किया तथा आसुरि को सांख्य-ज्ञान का रहस्य प्रदान करने के लिए वे उनके सम्मुख प्रकट हुए थे।"

कविराज जी के पूर्वोद्धृत लेख से स्पष्ट है कि वे कपिल को सांख्य का आदिम प्रवक्ता या उपदेशक मानते हुए भी लोक-स्वीकृत अर्थ में 'ऐतिहासिक' व्यक्ति नहीं मानते। वर्तमान कल्प में मानव-जाति का सर्व-प्रथम ज्ञानी मानते हुए भी भौतिक शरीर वाला नहीं मानते। **'पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्राम-विनिर्णयम्॥'** इत्यादि भागवतीय लेख का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए वे आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति, तथा कपिल की सत्प्रेरणा एवं उनके सदुपदेश से आसुरि द्वारा होने वाले सांख्योद्धार को काल-विशेष में होने वाली ऐतिहासिक घटना अवश्य मानते हैं। अपनी इस मान्यता के लिए उनको **'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'** इत्यादि पञ्चशिख-सूत्र में भी आधार और समर्थन प्राप्त हुआ। परन्तु इसी सूत्र के **'निर्माणचित्तमधिष्ठाय'** पदों के कारण वे कपिल को लोक-स्वीकृत अर्थ में ऐतिहासिक व्यक्ति न मानने के लिए भी विवश हैं। 'निर्माण-चित्त' का 'निर्माण-काय'—सिद्ध देह—अर्थ ग्रहण करने के कारण ही सम्भवतः कविराज जी को कपिल मुनि के भौतिक जन्म का कोई आधार नहीं मिला। 'ऐतिहासिक व्यक्ति' का अर्थ उन की दृष्टि में यही भौतिक जन्म, लोक-स्थित माता-पिता से उत्पन्न पाञ्चभौतिक शरीर धारण करना है, न कि सङ्कल्प-रचित शरीर।

कविराज जी के इस मत में कई विषमतायें या असङ्गतियाँ प्रतीत होती हैं। सर्व-प्रथम असङ्गति तो यही है कि 'पञ्चमः कपिलो नाम' इत्यादि भागवतीय लेख के आधार पर वे आसुरि को तथा कपिल के द्वारा उन्हें दिए जाने वाले सांख्योपदेश को तो ऐतिहासिक सत्य मानते हैं, परन्तु जिसके अभाव में वह उपदेश असम्भव होता, उसी को ऐतिहासिक मानने से इनकार करते हैं, जब कि उसी श्लोक में कपिल को भगवान् विष्णु का पाँचवाँ अवतार कहा गया है। जब और सब अवतार ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, तब 'निर्माणचित्तम-धिष्ठाय' आदि लेख के आधार पर केवल कपिल को ही ऐतिहासिक व्यक्ति होने से कैसे इनकारा जा सकता है? फिर भागवत के 'पञ्चमः कपिलो नाम' इत्यादि लेख में ही कपिल का उल्लेख हो, ऐसी भी बात नहीं है। भागवत में जहाँ-कहीं भी भगवान् के अवतारों की चर्चा आई है, वहाँ उन अवतारों में कपिल का उल्लेख अवश्य हुआ है। इतना ही नहीं, भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तिम दस-बारह अध्यायों में कपिल के माता, पिता, जन्म कर्म, उपदेश आदि का सविस्तर वर्णन मिलता है। ऐसी स्थिति में यदि भागवत के 'पञ्चमः कपिलो नाम' इत्यादि लेख का प्रामाण्य कविराज जी स्वीकार करते हैं, तो उसी के तद्विषयक अन्य महत्त्वपूर्ण लेखों के प्रामाण्य को स्वीकार करने से इनकार कैसे कर सकते हैं? यह बात बहुत संगत तो नहीं प्रतीत होती कि किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु के विषय में किसी ग्रन्थ या आचार्य की एक बात प्रामाणिक मानी जाय और दूसरी अप्रामाणिक। कविराज जी के मत में दूसरी असंगति यह है कि वे कपिल को इस कल्प में मनुष्य जाति का सर्व-प्रथम ज्ञानी व्यक्ति मानते हुए भी अनैतिहासिक मानते हैं। यह बात समझ में नहीं आती कि मनुष्य जाति का कोई भी व्यक्ति, विशेषतः किसी अधिकारी व्यक्ति को शास्त्र-विशेष का

उपदेश देने वाला, अनैतिहासिक कैसे माना जा सकता है ? फिर भागवत के लेख के विरुद्ध कपिल को अयोनिज भी कैसे माना जाय ? अच्छा यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि कपिल अयोनिज थे अर्थात् सिद्धि के बल से उन्होंने स्वयं अपने शरीर की रचना की थी, तो भी उसके विषय में यह प्रश्न उठता है कि वह शरीर भौतिक था या अभौतिक ? अयोनिज अर्थात् सिद्धि के बल से स्वयं-रचित होने के कारण कविराज जी ने उसे अभौतिक ही कहा है। 'निर्माण-चित्त' पद के 'निर्माण-काय' अर्थ को कविराज जी ने इसी स्व-रचित अयोनिज शरीर का बोधक माना है। विचार करने पर ये दोनों भी बातें उचित नहीं जान पड़तीं।

योगसूत्रकार पतञ्जलि, उनके भाष्यकार व्यास, तथा व्यास-भाष्य के भी टीकाकार प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र इत्यादि के लेखों से निर्माण-चित्त तथा निर्माण-काय समानार्थक न होकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। एवं निर्माण-काय अथवा सिद्ध-देह भी इनके लेखों के आधार पर भौतिक ही प्रतीत होता है, अभौतिक नहीं। कविराज जी ने पतञ्जलि द्वारा 'निर्माण-चित्त' और 'अस्मिता' अर्थात् अहङ्कार से उसकी उत्पत्ति के वर्णन का उल्लेख पीछे उद्धृत अपनी टिप्पणी में किया है। 'निर्माण चित्त' और 'निर्माण-काय' का यह प्रकरण योगसूत्र ४।१।४ में आया है। इनमें से प्रथम सूत्र में पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है, जो इस प्रकार है :—'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः'। इसका अर्थ यह है कि जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि से उत्पन्न होने के कारण सिद्धियाँ पाँच प्रकार की हैं। इनमें से 'जन्म-सिद्धि' नामक जो प्रथम सिद्धि है और जिसका उल्लेख कपिल के सम्बन्ध में कविराज जी ने किया है, उसका स्वरूप व्यास-भाष्य में 'देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः' शब्दों द्वारा अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है। इसका तात्पर्य है कि किसी जन्म में सम्पादित एक अथवा अनेक विशिष्ट कर्मों के फल-स्वरूप जन्मान्तर में किसी दृष्ट साधन अथवा प्रयास के बिना ही परचित्तज्ञता, दूरदर्शन आदि विशिष्ट शक्तियों का प्रादुर्भाव।[1] इसी प्रकार ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न सिद्धियाँ भी होती हैं। द्वितीय सूत्र[2] में यह बताया गया है कि इस प्रकार का सिद्ध योगी जब अपने विद्यमान शरीर और इन्द्रियों को किसी दूसरी योनि के शरीर और इन्द्रियों में परिणत करना चाहता है, तब उस दूसरी योनि के शरीर और इन्द्रियों की प्रकृतियाँ—उनके उपादान कारण—उनकी उत्पत्ति में सहायक होती हैं। इसे स्पष्ट करते हुए व्यासदेव ने इस सूत्र के भाष्य में इस प्रकार लिखा है :—'**कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण**'। अर्थात् शरीर और इन्द्रियों की प्रकृतियाँ अपने-अपने अवयवों के प्रवेश के द्वारा अपने-अपने कार्यों की उत्पत्ति में सहायक होती हैं। शरीर और इन्द्रियों की इन्हीं प्रकृतियों को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में इस प्रकार लिखा है:—'**मनुष्यजातिपरिणतानां कायेन्द्रियाणां यो देवतिर्यग्जातिपरिणामः स खलु प्रकृत्यापूरात्। कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि इन्द्रियाणां च**

१. द्रष्टव्य, योग-भाष्य ४।१ की हरिहरानन्दआरण्यक-कृत टीका 'भास्वती', पृ० ३६२:—कर्मविशेषादन्यस्मिन् जन्मनि प्रादुर्भूता देहवैशिष्ट्यजाता जन्मना सिद्धिः, यथा वैपाक्षिकेनापि दृष्टसाधनं शरीरप्रकृतिविशेषात् परचित्तज्ञतादिदूराच्छ्रवणदर्शनादिर्वा।

२. जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।

प्रकृतिरस्मिता । तदवयवानुप्रवेश आपूरस्तस्माद् भवति' । इन सभी लेखों से स्पष्ट है कि सांख्य-योग के अनुसार सभी शरीरों की प्रकृति पृथ्वी इत्यादि भूत हैं और समस्त इन्द्रियों की प्रकृति 'अस्मिता' या अहङ्कार है और सिद्ध योगी भी अयोनिज सिद्ध देहों की रचना भी पृथ्वी आदि भूतों से ही करते हैं, उनसे भिन्न किसी अन्य तत्त्व से नहीं। इस प्रकार उनके भी निर्माण-काय भौतिक ही सिद्ध होते हैं, अभौतिक कदापि नहीं। ये सभी निर्माण-काय योगी के मौलिक या जन्मकालिक शरीर से भिन्न होते हैं, साथ ही इनके चित्त भी उसके मौलिक चित्त से भिन्न होते हैं। निर्माण-कायों के ये सभी चित्त निर्माण-चित्त कहलाते हैं। इनकी उत्पत्ति इनकी प्रकृति 'अस्मिता' या अहङ्कार से होती है, जैसा कि आगे के चौथे सूत्र में कहा गया है : —**'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'**। भाष्यकार व्यास ने भी इसकी व्याख्या करते हुए यही बात कही है।[1] उनके कथन का तात्पर्य यह है कि चित्त के उपादान-कारण 'अस्मिता' को लेकर सिद्ध योगी स्व-रचित शरीरों के लिए पृथक्-पृथक् चित्तों की भी रचना कर लेता है जिससे उसके समस्त निर्माण-काय निर्माण-चित्त से युक्त हो जाते हैं।

इन समस्त लेखों से एक ही बात स्पष्ट होती है कि निर्माण-काय निर्माण-चित्त से पृथक् या भिन्न हैं एवं विभिन्न कर्मों के भोग आदि अथवा लोक-कल्याण आदि के लिए एक नहीं अपितु दोनों की ही रचना उनके पृथक्-पृथक् उपादानों पृथिव्यादि भूतों तथा अस्मिता से एक साथ ही करता है, क्योंकि किसी एक से भोगादि प्रयोजन सिद्ध ही नहीं हो सकते। इस प्रकार जहाँ-कहीं भी दोनों में से किसी एक की रचना का कथन है, वहाँ उसे दोनों का उपलक्षण समझना चाहिए। जैसे सामान्य चित्त और सामान्य शरीर एक दूसरे के बिना पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते, उसी प्रकार निर्माण-चित्त और निर्माण-काय को भी समझना चाहिए, क्यों कि अन्ततः तो वे भी चित्त और शरीर ही हैं, और उन्हीं उपादान कारणों से उत्पन्न हैं जिनसे जन्म के समय के सामान्य चित्त और शरीर उत्पन्न हुए हैं। ऐसी स्थिति में कविराज जी का पूर्वोद्धृत यह लेख कि "निर्माण-काय तथा निर्माण-चित्त वस्तुतः एक ही हैं।......वस्तुतः सिद्धि चित्त और काय की आश्चर्यजनक एकता उत्पन्न कर देती है जिसके कारण उससे उत्पन्न वस्तु 'चित्त' और 'काय' दोनों ही कही जा सकती है—" पतञ्जलि, व्यास, वाचस्पति आदि प्राचीन आचार्यों के लेखों के सर्वथा विरुद्ध ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार उनका यह लेख कि "निर्माण-काय की कल्पना से ही ध्वनित होता है कि गुरु का अपना कोई भौतिक शरीर नहीं था, और इसलिए आसुरि के सम्मुख उनका प्रकट होना कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है", भी उपर्युक्त आचार्यों के मन्तव्य के विरुद्ध ही प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि कपिल का स्वयं-रचित सिद्ध शरीर भी भौतिक ही रहा होगा, और वह शरीर चित्त के स्थान में नहीं अपितु चित्त के अतिरिक्त उसी के साथ-साथ निर्मित हुआ होगा। उदयनाचार्य की **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदाय-प्रवर्तकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः'**[2] इत्यादि पंक्ति में प्रयुक्त 'निर्माण-काय' को 'निर्माण-

---

१. द्रष्टव्य योग-सूत्र ४।४ का व्यास-भाष्यः—यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते, तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति, 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्'। अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति। ततः सचित्तानि भवन्ति।

२. द्रष्टव्य, न्यायकुसुमाञ्जलि की प्रारम्भिक भूमिका।

चित्त' का भी उपलक्षण समझना चाहिए, उससे अभिन्न नहीं। इसी बात का समर्थन न्याय-सूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन के उस लेख से भी होता है जिसमें उन्होंने योगी के पृथक् पृथक् इन्द्रियों (मन इत्यादि) तथा शरीरों की रचना का उल्लेख किया है।[1] यद्यपि नैयायिक 'मन' इन्द्रिय की उत्पत्ति नहीं मानते, उसे नित्य मानते हैं, तथापि इन्द्रियों के पृथक् कथन करने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि मन और शरीर पृथक् हैं। योगी जब सिद्धि के बल से अयोनिज शरीर एवं इन्द्रियों की रचना करता है, तो वह मुक्त आत्माओं के बेकार हुए मनों को लेकर पूर्व कृत कर्मों के फल के रूप में विषयोपलब्धि या भोग कर लेता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्माण-काय और निर्माण-चित्त एक नहीं हो सकते।

पञ्चशिख-सूत्र के **'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय'** इत्यादि का यह तात्पर्य नहीं होना चाहिए कि आसुरि को उपदेश देने के लिए प्रकट होने से पूर्व कपिल की स्थिति शरीर-रहित थी। क्योंकि कविराज जी के द्वारा कपिल के लिए प्रयुक्त 'जन्म-सिद्धि' शब्द का तात्पर्य, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, **'देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः'** (योगसू० ४।१ का व्यास-भाष्य) है और 'जन्म' का तात्पर्य ही है काय और चित्त के साथ आत्मा की लोक में स्थिति—भले ही जन्म-सिद्ध योगी के वे काय और चित्त सिद्ध या अयोनिज हों। अयोनिज शरीर भी भौतिक ही होता है, यह भी अभी थोड़ा पूर्व स्पष्ट हो चुका है और कपिल का सिद्ध शरीर तो योनिज था, प्रजापति कश्यप तथा देवहूति के संयोग से उत्पन्न हुआ था। ऐसी स्थिति में कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानना अयुक्त ही कहा जायगा।

किन्तु जहाँ कविराज जी कपिल को लोक-स्वीकृत अर्थ में ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते, केवल आसुरि के सम्मुख प्रकट होकर उन्हें सांख्य का उपदेश देने को ही ऐतिहासिक घटना मानते हैं, वहाँ २०वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के सांख्य-योगाचार्य श्री हरिहरानन्द आरण्यक उन्हें सर्वथा ऐतिहासिक मानते प्रतीत होते हैं। अपनी योगभाष्य-टीका 'भास्वती' के प्रारम्भ में[2] कपिल के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा है कि "भगवान् हिरण्यगर्भ योग के मूल-वक्ता हैं, जैसा कि **'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'** इत्यादि महाभारत के वाक्य में कहा गया है। इस वचन में 'हिरण्यगर्भ' परमर्षि कपिल का ही नामान्तर है, जैसा कि **'विद्यासहायवन्तमादित्यस्थं समाहितम्'** इत्यादि अन्य महाभारतीय वचन में कहा गया

---

१. द्रष्टव्य, न्यायसूत्र ३।२।१६ का वात्स्यायन-कृत भाष्य :—योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज् ज्ञेयान्युपलभते।

२. द्रष्टव्य, चौखम्बा संस्करण, पृ० १ :—"इह खलु भगवान् हिरण्यगर्भो योगस्यादिमो वक्ता, स्मर्यते च—'हिरण्यगर्भो योगस्यवक्ता नान्यः पुरातनः' इति। हिरण्यगर्भोऽत्र परमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः, यथोक्तं—'विद्यासहायवन्तमादित्यस्थं समाहितम्। कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चिताः। हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि सुस्तुतः॥' इति। हिरण्यमत्युज्ज्वलं प्रकाशशीलं ज्ञानं गर्भः अन्तःसारो यस्य स हिरण्यगर्भः पूर्वसिद्धो विश्वार्षीशः। भगवतः कपिलस्यापि धर्मज्ञानादीनां सहजातत्वात् स श्रद्धावद्भिर्ऋषिभिर्हिरण्यगर्भाख्यया पूजित इति तस्यापि हिरण्यगर्भसंज्ञा। भगवता कपिलेनैव प्रवर्तितः सांख्ययोगः। तत्र सांख्ये पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि सम्यग् विवृतानि, योगे च तत्त्वानामुपलब्ध्युपायो विवृतः। अत उक्तं—'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' इति। कालक्रमेण बहुसंवादादिषु वर्तमाना योगविद्या दुरधिगमा बभूव। ततः परमकारुणिको भगवान् पतञ्जलिर्योगविद्यां सूत्रोपनिबद्धां कृत्वा सुगमां चकार।"

है। 'हिरण्य' अर्थात् अत्युज्ज्वल प्रकाशशील ज्ञान है 'गर्भ' या आन्तरिक सार जिसका, वह पूर्व-सिद्ध विश्वाधीश 'हिरण्यगर्भ' है। भगवान् कपिल में भी जन्म के साथ-साथ धर्म, ज्ञान इत्यादि के प्रकट होने के कारण श्रद्धालु ऋषियों ने उन्हें 'हिरण्यगर्भ' नाम से भी सम्मानित किया। इस प्रकार विश्वाधीश भगवान् हिरण्यगर्भ के साथ जन्म-सिद्ध धर्म ज्ञान आदि गुणों की समता के कारण कपिल का भी नाम हिरण्यगर्भ हुआ। भगवान् कपिल ही सांख्य-योग के प्रवर्तक हैं। सांख्य में पचीस तत्त्वों का सम्यक् विवरण है, योग में इन तत्त्वों के साक्षात्कार का उपाय वर्णित है। इसी से गीता में भी सांख्य और योग को वस्तुतः अभिन्न शास्त्र कहा गया है। कालान्तर में जब अनेक संवादों में वर्णित होने के कारण योगशास्त्र दुर्गम अथवा दुष्प्राप हो गया, तब परम कृपालु भगवान् पतञ्जलि ने उसे सूत्रों में निबद्ध करके सुगम बना दिया।" आरण्यक जी के इन वचनों से सर्वथा स्पष्ट है कि वे कपिल को एक जन्म-सिद्ध परमर्षि मानते हैं, जिन्होंने सांख्य-योग का सर्व-प्रथम उपदेश दिया था तथा जिन्हें उनके विशेष गुणों के कारण ही तात्कालिक ऋषियों ने श्रद्धा-वश 'हिरण्यगर्भ' नाम से भी सम्मानित किया था। ऐसी वस्तु-स्थिति में कपिल की काल्पनिकता कथमपि सिद्ध नहीं होती। पं० उदयवीर शास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि "किन्हीं गुण-विशेषों के कारण किसी का कदाचित् नामान्तर से उल्लेख किया जाना उन नाम-पदों की पर्यायता को सिद्ध नहीं करता। शौर्य आदि गुणों के कारण किसी बालक को सिंह कहना बालक और सिंह पद की पर्यायता को सिद्ध नहीं करता और न ऐसा कहने से बालक को काल्पनिक ही कहा जा सकता है। कपिल के सम्बन्ध में भी बिलकुल यही बात है। उसको अपने लोकातिशायी विशेष गुणों के कारण ही जहाँ-तहाँ अग्नि आदि नामों से स्मरण किया गया है।...इससे न तो कपिल और हिरण्यगर्भ आदि पदों की पर्यायता ही सिद्ध होती है, और न इससे कपिल व्यक्ति को काल्पनिक ही सिद्ध किया जा सकता है। किसी भी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए यही आवश्यक समझा जाता है कि उसके लिए कोई साधक प्रमाण हो; अथवा बाधक प्रमाण न हो।...उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण और बौद्ध-जैन साहित्य, सब ही उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की घोषणा कर रहे हैं। अतीत के लिए शब्द ही प्रमाण माना जा सकता है। यदि पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में यह सब साहित्य मिथ्या ही कह रहा है, तब कोई भी व्यक्ति यह भी कह सकेगा कि कोलब्रुक, मैक्समूलर, कीथ आदि व्यक्ति भी कोई नहीं थे। इनके नाम के सब ग्रन्थ किसी ने ऐसे ही बना दिए हैं। ये सब कल्पित हैं। इस प्रकार तो प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था का ही विलोप हो जायगा और किसी भी वस्तु के अस्तित्व का नियमन नहीं किया जा सकेगा। इसलिए कपिल के साधक प्रमाण होने से, और किसी बाधक प्रमाण के न होने से, उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता।"[1]

(६) महर्षि कपिल का जन्म-स्थान

महर्षि कपिल इस देश के एक महा महिमवान् सिद्ध ऐतिहासिक पुरुष थे, इस स्थापना के अनन्तर उनके जन्म-स्थान का विचार करना स्वाभाविक होने के साथ-साथ आवश्यक भी है, क्योंकि उसके विषय में भी विद्वानों एवं विचारकों में परस्पर मत-भेद दीख

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृष्ठ २२।

पड़ता है। देश की साहित्यिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं से भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान का 'कपिलवस्तु' नाम ज्ञात होता है। इससे यह नगर किसी कपिल नामक प्राचीन महापुरुष द्वारा अथवा उसके वंशजों या अनुयायियों द्वारा बसाया गया प्रतीत होता है। कनिंघम ने 'दि ऐन्शिएन्ट ज्याग्रफी आव् इन्डिया' नामक अपने ग्रन्थ में इस कपिलवस्तु का सम्बन्ध प्राचीन महर्षि कपिल से जोड़ा है। यद्यपि कपिल नाम के और भी आचार्य[1] भारतीय साहित्य में उद्धृत हैं, तथापि उन सभी में सांख्योपदेष्टा महर्षि कपिल के ही सर्व-प्रथित होने के कारण सम्भवतः उन्हीं का आश्रम वहाँ रहा होगा। अपने इस अनुमान के लिए कनिंघम महोदय ने यह आधार उपस्थित किया है कि गोरखपुर जिले में स्थित इस प्राचीन नगर का 'नगर' अथवा 'नगर-खास' नामक भग्नावशेष चण्डोताल के पूर्वी तट पर बसा हुआ है जिसके पश्चिमी तट पर 'सिध' नामक एक नाला या बरसाती पानी का स्रोत आकर मिलता है, जिससे यह अनुमान होता है कि इस स्थल पर अत्यन्त प्राचीन काल में किसी सिद्ध महर्षि का आश्रम रहा होगा। प्राचीन काल में इस नगर का नाम 'कपिलवस्तु' होने से यही अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि वे सिद्ध महर्षि कपिल ही रहे होंगे। सूर्य वंश की गौतम शाखा के राजपूत जब पहली बार यहाँ बसने के लिये आये होंगे, तब उन्होंने ऋषियों की तपस्या में विघ्न होने के भय से ताल के पूर्वी तट पर अपनी बस्ती बनाई होगी और आश्रम के संस्थापक ऋषि कपिल के प्रति महान् आदर-भाव होने के कारण उन्हीं के नाम पर अपनी बस्ती का नाम 'कपिलवस्तु' रक्खा होगा। किन्तु कनिंघम महोदय के इस अनुमान के अतिरिक्त और भी अनुमान इस सम्बन्ध में किए जा सकते हैं। जैसे एक अनुमान यह भी सम्भव हो सकता है कि उक्त आश्रम कपिल का न होकर उनके अनुयायी यतियों या तपस्वियों का रहा हो और गौतमवंशी राजपूतों ने आदिम ऋषि के नाम पर अपनी बस्ती का नाम रक्खा हो। दूसरा अनुमान यह भी हो सकता है कि शायद कपिलवस्तु में आकर बसने वाले गौतमवंशी राजपूत स्वयं ही कपिल के अनुयायी रहे हों, और जब अपने पुराने स्थान को छोड़कर नये स्थान में बसने के लिए आये हों तो उन्होंने अपने परम्परागत आचार्य के नाम पर अपनी बस्ती का नाम रक्खा हो। एक तीसरा अनुमान भी हो सकता है और वह यह कि सम्भव है कि गौतम शाखा के उन राजपूतों का, जो उस

---

१. बौधायन-सूत्र २।६।३० में एक कपिल का उल्लेख है, जो प्रह्लाद का पुत्र और असुरजातीय बताया गया है। कुछ आचार्य गृहस्थ नामक एक ही आश्रम मानते हैं और अन्य आश्रमों को हीन या निन्दनीय बताने के भाव से उन्हें देवों की स्पर्धा में इसी उक्त कपिल द्वारा विभक्त अथवा स्थापित बताते हैं। बौधायन ने इन आचार्यों के इस कथन की उपेक्षा करने का निवेदन किया है—ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ॥२६॥ तत्रोदाहरन्ति-प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदांश्चकार। देवैः सह स्पर्धमानः। तान् मनीषी नाद्रियेत ॥३०॥ (ii) कपिल-स्मृति के रचयिता एक और भी कपिल हुए प्रतीत होते हैं। महर्षि कपिल-कृत सांख्य-विषयक कापिल स्मृति से यह भिन्न है। इसमें धर्म-स्मृतियों के श्राद्ध, विवाह, प्रायश्चित्त इत्यादि विषय प्रतिपादित हैं। (iii) शैव सम्प्रदाय की सूत-संहिता में उपर्युक्त दोनों से ही भिन्न एक तीसरे कपिल का उल्लेख है जो उपपुराणों के अनेक कर्ताओं में से एक कहे गए हैं—अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु [१।१२] ··· ··· कापिलं सप्तमं विदुः [१।१४]

(iv) महाभारत के अनुशासन पर्व में भी एक कपिल का उल्लेख है जो विश्वामित्र के पुत्र रूप से वर्णित हैं।

स्थान में बसने आये रहे हों, कपिल नाम का कोई परम वीर पूर्वज रहा हो और उसी की स्मृति में उन्होंने अपनी नई बस्ती का नाम रक्खा हो। ये सभी अनुमान सम्भव हैं क्योंकि आज भी अपने कुलाचार्य अथवा कुल-पुरुष इत्यादि के नाम पर बस्तियों तथा कस्बों के नाम रक्खे जाते हुए देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में कनिंघम के अनुमान की सत्यता सन्दिग्ध ही जान पड़ती है।

'कपिलवस्तु' का कपिल से सम्बन्ध जोड़ने में कनिंघम महोदय अकेले नहीं हैं। प्रो० गार्बे ने भी 'कपिलवस्तु'[१] शब्द का अर्थ कपिल का वास-स्थान करके अपना यह मत प्रकट किया है कि महर्षि कपिल के सम्मान में ही इस स्थान का नाम 'कपिलवस्तु' रक्खा गया था, यद्यपि यह बात ज्ञात नहीं है कि महर्षि कपिल वहाँ उत्पन्न हुए थे अथवा रहते थे। हो सकता है कि यह स्थान उनके कार्यों का प्रधान क्षेत्र रहा हो, अथवा यह भी हो सकता है कि उनके कार्य-क्षेत्र में यह नगर बाद में बनाया गया हो। जो भी हो, यदि हमें यह मानने दिया जाय कि कपिलवस्तु और उसके आस-पास के क्षेत्र में सांख्य दर्शन प्रामाणिक माना जाता था तो इससे इस प्रश्न का स्वाभाविक समाधान मिल जाता है कि क्यों कपिल वस्तु में जन्म लेने वाले बौद्ध-धर्म-प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने सांख्य दर्शन का आश्रय लिया।'[२] प्रो० गार्बे के ये विचार सर्वथा असंगत और अयुक्त प्रतीत होते हैं। सबसे पहले तो गार्बे की यह मान्यता ही विवादास्पद या अनिश्चित है कि गौतम बुद्ध का बौद्ध धर्म मूलतः सांख्य से निकला है और उसी पर आश्रित है। प्रो० कीथ ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ[३] में इस मतका खंडन करते हुए यह स्थापित किया है कि सांख्य और बौद्ध दोनों ही दर्शन प्राचीन उपनिषदों से स्वतन्त्र रूप से निकले हैं और जहाँ सांख्य उपनिषदों से थोड़ा स्वतन्त्र है, वहाँ बौद्ध धर्म तथा दर्शन इसमें सांख्य से भी बहुत आगे हैं। दूसरे, इस विवादास्पद बात को वास्तविकता मान कर उसके स्वाभाविक कारण के लिए एक दूसरी यह कल्पना करना कि कपिलवस्तु और उसके आस-पास के क्षेत्र में बुद्ध के समय में सांख्य दर्शन प्रामाणिक माना जाता था, जिस कल्पना का कोई निश्चित आधार या प्रमाण उपलब्ध नहीं है, उस

---

१. गार्बे 'कपिलवस्तु' का शुद्ध रूप 'कपिलवास्तु' मानते हैं, क्योंकि उनके विचार से मौलिक पाली शब्द 'कपिलवत्थु' का कपिलवस्तु भाषान्तर नहीं है [द्रष्टव्य सांख्यसूत्र-वृत्ति की रिचर्ड गार्बे-कृत संस्करण की भूमिका, पृ० २०]

२. द्रष्टव्य वही, पृ० २०:—The only reliable tradition appears to be that connected with the name of Kapilavastu which means 'Kapila's residence'. The place was evidently named after the great sage in his honour; but it is not known whether he was born there or lived there. It may have been the principal scene of his activity, it may also be a town built later on in that region. At any rate, if we are allowed to assume that the Sankhya System was regarded as authoritative at Kapilavastu and its environs, this explains most naturally why the founder of Buddhism, who was born there, relied on that system.

३. द्रष्टव्य Sankhya System, अ० १ और २।

(मान्यता) को और भी अमान्य बना देता है। तीसरे, यदि क्षण भर के लिए ये दोनों बातें मान भी ली जायँ तो भी 'कपिलवस्तु' का प्रो० गार्बे द्वारा किया गया 'महर्षि कपिल का स्थान' अर्थ अधिक से अधिक एक सम्भावना मात्र ही बन कर रह जाता है, निश्चितता अथवा प्रामाणिकता की कोटि को नहीं प्राप्त होता। प्रो० गार्बे ने स्वयं ही तीन सम्भावनायें इस सम्बन्ध में प्रदर्शित की हैं, जिनमें अन्तिम यह है कि महर्षि कपिल के कार्य-क्षेत्र में यह नगर उनके सम्मानार्थ बाद में बनाया गया हो। इससे स्पष्ट है कि स्वयं उन्हीं के मत से कपिलवस्तु का महर्षि कपिल का जन्म-स्थान होना अथवा जन्मानन्तर निवास एवं कार्य का स्थान होना भी केवल सम्भावनायें ही हैं। किसी साधक प्रमाण के अभाव में अन्तिम सम्भावना भी निरी सम्भावना ही कही जा सकती है क्योंकि जैसा थोड़ा पहले कह आये हैं, एक सम्भावना यह भी तो हो सकती है कि बुद्ध के पूर्वजों ने अपने किसी पूर्वज महा वीर पुरुष के नाम पर ही अपनी नई बस्ती का नाम 'कपिलवस्तु' रक्खा हो।

प्रो० कीथ ने अपने ग्रन्थ के पृ० ५८-५९ पर सांख्य दर्शन और उसके प्रवर्तक कपिल के पूर्वी भारत में आविर्भूत होने के सम्बन्ध में प्रो० गार्बे द्वारा उपस्थित किये इस तर्क का उनके अन्य तर्कों के साथ खण्डन किया है। उन्हीं के शब्दों में यह खण्डन इस प्रकार है :—
"The home-land of the Sankhya is placed in the east by Garbe, on the ground that Buddhism which was in his opinion derived from the Sankhya, flourished in the east, and the east was certainly less completely subjected to the influence of Brahmanism than the western middle country. The argument, however, is subject to the grave defect thar the dependence on Sankhya of Buddhism is not proved, and that, if it were proved, the fact would merely show that the Sankhya at the time of the rise of Buddhism was of great importance in the east : it could never show that it was first produced in the east. Nor can any weight be allowed to the argument that in Kapilavastu, the birth-place of the Buddha, we are to see the name of the town of Kapila, the founder of the Sankhya philosophy. That Kapilavastu really meant the town of Kapila, and is not a name drawn from the description of the place, as suggested by Oldenberg,[1] is very doubtful, and, even if the name referred to a Kapila, that this Kapila was the Sankhya-sage is an idea which is not hinted at in the Brahmanical tradition. which says nothing of a town connected with and named after him".

इन समस्त विरोधी तर्कों द्वारा प्रो० गार्बे के वे सारे तर्क कट जाते हैं जो उन्होंने सांख्य तथा उसके कर्ता कपिल के कपिलवस्तु में उत्पन्न होने के पक्ष में उपस्थित किए हैं। तात्पर्य यह है कि किसी अन्य साधक प्रमाण के अभाव में कपिलवस्तु का सम्बन्ध महर्षि कपिल के जन्म, निवास, कार्य आदि के साथ निश्चय-पूर्वक स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐसी

1. Vide, Buddha, P. 111

स्थिति में कपिल का जन्म-स्थान निश्चित करने की समस्या ज्यों की त्यों ही उपस्थित है।

भागवत पुराण में अनेकशः महर्षि कपिल के पिता प्रजापति कर्दम का आश्रम सरस्वती नदी के तट पर बिन्दुसरस् के समीप बताया गया है। सर्व-प्रथम लोक-पितामह भगवान् ब्रह्मा जी के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के लिए निवेदित होने पर प्रजापति कर्दम द्वारा सरस्वती के तट पर दस सहस्र वर्ष तक तप किए जाने का उल्लेख भागवत में आया है।[1] फिर तप से प्रसन्न हुए भगवान् के प्रकट होकर कर्दम ऋषि को वर देने के प्रसङ्ग में भी कहा गया है कि वर देकर भगवान् विष्णु सरस्वती से घिरे हुए बिन्दुसरस् से चले गए।[2] आगे जब देवहूति के गर्भ से भगवान् विष्णु कपिल के रूप में अवतीर्ण हुए, तब फिर कर्दम के उसी सरस्वती-परिवेष्टित आश्रम पर मरीचि आदि ऋषियों के सहित भगवान् ब्रह्मा जी के आगमन का प्रसङ्ग आया है।[3] इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि महर्षि कपिल का जन्म सरस्वती के तट पर बिन्दुसरस् के समीप हुआ था। अब प्रश्न यह है कि सरस्वती नदी जो आज नष्ट हो चुकी है, प्राचीन काल में कहाँ थी और बिन्दुसरस् उसके समीप किस स्थान पर रहा होगा ? यद्यपि इस प्रश्न का साक्षात् अथवा निश्चित उत्तर उपलब्ध संस्कृत साहित्य में अनुपलब्ध है, तथापि प्रसंगान्तरों में उपलब्ध एतत्सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर इसका उत्तर ढूँढ़ा जा सकता है।

मनुस्मृति में 'ब्रह्मावर्त' के वर्णन के प्रसंग में सरस्वती नदी का उल्लेख आया है। यह इस प्रकार है :—"**सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं विदुर्बुधाः ॥**" [मनु० २।१७]। इसका अर्थ यह है कि सरस्वती और दृषद्वती नामक देव-नदियों के बीच में देव-निर्मित देश को बुध-जन 'ब्रह्मावर्त' कहते थे। परन्तु इससे सरस्वती की निश्चित स्थिति के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। 'ब्रह्मावर्त' के बाद 'ब्रह्मर्षि'[4] देश की भी सीमायें मनुस्मृति में दी गई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि 'ब्रह्मावर्त' से सटा हुआ 'ब्रह्मर्षि' देश था जिसके अन्तर्गत कुरुक्षेत्र (आधुनिक मेरठ, सहारनपुर आदि, मत्स्य (जयपुर अलवर आदि), शूरसेन (मथुरा, आगरा आदि) और पञ्चाल (फर्रुखाबाद-कन्नौज, बरेली आदि) सम्मिलित थे। इससे यह अनुमान होता है कि कुरुक्षेत्र से भी उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम, यमुना के पार स्थित प्रदेश (आधुनिक अम्बाला, कर्नाल तथा हिसार आदि जिलों का भू-भाग) ही प्राचीन 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता था जिसकी पश्चिमी और पूर्वी-दक्षिणी

---

१. द्रष्टव्य भागवत ३।२१।६ :—प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः। सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश॥

२. द्रष्टव्य भागवत ३।२१।३३ :—एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः। जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्॥

३. द्रष्टव्य भागवत ३।२४।६ :—तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम्। स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात्॥

४. द्रष्टव्य मनु० २।१९ :—कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥

सीमायें ये दोनों नदियाँ बनाती थीं। जैसा अभी कह आये हैं, आज सरस्वती और दृषद्वती की धाराओं का कुछ भी पता नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भौगोलिक स्थितियों में महान् उथल-पुथल होने के कारण सरस्वती की धारा मरु-भूमि में सूख गई। जिस स्थान पर सरस्वती की धारा नष्ट हुई, उसे 'विनशन' कहा जाता है। मनुस्मृति २।२१ में इसे ही 'मध्यदेश' की पश्चिमी सीमा कहा गया है[1]। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे उत्तरी बीकानेर का प्रदेश माना है और ऐसा ठीक ही किया है।[2] इससे अनुमान होता है कि सरस्वती नदी की धारा अम्बाला के उत्तर-पूर्व में फैली हुई शिवालिक पहाड़ियों के पर्याप्त ऊपर के ऊँचे पर्वतीय प्रदेश से निकलकर मध्यदेश के पश्चिमी भाग (वर्तमान राजस्थान प्रदेश के पश्चिमी मरुस्थल) से होकर बहती हुई पश्चिमी समुद्र में गिरती थी।

पं० उदयवीर शास्त्री के मत से राजपूताना का वर्तमान मरुस्थल ही उस अत्यन्त प्राचीन काल में पश्चिमी समुद्र था जिसे आज 'अरबसागर' कहते हैं और जिसमें सरस्वती नदी आकर मिलती थी। तात्पर्य यह कि पश्चिमी समुद्र राजपूताना के बीकानेर आदि तक फैला हुआ था जो कालान्तर में ज्वालामुखी के भयङ्कर विस्फोट तथा प्रचण्ड भूकम्प आदि से उथला होकर मरुभूमि बन गया। उस प्रदेश में आज भी विद्यमान साँभर आदि झीलें तथा उनका समुद्र-सदृश अत्यन्त खारी जल, जिससे आज भी लाखों मन नमक बनाया जाता है, इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। समुद्र के सूख कर मरुभूमि होने के साथ ही सरस्वती की धारा भी सूख कर नष्ट हो गई। इस घटना की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण में आए हुए एक उल्लेख[3] से भी होती है। वह इस प्रकार है :—'सरस्वती प्रदेश में 'विदेघ माधव' नामक राजा अति प्राचीन काल में राज्य करता था। किसी उथल-पुथल के कारण उसका प्रदेश नष्ट हो गया। राजा किसी प्रकार सपरिवार जान बचा कर पुरोहित के साथ पूर्व की ओर चल पड़ा। अपना राज्य पुनः स्थापित करने के लिए उसे बहुत दूर तक कोई प्रदेश खाली न मिला। चलते-चलते वह अत्यधिक पूर्व में सदानीरा नदी तक पहुँच गया। उसे ज्ञात हुआ कि सदानीरा को किसी ने अब तक पार नहीं किया है और फलतः उसके पूर्व कोई आबादी नहीं है। अपने पुरोहित से उसे यह भी ज्ञात हुआ कि पहले दलदल होने के कारण सदानीरा के पूर्व का भूभाग बसने के योग्य नहीं था, पर अब दलदल न रह जाने से वह बसने योग्य हो गया है। फलतः विदेघ माधव ने सदानीरा को पार कर अपना राज्य पुनः स्थापित किया। तभी से उस प्रदेश का नाम 'विदेघ' पड़ा जो कालान्तर में 'विदेह' हो गया। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण के रचयिता के समय में इस प्रदेश का नाम विदेह ही था और सदानीरा कोसल तथा विदेह प्रदेशों को विभाजित करने वाली सीमा थी। जब विदेघ माधव द्वारा स्थापित राज्य के 'विदेह' नाम पड़ने की घटना भी शतपथ ब्राह्मण के काल से पूर्व की है, तब सरस्वती-विनाश एवं उसके फलस्वरूप

१. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत् प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

२. द्रष्टव्य, **हिन्दी साहित्य,** प्रथम खण्ड में डा० अग्रवाल का 'भौगोलिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३।

३. द्रष्टव्य शतपथ ब्राह्मण १।४।१।१०–१७॥

राजा विदेघ माधव द्वारा 'विदेघ' राज्य के स्थापित किये जाने का समय तो शतपथ ब्राह्मण के समय से बहुत अधिक पूर्व का होगा।

पीछे भागवत के वे श्लोक उद्धृत किए जा चुके हैं जिनमें सरस्वती-परिवेष्टित बिन्दु-सर (बिन्दुसरस्) का कपिल के पिता प्रजापति कर्दम के निवास-स्थान के रूप में उल्लेख हुआ है। बिन्दुसर और उससे निकलने वाली सरस्वती का उल्लेख महाभारत[1] में भी आया है। इसमें कहा गया है कि कैलास के उत्तर मैनाक पर्वत की ओर हिरण्यश्रृंग नामक एक मणिमय पर्वत है। उसी के पास सुनहरी वालुका वाला बिन्दुसर नामक एक दिव्य सरोवर है, जहाँ पर राजा भगीरथ ने गङ्गा को देख कर अनेक वर्षों तक निवास किया। ब्रह्मलोक से गिरी हुई यह गङ्गा ही सात धाराओं को प्राप्त हुई, जो नलिनी, पावनी, सरस्वती, जम्बू, सीता, गङ्गा और सिन्धु कही जाती हैं। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि महाभारतकार के अनुसार 'बिन्दुसर' कैलास के आस-पास वर्तमान कोई सरोवर है जिससे गङ्गा, सिन्धु सरस्वती आदि सात बड़ी-बड़ी नदियाँ निकली हैं।

महाभारत के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण में भी बिन्दुसर और उससे निकलने वाली सात नदियों का वर्णन आया है। यह वर्णन महाभारत के वर्णन की अपेक्षा अधिक उपयुक्त लगता है। क्योंकि एक तो इसमें नदियों के बहाव की दिशाओं का संकेत या उल्लेख है, जिससे उनके अभिज्ञान में कुछ सरलता होती है; दूसरे इसमें नदियों का कथन क्रमशः किया गया प्रतीत होता है। इससे भी नदियों का निश्चय करने में सहायता मिलती है। इस वर्णन[2] में बिन्दुसर से निकलकर पूर्व दिशा को जाने वाली नदियों के नाम ह्लादिनी, पावनी तथा नलिनी हैं, एवं पश्चिम दिशा को जाने वाली नदियों के नाम सुचक्षु, सीता तथा सिन्धु हैं। सातवीं भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे गई अर्थात सातवीं नदी गङ्गा ही है। इन दोनों वर्णनों में पाँच नदियों के नाम समान हैं। केवल दो नदियों के नाम भिन्न-भिन्न दिए गए हैं। रामायण की पूर्व की ओर बहने वाली 'ह्लादिनी' तथा पश्चिम की ओर बहने वाली 'सुचक्षु के स्थान में महाभारत में 'जम्बू' तथा 'सरस्वती' दी गई है। ऐसा अनुमान होता है कि रामायण की 'ह्लादिनी' ही महाभारत की 'जम्बू' नदी है। 'जम्बू' जमुना का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। इस प्रकार रामायण में 'ह्लादिनी' नाम जमुना के लिए ही प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। महाभारत में भी अन्यत्र जमुना के विशेषण रूप में 'ह्लदिनी' शब्द का प्रयोग हुआ है,[3] जो 'ह्लादिनी' का ही रूपान्तर है। ह्लादिनी के जमुना

---

१. द्रष्टव्य भीष्मपर्व, ६। ४२-४४, ४७-४८ अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति। हिरण्यश्रृंगः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः॥ तस्य पार्श्वे महद्दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम्। रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः॥ दृष्ट्वा भागीरथीं गंगामुवास बहुलाः समाः। ....॥.... । ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते॥ वस्वौकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती। जम्बूनदी च सीता च गंगा सिन्धुश्च सप्तमी॥

२. द्रष्टव्य वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड ४३।११–१४ :—विससर्ज ततो गंगां हरो बिन्दुसरः प्रति। तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे॥ ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च। तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः॥ सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी। तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः॥ सप्तमी चान्वगात् तासां भगीरथरथं तदा।

३. द्रष्टव्य महाभारत, वनपर्व ८८।३ :—सरस्वती महापुण्या, ह्रदिनी तीर्थमालिनी। समुद्रगा महावेगा यमुना तत्र पाण्डव॥

होने पर रामायण के इस कथन का भी समन्वय हो जाता है कि ह्लादिनी पूर्व की ओर बहने वाली नदी है। रामायण-कथित 'सुचक्षु' के महाभारत-कथित सरस्वती होने की सम्भावना और भी सुस्पष्ट है। 'चक्षु' का अर्थ दृष्टि, दर्शन या ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय है। इस प्रकार 'सुचक्षु' का अर्थ 'सम्यक् ज्ञान कराने वाली' अथवा 'सम्यक् ज्ञान वाली' लेकर, उसको सरस्वती का वाचक या पर्याय माना जा सकता है, क्योंकि सरस्वती भी सम्यक् ज्ञान कराने वाली सम्यग्ज्ञान-स्वरूपा हैं। सुचक्षु पश्चिम की ओर जाने वाली वर्णित है, और सरस्वती भी, जैसा पहले स्पष्ट कर आये हैं, पश्चिमी समुद्र में ही गिरती थी। इससे इन दोनों का एक ही होना सुस्पष्ट है।

सुचक्षु और सिन्धु नदियों के बीच 'सीता' नदी कथित है। यह भी इन्हीं दोनों की भाँति पश्चिम की ओर जाने वाली कही गई है। 'पावनी' और 'नलिनी' पूर्व को जाने वाली हैं। "आजकल ये कौन सी नदी हैं, यह निश्चय करना कठिन है। परन्तु एक सामञ्जस्य-पूर्ण कल्पना यह की जा सकती है कि जिन उपर्युक्त चार नदियों को आज भी हम पह-चानते हैं, उनके उद्गम-स्थानों पर दृष्टि डाली जाय तो उनके आस-पास से ही निकलने वाली बड़ी-बड़ी तीन और नदियों का हमें स्पष्ट आभास हो जाता है। उनमें से एक नदी पश्चिम के समुद्र में गिरती है, और दो पूर्व के समुद्र में। पश्चिम के समुद्र में गिरने वाली नदी का नाम आजकल सतलुज है, जिसका पुराना नाम साहित्य में 'शुतुद्री', 'शुतुद्रि' अथवा 'शतद्रु' आता है। यदि रामायण के वर्णन के अनुसार पश्चिम को बहने वाली 'सीता'[१] नदी 'शुतुद्रि' ही हो, तो हमें पश्चिम में जाने वाली उन तीनों नदियों का पता चल जाता है जो बिन्दुसर से निकलती हैं। पूर्व के समुद्र में जाने वाली शेष दो नदियों के वर्तमान नाम हैं—ब्रह्मपुत्रा और सरयू। इनका उद्गम-स्थान भी हिमालय में उसी प्रदेश के आस-पास है, जहाँ उपर्युक्त पाँच नदियों का। रामायण और महाभारत में वर्णित शेष दो नामों के साथ यदि हम आजकल के इन नामों का सामञ्जस्य बैठाना चाहें तो 'पावनी' सरयू का और 'नलिनी' ब्रह्मपुत्रा का नाम कहा जा सकता है। यद्यपि इस तुलना के लिए कोई विशेष ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास नहीं है, परन्तु सरयू की आज भी मानी जाने वाली पवित्रता, और अधिक दूर तक पर्वतों में ही बहने के कारण ब्रह्मपुत्रा के जल की स्वच्छता का विचार करके इनका उक्त (पावनी और नलिनी) नामों से व्यवहार कुछ असामञ्जस्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त रामायण का वर्णन और उसमें उल्लिखित नामों का क्रम भी हमारे ध्यान को इसी अर्थ की ओर आकृष्ट करता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इस विषय का लेखक पर्वत की ओर मुख करके उन नदियों के अन्तराल प्रदेश में जो पश्चिम और पूर्व समुद्र में गिरती हैं—खड़े होकर इसका वर्णन कर रहा हो;··· सरस्वती और यमुना के अन्तराल प्रदेश में खड़े होकर देखने से पश्चिम समुद्र में जाने वाली नदियाँ बायें हाथ की ओर पहले सरस्वती, फिर सतलज और उसके आगे सिन्धु होंगी।

---

१. वायु पुराण (पूना संस्करण), ४७वें अध्याय में 'बिन्दुसर' और इन नदियों का वर्णन आया है। वहाँ सीता के सम्बन्ध में लिखा है—'कृत्वा द्विधा सिन्धुमरुं सीताऽगात् पश्चिमोदधिम्' (४७।४३)। सिन्धु-देश और मरुदेश को विभक्त करती हुई 'सीता' नदी पश्चिम समुद्र में जा मिलती है। इस आधार पर भी 'सीता' नदी 'शतद्रु' ही होनी चाहिए।

इसी प्रकार पूर्व समुद्र में जाने वाली नदियाँ दायें हाथ की ओर पहले यमुना, फिर सरयू और उसके अनन्तर ब्रह्मपुत्रा होंगी। आज भी इनकी भौगोलिक स्थिति ठीक इसी प्रकार है। रामायण का यह क्रमिक उल्लेख बहुत ही व्यवस्थित हुआ है। इस आधार पर भी हम 'पावनी' सरयू को और 'नलिनी' ब्रह्मपुत्रा को कह सकते हैं। गङ्गा का पृथक् निर्देश होने के कारण इस क्रम में उसका उल्लेख नहीं किया गया। रामायण का यह वर्णन सरस्वती नदी और सरस्वती प्रदेश के नष्ट होने के अनन्तर काल का कहा जा सकता है।"[1]

इस समस्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि पूर्वोक्त सातों नदियों का उद्गम-प्रदेश ही 'बिन्दुसर' के नाम से प्रसिद्ध रहा है जिसका वर्णन रामायण, महाभारत तथा भागवत इत्यादि में हुआ है। 'बिन्दुसर', इस नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह कोई विशाल झील थी जो सैकड़ों मील लम्बी-चौड़ी थी। पूर्व और पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों में ब्रह्मपुत्र और सरस्वती के उद्गम-स्थानों की दूरी सबसे अधिक है, यह बात भारतवर्ष का मान-चित्र देखने से स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्मपुत्र मान-सरोवर से निकली है। पश्चिम को बहने वाली सतलज भी इसी मानसरोवर से निकलती है। परन्तु अन्य नदियों का उद्गम मानसरोवर से नहीं है। सरस्वती की धारा के सूख जाने से ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतः वर्तमान मानसरोवर का बहुत सा भाग प्राचीन काल में किसी भौगोलिक उथल-पुथल के कारण सूख गया और उसी समय से सरस्वती नदी की धारा भी सूख गई। बिन्दुसर के सर्वाधिक पश्चिमी भाग में सरस्वती के उद्गम-स्थान का उल्लेख होने तथा आज सर्वाधिक पूर्वी भाग में मानसरोवर की स्थिति होने से इस अनुमान की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह कि आज से कई गुना बड़े मानसरोवर का ही प्राचीन नाम सम्भवतः बिन्दुसर था और इसी के पश्चिमी भाग से निकलने वाली सरस्वती के तट पर उद्गम-स्थान से कुछ दूर पर कपिल के पिता कर्दम प्रजापति का आश्रम होना चाहिए। इसका स्थान नियत करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने लिखा है कि "शिवालक पहाड़ के 'आदि बद्री' नामक दर्रे से होकर सरस्वती बाहर की ओर समतल प्रदेश में आती थी। पाँच-छः मील और ऊपर से इसकी एक शाखा हरिपुर दर्रे से होकर बाहर आती और कुछ अन्तर पर मुख्य धारा में मिल जाती थी। शिवालक के इस प्रदेश से लगभग तीस मील उत्तर-पूर्व की ओर नाहन राज्य में 'रेणुका' नाम की एक छोटी सी झील है। इसकी लम्बाई मील सवा मील तथा चौड़ाई अधिक से अधिक दो सौ गज के लगभग है। इसकी स्थिति से मालूम होता है कि चिरकाल पूर्व में यहाँ कभी किसी बड़ी नदी का स्रोत रहा होगा। इस स्थान से पाँच-छः मील उत्तर-पूर्व की ओर एक ऊँचा पहाड़ है जिसके ऊपर दो छोटे-छोटे शिखर हैं। इनमें से पूर्व के शिखर का नाम आज भी 'कपिल का टिब्बा' है, और पश्चिम का शिखर 'जमदग्नि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान का प्राचीन इतिहास जमदग्नि, रेणुका और परशुराम के इतिहास से सम्बद्ध है, तथा उससे भी प्राचीन इतिहास कपिल के इतिहास से। 'बिन्दुसर' से सरस्वती नदी का उद्गम जिस स्थान पर सम्भावना किया जा सकता है, वह स्थान इस प्रदेश से पूर्व-उत्तर की ओर लगभग सत्तर-अस्सी मील

---

१. द्रष्टव्य पं० उदयवीर शास्त्री-कृत सांख्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ४७-५०।

पर होगा। मालूम होता है, अपने उद्गम-स्थान से प्रवाहित होकर सरस्वती नदी इसी पर्वत-शिखर के आसपास से होती हुई शिवालक की ओर जाती थी। कपिल के नाम से आज भी प्रसिद्ध यह पर्वत-शिखर का प्रदेश ही कपिल का उत्पत्ति-स्थान था, और यहीं पर कर्दम ऋषि का आश्रम रहा होगा।"[१] शास्त्री जी के इस अनुमान का भारतीय परम्पराओं के साथ न केवल विरोध नहीं है, अपितु पूर्ण सामञ्जस्य भी है। इसके विपरीत किरणावली की भूमिका में पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी का जो यह लेख है कि 'गङ्गा और सागर के सङ्गम के समीप बिन्दु सरोवर पर देवहूति से महर्षि कर्दम के पुत्र (कपिल) उत्पन्न हुए'[२], यह रामायण, महाभारत, भागवत एवं मनुस्मृति इत्यादि के लेखों के सर्वथा विरुद्ध है। इसी प्रकार जो अन्यान्य मत भी यत्र-तत्र प्रकाशित किए गए हैं, वे सब प्राचीन लेखों के साथ असंगत होने के कारण अग्राह्य हैं।

६. महर्षि कपिल का काल

प्रस्तुत अध्याय में अब तक जो कुछ कहा गया है, विशेषतः महर्षि कपिल के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में, उसमें उनके जन्म-काल पर भी असाक्षात् रूप से पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में भी सांख्य की प्राचीनता एवं प्राचीनतम उपनिषदों में सांख्य के मूल तत्त्वों को दिखाते समय इस सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है। उन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य शास्त्र महाभारत, रामायण, भागवत आदि से तो बहुत अधिक प्राचीन है ही, उपनिषदों से भी पर्याप्त प्राचीन है। प्रथम अध्याय में स्पष्ट कर आए हैं कि महाभारत में आये हुए सांख्य-विषयक संवादों को पुरातन इतिहास कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि सांख्य शास्त्र और उसके प्रवर्तक कपिल महाभारत की रचना के समय भी अत्यन्त प्राचीन हो चुके थे। जहाँ तक महाभारत के समय का प्रश्न है, उस पर विचार करते हुए प्रथम अध्याय के उपान्त में कह आये हैं कि अपने वर्तमान पूर्ण रूप में भी महाभारत ई०पू० सप्तम या षष्ठ शतक से बाद का नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सांख्य-प्रवर्तक कपिल का समय ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी से पूर्व का ही होगा। यही निष्कर्ष उपनिषदों में कपिल, सांख्य तथा उसके सिद्धान्तों के उल्लेखों से भी निकलता है। जैसा पूर्व कह आए हैं, कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषद सांख्य के सिद्धान्तों से प्रभूत प्रभावित हैं। ये उपनिषदें प्राचीनतम छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक से बाद की हैं। प्रो० कीथ आदि पाश्चात्य विद्वान् प्राचीनतम उपनिषदों को भी ई० पू० आठवीं-नवीं शताब्दियों से पूर्व का नहीं मानते। इस प्रकार कठ और श्वेताश्वतर इत्यादि ई० पू० पाँचवीं-छठीं के आस-पास रक्खी जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव अधिक से अधिक ७०० ई० पू० के आस-पास ही रक्खा जा सकता है। परन्तु जैसा प्रथम अध्याय के अन्त में निवेदन कर चुके हैं, जो पाश्चात्त्य और पौर्वात्य विद्वान् अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों का समय उनकी भाषा आदि के आधार पर यास्क के समय के आस-पास रखते हैं, वे ठीक नहीं करते। ये उपनिषदें इससे बहुत अधिक प्राचीन हैं। इनमें जो संस्कृति चित्रित है, वह कई सहस्राब्दियों

---

१. द्रष्टव्य सांख्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ५४।

२. द्रष्टव्य चौखम्बा सं० सिरीज में प्रकाशित किरणावली की भूमिका, पृ० १९:—गङ्गासागरसङ्गमान्तिके बिन्दुसरोवरे कर्दमस्य महर्षेः पुत्रो देवहूत्यां जातः।

पूर्व की है। भाषा की दृष्टि से भी इन्हें निश्चय-पूर्वक आठवीं-नवीं का कहना कठिन है। आज के वैज्ञानिक आविष्कारों के युग में विश्व के विभिन्न देशों के बीच यातायात बढ़ जाने से पारस्परिक सम्पर्क के कारण उन-उन देशों की भाषायें तीव्र गति से होने वाले परिवर्तनों का अनुभव भले ही कर लें [यद्यपि ये परिवर्तन विशेषतः शब्दादि तक ही सीमित रहेंगे, वाक्य-रचना तथा भाव आदि के परिवर्तित या प्रभावित होने में सैकड़ों वर्ष लग जायँगे], परन्तु प्राचीनतम युगों में जब देश के भीतर ही एक प्रदेश से दूसरे प्रदेशों तक जाने के साधन कम थे और विश्व के बाहरी देशों की यात्रा के साधन तो नहीं ही थे, तब सहस्रों वर्षों तक भाषायें वैसी ही चलती रही होंगी। विशेषतः वेदों की संस्कृत भाषा तो धर्म और संस्कृति की भाषा होने के कारण दसों सहस्राब्दियों तक एक-सी ही रही होगी। इस प्रकार विभिन्न वैदिक संहिताओं की भाषा में जो भेद दिखाई पड़ते हैं, वे हजारों वर्षों की अवधि में हुए होंगे। फिर उनकी भाषा से आरण्यकों और उपनिषदों की भाषा में तथा इससे भी अवान्तर युगों की लौकिक संस्कृत में बहुत अन्तर है। ऐसी स्थिति में यही कहना युक्त प्रतीत होता है कि प्राचीन उपनिषदों का समय उनमें चित्रित भारतीय संस्कृति और समाज की दृष्टि से ही नहीं अपितु भाषा आदि की दृष्टि से भी कई सहस्राब्दी पूर्व की जान पड़ती है।

शतपथ ब्राह्मण में आए हुए सरस्वती-विनशन के पूर्वोद्धृत उल्लेख से भी इसी विचार की पुष्टि होती है। वहाँ स्पष्ट कर चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती और उसके प्रदेश के नष्ट हो जाने पर सरस्वती प्रदेश के राजा विदेघ माधव के द्वारा विदेघ राज्य, जो उस समय 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध था, के स्थापित किए जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि शतपथ ब्राह्मण के रचना-काल से पर्याप्त पूर्व ही 'विदेघ' राज्य 'विदेह' नाम से प्रसिद्ध हो चुका था, और सरस्वती-विनाश तथा उसके फल-स्वरूप राजा विदेघ माधव द्वारा 'विदेघ' राज्य की स्थापना तो और भी अधिक प्राचीन होगी। पीछे यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि भागवत आदि के लेख के आधार पर कर्दम ऋषि, जिनके पुत्र रूप में महर्षि कपिल अवतीर्ण हुए थे, का आश्रम सरस्वती के तट पर बिन्दुसर के समीप कहीं था। इससे प्रतीत होता है कि कर्दम ऋषि भारत में उस समय ही रहे होंगे जब सरस्वती नदी अपनी पूर्ण धारा में प्रवाहित होती थी। क्योंकि किसी भी ऋषि का आश्रम जल आदि की सुविधा की दृष्टि से प्रवाहित होने वाली नदी के तट पर ही होगा, सूखी अथवा नष्ट हुई नदी के तट पर नहीं। 'सरस्वती के सूख जाने का समय ऐतिहासिकों ने समीप से समीप पचीस सहस्र वर्ष पूर्व माना है। अर्थात् पचीस सहस्र वर्ष से अधिक ही हो चुके हैं, जब सरस्वती नदी की उमड़ती हुई धारा भौगोलिक परिवर्तनों के कारण काल के गाल में विलीन हो गई। उस समय से पहले ही कभी कर्दम ऋषि का आश्रम उसके तट पर रहा होगा, न मालूम कितने पहले'।[1] इस प्रकार कर्दम ऋषि के पुत्र कपिल का समय आज से कई हजार वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। भागवत में वर्णित भगवान् के चौबीस अवतारों में कपिल महर्षि को पाँचवाँ अवतार मानने से भी इसी बात की पुष्टि होती

---

१. द्रष्टव्य सांख्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ४२।

है कि वर्तमान कल्प के किसी आदिम युग में किसी समय कपिल मुनि अवतीर्ण हुए थे। विष्णु पुराण के कपिल-विषयक '**कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत्। ददाति सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः ।।**'' [३।२।५४] इत्यादि वचन से भी इस की पुष्टि होती है। कृत युग का अर्थ है सत्य युग, जिससे कपिल का अवतार अथवा जन्म बहुत पूर्व के किसी सत्य युग का प्रतीत होता है। विष्णु, भागवत आदि पुराणों तथा वाल्मीकि-रामायण एवं महाभारत आदि[1] में भी इन्हीं कपिल मुनि के द्वारा महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों के भस्म किए जाने का उल्लेख है। विष्णु पुराण के लेख [2] के अनुसार महाराज सगर त्रिशङ्कु के पुत्र सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र के बाद आठवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। हरिश्चन्द्र सत्ययुग में हुए थे, यह बात सर्व-विदित है। इस प्रकार सगर का समय सत्ययुग के अन्त का हो सकता है। परन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार कपिल त्रेता के आदि काल में अवतीर्ण हुए थे।[3] इस प्रकार विष्णु पुराण तथा अहिर्बुध्न्य संहिता के लेखों से कपिल मुनि के समय में कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है, परन्तु यह अन्तर कोई इतना बड़ा नहीं है जिससे प्रतिपाद्य सिद्धान्त में कोई विरोध उपस्थित होता हो। इस प्रकार समस्त प्राचीन उद्धरणों एवं अन्य तथ्यों के आधार पर कपिल महर्षि का समय अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है।

श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य ने कपिल से लेकर ईश्वर-कृष्ण तक कुल छब्बीस आचार्यों की गणना करके तथा प्रत्येक के लिए मोटे तौर से तीस वर्षों का समय देकर कपिल को ई० पू० सप्तम शतक के पूर्व का बताया है।[4] उन्होंने ७० वीं कारिका के आधार पर कपिल, आसुरि तथा पञ्चशिख, ७१ वीं कारिका की माठरवृत्ति के आधार पर भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत और देवल तथा उसी की जयमंगला के आधार पर गर्ग और गौतम, का० १ के गौडपाद-भाष्य के आधार पर सनक, सनन्दन, सनातन और वोढु, हरिभद्रसूरि-कृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या[5] के आधार पर अत्रि, तथा ऋषि-तर्पण से ग्यारह अन्य आचार्य, इस प्रकार कुल २६ आचार्य गिनायें हैं। भट्टाचार्य महाशय की इस गणना-प्रक्रिया में दो दोष दृष्टिगोचर होते हैं। एक दोष तो यही है कि इन २६ आचार्यों के अतिरिक्त ग्यारह अन्य आचार्यों के नाम भी सांख्य-कारिका की 'युक्ति-

---

१. द्रष्टव्य इसी अध्याय का पूर्व भाग।

२. द्रष्टव्य विष्णु पुराण ४।३।२५, २६

३. द्रष्टव्य अहिर्बुध्न्यसंहिता ११।५१-५६:—त्रेतादौ सत्त्वसंकोचाद् रजसि प्रविजृम्भिते। कामं कामयमानेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु ।। मन्दप्रचारमासीत्तच्छास्त्रं यत् सुदर्शनम्। ततो मोहाकुले लोके लोकतन्त्रविधायिनः ।। सम्भूय लोककर्तारः कर्तव्यं समचिन्तयन्। अपान्तरतपा नाम मुनिर्वाक्सम्भवो हरेः ।। कपिलश्च पुराणर्षिरादिदेवसमुद्भवः। हिरण्यगर्भो लोकादिरहं पशुपतिः शिवः ।। एते तप्त्वा तपस्तीव्रं वर्षाणामयुतं शतम्। आदिदेवमनुज्ञाप्य देवदेवेन चोदिताः ।। विज्ञानबलमासाद्य धर्माद्देवप्रसादजात्। आविर्भूतं तु तच्छास्त्रमंशतस्ते ततक्षिम ।।

४. द्रष्टव्य इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, सितम्बर १९३२ में प्रकाशित 'Some Problems of Sakhya Philosophy and Sunkhya Literature' शीर्षक लेख, पृ० ५१०-११।

५. द्रष्टव्य गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या के सहित प्रकाशित षड्दर्शनसमुच्चय का रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता संस्करण। इसमें पृ० १०९ पर 'आत्रेय तन्त्र' पद का प्रयोग हुआ है जिससे भट्टाचार्य महोदय ने 'अत्रि' का ग्रहण किया है।

दीपिका'[1] नामक प्राचीन व्याख्या में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत (शान्ति पर्व) तथा बुद्ध-चरित[2] आदि के आधार पर कई अन्य आचार्यों का भी पता चलता है। भट्टाचार्य महाशय ने जो २६ आचार्यों की सूची को ही पूरी मान लिया, यह ठीक नहीं किया; क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। विभिन्न ग्रन्थों में जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के नाम दिए गए हैं, उन्हीं में समस्त सांख्याचार्यों के नाम आ गए हैं, ऐसा तो नहीं है। वस्तुतः ये नाम तो परम्परा से प्राप्त होने वाले कुछ प्रसिद्ध आचार्यों के ही हैं। अपनी दृष्टि से जिस ग्रन्थकार ने जिन्हें अधिक प्रसिद्ध समझा अथवा जितनों के नाम उसे किसी प्राचीन परम्परा से मिले, उतने ही का उसने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया। परन्तु उनके अतिरिक्त और आचार्य हुए ही नहीं, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? भट्टाचार्य महाशय द्वारा प्रस्तावित पद्धति में एक दूसरा भी दोष है और वह यह है कि जो उन्होंने प्रत्येक आचार्य के लिए मोटे तौर से तीस-तीस वर्षों का समय दिया है, ऐसा ठीक नहीं किया है। समूची आचार्य-परम्परा में किन्हीं दो आचार्यों के बीच का सामयिक व्यवधान तीस वर्ष अथवा उससे भी कम हो सकता है। परन्तु समस्त आचार्यों के लिए उतना ही समय देना युक्तियुक्त नहीं है, विशेषतः जब कि भारतीय परम्परा में प्राचीन ऋषि-मुनियों, योगियों एवं तपस्वियों आदि का जीवन-काल सदाचार एवं तपोबल के कारण प्रायेण सैकड़ों वर्षों का माना जाता रहा है। इतना ही नहीं, अनेक सिद्ध पुरुषों के जीवन तो कई सौ और कभी-कभी हजारों वर्षों के भी बताये गए हैं। ऐसी स्थिति में तीस वर्षों के व्यवधान का प्रस्ताव भारतीय परम्पराओं के विरुद्ध है। एक बात और भी है। इनमें से कुछ आचार्य सर्वथा समकालीन भी हो सकते हैं। उस स्थिति में सारे आचार्यों का उपर्युक्त प्रक्रिया से परिगणित समूचा समय काफी कम भी हो सकता है। इस प्रकार भट्टाचार्य महोदय की पूर्वोक्त पद्धति सर्वथा सदोष है एवं उसके द्वारा निकाला गया कपिल का समय युक्त नहीं है। इस प्रकार भट्टाचार्य द्वारा अपनाई गई इस अभारतीय अथवा विदेशी पद्धति से निर्धारित किए गए महर्षि कपिल के अन्य समस्त कालों को भी खण्डित समझना चाहिए।

---

१. द्रष्टव्य, १९३८ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित युक्तिदीपिका, पृ० १७५ :—हारीतबाद्धलिकैरातपौरिकर्षभेश्वरपञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिण्यमूकादिक...।

२. द्रष्टव्य, १२।६७ :—जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्चैव पराशरः।
इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः॥

चतुर्थ अध्याय

सांख्य-प्रवर्तक कपिल की कृति

(१) षष्टितन्त्र कपिल-प्रणीत शास्त्र का नाम था

गत अध्याय में कपिल मुनि की ऐतिहासिकता, उनके जन्म-स्थान तथा काल के सम्बन्ध में सविस्तर लिखा जा चुका है। अब प्रश्न यह उठता है कि कपिल ने आसुरि को जो उपदेश दिया था, वह क्या था? आज वह उपदेश उपलब्ध है या नहीं, और यदि उपलब्ध है तो किस रूप में और किस नाम से? कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान समय में उपलब्ध कौन सा ग्रन्थ कपिल की कृति है? वह कृति आज-कल का 'सांख्य-प्रवचनसूत्र' नामक छः अध्यायों वाला ग्रन्थ ही तो नहीं है? अथवा बाईस सूत्रों का 'तत्त्वसमास' नामक ग्रन्थ ही वह कृति है? अथवा किसी समय सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्त-प्राय ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' ही वह कृति थी? प्रस्तुत अध्याय में इसी विषय पर विचार करेंगे।

पूर्व उद्धृत सर्व-प्रसिद्ध पञ्चशिख-सूत्र "**आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच**" में कपिलोक्त उपदेश के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक उद्धरण है जिसमें कपिल के उपदेश को 'तन्त्र' कहा गया है। प्रसिद्ध सांख्य-कारिकाओं के अत्यन्त प्राचीन लेखक ईश्वरकृष्ण के प्रबल साक्ष्य के आधार पर भी यही बात प्रमाणित होती है कि कपिलोक्त उपदेश 'तन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध था। ६९ वीं कारिका में ईश्वरकृष्ण ने लिखा है—'**पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।**' इसका अर्थ यह है कि पुरुषार्थ—अपवर्ग—को सिद्ध करने वाला, अत्यन्त गुह्य यह ज्ञान अर्थात् सांख्य शास्त्र महर्षि द्वारा कहा गया था। अगली कारिका में इसी ज्ञान को ईश्वरकृष्ण ने 'तन्त्र' कहा है:—'**एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्**'। इस ७० वीं कारिका में भी पिछली कारिका की यह बात दुहराई गई है कि कारिका-प्रतिपादित इस सांख्य-ज्ञान के मूल प्रतिपादक कपिल मुनि ही थे। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी बात कही गई है कि कपिल मुनि ने इस तन्त्र को आसुरि को दिया, आसुरि ने इसे अपने शिष्य पञ्चशिख को दिया और पञ्चशिख ने इसे खूब बढ़ाया, विस्तृत किया। फिर अगली दो अन्तिम कारिकाओं[1] में सुस्पष्ट कहा गया है कि 'शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए इस ज्ञान को ईश्वरकृष्ण ने प्रस्तुत सत्तर आर्यायों द्वारा संक्षेप में रख दिया। इन सत्तर कारिकाओं में जो पदार्थ निरूपित हैं, वे निस्सन्देह समस्त षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ के ही प्रतिपाद्य विषय हैं। केवल उसकी आख्यायिकायें तथा पर-मत-खण्डन इसमें नहीं हैं।' अन्तिम तीनों कारिकाओं का मिलान करने से यह बात स्पष्ट होती है कि कपिल-प्रतिपादित

---

१. शिष्य परम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः। संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥ सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

जिस सांख्य-दर्शन के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी के लिए 'षष्टितन्त्र' का भी प्रयोग किया गया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल सांख्य-शास्त्र जिसके प्रथम उपदेष्टा कपिल थे, का पूरा नाम 'षष्टितन्त्र' था और उसी का संक्षिप्त नाम 'तन्त्र' था। पूरे नाम के लिए आधे पद का प्रयोग लोक-व्यवहार में तो प्रायः, किन्तु साहित्य में भी पर्याप्त मिलता है।

पस्पशाह्निक में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' के 'सिद्धे' पद के नित्यसिद्ध और कार्य सिद्ध, इन दो सम्भाव्य अर्थों में से प्रथम को सिद्धान्त पक्ष बताते हुए महाभाष्यकार ने तीन-चार विकल्प दिए हैं जिनमें से किसी के द्वारा अभीष्ट अर्थ निकाला जा सकता है। इनमें से तृतीय विकल्प इस प्रकार है :—"**अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति; तद्यथा देवदत्तो दत्तः,सत्यभामा भामेति।**" इसका तात्पर्य यह है कि उक्त स्थल में प्रयुक्त 'सिद्ध' शब्द को 'अत्यन्तसिद्ध' का आधा पद मान कर भी 'नित्य' अर्थ का वाचक माना जा सकता है। जैसे देवदत्त के लिए केवल 'दत्त' और सत्यभामा के लिए केवल 'भामा' का प्रयोग होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

पूर्वोक्त स्थल में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी स्वयं ईश्वरकृष्ण ने भी पूरे नाम के लिए आधे का ही प्रयोग किया है :—'**तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि**'।[१] इसका अर्थ यह है कि षोडश विकारों में से पञ्च तन्मात्रों से आकाश इत्यादि पञ्च महाभूत निकलते हैं। यहाँ स्पष्ट ही 'महाभूत' के लिए 'भूत' शब्द का प्रयोग हुआ है। यों तो सभी टीकाकारों ने कारिका के इस मन्तव्य को स्पष्ट किया है, तथापि कारिकाओं की 'युक्ति-दीपिका' नामक टीका में यह अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है :—**पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते। भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनाम्। अत्र तु सांख्याचार्याणामविप्रतिपत्तिः।**' इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्तरवीं कारिका में ईश्वरकृष्ण ने 'तन्त्र' का प्रयोग अन्तिम कारिका में प्रयुक्त 'षष्टितन्त्र' के लिए ही किया है और पूर्वोद्धृत पञ्चशिख-सूत्र में भी प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द षष्टितन्त्र का ही वाचक है। इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि पञ्चशिख और ईश्वरकृष्ण, दोनों ही सुप्रसिद्ध एवं प्राचीन सांख्याचार्यों के मत से 'षष्टितन्त्र' कपिल-प्रवर्तित मौलिक सांख्य शास्त्र का नाम था। सांख्य-कारिकाओं की अत्यन्त प्राचीन टीका युक्तिदीपिका के रचयिता ने भी आरम्भ के तृतीय एवं चतुर्दश श्लोकों में स्पष्ट रूप से कपिलोक्त दर्शन के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :—"**तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः। यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये ॥३॥ अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम्। पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा ॥१४॥**" 'पारमर्ष' पद में अण् प्रत्यय 'प्रोक्त' या 'कृत' अर्थ में ही सम्भव एवं समञ्जस है। अतः इस पद का 'परमर्षि द्वारा प्रोक्त या कृत तन्त्र' ऐसा अर्थ सङ्गत होता है और दार्शनिक वाङ्मय में 'परमर्षि' पद महर्षि कपिल के लिए ही प्रयुक्त होता रहा है।

अब तक षष्टितन्त्र के कपिल-प्रोक्त होने के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह सब सांख्य के प्रसिद्ध आचार्यों के साक्ष्य के आधार पर ही कहा गया है। किन्तु पूर्वोक्त सांख्याचार्यों के अतिरिक्त सांख्य के विरोधी सम्प्रदायों के महामहिम आचार्यों की भी सहमति

१. सांख्य-कारिका २२ का उत्तरार्ध

इस विषय में प्राप्त है। ब्रह्मसूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार शङ्कराचार्य ने **'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्'** (ब्रह्मसूत्र २।१।१) के भाष्य में 'स्मृति' शब्द की व्याख्या करते हुए 'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षि-प्रणीता' इत्यादि लिखा है। इसका अर्थ यह है कि वेदान्त के ब्रह्म-कारणवाद को मानने पर जिस स्मृति के अनवकाश अर्थात् निर्विषय होने का प्रश्न उठेगा, वह परमर्षि कपिल द्वारा प्रणीत 'तन्त्र' नामक स्मृति है।। वेदान्त-सूत्रों के दूसरे प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य भास्कर ने भी इस सूत्र की व्याख्या में इसी प्रकार से लिखा है :—**'यदि ब्रह्मैवोपादानकारणञ्च, ततः कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेरनवकाशो निर्विषयत्वम्।'**

इन दोनों ही उद्धरणों से स्पष्ट है कि जो स्मृति शङ्कर और भास्कर के समय में कपिल के नाम से प्रसिद्ध थी, उसका पूरा नाम 'षष्टितन्त्र' था और संक्षेप में उसे ही रुचि या इच्छा के अनुसार 'तन्त्र' भी कहा जाता था। शङ्कराचार्य तथा भास्कराचार्य, दोनों के ही उद्धरणों में आया हुआ 'आख्या' शब्द ध्यान देने योग्य है। इसका अर्थ नाम या संज्ञा है। 'तन्त्र' एवं 'षष्टितन्त्र' शब्दों के साथ इसके प्रयोग से यह बात निश्चित हो जाती है कि ये उस ग्रन्थ के नाम थे जिसका उपदेश परमर्षि कपिल ने अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरि को दिया था। इतना ही नहीं, इन उद्धरणों में प्रयुक्त 'प्रणीत' पद से भी यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि कपिलोक्त उपदेश ग्रन्थ या शास्त्र रहा होगा। पूर्व उद्धृत ब्रह्मसूत्र २।१।१ में आए हुए पूर्व और उत्तर, दोनों ही पक्षों में प्रयुक्त 'स्मृति' शब्द से भी यही धारणा दृढ होती है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्र के उत्तर भाग में प्रयुक्त 'स्मृति' शब्द उन-उन विशिष्ट ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनमें वेदान्त मत से ईश्वर को जगत् का कारण प्रतिपादित किया गया है। इस कारण से उसकी तुलना में पूर्व भाग में प्रयुक्त 'स्मृति' शब्द भी अवश्य कोई विशिष्ट ग्रन्थ ही प्रतीत होता है। वेदान्त-सूत्रों के सभी भाष्यकारों ने इसका अर्थ 'कपिल-प्रणीत शास्त्र' ही किया है और शङ्कर तथा भास्कर ने तो, जैसा कि उनके लेखों से स्पष्ट है, उसका नाम भी क्रमशः 'तन्त्र' एवं 'षष्टितन्त्र' बताया है। पीछे स्पष्ट कर आए हैं कि ये दोनों नाम एक ही ग्रन्थ के हैं।

सांख्य के विरोधी आस्तिक सम्प्रदायों का षष्टितन्त्र-विषयक मत पीछे दिया जा चुका है। सांख्य-विरोधी नास्तिक सम्प्रदायों के भी प्राचीन ग्रन्थों में षष्टितन्त्र के उल्लेख प्राप्त होते हैं। 'कल्पसूत्र' नामक जैन-ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में महावीर स्वामी को 'सट्ठितन्त-विसारए' कहा है। व्याख्याकार यशोविजय ने इस पद की व्याख्या इस प्रकार की है— **'षष्टितन्त्रं कापिलशास्त्रं, तत्र विशारदः पण्डितः'**। इससे ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी ने कपिल-कृत षष्टितन्त्र का अध्ययन ही नहीं किया था अपितु उसमें विशेष योग्यता भी प्राप्त की थी। इससे यह बात स्पष्ट है कि सांख्यों का मौलिक 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ महावीर स्वामी के समय में उपलब्ध था। इतना ही नहीं, उनके समय से बहुत पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी और उनके समय में यह ग्रन्थ सांख्य-सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए बहुत प्रामाणिक माना जाता रहा होगा, अन्यथा उन जैसे महा-महिम तीर्थङ्कर के लिए इसका अध्ययन करके निष्णात होने की बात कल्पसूत्र-कार न लिखते। महावीर स्वामी का जन्म ५९९ ई० पू० में और निर्वाण ५२७ ई० पू० में हुआ था। इस प्रकार षष्टितन्त्र शास्त्र ई० पू० छठीं शताब्दी से बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। इससे डा० कीथ इत्यादि का यह

मत कि ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के पूर्व सांख्य व्यवस्थित दर्शन का रूप नहीं धारण कर सका था, ध्वस्त हो जाता है।

इसी प्रकार जैन सम्प्रदाय के दूसरे सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में भी षष्टितन्त्र का उल्लेख है। अनुयोगद्वारसूत्र ४१ इस प्रकार है: —**'जं इमं अण्णाणि एहिं मिच्छदिट्ठीहिं सच्छन्दबुद्धिमइ विगप्पियं तं जहा भारहं रामायणं भीमसुरुक्कं कोडिल्लयं घोडयमुहं कणग-सत्तरी वेसियं वइसेसियं बुद्धसासणं काविलं लोगायतं सट्ठियन्तं माठरपुराणवागरणानाडगाइ।'** इस उद्धरण में उन ग्रन्थों के नाम उल्लिखित हैं जो जैन मत के अनुकूल न होने के कारण मिथ्या दृष्टि वाले, स्वच्छन्द बुद्धि के लोगों द्वारा बनाए हुए बनाए गए हैं। इनमें भारत, रामायण, कौटिल्य-शास्त्र, कनकसप्तति, वैशेषिक, बुद्धशासन, कापिल शास्त्र, लोकायत, षष्टि-तन्त्र इत्यादि मुख्य हैं। किन्तु इस उद्धरण में 'कापिल' एवं 'षष्टितन्त्र' का अलग-अलग उल्लेख है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में दोनों पृथक्-पृथक् ग्रन्थ हैं। पं० उदयवीर शास्त्री का यह कथन बहुत समुचित नहीं प्रतीत होता कि "नामों की इस सूची में 'काविलं' यह एक ही पद विशेषण रूप है, यह अपने विशेष्य पद की आकांक्षा करता है जिसकी विशेषता को बतावे, और वह विशेष्य पद यहाँ 'सट्ठियंतं' ही है। अन्यथा केवल 'कापिलं' पद से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं हो सकता।"[1] क्योंकि 'कोडिल्लयं' तथा 'माठर' पद भी इसी प्रकार के हैं। इनमें 'कोडिल्लयं' पद का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही किसी अन्य पद के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। हाँ, 'माठर' का सम्बन्ध उसी के साथ समास में आए हुए 'पुराण' पद के साथ जरूर हो सकता है, परन्तु 'माठर पुराण' जैसा कोई ग्रन्थ सुनने-देखने को नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में 'माठर' तथा 'पुराण' को अलग-अलग ग्रन्थ मानना ही पड़ेगा। पूर्वोक्त सूत्र में इनका उल्लेख उचित भी जान पड़ता है, क्योंकि 'माठर-वृत्ति' प्रसिद्ध ग्रन्थ सांख्य-कारिका की टीका है और 'काविल' तथा 'सट्ठियंत' के साथ उसका उल्लेख स्वाभाविक है, और इसी प्रकार भारत और रामायण के साथ पुराण का उल्लेख। ऐसी स्थिति में निश्चय-पूर्वक यह कह सकना कठिन है कि ग्रन्थकार को 'काविलं' पद 'सट्ठियंतं' के विशेषण रूप में ही अभिप्रेत था और वह दोनों पदों से एक ही ग्रन्थ 'कपिल-कृत षष्टितन्त्र' का बोध कराना चाहता था। तब फिर दो ही संभावनायें इस विषय में और रह जाती हैं, और वे ये कि या तो 'काविल' और 'सट्ठियंत' का पृथक्-पृथक् उल्लेख ग्रन्थकार के अज्ञान के कारण हो या फिर उसके समय में षष्टितन्त्र ग्रन्थ कपिल-कृत न माना जाकर पञ्चशिख-कृत माना जाता रहा हो। दोनों ही सम्भावनायें सत्य हो सकती हैं। प्रथम तो इसलिए क्योंकि यदि उद्धृत ग्रन्थों के विषय में ग्रन्थकार का ज्ञान साक्षात् होता तो कापिल शास्त्र और षष्टितन्त्र के पूर्व कनकसप्तति (ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्य-कारिकाओं का दूसरा नाम), बुद्ध-शासन के पूर्व कौटिल्य-शास्त्र, तथा प्रायः समस्त ग्रन्थ-सूची के अन्त में पुराण का उल्लेख न हो कर आनुक्रमिक ही उल्लेख होता[2]। दूसरी सम्भावना इसलिए सत्य हो सकती है क्योंकि, जैसा कि इसी अध्याय के उत्तरार्ध में स्पष्ट करेंगे, षष्टितन्त्र सांख्य के

---

१. द्रष्टव्य सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ७४, पैरा २।

२. यद्यपि इस सम्बन्ध में यह सम्भावना भी हो सकती है कि ग्रन्थकार को क्रमोल्लेख सम्भवतः निरर्थक प्रतीत होने के कारण अभीष्ट न रहा हो।

प्रथमोपदेशक कपिल मुनि की कृति होने पर भी उनके प्रशिष्य महा-मेधावी पञ्चशिख के द्वारा विस्तृत रूप से व्याख्यात एवं संवर्धित होने के कारण उनकी कृति के रूप में भी परवर्ती साहित्य में उल्लिखित होने लगा था। दोनों में चाहे जो भी सत्य हो, निष्कर्ष एक ही निकलेगा और वह यह कि मूल षष्टितन्त्र के कपिल-कृत होने में इस उद्धरण का अनिवार्यतः कोई विरोध नहीं है। वैसे ग्रन्थकार के भ्रम या प्रमाद के कारण भी 'कापिल' और 'षष्टितन्त्र' के बीच 'लोकायत' का उल्लेख होना असम्भव नहीं है, जैसा कि पं० उदयवीर जी मानते हैं।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय की सर्व-प्रसिद्ध कृति 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' के आधार पर भी पूर्वोक्त ही निष्कर्ष निकलता है। इसके बारहवें अध्याय में लिखा है कि "अत्यन्त प्राचीन काल में भगवान् विष्णु का सङ्कल्प सांख्य रूप में कपिल ऋषि से जिस प्रकार प्रकट हुआ था, वह सब मुझसे सुनो। महामुनि का वह सांख्य नामक शास्त्र साठ भागों वाला कहा जाता है। संक्षेप में तो उसके प्राकृत और वैकृत, ये दो ही मण्डल या भाग हैं।"[1] मूल का 'षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं' अंश तो महामुनि कपिल के सांख्य शास्त्र के 'षष्टितन्त्र' नाम का निर्वचन सा ही प्रतीत होता है। स्पष्ट लगता है कि 'षष्टितन्त्र' नाम ही ग्रन्थकार के मस्तिष्क में था जिसकी उपर्युक्त व्याख्या उसने की है। इस प्रकार यह बात सिद्ध-प्राय है कि कपिल मुनि के सांख्य शास्त्र का नाम 'षष्टितन्त्र' ही था।

(२) षष्टितन्त्र के पंचशिख-कृत-होने का विचार

पीछे ७० वीं सांख्य-कारिका के 'आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्' भाग का विचार हो चुका है। वहाँ स्पष्ट कर आए हैं कि कपिल मुनि ने जो 'तन्त्र' उपदेश रूप में अपने प्रिय शिष्य आसुरि को दिया था, उसे उनसे पाकर पञ्चशिख ने खूब विस्तृत किया, विस्तृत व्याख्यान द्वारा खूब बढ़ाया। वहाँ यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्तिम कारिका में ईश्वरकृष्ण ने स्वयं स्पष्ट कहा है कि उनकी सांख्य-सप्तति कपिलोपदिष्ट उसी षष्टितन्त्र का संक्षेप है :—**'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य। आख्यायिका-विरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि'**॥ इसके अतिरिक्त स्वयं आचार्य पञ्चशिख के प्रसिद्ध सूत्र **'आदिविद्वान् निर्माण-चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'** के आधार पर भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कपिलोपदिष्ट सांख्य शास्त्र का नाम 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' था। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण और पञ्चशिख, दोनों का ही साक्ष्य षष्टितन्त्र के कपिल-प्रोक्त होने में प्राप्त है।

परन्तु इसके विरुद्ध कुछ आधुनिक विचारक ईश्वरकृष्ण के 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' लेख को ही आधार मान कर पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का कर्ता मानते हैं। महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा ने लिखा है[2] कि ईश्वरकृष्ण ने ६९ वीं कारिका में 'समाख्यातम्'

---

१. सांख्यरूपेण सङ्कल्पो वैष्णवः कपिलादृषेः। उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम्॥ षष्टिभेदं स्मृतं तन्त्रं सांख्यं नाम महामुनेः। प्राकृतं वैकृतं चेति मण्डले द्वे समासतः ॥१२।१९॥

२. द्रष्टव्य श्री बलराम उदासीन-कृत-व्याख्या सहित सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ३१८ पर ६९ वीं कारिका की टिप्पणी। ३६ वीं कारिका के बाद की सारी व्याख्या शर्मा जी की लिखी हुई है। उदासीन जी के निधन हो जाने के कारण व्याख्या को पूर्ण करने का भार शर्मा जी पर ही पड़ा था।

पद रक्खा है जिसका अर्थ मुख से उच्चारण करना ही हो सकता है। इसलिए कपिल ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी अपितु अपने सिद्धान्तों का मौखिक ही उपदेश दिया था। सांख्य-दर्शन की चीनी परम्परा भी षष्टितन्त्र को पञ्चशिख की ही रचना मानती है। डा० कीथ ने अपने ग्रन्थ Sankhya System में इसका उल्लेख किया है, परन्तु साथ ही उन्होंने इसे उसकी भूल या भ्रान्ति मानी है[१]। डा० हरदत्त शर्मा ने भी इसे अविश्वसनीय माना है।[२]

अब जहाँ तक पं० रामावतार शर्मा तथा उनके समान विचार वाले विद्वानों के प्रथम मत का प्रश्न है, उस का खण्डन करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के पृ० ८३ पर चार तर्क उपस्थित किए हैं। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(क) उपदेश सदा मौखिक ही होता है, परन्तु उसका ग्रन्थ-रचना से कोई विरोध नहीं है। जिन विद्वानों ने इस मत को प्रकट किया है, वे भी अपने जीवन में छात्रों को सहस्रशः उपदेश देते रहे हैं, और उनका आधार ग्रन्थ ही रहे हैं। आज भी अनेक अध्यापक ग्रन्थों की रचना करते हैं, और उन्हें अपने छात्रों को अध्ययन भी कराते हैं।...तात्पर्य यह है कि उपदेश या अध्ययन तो मौखिक ही हो सकता है, परन्तु वह ग्रन्थ-रचना का बाधक नहीं है।

(ख) ६९वीं कारिका में तो 'समाख्यातम्' क्रिया-पद है। परन्तु अगली ७०वीं कारिका में 'प्रददौ' क्रिया-पद है, जिसका अर्थ अच्छी तरह देना है। कोई सत्ताधारी वस्तु ही किसी को दी जा सकती है। उपदेशों के ग्रन्थ रूप में परिणत हुए बिना उनका दिया जाना असम्भव है।......'समाख्यातम्' क्रिया-पद का अर्थ भी प्रथम कर दिया गया है, जो सर्वथा हमारे विचारों के अनुकूल ही है।

(ग) वस्तुतः 'बहुधा कृतम्' ये पद किसी भी रीति पर इस बात को प्रमाणित नहीं कर सकते कि पञ्चशिख ने तन्त्र की रचना की। यदि ईश्वरकृष्ण को यहाँ यही अभिप्राय प्रकट करना अभीष्ट होता, तो वह 'कृतं तन्त्रं' इतना ही लिख देता। 'कृतं' के साथ 'बहुधा' पद का प्रयोग व्यर्थ था। इसके विपरीत 'बहुधा' पद का प्रयोग तो यह और भी स्पष्ट कर देता है कि तन्त्र पहले से विद्यमान था, पञ्चशिख ने तो आसुरि से उसका अध्ययन कर अनेक शिष्यों को पढ़ाया, तथा उस पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखकर उसका अच्छी तरह विस्तार या प्रचार ही किया। 'बहुधा' पद में एक और छिपा हुआ स्वारस्य है, जिसको माठर और युक्तिदीपिका व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है। पञ्चशिख तक गुरु-शिष्य-परम्परा में यह क्रम रहा कि गुरु ने एक ही शिष्य को तन्त्र का अध्ययन कराया, कपिल ने आसुरि को और आसुरि ने पञ्चशिख को। परन्तु पञ्चशिख ने इसका अध्ययन बहुत शिष्यों को कराया। यह तात्पर्य 'बहुधा' पद से प्रकट होता है। इसलिए केवल इन पदों के आधार पर पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का रचयिता मानना असंगत है।

(घ) उपर्युक्त हेतुओं के अतिरिक्त, पञ्चशिख स्वयं अपने ग्रन्थ में लिखता है कि महर्षि कपिल ने आसुरि के लिए तन्त्र अथवा षष्टितन्त्र का प्रवचन किया। पञ्चशिख के

१ द्रष्टव्य, पृष्ठ ४८ :—Indeed, the Chinese tradition attributes to him the work known as Shashtitantra, though doubtless by an error.

२. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी के डा० गंगानाथ झा-कृत संस्करण की भूमिका, पृ० १६:—Accoring to Chinese tradition Panchashikha is the author of Shashtitantra. But His account is not to be believed, as is proved by many writers.

उस सूत्र को हम पूर्व भी उद्धृत कर चुके हैं। सूत्र इस प्रकार है :—'**आदिविद्वान् निर्माण-चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच**'। ....

सांख्य-सप्तति की जयमंगला नामक व्याख्या में[1] तो इस अर्थ को और भी स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—'**बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः**'। यहाँ पर 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' ये पद मूल कारिका के हैं, शेष व्याख्यान-ग्रन्थ है।'तन्त्रं' का अर्थ 'षष्टितन्त्राख्यं' और 'बहुधा' पद का अर्थ 'षष्टिखण्डम्' किया गया है। 'कृतम्' पद को व्याख्याकार ने भी उसी प्रकार रख दिया है। आगे के पदों से 'षष्टितन्त्र' को साठ खण्डों में विभक्त किए जाने का कारण बताया गया है कि उसमें ही साठ पदार्थों का व्याख्यान किया गया है।......जयमङ्गला के इस लेख से यह निश्चित परिणाम निकलता है कि पञ्चशिख से पूर्व षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ विद्यमान था। पञ्चशिख ने उसमें संक्षेप से प्रतिपादित साठ पदार्थों में से एक-एक को लेकर उसके व्याख्या-भूत एक-एक खण्ड की रचना की, और इस प्रकार साठ पदार्थों के आधार पर साठ खण्डों की रचना हो गई।......इस लिए पञ्चशिख मूल षष्टितन्त्र का व्याख्याकार अथवा अध्यापक ही हो सकता है, रचयिता नहीं।

शास्त्री जी के प्रथम तर्क के सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य है कि उनका इतना कथन तो बिलकुल ठीक है कि उपदेश सदा मौखिक ही होता है परन्तु उसका ग्रन्थ-रचना से कोई विरोध नहीं है। उनका यह भी कथन ठीक है कि आज भी अनेक अध्यापक ग्रन्थों की रचना करते हैं, और उन्हें अपने छात्रों को अध्ययन भी कराते हैं। परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है कि उपदेश का आधार ग्रन्थ ही होते हैं। ग्रन्थ लिख कर भी उसका उपदेश दिया जाता है और बिना ग्रन्थ का भी उपदेश दिया जा सकता है। जितने उपदेशक हैं, वे सभी अवश्य ग्रन्थकार भी हैं, ऐसी बात नहीं है। फिर अनेक अध्यापक या उपदेशक तो दूसरों के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों का ही उपदेश करते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक उपदेशक ऐसे हैं, और वे ही सर्वोच्च उपदेशक हैं,जो स्वानुभूत तथ्यों या बातों का ही उपदेश करते हैं, ग्रन्थ का आश्रय लेते ही नहीं। इसी से शास्त्री जी का यह द्वितीय तर्क भी कट जाता है कि 'कोई सत्ताधारी वस्तु ही किसी को दी जा सकती है, उपदेशों के ग्रन्थ रूप में परिणत हुए बिना उनका दिया जाना असम्भव है।' यह अवश्य ही सत्य है कि सत्ताधारी वस्तु ही दी जा सकती है परन्तु यदि दी जाने वाली वस्तु उपदेश आदि है तो निस्सन्देह उसकी बाह्य अथवा स्थूल सत्ता आवश्यक नहीं। मन या बुद्धि में विद्यमान ज्ञानादि का ही प्रायः उपदेश दिया जाता है। हाँ, इस उपदेश का ज्ञानादि के ग्रन्थ रूप में परिणत होने के साथ कोई विरोध नहीं है, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है।

वस्तुतः तृतीय और चतुर्थ तर्कों से ही निस्सन्देह रीति से यह सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है कि सांख्य का मूलभूत 'षष्टि-तन्त्र' कपिल मुनि के द्वारा ही आसुरि को दिया गया था, व्याख्यान द्वारा साठ खण्डों में उसका विस्तर आचार्य पञ्चशिख का कार्य था। पञ्चशिख के 'भगवान् परमर्षिरासुरये तन्त्रंप्रोवाच' शब्दों का निश्चित रूप से यही सर्वथा स्वाभाविक अर्थ है। ईश्वरकृष्ण के 'तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्' शब्दों का भी निस्सदेह यही अर्थ है। 'बहुधा' पद का जो अर्थ शास्त्री जी ने अपने तृतीय तर्क के अन्तर्गत किया है और

१. 'में' के स्थान में 'के रचयिता ने' ये पद होने चाहिए, अन्यथा वाक्य सदोष होगा।

जिसका समर्थन जयमङ्गला की उद्धृत पंक्तियों से किया है, वह सर्वथा समीचीन है। सचमुच 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' शब्दों का यही तात्पर्य है कि तन्त्र पहले से विद्यमान था, आसुरि से पाकर पञ्चशिख ने उसे बहुविध बना दिया, अनेक खण्डों में व्याख्या द्वारा विस्तृत कर दिया। साथ ही इसका स्वारस्य इसमें भी है कि पञ्चशिख ने यह ज्ञान जनक, वसिष्ठ इत्यादि अनेक योग्य शिष्यों को दिया। युक्तिदीपिकाकार के 'बहुभ्यो जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्' लेख से इसका समर्थन होता है।

'बहुधा कृतं तन्त्रम्' के जयमङ्गला-कृत व्याख्यान से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि 'षष्टितन्त्र' मौखिक उपदेश मात्र का नाम नहीं अपितु सांख्य दर्शन के मूल-भूत शास्त्र का नाम था। उसमें और भी ऐसे वाक्य हैं जिनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है। जैसे आरम्भ के 'विस्तरत्वात् षष्टितन्त्रस्य संक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहार्थं सप्ततिकारम्भः[1]' वाक्य में आए हुए 'विस्तर' पद के प्रयोग से षष्टितन्त्र का ग्रन्थ होना ही सिद्ध होता है। इस वाक्य का अर्थ यह है कि षष्टितन्त्र के विस्तर के कारण संक्षेप-प्रेमी जनों पर कृपा करने के लिए इस 'सांख्य-सप्तति' का आरम्भ किया गया। 'सांख्य-सप्तति' ग्रन्थ है और ईश्वरकृष्ण की प्रतिज्ञा के अनुसार षष्टितन्त्र का संक्षेप है। अतः षष्टितन्त्र भी ग्रन्थ ही होना चाहिए। दूसरा वाक्य है:—**'त्रिविधमनुमानमाख्यातमिति षष्टितन्त्रे व्याख्यातं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टमिति।'**[2] इस वाक्य का अर्थ यह है कि अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट नामक तीनों प्रकारों का व्याख्यान षष्टितन्त्र में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि षष्टितन्त्र अवश्य कोई ग्रन्थ था क्योंकि अनुमानादि प्रमाणों का व्याख्यान किसी ग्रन्थ में ही सम्भव है। इसी प्रकार का वाक्य **'एते षष्टिपदार्थाः, तदर्थं शास्त्रं षष्टितन्त्र-मित्युच्यते।'**[3] इसका अर्थ यह है कि ये साठ पदार्थ हैं, इनके लिए होने वाला शास्त्र 'षष्टि-तन्त्र' ऐसा कहा जाता है। तात्पर्य यह कि साठ पदार्थों का वर्णन करने वाले शास्त्र का नाम 'षष्टितन्त्र' है।

जयमङ्गला के वाक्यों से यह तो स्पष्ट होता है कि उसका रचयिता 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग ग्रन्थ-विशेष के लिए ही कर रहा है। परन्तु उनसे यह नहीं स्पष्ट होता कि उसने इस पद का प्रयोग कपिलोपदिष्ट मूल-भूत षष्टितन्त्र के लिए किया है अथवा उसके व्याख्या-भूत षष्टि-खण्डात्मक उस बृहत् षष्टितन्त्र के लिए, जिसे आचार्य पञ्चशिख ने रचा था। वस्तुतः यह दोनों में से किसी के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है। प्रथम के लिए प्रयुक्त माने जाने पर तो उसका ग्रन्थ होना सिद्ध ही है जैसा कि पीछे कहा जा चुका है। परन्तु यदि इसके विपरीत द्वितीय के लिए भी 'षष्टितन्त्र' पद का प्रयोग माना जाय, तो भी प्रथम के ग्रन्थ सिद्ध होने में कोई विघ्न नहीं उपस्थित होता; क्योंकि पञ्चशिख द्वारा किए गए व्याख्या-ग्रन्थ का 'षष्टितन्त्र' नामक मूल-भूत ग्रन्थ के उस नाम के कारण ही पड़ा। मूल ग्रन्थ के नाम पर ही उसकी व्याख्याओं को भी 'षष्टितन्त्र' ही कहा जाता था, ऐसा प्रतीत होता है। पं० उदयवीर शास्त्री का यह विचार ठीक प्रतीत होता है कि 'कपिल की प्रथम रचना का नाम षष्टितन्त्र' था। उनके अनन्तर तद्विषयक अथवा तद्व्याख्यान-भूत अन्य

---

१. द्रष्टव्य, पृ० १ (कलकत्ता संस्करण)

२. द्रष्टव्य, पृ० ७, पं० २०-२१

३. द्रष्टव्य, पृ० ५६, पं० १२

ग्रन्थ भी इसी नाम से कहलाये। इस तरह साधारण सांख्य शास्त्र के लिए इस पद का प्रयोग होने लगा।'[१] चीनी परम्परा में पञ्चशिख को 'षष्टितन्त्र' का कर्त्ता मानने के मूल में शायद यही रहस्य रहा हो।

(३) षष्टितन्त्र के वार्षगण्य-कृत होने का विचार

षष्टितन्त्र के वार्षगण्य-कृत होने का भी कुछ आधार शास्त्रों में प्राप्त होता है। अतः आवच्छक्य उसके सत्यासत्यत्व का विचार करना भी आवश्यक है। योगसूत्र ४।१३[२] की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यासदेव ने इस प्रकार लिखा है :—"**तथा च शास्त्रानुशासनं, 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥'** इति।" इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपनी योगभाष्य-टीका तत्त्ववैशारदी में अवतरणिका रूप से "**अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः**" ऐसा लिखा है। इस लेख से यह समझा जाता है कि वाचस्पति मिश्र के मत से भाष्य में निर्दिष्ट श्लोक षष्टितन्त्र का है। फिर ब्रह्मसूत्र २।१।३[३] के शांकर-भाष्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने इसी श्लोक को थोड़े पाठ-भेद के साथ उद्धृत किया है और इसकी अवतरणिका में '**अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः**' ये शब्द लिखे हैं। जो पाठ-भेद की बात कही गई, उसका सम्बन्ध केवल 'मायेव' पद से है। इसके स्थान में वाचस्पति मिश्र की भामती का पाठ 'मायैव' है। पर इसे नगण्य समझते हुए विद्वान् दोनों लेखों के समन्वय से यह मत स्थापित करते हैं कि वाचस्पति मिश्र के मत से 'षष्टितन्त्र' वार्षगण्य की रचना है। श्री बालराम उदासीन ने इसी आधार पर षष्टितन्त्र का रचयिता वार्षगण्य को ही माना है।[४]

परन्तु प्रो० हिरियन्ना ने इससे अपना मत-भेद प्रकट किया है।[५] उनके कथन का सारांश यह है कि व्यास-भाष्य में 'मायेव' पाठ है परन्तु भामती में 'मायैव' पाठ है। इससे ज्ञात होता है कि 'माया' पद के साथ 'इव' पाठ षष्टितन्त्र का और 'एव' पाठ वार्षगण्य का है, जैसा वाचस्पति मिश्र के दोनों स्थलों के लेखों से स्पष्ट है। इन दोनों पदों का प्रयोग एक-दूसरे के स्थान में भ्रान्ति-वश नहीं हुआ है, अपितु एक आचार्य के श्लोक को दूसरे आचार्य ने एक महत्त्वपूर्ण पद के परिवर्तन से अपने विचारों के अनुसार बना कर ले लिया है। इसलिए इन श्लोकों का रचयिता एक व्यक्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता नहीं कहा जा सकता। वार्षगण्य परिणामवादी होते हुए भी अवश्य ब्रह्म-परिणामवादी रहे होंगे। ऐसा मानने पर ही भामती में उक्त श्लोक का उद्धृत किया जाना संगत हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके विपरीत षष्टितन्त्र सांख्य का मौलिक ग्रन्थ होने से प्रकृति-परिणामवादी रहा होगा। इस कारण से वार्षगण्य षष्टितन्त्र का रचयिता कदापि नहीं हो सकता।

प्रो० हिरियन्ना के इस मत के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने इस प्रकार लिखा है :—"जहाँ तक वार्षगण्य का षष्टितन्त्र के रचयिता

१. द्रष्टव्य, पृ० ८५ की पाद-टिप्पणी सं० १

२. ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥ योगसूत्र ४।१३॥ ३. एतेन योगः प्रत्युक्तः

४. द्रष्टव्य, योगसूत्र ३।१३ की 'तत्वैशारदी' टीका की उदासीन-कृत टिप्पणी, तथा १७ वीं सांख्य-कारिका की तत्त्वकौमुदी (निर्णय सागर प्रेस संस्करण, पृ० २२८) की टिप्पणी सं० २।

५. द्रष्टव्य, जरनल आव ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम ३, पृ० १०७-११२ (जून १९२९ ई०)

न होने का संबन्ध है, हम उससे सहमत हैं। परन्तु 'इव' और 'एव' पद के केवल पाठ-भेद के आधार पर यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती। यह ठीक है कि 'इव' पद सादृश्य के लिए और 'एव' निर्धारण के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु अत्यधिक सादृश्य के लिये भी 'एव' पद का प्रयोग असंगत नहीं है। कोष में 'इव' और 'एव' पदों को समानार्थक कहा है।... ऐसी स्थिति में भामती का 'एव' घटित पाठ भी किसी अन्य ऐसे विशेष अर्थ को नहीं बतलाता जो 'इव' घटित पाठ से प्रकट नहीं हो सकता। अब भामती के 'एव' घटित पाठ को लेकर उक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—'गुणों का परम रूप दृष्टिगोचर नहीं होता; जो दृष्टिगोचर हो रहा है, वह माया ही है।' यहाँ पर दृश्य जगत् को माया बताना यही प्रकट करता है कि यह जगत् विनाशशील है। किसी प्रमाण के आधार पर अभी तक यह अवगत नहीं हो सका है कि वार्षगण्य दृश्यमान जगत् को सर्वथा मिथ्या अथवा काल्पनिक मानता था। भामतीकार ने भी जिस प्रसंग के साथ इस श्लोक को उद्धृत किया है, वहाँ से भी वार्षगण्य के इस प्रकार के विचारों की ध्वनि प्रतीत नहीं होती। फिर दृश्यमान जगत का कारण, जो कि दृष्टिगोचर नहीं होता और गुणों का परम रूप है, वह क्या है? वह प्रकृति अर्थात् प्रधान है, अथवा ब्रह्म। हमने जहाँ तक वार्षगण्य के विचारों को समझा है, गुणों का परम रूप वह प्रधान को ही कह सकता है, ब्रह्म को नहीं। कम से कम हमने आज तक कोई भी ऐसा लेख नहीं देखा। फिर ब्रह्म को गुणों का रूप कहना भी सामञ्जस्यपूर्ण नहीं होगा। प्रश्न केवल इतना है कि दृश्यमान जगत् का मूल उपादान चेतन है, अथवा अचेतन? वार्षगण्य मूल उपादान को चेतन नहीं मानता, प्रत्युत अचेतन[1] प्रधान को ही जगत् का मूल मानता है। उसके विचार से वही गुणों का परम रूप है। ऐसी स्थिति में अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने वार्षगण्य को ब्रह्म-परिणामवादी किस आधार पर माना है, हम कह नहीं सकते। इसलिए वार्षगण्य इस दृश्य जगत् को भी काल्पनिक नहीं मान सकता। उसने 'माया' पद का प्रयोग नश्वरता को ही प्रकट करने के लिए किया है, और इस प्रकार 'एव' 'इव' के पाठ-भेद में भी अर्थ-भेद कुछ नहीं होता।"[2]

पं० उदयवीर शास्त्री प्रो० हिरियन्ना के इस मत से तो सहमत हैं कि वार्षगण्य षष्टितन्त्र के रचयिता नहीं थे। परन्तु प्रो० हिरियन्ना ने अपनी इस मान्यता का जो यह कारण दिया कि चूंकि योगसूत्र-भाष्य में 'मायेव' पाठ है जिसे वाचस्पति मिश्र ने षष्टितन्त्र का कहा है और भामती में 'मायैव' पाठ है जिसे उन्होंने वार्षगण्य का कहा है, अतः निस्सन्देह षष्टितन्त्र का रचयिता और वार्षगण्य एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते—यह शास्त्री जी को मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, जैसा पूर्व उद्धरण से स्पष्ट है, कि "जहाँ तक वार्षगण्य का षष्टितन्त्र के रचयिता न होने का सम्बन्ध है, हम उससे सहमत

१. सांख्य-सप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में वार्षगण्य और उसके अनुयायियों के अनेक मतों का उल्लेख है। वहाँ से उद्धृत निम्नलिखित वाक्य प्रतुत विषय पर प्रकाश डालते है:—प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणादिसर्गे वर्तते। [पृ० ०२, पंक्ति २४-२५] ॥ करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात्, स्वल्पा च स्वतः। [पृ० १०८, पंक्ति १५-१६] ॥ साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् [पृ० १४५, पंक्ति ६]

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ८७-८८ ॥

हैं। परन्तु 'इव' और 'एव' पद के केवल पाठ-भेद के आधार पर यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती।" शास्त्री जी का यह कथन अयुक्त है, क्योंकि उन्होंने जो 'इव' और 'एव' दोनों को ही सादृश्यार्थक माना है और उसके लिए अमर कोष की दुहाई देते हुए यह लिखा है कि "ऐसी स्थिति में भामती का 'एव' घटित पाठ भी किसी अन्य ऐसे विशेष अर्थ को नहीं बतलाता, जो 'इव' घटित पाठ से प्रकट नहीं हो सकता", और फिर आगे भामती-धृत 'मायैव' पाठ का जो यह तात्पर्य निकाला है कि जगत् विनाशशील है, न कि काल्पनिक अथवा सर्वथा मिथ्या—यह सब अनर्गल प्रलाप है। स्थल-विशेष में कवि या वक्ता की विवक्षा से 'एव' पद 'इव' का अर्थ दे सकता है अर्थात् 'इव' की तरह सादृश्य का बोधक हो सकता है, यही कोषों का तात्पर्य है। परन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि अनिवार्य रूप से दोनों का सर्वत्र एक ही अर्थ होता है। शास्त्री जी ने जबर्दस्ती अपना अर्थ वाचस्पति मिश्र के मत्थे ठोंका है, उनके सिर मढ़ा है। 'मायैव' का वही अर्थ वाचस्पति मिश्र ने नहीं किया है, जो उन्होंने 'मायेव' का किया है। इसे स्पष्ट करने के लिए वाचस्पति मिश्र के दोनों स्थलों के लेख यहाँ अविकल रूप से उद्धृत किए जा रहे हैं।

तत्त्ववैशारदी में 'मायेव' पाठ वाले श्लोक का अर्थ इस प्रकार है:—**"मायेव तु न माया, सुतुच्छकं विनाशि। यथा हि मायाह्नायैवान्यथा भवति, एवं विकारा अप्याविर्भावतिरोभावधर्माणः प्रतिक्षणमन्यथा, प्रकृतिर्नित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति।"**

इन पंक्तियों का भाव यह है कि गुणों का मूल रूप अर्थात् अव्यक्त अथवा प्रधान जो कि दृष्टि-पथ में नहीं आता, माया से विपरीत धर्म वाला होने के कारण नित्य है, परमार्थ है। इसके विपरीत जो दृष्टिपथ में आने वाला, गुणों का व्यक्त रूप अथवा उसके विकार हैं, वे सर्वथा माया तो नहीं किन्तु माया की तरह अवश्य ही आविर्भाव-तिरोभाव धर्म वाले अर्थात् अनित्य या विनाशी हैं। फिर ब्रह्मसूत्र २।१।३[1] के शाङ्कर-भाष्य का व्याख्यान करते हुए भामती में इस प्रकार लिखा है :—**"नानेन योगशास्त्रस्य हैरण्यगर्भपातञ्जलादेः सर्वथा प्रामाण्यं निराक्रियते, किन्तु जगदुपादानस्वतन्त्रप्रधानतद्विकारमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रगोचरं प्रामाण्यं नास्तीत्युच्यते।...यत्पराणि हि तानि, तत्राप्रामाण्येऽप्रामाण्यमश्नुवीरन्। न चैतानि प्रधानादिसद्भावपराणि, किन्तु योगस्वरूपतत्साधनतदवान्तरफलविभूतितत्परमफलकैवल्यव्युत्पादनपराणि। तच्च किञ्चिन्निमित्तीकृत्य व्युत्पाद्यमिति प्रधानं सविकारं निमित्तीकृतम्...।अन्यपरादपि चान्यनिमित्तं तत्प्रतीयमानमभ्युपेयेत, यदि न मानान्तरेण विरुद्ध्येत। अस्ति तु वेदान्तश्रुतिभिरस्य विरोध इत्युक्तम्। तस्मात्प्रमाणभूतादपि योगशास्त्रान्न प्रधानादिसिद्धिः। अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः, 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्'॥ इति। योगं व्युत्पादयिषता निमित्तमात्रेणेह गुणा उक्ताः, न तु भावतः, तेषामतात्त्विकत्वादित्यर्थः। अलोकसिद्धानामपि प्रधानादीनामनादिपूर्वपक्षन्यायाभासोत्प्रेक्षितानामनुवाद्यत्वमुपपन्नम्।"** इन पंक्तियों का अत्यन्त संक्षेप में तात्पर्य यह है कि योगशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य स्वतन्त्र-प्रधानकारणवाद नहीं अपितु योग के स्वरूप, उसके साधन, उसके अवान्तर फल 'विभूतियों' तथा परम या अन्तिम फल 'कैवल्य' का निरूपण करना ही है। यह निरूपण किसी

---

१. एतेन योगः प्रत्युक्तः॥

निमित्त के द्वार से ही होगा, अतः महत् आदि विकार के सहित प्रधान को निमित्त बना लिया। इन प्रधान आदि का ग्रहण अनादि काल से पूर्व पक्ष के रूप होता आया है। अतः योगशास्त्र में मुख्य प्रतिपाद्य के निमित्त रूप से इनका अनुवाद सर्वथा उपपन्न है, संगत है। अन्यपरक शास्त्र से भी निमित्त की सिद्धि हो जाती है, यदि प्रमाणान्तर से उसका विरोध न हो। किन्तु स्वतन्त्र-प्रधानकारणवाद का वेदान्त-श्रुतियों से विरोध होने के कारण उसको असिद्ध या अप्रामाणिक ही मानना पड़ेगा। इसी से योगशास्त्र के व्युत्पादक भगवान् वार्षगण्य ने 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि लिखा है, जिसका तात्पर्य यह है कि गुणों (गुणात्मक प्रधान) का ग्रहण योग की व्युत्पत्ति के लिए निमित्त या द्वार रूप से ही किया गया है, स्वरूप अर्थात् वास्तविक प्रतिपाद्य के रूप से नहीं; क्योंकि गुणों में तत्त्व या वस्तु कुछ भी नहीं है, वे सर्वथा अतात्त्विक, स्वरूपतः शून्य या माया-मात्र हैं।

तत्त्ववैशारदी के **'मायेव तु न माया; सुतुच्छकं विनाशि...प्रकृतिर्नित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति'** तथा भामती के **''योगं व्युत्पादयिषता निमित्तमात्रेणेह गुणा उक्ताः, न तु भावतः, तेषामतात्त्विकत्वादित्यर्थः'** शब्द ध्यान देने योग्य हैं। षष्टितन्त्र शास्त्र और वार्षगण्य के अर्थों में कितना महान् भेद है, कम से कम यदि वाचस्पति मिश्र की गवाही ली जाय तो। उनके व्याख्यान के अनुसार जहाँ षष्टितन्त्र के रचयिता को यह व्यक्त जगत् प्रतिक्षण आविर्भावतिरोभाव-धर्मी अर्थात् विनाशी रूप में मान्य है, अतात्त्विक या काल्पनिक रूप में नहीं, वहाँ वार्षगण्य को यह माया अर्थात् निस्तत्त्व या कल्पना रूप में ही मान्य है। इस प्रकार की वस्तु-स्थिति में शास्त्री जी को अपनी ज़िद रखने के लिए अपना अर्थ वाचस्पति मिश्र के सिर नहीं मढ़ना था।

अब जहाँ तक वाचस्पति मिश्र के भामती-स्थित व्याख्यान और उस व्याख्यान के आधार पर प्रो० हिरियन्ना द्वारा वार्षगण्य को ब्रह्मपरिणामवादी ठहराने के औचित्यानौचित्य की बात रही, वह अवश्यमेव विचारणीय है। विद्वज्जनों में यह प्रायः सर्वत्र विदित बात है कि वार्षगण्य सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य थे। योगभाष्यकार व्यासदेव के साक्ष्य[1] के आधार पर वे प्रधानीवादी सांख्य-योगाचार्य ठहरते हैं। स्वयं वाचस्पति मिश्र के भी साक्ष्य से वे सांख्य-योग शास्त्रों के सुप्रसिद्ध आचार्य प्रतीत होते हैं। सांख्यकारिका ४७ की व्याख्या में वार्षगण्य का विचार उन्होंने इस प्रकार उद्धृत किया है :—**"अतएव 'पञ्चपर्वाऽऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।"** योगसूत्र ३।५३ के भाष्यान्त में उद्धृत वार्षगण्यमत की वाचस्पतिमिश्र-कृत व्याख्या[2] भी इसी बात का समर्थन करती है। भामती में वार्षगण्य के नाम से उद्धृत 'गुणानां परमं रूपम्' इत्यादि श्लोक की **'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः'** इत्यादि अवतरणिका तो पीछे अभी उद्धृत हो ही चुकी है। सांख्यकारिका की प्राचीन टीका युक्तिदीपिका में वार्षगण्य के सांख्य-योग-विषयक विशिष्ट मत उद्धृत हुए हैं। अन्यत्र भी जहाँ-कहीं उनका उल्लेख हुआ है, वहाँ सांख्य-

---

१. द्रष्टव्य योगसूत्र ३।५३ के भाष्यान्त में उद्धृत "अत उक्तम्—**'मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्'** इति वार्षगण्यः" वाक्य।

२. द्रष्टव्य, योग० ३।५३ की तत्ववैशारदी, पृ० ३८७ :—तदाह—**'मूर्तिव्यवधि'** इति। **उक्तभेदहेतूपलक्षणमेतद्, जगन्मूलस्य प्रधानस्य पृथक्त्वं भेदो नातीत्यर्थः।**

योगाचार्य के रूप में ही। ऐसी स्थिति में उनके नाम पर अपने द्वारा उद्धृत श्लोक की व्याख्या के रूप में जगत् को निस्तत्त्व या काल्पनिक कहना तो कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सांख्य-योग सदा से प्रधान-परिणामवादी सम्प्रदाय रहे हैं। योगशास्त्र प्रधान अथवा अव्यक्त का मुख्य विषय के रूप में प्रतिपादन न करके केवल योग के निमित्त अथवा द्वार रूप से ही प्रतिपादन करता है, उसके प्रतिपादन का मुख्य विषय तो योग, उसका स्वरूप और साधन, उसका अवान्तर फल 'विभूतियाँ' तथा उसका परम फल 'कैवल्य' ही है—इस प्रकार जो सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म० २।१।३ के शाङ्कर-भाष्य की अपनी टीका 'भामती' में स्थापित किया है, उसमें आचार्य वार्षगण्य का कितना स्वारस्य है, यह कहना कठिन है। फिर 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति' इस पूर्वार्ध का व्याख्यान भामतीकार शायद जान-बूझकर बचा गए हैं, क्योंकि दृष्टि-पथ में न आने वाला गुणों का परम रूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त या प्रधान के अतिरिक्त ब्रह्म इत्यादि कुछ भी नहीं हो सकता, इसके वावजूद भी 'मायैव' का वाचस्पति-कृत अर्थ से भिन्न कोई अर्थ हो भी नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यही एक बात सम्भव लगती है कि शायद वार्षगण्य प्रधानवादी आचार्य होते हुए भी स्थूल जगत् को कथञ्चित् 'माया' मानते रहे हों। सांख्य-योग के अन्तर्गत उनका अपना विशिष्ट सम्प्रदाय था, इसे आगे स्पष्ट करेंगे।

अस्तु, प्रो० हिरियन्ना ने वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता न मानने का जो आधार[1] माना है, वह वाचस्पति मिश्र के व्याख्यानों से सर्वथा समर्थित है, अतएव युक्त है। जैसा शास्त्री जी के पूर्व उद्धृत एतद्विषयक मत से स्पष्ट हो चुका है, वे भी हिरियन्ना जी के इस मत से सहमत हैं कि वार्षगण्य षष्टितन्त्र के रचयिता नहीं हो सकते। विवाद का विषय केवल उनके द्वारा दिया गया आधार ही है। शास्त्री जी ने इस मत के लिए जो आधार दिया है, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :—

"इस सम्बन्ध में एक विचार यह है कि व्यास-भाष्य और तत्त्ववैशारदी, दोनों के उक्त स्थल के लेखों को मिला कर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ के नाम का उल्लेख नहीं है, और भामती के प्रसंग में केवल 'वार्षगण्य' का नाम है तथा उसे 'योगशास्त्र का व्युत्पादयिता' बताया है। 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का नाम वहाँ भी निर्दिष्ट नहीं किया गया। इसलिए यहाँ एक बात बहुत ध्यान देने की है। आचार्य ने भाष्य में 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' लिख कर 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि पद्य का अवतरण किया है। विद्वानों का ध्यान हम उसके 'शास्त्र' पद की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। यहाँ व्यास का अभिप्राय किसी ग्रन्थ-विशेष के निर्देश करने का नहीं प्रतीत होता। यद्यपि वह पद्य किसी ग्रन्थ का ही हो सकता है, परन्तु व्यास ने उस ग्रन्थ का निर्देश न करके सामान्य रूप से 'शास्त्र' पद का प्रयोग कर दिया है, जिस शास्त्र पर वह ग्रन्थ लिखा गया होगा। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने इन पदों की व्याख्या करते हुए तत्त्व-वैशारदी में 'शास्त्र' पद को उसी तरह रहने दिया है, और उसके पहले उस शास्त्र का नाम जोड़ दिया है। वहाँ पर वाचस्पति का लेख इस प्रकार है :—'षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः'। अर्थात् षष्टितन्त्र शास्त्र का यह अनुशासन=कथन है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

१. 'मायेव' तथा 'मायैव' का पाठ-भेद।

वाचस्पति मिश्र षष्टितंत्र 'शास्त्र' की ओर संकेत कर रहा है, 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ-विशेष की ओर नहीं। अभिप्राय यह है कि व्यास के बहुत पहले ही 'षष्टितन्त्र' पद एक शास्त्र-विशेष [दार्शनिक सिद्धान्तों की एक व्यवस्थित धारा] के लिए साधारण व्यवहार में आने लगा था। यद्यपि सबसे प्रथम 'षष्टितन्त्र' सांख्य-सिद्धान्त का मूल ग्रन्थ था। सांख्य का आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल उसका रचयिता था। अनन्तर बहुत काल तक जो भी ग्रन्थ उस विषय पर लिखे गए, उनके लिए भी 'षष्टितन्त्र' पद का ही व्यवहार होता रहा। आज भी संस्कृत साहित्य में यह परम्परा चली आती है कि हम किसी भी आचार्य की रचना को उस विषय के मूल ग्रन्थ अथवा मूल लेखक के नाम पर ही प्रायः लिख देते हैं। सांख्य-योग तो सर्वथा समान शास्त्र समझे जाते हैं। यदि उनमें परस्पर कहीं सांख्य के लिए योग और योग के लिये सांख्य पद का व्यवहार हो जाय, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। इसलिए वार्षगण्य ने जब इस पद्य को लिखा था, उससे बहुत पहले ही षष्टितन्त्र की रचना हो चुकी थी और वह तद्विषयक सिद्धान्तों के लिए साधारण रूप से भी व्यवहार में आने लगा था। वाचस्पति मिश्र ने इसीलिए वार्षगण्य को भामती में 'योगशास्त्रं व्युत्पादयिता' लिखा है। अर्थात् योग शास्त्र का व्याख्यान करने वाला। चाहे वार्षगण्य ने पातञ्जल योग के सिद्धान्तों पर अपना ग्रन्थ लिखा हो, अथवा कापिल सांख्य-सिद्धान्तों पर, किसी भी स्थिति में वह उस विषय के मूल ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' का लेखक नहीं हो सकता। वह केवल उसके व्याख्या-ग्रन्थों का लेखक है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति मिश्र के लेखों के आधार पर जिन विद्वानों ने यह समझा है कि वार्षगण्य मूल 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का रचयिता था, वह संगत नहीं कहा जा सकता।

वाचस्पति ने पातञ्जलसूत्र [१।२५] की तत्त्ववैशारदी में और वेदान्त-सूत्र [२।१।१] की भामती में 'तन्त्र' अथवा 'षष्टितन्त्र' का रचयिता कपिल को स्वीकार किया है। उस जैसा विद्वान् इतनी स्थूल भ्रान्ति नहीं कर सकता था कि उसी ग्रन्थ का रचयिता वार्षगण्य को भी लिख दे। वाचस्पति के लेख की वास्तविकता को समझना चाहिए। उसने व्यास-भाष्य के 'शास्त्र' पद का 'षष्टितन्त्र शास्त्र' विवरण लिख कर अपनी स्पष्टता को पूरा निभाया है। उसका अभिप्राय यदि ग्रन्थ का नाम निर्देश करने का होता, तो वह **'षष्टि-तन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः'** के स्थान पर केवल **'षष्टितन्त्रस्यानुशिष्टिः'** भी लिख सकता था, जिससे किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश ही न रहे। परन्तु 'षष्टितन्त्र' के साथ शास्त्र' पद रख कर उसने यह स्पष्ट किया कि उक्त सन्दर्भ मूल 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का नहीं प्रत्युत तद्विषयक शास्त्र का है। और वह 'षष्टितन्त्र' के विषयों को लेकर की गई रचना वार्षगण्य की हो सकती है, जिसका श्लोक भामती [२।१।३] में उद्धृत किया गया है। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि वाचस्पति ने वहाँ उक्त श्लोक के साथ वार्षगण्य का ही नाम लिखा है, ग्रन्थ का नहीं, और ग्रन्थ का नाम तत्त्ववैशारदी में भी नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि वाचस्पति मिश्र वार्षगण्य को मूल 'षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का रचयिता नहीं समझता। वस्तुतः आधुनिक विद्वानों ने तत्त्ववैशारदी के 'शास्त्र' पद के प्रयोग की ओर ध्यान न देकर एक भ्रान्ति-मूलक धारणा को जन्म दे दिया, जिसमें वाचस्पति मिश्र का किसी तरह स्वारस्य नहीं है।"[१]

१. द्रष्टव्य, सांख्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ८९-९१।

शास्त्री जी का पूर्वोद्धृत मत सम्भाव्य तो है, परन्तु इतने सुदृढ आधारों पर नहीं स्थापित है कि उसे ध्रुव सत्य कहा जा सके। शास्त्री जी ने 'शास्त्र' पद को खूब रगड़ा है एवं उससे यह निष्कर्ष निकाला है कि व्यास और वाचस्पति, दोनों के ही अनुसार 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि श्लोक 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ का नहीं अपितु 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्र अर्थात् सांख्य शास्त्र का है। इसका समर्थन तर्क उन्होंने यह दिया है कि आज भी संस्कृत साहित्य में यह परम्परा चली आती है कि हम किसी भी आचार्य की रचना को उस विषय के मूल ग्रन्थ अथवा मूल लेखक के नाम पर ही प्राय: लिख देते हैं। फिर इस तर्क के समर्थन में उन्होंने खोज कर इस प्रकार के चार-छ: उदाहरण भी दिए हैं। परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसा कभी-कभी ही होता है, प्राय: नहीं; और यदि शास्त्री जी की ज़िद रखने के लिए 'प्राय:' भी मान लें, तब भी तो यह बात माननी ही पड़ेगी कि ऐसा सर्वदा नहीं होता। सम्भव है, यहाँ भी ऐसा न हुआ हो। ऐसी क्या विवश करने वाली परिस्थिति है जिससे यह माना जाय कि इस विषय में अवश्य वही सत्य है जो शास्त्री जी ने लिखा है। इसके विपरीत प्रो० हिरियन्ना के 'एक आचार्य के श्लोक को दूसरे आचार्य ने एक पद के परिवर्तन से अपने विचारों के अनुसार प्रस्तुत कर लिया है'—इस विचार को मानने के लिए विवश करने वाली बड़ी भारी बात यह है कि उक्त दोनों स्थलों में वाचस्पति मिश्र ने दोनों उद्धरणों के सर्वथा भिन्न-भिन्न अर्थ दिए हैं। उनकी दृष्टि में यदि किसी एक ही आचार्य, जो कि शास्त्री जी के अनुसार वार्षगण्य थे, के दोनों श्लोक होते और 'मायेव' तथा 'मायैव' पाठ-भेद अकिञ्चित्कर होता तो इतना अर्थ-भेद कैसे सम्भव होता ? इससे स्पष्ट है कि शास्त्री जी के अनुसार चाहे जो भी सत्य हो, वाचस्पति मिश्र के अनुसार तो उनकी तत्त्ववैशारदी में उल्लिखित 'षष्टितन्त्रशास्त्र' और उनकी भामती में योग शास्त्र के व्युत्पादयिता या व्याख्याता रूप में उल्लिखित 'भगवान् वार्षगण्य' में परस्पर कृति और कर्त्ता का बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं है।

एक और बात से भी प्रो० हिरियन्ना का विचार सही लगता है। स्वयं पं० उदयवीर शास्त्री ने भी एक दूसरे उद्धरण के विषय में पृ० ६८ पर प्रो० हिरियन्ना वाला ही उत्तर दिया है। वह उद्धरण इस प्रकार है :—**'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।'** इसे आचार्य व्यास ने योगसूत्र ३।१३ के भाष्य में 'उक्तञ्च' पदों के साथ उद्धृत किया है, जिसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने **'अत्रैव पञ्चशिखाचार्यस्य सम्मतिमाह- उक्तञ्चेति'** लिखा है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वाचस्पति मिश्र के विचार से यह उद्धरण आचार्य पञ्चशिख का है। परन्तु सांख्य-सप्तति की १३ वीं कारिका की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या में व्याख्याकार ने इसी उद्धरण को थोड़ा पाठ-भेद के साथ आचार्य वार्षगण्य की रचना कहा है। युक्तिदीपिकाकार के शब्द इस प्रका हैं :—**'तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति-रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते।'** योगभाष्य में उद्धृत सूत्र से इसमें यह अन्तर है कि उसका 'परस्परेण' पद इसमें नहीं है, और 'प्रवर्तन्ते' के स्थान में केवल 'वर्तन्ते' है। वाचस्पति मिश्र की ही भाँति नागोजी भट्ट ने भी अपनी योगसूत्रवृत्ति में इस सूत्र को आचार्य पञ्चशिख के ही नाम पर उद्धृत किया है। किन्तु इसमें युक्तिदीपिका की भांति 'परस्परेण' पाठ नहीं ,

यद्यपि 'प्रवर्तन्ते' पाठ में कोई परिवर्तन नहीं है। इस प्रकार दोनों स्थलों पर एक ही सूत्र को उद्धृत हुआ मानने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती।

अब प्रश्न यह है कि यह सूत्र वाचस्पति मिश्र एवं नागोजी भट्ट के अनुसार पञ्चशिख का माना जाय अथवा युक्तिदीपिकाकार के अनुसार वार्षगण्य का माना जाय ? इसका समाधान शास्त्री जी के ही शब्दों में इस प्रकार है :—"इन परस्पर विरुद्ध लेखों का समाधान यह किया जा सकता है। वह सूत्र मुख्यतः पञ्चशिख की रचना है। वार्षगण्य ने अपने ग्रन्थ में उस सूत्र को अपना लिया। अर्थात् अपनी रचना में उसी रूप से स्वीकार कर लिया। यह नहीं कि उसको उद्धृत किया। अनन्तर युक्तिदीपिकाकार ने वार्षगण्य के ग्रंथ से अपने ग्रंथ में उद्धृत किया। दोनों स्थलों में पठित इस सूत्र का थोड़ा सा पाठ-भेद इस विचार का समर्थक कहा जा सकता है कि पञ्चशिख की रचना को कुछ अन्तर के साथ वर्षगण्य ने अपने ग्रंथ में स्वीकार कर लिया, परन्तु व्यास-भाष्य में उद्धृत पञ्चशिख की वास्तविक रचना को परम्परा-ज्ञान के अनुसार वाचस्पति मिश्र ने उसी के नाम पर निर्दिष्ट किया। व्यास-भाष्य अवश्य वार्षगण्य से पीछे की रचना है। एक वाक्य[१] पर स्वयं भाष्यकार ने वार्षगण्य का नाम दिया है। योगसूत्र ३।१३ के भाष्य में उद्धृत वाक्य को यदि भाष्यकार वार्षगण्य की रचना समझता तो वह उसका नाम दे सकता था। एक ही वाक्य पर उसका नाम दिए जाने से यह परिणाम निकलता है कि अन्य उद्धरण वार्षगण्य की रचना नहीं है प्रत्युत अन्य किसी आचार्य की है। उस सूत्र के 'परस्परेण' पद और क्रिया के साथ प्रयुक्त 'प्र' उपसर्ग की उपेक्षा करके वार्षगण्य ने पञ्चशिख के सूत्र को अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया, उसी को युक्तिदीपिकाकार ने उद्धृत किया। इसलिए वह वार्षगण्य के नाम पर उद्धृत होना सर्वथा सङ्गत था।"[२]

इसके अतिरिक्त एक और उद्धरण के विषय में भी शास्त्री जी ने यही समाधान दिया है। सांख्य-कारिका ४७ की तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने "अतएव 'पञ्चपर्वाऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः" ऐसा लिखा है। इस पर अपना विचार प्रकट करते हुए शास्त्री जी ने अपने ग्रन्थ के पृ० १०१ पर इस प्रकार लिखा है :—'पञ्चपर्वा अविद्या' यह तत्त्वसमास का १२ वाँ सूत्र है। वाचस्पति के इस लेख से यह परिणाम निकल सकता है कि तत्त्वसमास वार्षगण्य की रचना हो। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। तत्त्वसमास वार्षगण्य के काल से अत्यन्त प्राचीन है और कपिल की रचना है। प्रतीत होता है, वार्षगण्य ने तत्त्वसमास से इस सूत्र को उसी रूप में अपने ग्रन्थ में ले लिया और वाचस्पति ने वार्षगण्य के ग्रन्थ से इसको यहाँ उद्धृत किया होगा। इसमें सन्देह नहीं कि सूत्र की इस आनुपूर्वी का मूल आधार तत्त्वसमास है। यह ठीक ऐसी ही बात है, जैसी कि हम अभी पञ्चशिख और वर्षगण्य के एक सूत्र के सम्बन्ध में विवेचन कर आए हैं।" इस प्रकार एक और उदाहरण वार्षगण्य द्वारा दूसरे आचार्य के सूत्र के अपना लिए जाने का प्राप्त हुआ।

जो समाधान शास्त्री जी ने योगभाष्य ३।१३ में उद्धृत 'रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च' इत्यादि सूत्र तथा सांख्याकारिका ४७ की तत्त्वकौमुदी में उद्धृत 'पञ्चपर्वा अविद्या' इस सूत्र

१. योगसूत्र ३।५३ के भाष्य में।

२. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ९८।

के विषय में दिया है, वही समाधान तो प्रो० हिरियन्ना ने ४।१३ के भाष्य में आए हुए 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि उद्धरण के लिए भी दिया है। अतः उनका यह मत बिलकुल ठीक लगता है कि मूलतः षष्टितन्त्र के इस श्लोक को वार्षगण्य ने 'मायेव' पद के परिवर्तन से अपने विचारों के अनुसार प्रस्तुत कर लिया है।

इस समस्त विवेचन का एक मात्र यही निष्कर्ष निकलता है कि षष्टितन्त्र के रचयिता महर्षि कपिल ही थे, वार्षगण्य उसके रचयिता नहीं हो सकते। इस तथ्य को प्रमाणित करने वाली सबसे बड़ी बात यह है कि ईश्वरकृष्ण ने अपनी उपसंहारात्मक कारिकाओं में जहाँ कपिल, आसुरि और पञ्चशिख, इन तीन सर्व-प्राचीन आदिम आचार्यों का साक्षात् उल्लेख किया है और स्पष्ट कहा है कि उसकी कारिकायें उस 'तन्त्र' का संक्षेप हैं जिसे कपिल से आसुरि तथा उनसे पञ्चशिख ने पाकर खूब विस्तृत किया, वहाँ उन्होंने वार्षगण्य का नामोल्लेख तक नहीं किया। यदि उनकी दृष्टि में वार्षगण्य षष्टितन्त्र के रचयिता होते तो उसका संक्षेप करते समय वे अवश्य ही उनका नाम लेते। यह बात समझ के बाहर है कि जिसके ग्रन्थ का संक्षेप किया जाय उसका उल्लेख तो न हो और दूसरे आचार्यों का उल्लेख हो।

(४) कपिल-कृत मौलिक षष्टितन्त्र का स्वरूप

इस सब विवेचन के अनन्तर यह प्रश्न उठता है कि जिस षष्टितन्त्र का उपदेश कपिल मुनि ने सर्व प्रथम जिज्ञासु आसुरि को दिया था और जिसका संक्षेप ईश्वरकृष्ण के अनुसार उनकी सांख्य-कारिकायें हैं, वह ग्रन्थ किस प्रकार का था? उसका क्या स्वरूप था? वह गद्य में लिखा गया था या पद्य में? आजकल वह ग्रन्थ उपलब्ध है अथवा नहीं, और यदि उपलब्ध है तो किस रूप में और किस नाम से? आज निश्चयात्मक तथ्यों के अभाव में इनमें से अनेक प्रश्नों के समुचित और सन्तोषजनक उत्तर शायद न दिए जा सकेंगे, तथापि तदर्थ यावच्छक्य प्रयास करना सत्यान्वेषक का परम कर्तव्य है।

षष्टितन्त्र और उसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में निश्चायक तथ्यों के उपलब्ध न होने के कारण ही महान् मत-भेद दिखाई पड़ता है। पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर आए हैं कि षष्टितन्त्र के कर्तृत्व के विषय में बड़ा विवाद है। कुछ विद्वान् उसे महर्षि कपिल की कृति मानते हैं, कई उसे पञ्चशिख की कृति समझते हैं, और कुछ ऐसे भी हैं जो उसे वार्षगण्य की कृति बताते हैं। इसी प्रकार षष्टितन्त्र को पञ्चशिख या वार्षगण्य की रचना मानने पर उसे गद्यात्मक मानना पड़ेगा, क्यों कि योगभाष्य आदि में पञ्चशिख एवं वार्षगण्य के नाम से उद्धृत सारे अवतरण गद्य में ही हैं। केवल एक उद्धरण श्लोकात्मक है जो वाचस्पति मिश्र की योगभाष्य-टीका 'तत्त्ववैशारदी' के अनुसार षष्टितन्त्र शास्त्र का है और उन्हीं की ब्रह्म-सूत्रभाष्य-टीका 'भामती' के अनुसार [थोड़े पाठ-भेद के साथ] वार्षगण्य का है। यह वही श्लोक है जिसका विस्तृत विवरण पीछे कर आए हैं—'**गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।**" इससे यह शङ्का होती है कि शायद षष्टितन्त्र शास्त्र गद्य-पद्यात्मक रहा हो। इन सबसे पृथक् मत पं० उदयवीर शास्त्री का है जो उपलब्ध षडध्यायी 'सांख्यप्रवचन-सूत्र' को ही कपिल-कृत मूल षष्टितन्त्र ग्रन्थ मानते हैं।

अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में इस विषय पर विचार करते समय आरम्भ ही में ईश्वरकृष्ण की ७२ वीं कारिका का उद्धरण तथा अर्थ करके शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :—"कारिका का यह वर्णन स्पष्ट कर देता है कि षष्टितन्त्र का विषय-क्रम और रचना-क्रम क्या होगा, इससे हम यह अच्छी तरह पहचान जाते हैं कि ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसका क्या रूप होना चाहिए। यह निश्चित है कि उसने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, वह वर्तमान सांख्य-षडध्यायी ही है। इसी का प्राचीन नाम षष्टितन्त्र है। ईश्वरकृष्ण की ६८ कारिकाओं का सिद्धान्त-भूत प्रतिपाद्य विषय सांख्य-षडध्यायी के प्रथम तीन अध्यायों में विस्तार-पूर्वक वर्णित है, जिसका ईश्वरकृष्ण ने उसी आनुपूर्वी के साथ संक्षेप किया है। दोनों ग्रन्थों की विषयानपूर्वी की समानता सचमुच हमें आश्चर्य में डाल देती है। और यह समानता इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती प्रत्युत आगे भी चलती है, क्योंकि 'सांख्य-कारिकाओं में प्रतिपादित सम्पूर्ण अर्थ षष्टितन्त्र से लिए गए हैं,' इसका निर्देश करने के अनन्तर ईश्वरकृष्ण लिखता है—'मैंने षष्टितन्त्रोक्त आख्यायिकाओं और पर-वादों को छोड़ दिया है।' ये दोनों बातें वर्तमान-सांख्य षडध्यायी में ठीक इसी क्रम से उपलब्ध होती हैं। चतुर्थ अध्याय में आख्यायिका और पञ्चम-षष्ठ अध्यायों में पर-वादों का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह कोई भी व्यक्ति किसी ग्रन्थ का संक्षेप या उसके आशय को लेकर अपना ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करता है, ठीक उसी तरह ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्य-षडध्यायी का संक्षेप किया, तथा उसके आशय को अपने ग्रन्थ में लिया है। कहीं-कहीं पर वह एक सूत्र के आधार पर एक ही एक कारिका लिख देता है, और कहीं अनेक सूत्रों के आधार पर तथा कहीं पर इकट्ठे पांच छः आठ दस सूत्र छोड़ देता है। वह इस बात का भी पूरा प्रयत्न करता है कि जहाँ तक हो सके, कारिका में वे पद भी आ जावें, जो सूत्र के हैं। यहाँ यह आवश्यक है कि सब कारिकाओं की तुलना उन सूत्रों के साथ करें जिनके आधार पर वे लिखी गई हैं।"[१]

इसके अनन्तर बहुत विस्तार के साथ लगभग १० पृष्ठों में कारिकाओं एवं सूत्रों की तुलना करके शास्त्री जी ने अपना पूर्वोक्त मत दुहराते हुए इस प्रकार लिखा है—"यहाँ ईश्वरकृष्ण की बहत्तरवीं कारिका के वर्णन के अनुसार कारिकाओं का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अर्थ षडध्यायी के तीन अध्यायों में पूरा हो जाता है। कारिका-निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही षडध्यायी के चतुर्थ अध्याय में आख्यायिकाओं का प्रासङ्गिक उल्लेख है, और पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय में पर-वादों का। इन दोनों ही प्रसङ्गों को कारिकाओं में छोड़ दिया गया है। ईश्वरकृष्ण का स्व-लिखित वर्णन इस बात को पूर्ण रूप से सिद्ध कर देता है कि जिस कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र से उसने अपने ग्रन्थ के लिए प्रतिपाद्य अर्थों का संग्रह किया, वह षष्टितन्त्र वर्तमान सांख्य-षडध्यायी ही हो सकता है। इस कथन से हमारा यह दावा नहीं है कि यह सम्पूर्ण सांख्य-षडध्यायी इसी आनुपूर्वी के साथ कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र है। यह सम्भव ही नहीं, प्रत्युत किसी अंश तक निश्चय के रूप में कहा जा सकता है कि इसमें सूत्रों की न्यूनाधिकता हो गई है, अथवा और भी कुछ परिवर्तन हो गए हों। फिर भी

१. द्रष्टव्य सांख्य-दर्शन का इतिहास, पृ० १०४

कपिल की कृति इसी में निहित है, यह निश्चित मत है । इसका विवेचन हमने इसी ग्रन्थ के चतुर्थ और पञ्चम प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया है ।''[1]

आगे चतुर्थ प्रकरण में वर्तमान सांख्य-सूत्रों के उद्धरणों तथा पञ्चम में उनके प्रक्षिप्त अंशों की सविस्तर चर्चा की गई है जिसके आधार पर शास्त्री जी ने इन सूत्रों के प्राचीन होने के विरुद्ध दिए जाने वाले दो प्रबल तर्कों का खण्डन किया है । इनमें से प्रथम तर्क यह है कि वर्तमान सांख्य-सूत्रों के उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते जब कि सांख्य-कारिकाओं के उद्धरण मिलते हैं । इससे स्पष्ट है कि ये सूत्र कारिकाओं की अपेक्षा अर्वाचीन हैं और इस कारण से इन्हें सांख्य-दर्शन का प्राचीनतम मौलिक ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' कदापि नहीं माना जा सकता । इसका खंडन शास्त्री जी ने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण में किया है । द्वितीय तर्क यह है कि इन सांख्य-सूत्रों में अनेक अर्वाचीन आचार्यों के नाम तथा उनके विचारों एवं सिद्धान्तों का अनेकशः उल्लेख हुआ है, इस कारण से भी इन्हें प्राचीन ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' नहीं माना जा सकता । शास्त्री जी ने पञ्चम प्रकरण में ऐसे समस्त सूत्रों को प्रक्षिप्त सिद्ध करने का प्रयास किया है जिनमें कपिल से अर्वाचीन आचार्यों एवं उनके मतों का उल्लेख है । केवल पञ्चशिख के मतों का उल्लेख करने वाले सूत्रों को इस कोटि में शास्त्री जी ने नहीं रक्खा है और इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि आचार्य पञ्चशिख कपिल और आसुरि के ही समकालीन थे और इतने प्रथित आचार्य थे कि प्रशिष्य होने पर भी उनके सर्व-प्रसिद्ध, विशिष्ट विचारों की उपेक्षा कपिल के ग्रन्थ में हो नहीं सकती थी ।

यह कहा जाता है कि सांख्य-सूत्रों की रचना ईसा के चतुर्दश शतक के अनन्तर हुई है क्योंकि इस काल के माधवाचार्य-कृत सर्वदर्शनसंग्रह में इनका कोई उद्धरण नहीं मिलता जबकि इसके सांख्य-प्रकरण में सांख्य-कारिकाओं के उद्धरण मिलते हैं । इसका खण्डन करते हुए शास्त्री जी ने ठीक ही लिखा है कि 'किसी ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थ का उल्लेख उसकी अपेक्षा अन्य ग्रन्थ की प्राचीनता का साधक कहा जा सकता है, परन्तु उल्लेख न होना अर्वाचीनता का साधक नहीं कहा जा सकता' ।[2] सायण ने ऋग्वेद-भाष्य में दो-एक स्थलों पर वेङ्कटमाधव का उल्लेख करने के अतिरिक्त स्कन्दस्वामी, नारायण, भट्टभास्कर आदि अनेक प्राचीन भाष्यकारों में से किसी का भी उल्लेख नहीं किया है । प्रथम तीनों ने सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व मिलकर ऋग्वेद का भाष्य लिखा था । सायण के वेद-भाष्य में इनका उद्धरण न मिलने से क्या इन्हें उनसे अर्वाचीन कहा जायगा ? सांख्यसूत्रवृत्तिकार अनिरुद्ध की अपेक्षा ईश्वरकृष्ण अत्यन्त प्राचीन आचार्य हैं परन्तु अपनी वृत्ति में अनिरुद्ध ने कहीं भी ईश्वरकृष्ण की किसी भी कारिका का उद्धरण नहीं दिया है । इसी प्रकार विज्ञानभिक्षु के परवर्ती आचार्य काश्मीरक सदानन्द यति ने अपने ग्रन्थ अद्वैतब्रह्मसिद्धि में सांख्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में सांख्यसूत्र ३।९[3] तथा ३।१०[4] को उद्धृत किया है, किन्तु सांख्य-कारिकाओं से कुछ भी

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ११५ ।

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १७४

३. द्रष्टव्य, चतुर्थ मुद्गर-प्रहार :—यदपि 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' इत्यादिना लिङ्गशरीरप्रक्रिया प्रदर्शिता, सापीष्टैव ।

४. वही :—'व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्' इति सूत्रेण व्यक्तिभेदोपपादनात् अतिरिक्तधर्मकल्पने गौरवाच्च ।

उद्धृत नहीं किया है। तब इससे क्या इन अर्वाचीन आचार्यों की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन आचार्य ईश्वरकृष्ण को इनसे अर्वाचीन कहा जा सकता है? यदि नहीं तो सर्वदर्शन-संग्रह में सांख्यसूत्रों का कोई उद्धरण न मानने पर भी, यद्यपि यह सत्य नहीं है, माधवाचार्य की अपेक्षा सांख्य-सूत्रकार को भी अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके पूर्व के अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में सांख्य-सूत्रों के उद्धरण दिए हैं। सर्वदर्शन-संग्रह तथा सांख्य-प्रतिपादक अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी सांख्य-कारिकाओं के उद्धरण होने तथा सांख्य-सूत्रों के उद्धरण न होने से इतनी ही बात सूचित होती है कि सम्भवतः अनेक शताब्दियों से साधारण पठन-पाठन की प्रणाली में न रहने के कारण सांख्य-सूत्रों की उपेक्षा होती रही और सांख्य-कारिकाओं का प्रचार होने के कारण तात्कालिक विद्वज्जन एवं आचार्य उन्हीं का उल्लेख करते रहे।

ईसवीय चौदहवीं शताब्दी के बाद सांख्य-सूत्रों की रचना मानने के विपरीत भारतीय साहित्यिक परम्परा का यह तथ्य भी है कि उसके ठीक बाद लिखने वाले किसी भी ग्रन्थकार ने इस बात का निर्देश नहीं किया कि उपलब्ध सांख्यसूत्र प्राचीन कृति न होकर चौदहवीं या पन्द्रहवीं शताब्दी के किसी अर्वाचीन विद्वान् की कृति हैं। प्रत्युत इसके विपरीत उस समय से आज तक भारतीय परम्परा के आचार्यों की यही धारणा चली आती है कि ये सूत्र महर्षि कपिल के हैं। इन सूत्रों की 'वृत्ति' नाम से सर्व-प्रथम व्याख्या करने वाले अनिरुद्ध ने ग्रन्थारम्भ में ही "अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुद्दिधीर्षुः कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाणः प्रथमसूत्रं चकार" इत्यादि लिख कर अपना यह निश्चित मत प्रकट किया है कि उपलब्ध सांख्य-सूत्रों के कर्त्ता मुमुक्षुओं के प्रति परम कृपालु कपिल मुनि ही थे। अनिरुद्ध का समय १५०० ई० के आस-पास कहा जाता है, जो सांख्य-सूत्रों के तथा-कथित रचना-काल से लगभग पचास वर्ष बाद ठहरता है। अब यदि सांख्य-सूत्रों का पूर्वोक्त रचना-काल सत्य माना जाय तो इसके इतने समीप होने वाले अनिरुद्ध का उपर्युक्त लेख सचमुच बड़ी ही आश्चर्य-जनक बात लगती है। अपने कुछ ही पूर्व लिखे गए सूत्रों को कपिल-प्रणीत मान लेना और वैसा मान कर श्रद्धापूर्वक उस पर व्याख्यान भी लिख डालना कुछ बहुत संगत एवं समञ्जस नहीं प्रतीत होता। एक अनिरुद्ध ने ही ऐसा किया हो, ऐसी भी बात नहीं है। उनके थोड़े ही बाद होने वाले प्रसिद्ध आचार्य विज्ञान भिक्षु ने भी ऐसा ही किया है। उन्होंने भी इन सूत्रों को कपिल-कृत मान कर इनकी विस्तृत व्याख्या की है। अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य के आरम्भ में उन्होंने इस प्रकार लिखा है:—"श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्तीः षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्त्तिर्भगवानुपदिदेश।" अपने भाष्य का उपसंहार भी इसी प्रकार किया है:—"तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्त्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्।" इसी प्रकार ब्रह्म-सूत्रों के श्रीकण्ठशिवाचार्य-रचित भाष्य की स्व-कृत टीका में ईसवीय सोरहवीं शताब्दी के अप्पय दीक्षित ने भी इन सूत्रों को कपिल के नाम से उद्धृत किया है। ब्रह्मसूत्र २।२।१ के श्रीकण्ठ-भाष्य की टीका करते हुए आचार्य अप्पय दीक्षित ने इस प्रकार लिखा है:—"प्रधानकारणवादे पक्षपातहेतुं 'परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादानम्' इत्यादिकापिलं सूत्रोक्तं सूचयन् पूर्वपक्षयति-प्रधानेति"। उद्धृत सूत्र सांख्य-सूत्र १।७६ है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र २।२।८ के श्रीकण्ठ-

भाष्य की टीका में सांख्यसूत्र १।१९ तथा १।७ उद्धृत किया है। वह सन्दर्भ इस प्रकार है :—"तदेतत् 'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते' 'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशः' इत्यादिकापिलसूत्रैः।" इसी प्रकार के और भी उद्धरण अन्य आचार्यों की कृतियों से दिए जा सकते हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि १४वीं शताब्दी के बाद के, यहाँ तक कि ठीक बाद के भी, जिन आचार्यों ने सांख्य-सूत्रों पर कुछ भी लिखा है अथवा किसी प्रसङ्ग में उन्हें उद्धृत किया है, उन सभी ने उन्हें कपिल-कृत ही माना है। ऐसी स्थिति में उन्हें ईसवीय चतुर्दश शतक अथवा उसके आस-पास का लिखा हुआ कैसे माना जा सकता है? क्योंकि मूल ग्रन्थ और आज उपलब्ध प्राचीनतम टीका 'अनिरुद्ध-वृत्ति' के तथा-कथित रचना-कालों में अधिक से अधिक पचीस-पचास सालों का अन्तर है और यह अन्तर इतना कम है कि इसमें इनकी प्रसिद्धि कपिल-कृत रूप में हो ही नहीं सकती। तब फिर अनिरुद्ध, विज्ञानभिक्षु आदि को इन सूत्रों की अर्वाचीनता का उल्लेख तथा प्राचीनता का विरोध करना चाहिए था, परन्तु किया इन आचार्यों ने इसके विपरीत। इससे इन सूत्रों की अर्वाचीनता की बात मन-गढन्त एवं कपोल-कल्पित ही सिद्ध होती है।

चौदहवीं शताब्दी के पूववर्ती ग्रन्थों में भी सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्वसमास-सूत्र के कई उद्धरणों की सम्भावना की जाती है। 'सम्भावना' इसलिए कि उन-उन उद्धरणों के साथ न तो ग्रन्थ-विशेष का और न ग्रन्थकार-विशेष का ही नाम स्पष्ट उद्धृत है, तथापि कुछ स्थलों में तो अवश्य ही यह सम्भावना वास्तविकता प्रतीत होती है। सांख्य-प्रवचन-सूत्रों को ईसवीय चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य, जिनका संन्यासावस्था का नाम विद्यारण्य था, के सर्वदर्शनसंग्रह में अनुद्धृत कहा जाता है और इसी आधार पर उन्हें चौदहवीं के बाद का समझा जाता है। परन्तु उन्हीं माधवाचार्य ने सूतसंहिता की स्व-रचित[1] टीका तात्पर्यदीपिका में सांख्य-मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—"अतएव सांख्यैरुच्यते—'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूलप्रकृतिः' इति।"[2] स्पष्ट ही मूल-प्रकृति का स्वरूप बताने वाला वाक्य किसी सांख्य-ग्रन्थ का उद्धरण प्रतीत होता है। सांख्य-कारिकाओं का कोई भी अंश इस अर्थ का प्रतिपादक नहीं है। हाँ, सांख्य-सूत्र १।६१ का प्रारम्भिक भाग अवश्य इस प्रकार का है :—**"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"**। अपने स्वतन्त्र ग्रंथ 'सर्वदर्शनसंग्रह' में भी माधवाचार्य ने प्रकृति का निरूपण करते हुए **"प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्"** इत्यादि लिखा है। इन दोनों ही उद्धरणों का षडध्यायी सांख्य-सूत्र १।६१ के पूर्व भाग के साथ अत्यधिक सादृश्य है। इनमें भी 'तात्पर्यदीपिका का उद्धरण तो शब्दशः वही है जो उद्धृत सांख्य-सूत्र का पूर्व भाग है, इसकी अपेक्षा केवल 'गुण' एवं 'मूल' शब्द उसमें अधिक हैं जो अर्थ की दृष्टि से अपना कोई पृथक् महत्त्व नहीं रखते। इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि माधवाचार्य के इन दोनों ही उद्धरणों का मूल आधार सांख्य सूत्र १।६१ ही है। क्योंकि जैसा अभी कहा जा चुका है, सांख्य-कारिकाओं में इस अर्थ का प्रतिपादक

१. द्रष्टव्य, टीका का प्रारम्भ :—वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा। तात्पर्यदीपिका सूतसंहिताया विधीयते॥

२. द्रष्टव्य, वही (मद्रास संस्करण), पृ० ४०७

कोई भी वाक्य या वाक्यांश नहीं है। हाँ, वाचस्पति मिश्र ने भी **'मूलप्रकृतिरविकृतिः'** इत्यादि तृतीय सांख्य-कारिका के 'प्रकृति' शब्द की व्याख्या करते हुए अवश्य ही **'प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था'** इत्यादि लिखा है। इसी प्रकार सांख्य-कारिका के दूसरे टीकाकार गौडपाद ने भी इसी प्रसङ्ग में **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्'** तथा **'प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था'** इत्यादि लिखा है, परन्तु जैसा अभी स्पष्ट करेंगे, ये सांख्य-सूत्र गौडपाद तथा वाचस्पति मिश्र से बहुत अधिक प्राचीन न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से भी बहुत प्राचीन हैं और इस कारण से इन आचार्यों के भी पूर्वोक्त लेखों के मूलाधार ये ही हैं। सच तो यह है कि संस्कृत साहित्य में जहाँ कहीं भी 'सत्त्व रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है' यह अर्थ प्रकट किया गया है, उस सब का मूलाधार सांख्य-सूत्र १।६१ ही है। पं० उदयवीर जी ने ठीक ही लिखा है कि "यह भी एक कारण है कि जो अर्थ सूत्र और कारिकाओं में समान रूप से उपलब्ध होते हैं, उनके निर्देश के लिए सायण[1] (?) ने अधिक प्रचार के कारण कारिकाओं को ही उद्धृत किया है। परन्तु जो अर्थ केवल सूत्रों में ही हैं, उनके लिए सूत्र को उद्धृत करना पड़ा है।"[2]

माधवाचार्य के पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने सां० सू० १।६१ को उद्धृत किया है जिससे सांख्य-सूत्रों की उन सबसे पूर्ववर्तिता तथा प्राचीनता सिद्ध होती है। अमरकोष के प्रसिद्ध व्याख्याकार क्षीर स्वामी ने काल-वर्ग के २९ वें श्लोक की व्याख्या में **"प्रारम्भात् क्रियतेऽनया प्रकृतिः-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था-अव्यक्ताख्या"** इत्यादि लिखा है। क्षीरस्वामी का काल ईसवीय एकादश शतक का अन्त अनुमान किया जाता है। जैन विद्वान् सिद्धर्षि ने 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' नामक अपने ग्रन्थ में प्रसंगतः अनेक दार्शनिक मतों के निरूपण के साथ सांख्य का भी उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में सम्पूर्ण सां० सू० १।६१ इस प्रकार उल्लिखित है :—**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेः......महान्......बुद्धिरित्यर्थः। बुद्धेश्चाहङ्कारः......अहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि .....पञ्चतन्मात्राणि........तेभ्यः...पञ्चमहाभूतानि।......पुरुषः. ...।"** यद्यपि इस सन्दर्भ का उत्तर भाग सांख्य-कारिका २२ में भी प्राप्त होता है, तथापि पदों की आनुपूर्वी का कारिका की अपेक्षा सूत्र से अधिक मेल है क्योंकि कारिका में अहंकार से इकट्ठे षोडशक गण की उत्पत्ति कही गई है जब कि सूत्र में ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् कथित है। इस तुलना से डा० कीथ का अपने 'हिस्ट्री आव् संस्कृत लिट्रेचर' नामक ग्रन्थ के पृ० ४८९ पर स्थित यह लेख सर्वथा अयथार्थ सिद्ध होता है कि "उपमितिभवप्रपञ्चकथा में जो सांख्य-सूत्र उद्धृत हैं, वे षडध्यायी में उपलब्ध नहीं होते।" सिद्धर्षि ने अपना यह ग्रन्थ ९६२ संवत् में समाप्त किया था। पीटर्सन महोदय के अनुसार यह विक्रमीय संवत् है, जो ई० सन् ९०४ होगा। परन्तु यदि यह वीर संवत् हो, तो सिद्धर्षि का ग्रन्थ ४५० वर्ष और पहले का होगा।

---

१. यह गलती से लिखा हुआ है। इसके स्थान में माधवाचार्य होना चाहिए।

२. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १८५।

इसी प्रकार प्रसिद्ध शैवाचार्य श्रीकण्ठ ने भी ब्रह्म-सूत्र २।१।१ के अपने भाष्य में **"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः इत्यङ्गीकारात्"** इत्यादि लिखा है। 'इत्यङ्गीकारात्' पदों से पूर्व अंश का किसी ग्रन्थ का उद्धरण होना प्रकट होता है। श्रीकण्ठ का समय अभी तक निश्चित तो नहीं किया जा सका है परन्तु सम्भवतः ये ईसवीय नवीं शताब्दी के आचार्य हैं। जैन आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'षड्दर्शनसमुच्चय' के 'सांख्यमत' प्रकरण में **"सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद्गुणत्रयम्। .....एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते॥"** इत्यादि लिखा है। ये हरिभद्र सूरि आचार्य सिद्धर्षि के धर्म-गुरु थे, अतः इनका समय ईसवीय नवम शतक का उत्तरार्ध होगा। न्यायवार्तिककार उद्योतकर, जिनका समय ईसवी छठीं शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता, भी न्यायसूत्र ४।१।२१ के भाष्य के व्याख्यान में सां० सू० १।६१ के पूर्व भाग को ही उद्धृत करते हुए प्रतीत होते हैं।[1] ईश्वरकृष्ण के परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में ही इस सूत्र का उल्लेख हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। उनसे पूर्व के प्रसिद्ध आचार्य सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ 'सुश्रुतसंहिता' में, एवं पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' के कर्ता ने उस ग्रन्थ में १।६१ के आधार पर सांख्य-मत का प्रसंगतः उल्लेख किया है।[2] ईश्वरकृष्ण की कारिकायें न तो उस समय थीं ही और न उनमें सां० सू० १।६१ का कम से कम पूर्व अंश कहीं कथित ही है जिससे उन-उन उल्लेखों को इस ग्रन्थ के आधार पर किया गया कहा जा सके।

अभी तक ईसवी चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य के पूर्ववर्ती वाङ्मय में केवल सांख्यसूत्र १।६१ के विभिन्न उल्लेखों की ही चर्चा की गई है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें अन्य सूत्रों का उद्धरण नहीं है। तथापि चूँकि उसमें सांख्य सम्प्रदाय के आधार-भूत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले इस सूत्र का ही सबसे अधिक उद्धरण हुआ है, इसलिए इसके सारे उद्धरणों को सौकर्य के लिए एक ही साथ दे देना उचित समझा गया। अब कुछ अन्य सूत्रों के उल्लेखों की भी चर्चा प्रस्तुत की जा रही है। नैषधचरित १।५६ की व्याख्या में मल्लिनाथ ने एक स्थल में **'अणुपरिमाणं मन इति सूत्रणात्'** ऐसा लिखा है। **'इति सूत्रणात्'** इन पदों से प्रतीत होता है कि उद्धृत वाक्य का **अवशिष्ट भाग कोई** सूत्र है। मन के अणु-परिमाण का निर्देशक न्याय-सूत्र **'यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु' (३।२।६३)** तथा वैशेषिक-सूत्र **'तदभावादणु मनः'** (७।१।२३) है। न्यायसूत्र के 'यथोक्तहेतुत्वात्' पद का अर्थ 'अर्थ-ग्रहण का अयौगपद्य' अर्थात् उसका क्रमिक होना है। तात्पर्य यह कि गन्ध

---

१. "यदा भवन्तः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थां प्रकृतिं वर्णयन्ति"। प्रस्तुत सांख्य-मत का खण्डन करने के लिए इसका उल्लेख उक्त प्रसंग में वार्तिककार ने किया है।

२. (i) सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्....अव्यक्तं नाम। अव्यक्तान्महानुत्पद्यते महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते,....वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव एकादशेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते,....भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राणि....तेभ्यो भूतानि....सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः—सुश्रुतसंहिता, अ० १

(ii) सत्त्वाद्रजस्तमस्तस्मात् तमसो बुद्धिरुद्गता। बुद्धेरहंकृतिस्तस्या भूततन्मात्रपञ्चकम्॥
एकादशाकमक्षाणां मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम्। भूतेभ्यो भौतिकं सर्वमित्ययं सृष्टिसंग्रहः॥

अहिर्बुध्न्यसंहिता, अ० ६।१७,१८

इत्यादि विषयों का इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ग्रहण न होना मन की अणुता अथवा परिच्छिन्नता का द्योतक है। वैशेषिक-सूत्र के 'तदभावात्' का अर्थ विभुता अर्थात् व्यापकता का अभाव है। स्पष्ट है कि इनमें से किसी के साथ भी 'अणुपरिमाणं मनः' का शब्दतः तथा अर्थतः भी कोई विशेष मेल नहीं बैठता परन्तु सांख्यसूत्र 'अणुपरिमाणं तत्' (३।१४) के साथ उसका आश्चर्यजनक मेल है। सूत्र में 'तत्' का प्रयोग मन के लिए हुआ है, जो कि वहाँ प्रकरण-प्राप्त है। परन्तु उद्धर्ता के ग्रन्थ में वह प्रकरण-प्राप्त तो है नहीं, अतः सर्वनाम का प्रयोग उचित न समझ कर उसने साक्षात् 'मनः' पद का ही प्रयोग कर दिया है। इस प्रकार ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है कि मल्लिनाथ ने उक्त स्थल में सांख्य-सूत्र ३।१४ को ही उद्धृत किया है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में 'प्रमाण' का जो लक्षण मिलता है, उसमें तथा सांख्य-सूत्रों में दिए गए 'प्रमाण' के लक्षण में प्रभूत समानता है। संहिता-गत लक्षण इस प्रकार है :—
मितिर्मा गदिता सद्भिः प्रकृष्टा मा प्रभा स्मृता। धीसाधकतमं यत्तत् प्रमाणमिति शब्द्यते॥ [अ० १३]। सांख्य-सूत्रों में प्रमाण का लक्षण इस प्रकार किया गया है:—**द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्** [१।८७]। दोनों का प्रमाण-लक्षण अर्थतः तथा शब्दतः भी एक ही है। केवल जिस प्रमा का साधकतम 'प्रमाण' कहा गया है, उसे अहिर्बुध्न्य संहिता में 'प्रकृष्टा मिति' कहा है और सांख्यसूत्रों में 'असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्ति' कहा गया है। 'मिति' एवं 'परिच्छित्ति', दोनों ही शब्द निश्चयात्मक या अवधारणात्मक ज्ञान के वाचक हैं। 'असन्निकृष्ट' पद का अर्थ विज्ञानभिक्षु ने 'प्रमातर्यनारुढोऽनधिगतः' किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रमाता के द्वारा पूर्व अनधिगत, अर्थात् अभिनव विषय या पदार्थ का ज्ञान 'प्रमा' है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता में सम्भवतः इसी अर्थ में 'प्रकृष्टा' का प्रयोग हुआ है, क्योंकि पूर्वतः अज्ञात किसी अभिनव पदार्थ का ज्ञान ही वास्तविक या प्रकृष्ट ज्ञान है। जो भी हो, यह बात स्पष्ट है कि दोनों लक्षणों में पदों तथा पदार्थों की अत्यधिक समानता है, जिससे प्रतीत होता है कि एक ने दूसरे का आश्रय लिया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता सांख्य-दर्शन का ग्रन्थ नहीं है, उसमें सांख्य-प्रतिपादन प्रसङ्गतः ही हुआ है, जब कि सांख्य-सूत्रों का मुख्य विषय वही है। अतः अहिर्बुध्न्य-संहिता को ही सांख्यसूत्रों से लेना चाहिए। पहिले भी दिखा चुके हैं कि प्रकृति का लक्षण और उसके विकार अहिर्बुध्न्य-संहिता में सांख्यसूत्र १।६१ से ही लिए गए सिद्ध होते हैं। प्रस्तुत स्थल में संहिता के 'इति शब्द्यते' पद इस सम्भावना को निश्चय अथवा वास्तविकता में परिणत करते ज्ञात होते हैं। यहाँ एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अहिर्बुध्न्य-संहिता में सांख्य-योग के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि यह बात निश्चित है कि उसके पूर्व ही न्याय, वैशेषिक आदि अन्य दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थ भी बन चुके रहे होंगे। इससे उस काल में सांख्य का विशेष प्रचलन एवं उसकी लोकप्रियता ज्ञात होती है, जिससे संहिताकार द्वारा सांख्य-सूत्रों से प्रमाणादि-विषयक विचारों के ग्रहण किये जाने की बात का रहस्य विशेष रूप से उद्घाटित होता है।

सांख्यसूत्रों की प्राचीनता का सबसे प्रबल और निश्चित प्रमाण न्यायसूत्रों के वात्स्यायन-कृत भाष्य में प्राप्त होता है। न्यायसूत्र १।१।४ में प्रत्यक्ष का लक्षण **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'** किया है।

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान' मात्र को प्रत्यक्ष कहने से सुखादि का मानस-प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता और इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित प्रतीत होता है। इस दोष का निरास या परिहार करते हुए भाष्यकार ने मन को भी इन्द्रिय बता कर तज्जन्य ज्ञान को भी 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न' सिद्ध किया है। परन्तु महर्षि गौतम के न्याय-सूत्रों में कहीं भी मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख नहीं आता। तब मन को इन्द्रिय किस आधार पर माना जाय, इस शंका का समाधान वात्स्यायन ने **'तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यम् इति'** लिख कर किया है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि न्याय-सूत्रों में मन के इन्द्रिय होने का उल्लेख नहीं है, तथापि दूसरे तन्त्र या शास्त्र में मन को इन्द्रिय मानने का सिद्धान्त प्राप्त है और इस शास्त्र में उसका प्रतिषेध न होने से हमें भी वह मान्य है। अब यह बात विचार करने की है कि अन्य किस शास्त्र में मन के इन्द्रियत्व का कथन है। न्याय-भाष्य के कुछ टीकाकारों ने 'तन्त्रान्तर' पद का अर्थ वैशेषिक शास्त्र लिया है। परन्तु वात्स्यायन से पूर्ववर्ती वैशेषिक-सूत्रों में एक भी सूत्र इस अभिप्राय का नहीं मिलता। और फिर वात्स्यायन से भी क्यों, न्याय-सूत्रों के कर्ता गौतम ऋषि से भी पूर्व के किसी शास्त्र-ग्रन्थ में उक्त अभिप्राय का कथन होना चाहिए, क्योंकि न्याय-सूत्रों में ही उसके वहाँ से लिए जाने की बात वात्स्यायन ने कही है। यों तो न्याय-सूत्रों की अपेक्षा अन्य सभी दर्शन-सूत्रों को प्राचीन नहीं कहा जा सकता, परन्तु यदि कथञ्चित् ऐसा मान भी लिया जाय, अथवा यह भी मान लिया जाय कि वात्स्यायन ने अपने से ही पूर्ववर्ती किसी शास्त्र-ग्रन्थ में मन के इन्द्रियत्व का कथन देखकर अपने भाष्य-ग्रन्थ में उक्त कथन कर दिया, तो भी बात बनती नहीं; क्योंकि मीमांसा, वेदान्त तथा योग-सूत्रों में भी मन का इन्द्रियत्व कहीं भी कथित नहीं है। केवल सांख्य-सूत्रों में इसका कथन है। इसके द्वितीय अध्याय के १८वें सूत्र में सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति का कथन करके अगले सूत्र में उनकी गणना की गई है। वह इस प्रकार है:— **कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्**। [सां०सू० २।१६]। इसका अर्थ यह है कि पांच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ आन्तरिक इन्द्रिय को जोड़कर कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। बाह्य कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा मन को आन्तरिक इन्द्रिय कहा गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस सांख्य-सूत्र में मन का इन्द्रियत्व प्रतिपादित है। इसी अध्याय के २६वें सूत्र में फिर उभय प्रकार की इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होने के कारण मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना है:—'उभयात्मकं मनः'। तब फिर ये दोनों सांख्य-सूत्र ही न्यायभाष्यकार के पूर्वोद्धृत लेख के आधार रहे होंगे। ऐसी स्थिति में अवश्य ही सांख्य-सूत्र न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से और वस्तुतः तो न्यायसूत्रकार गौतम से भी प्राचीन सिद्ध होते हैं। यद्यपि ईश्वरकृष्ण की २६वीं और २७वीं कारिकाओं में इस अर्थ का उल्लेख है परन्तु गौतम ऋषि के अभिप्राय के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना असम्भव है क्योंकि गौतम ईश्वरकृष्ण से बहुत पूर्व के हैं। पं० उदयवीर शास्त्री के अनुसार तो वात्स्यायन भी ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती हैं। यदि यह सत्य हो, तब तो उनके पूर्वोद्धृत लेख का ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिकाओं से कथमपि सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सांख्य के प्राचीन आचार्यों में एक देवल ऋषि भी थे। इस बात का पता अनेक

विश्वस्त सूत्रों से चलता है। ब्रह्म-सूत्र १।४।२८ के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य ने सांख्य सम्प्रदाय के विषय में **'देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद् धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः'** इत्यादि लिखा है। सांख्य-कारिकाओं के व्याख्याकार माठर ने सांख्य सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य-परम्परा में देवल का उल्लेख इस प्रकार किया है:—**"कपिलादासुरिणा प्राप्तम्'............, ततः पञ्चशिखेन, तस्माद् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीन् आगतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।"** देवल और ईश्वरकृष्ण के बीच भी कई आचार्य हुए होंगे, इस बात का संकेत 'प्रभृति' पद के प्रयोग से मिलता है। तात्पर्य यह है कि देवल ईश्वरकृष्ण से पर्याप्त प्राचीन सांख्याचार्य थे। देवल की प्राचीनता का पता महाभारत में आए हुए तत्सम्बन्धी अनेक उल्लेखों से भी चलता है। इसके शल्य पर्व में एक स्थल पर ऐसा उल्लेख है कि देवल ने जैगीषव्य के योग-प्रभाव को देखकर गार्हस्थ्य-धर्म को छोड़कर संन्यास-धर्म को अपनाया था। शान्तिपर्व के नारद-देवल संवाद में भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में नारद द्वारा पूँछे जाने पर देवल ने उसका वर्णन किया है और प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार किया है:—"पापपुण्यक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते। तत्क्षये हृदि पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्।"[१] भगवद्गीता १०।१३ में भी देवल का उल्लेख हुआ है, जो इस प्रकार है:— "आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।" इन सभी उल्लेखों से यह बात सिद्ध होती है कि देवल ईश्वरकृष्ण आदि की अपेक्षा बहुत प्राचीन सांख्याचार्य थे।

इन्हीं देवल के नाम से एक उद्धरण याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्याख्याकार अपरादित्य ने प्रायश्चित्त प्रकरण के १०९ वें श्लोक की व्याख्या में दिया है, जो इस प्रकार है:—**पंचविंशति तत्त्वज्ञानं सांख्यम्।.....एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणि इह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते। तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। ......षोडश विकाराः। त्रयोदशकरणानि।......पंच वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुःखम्। विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा सिद्धिरष्टधा। प्रत्ययभेदाः पंचाशत्।......इति दशमूलिकार्थाः।......प्रकृतेर्महानुत्पद्यते महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च' तन्मात्रेभ्यो विशेषा-इत्युत्पत्तिक्रमः।"** इस उद्धरण के 'अशक्तिरष्टाविंशतिधा', 'तुष्टिर्नवधा' और 'सिद्धिरष्टधा' क्रमशः सांख्य-सूत्र ३।३८-४० है। इसके अतिरिक्त इसके **'विपर्ययः पंचविधः', 'त्रयोदश करणानि', 'प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् तन्मात्राणीन्द्रियाणि च तन्मात्रेभ्यो विशेषाः', 'अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिः'** तथा **'अभिमानलक्षणोऽहङ्कारः'** थोड़े भेद के साथ क्रमशः सांख्यसूत्र **'विपर्ययभेदाः पंच'** [३।३७], **'करणं त्रयोदशविधम्'** [२।३८], **'प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पंचतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि'** [१।६१], **'अध्यवसायो बुद्धिः'** [२।१३] तथा **'अभिमानोऽहङ्कारः'** [२।१६] है। इसी प्रकार देवल के इस सन्दर्भ के 'षोडश विकाराः', 'दश मूलिकार्थाः', 'त्रिविधो बन्धः', तथा 'त्रिविधं दुःखम्' अंश अक्षरशः तत्त्वसमाससूत्र २,१६,१९ तथा २२ हैं, और 'त्रयो गुणाः', 'त्रीणि प्रमाणानि', एवं 'पञ्च वायुविशेषाः' कुछ अन्तर

१. द्रष्टव्य, शान्तिपर्व २७५।३८

के साथ तत्त्वसमास-सूत्र 'त्रैगुण्यम्' [४], 'त्रिविधं प्रमाणम्' [२१], एवं 'पञ्च वायवः' [१०] है।[१]

देवल का उद्धृत सन्दर्भ अपरादित्य की व्याख्या के अतिरिक्त लक्ष्मीधर भट्ट के 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ के मोक्ष-काण्ड में भी उपलब्ध होता है। दोनों स्थलों के पाठों में कोई अन्तर नहीं है। इससे देवल के ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इस प्रसंग में यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि इन दोनों में से किसी एक ने दूसरे के ग्रन्थ से ही इस सन्दर्भ को ले लिया होगा; क्योंकि दोनों स्थलों मेंउद्धृत सन्दर्भ कुछ न्यूनाधिक है, समान नहीं है। एक के द्वारा दूसरे की प्रतिलिपि की जाने पर ऐसा नहीं हो सकता था। देवल के इस उद्धृत सन्दर्भ की आरम्भिक पंक्ति से यह बात सुस्पष्ट है कि उन्होंने इसके समस्त वस्तु-जात को अपने से पूर्व प्रणीत विशाल एवं गम्भीर सांख्य-तन्त्रों से संक्षिप्त करके ग्रहण किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि देवल ने पूर्व-दर्शित सूत्र या तो साक्षात् सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्वसमास-सूत्र से ही लिए हैं, या फिर इनके व्याख्यान-भूत किसी अवान्तर-कालीन ग्रन्थ से लिए है, जो पञ्चशिख आदि के द्वारा निर्मित हुए थे एवं जिनमें ये सूत्र अपने

---

१. तत्त्वसमास के ये तथा और भी एकाध सूत्र देवल के बाद के साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। तत्त्वसमास का १२ वाँ सूत्र 'पञ्चपर्वा अविद्या' है। इसे आचार्य वाचस्पति मिश्र ने ४७ वीं सांख्यकारिका की अपनी व्याख्या 'तत्त्वकौमुदी' में वार्षगण्य के नाम से इन शब्दों में उद्धृत किया है :—"अतएव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।" अब प्रश्न यह है कि तत्त्वकौमुदी में वार्षगण्य के नाम से यह सूत्र कैसे उद्धृत हुआ? इस विषय में दो ही विकल्प सम्भव हैं। प्रथम तो यह कि तत्त्वसमास-सूत्र वार्षगण्य की रचना हो, और दूसरा यह कि तत्त्वसमास से वार्षगण्य ने इस सूत्र को अपने ग्रन्थ में अपना लिया हो। प्रथम विकल्प युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वार्षगण्य से अत्यधिक प्राचीन आचार्य देवल के सन्दर्भ में भी तत्त्वसमास-सूत्र उद्धृत मिलते हैं। अतः दूसरा ही विकल्प समीचीन ज्ञात होता है। तत्त्वकौमुदी के अतिरिक्त गर्भोपनिषद् में भी इसके प्रथम दो सूत्र उद्धृत हुए हैं। वे ये हैं :—'अष्टौ प्रकृतयः' तथा 'षोडश विकाराः'। जिस पंक्ति में ये सूत्र उद्धृत हैं, वह इस प्रकार है :—'अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः'। शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में इस उपनिषद् का कोई भी अंश उद्धृत नहीं किया है। अतः निश्चयपूर्वक यह कह सकना कठिन है कि यह उपनिषद् ईसवी आठवीं शताब्दी अथवा उसके पूर्व विद्यमान थी। किन्तु ईसवी सातवीं शताब्दी के पल्लववंशी महाराज महेन्द्रविक्रमवर्मन् के मामण्डूर नामक स्थान के शिलालेख में 'भगवदज्जुकीयम' प्रहसन तथा उसके कर्त्ता बोधायन कवि का उल्लेख होने से उक्त प्रहसन सप्तम शतक के प्रारम्भ का होना चाहिए। श्री टी० आर० चिन्तामणि ने जनरल् आव् ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, सन् १६२८ में पृ० १४८ पर प्रकाशित अपने 'A note on the date of the Tattva samasa' शीर्षक लेख में इस बात को स्पष्ट लिखा है। उन्होंने इस लेख में ठीक ही लिखा है कि इस प्रहसन में तत्त्वसमास-सूत्र के उदाहरण प्राप्त होते हैं जिससे यह बात सिद्ध होती है कि तत्त्वसमास-सूत्र भगवदज्जुकीयम् से प्राचीन है। इसमें तत्त्वसमास के उपर्युक्त दोनों सूत्र एवं अन्य भी दो-चार सूत्र इस प्रकार उद्धृत हैं:—'शाण्डिल्य—सुणादु भअवो। "अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, आत्मा, पञ्च वायवः, त्रैगुण्यम्, मनः, सञ्चरः, प्रतिसञ्चरश्च" इति। एवं हि भअवदा जिणेण पिडअपुत्थएसु उत्तम्।

परिव्राजकः—शाण्डिल्य! सांख्यसमय एषः, न शाक्यसमयः।' [द्रष्टव्य प्रभाकर शास्त्री कृत संस्करण, पृ० १४-१५]

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि 'तत्त्व समास-सूत्र' सातवीं शताब्दी के 'भगवदज्जुकीयम्' से पूर्व का है। ये सभी सूत्र देवल के उपर्युक्त सन्दर्भ में उद्धृत हैं, यह बात तो स्पष्ट की ही जा चुकी है।

मूल रूप में ज्यों के त्यों स्थित थे। डा० हरदत्तशर्मा ने सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका[1] में इस विचार का खण्डन यह कह कर किया है कि यह मत देवल से सांख्य-सूत्रों की पूर्ववर्तिता की कल्पना पर आधारित है, वह कल्पना जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वयं देवल के ही साक्ष्य पर यह बात सिद्ध है कि उनका सांख्य-विषयक-पूर्वाचार्यों के सांख्यशास्त्रीय गम्भीर एवं विशाल ग्रंथों के मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप, उनका नामतः कथन-मात्र है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वे ग्रन्थ कौन से एवं किन आचार्यों के हो सकते हैं ? यों देवल बहुत प्राचीन आचार्य है जैसा कि पीछे संक्षेप में कहा जा चुका है, तथापि देवल से पूर्व अनेक सांख्याचार्य हो चुके थे। इनमें कपिल, आसुरि, पञ्चशिख के अतिरिक्त, वोढु, सनक, सनन्दन, सनातन, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस्, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, शुक्र, शुक, जैगीषव्य आदि अनेक के नामों के उल्लेख उपलब्ध सांख्य-ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। पञ्चशिख, सनन्दन, जैगीषव्य आदि कुछ अधिक प्रसिद्ध आचार्यों के मतों के उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। इससे इस बात की सम्भावना बढ़ जाती है कि देवल ने उन्ही में से किन्हीं के ग्रन्थों को अपने उक्त लेख का आधार बनाया होगा। इनमें भी कपिल के नाम से बहुत प्राचीन काल से ही सांख्य-सूत्र प्राप्त होते हैं। भले ही इनमें अनेक सूत्र कपिल रचित न हों और जैसा अभी स्पष्ट करेंगे, सच बात भी यद्यपि यही है, तथापि उनमें ही कपिल के मूल सूत्र स्थित हैं, जिन्हें वात्स्यायन जैसे प्राचीन आचार्य के पूर्व उद्धृत 'तन्त्रान्तरसामाचाराच्चैतत्प्रतिपत्तव्यम्' इत्यादि वचन को निरर्थक होने से बचाने के लिए उनसे बहुत पूर्व काल से चला आता हुआ मानना ही पड़ता है। अब जब देवल के सांख्य-विषयक सन्दर्भ में एक नहीं अपितु कई-कई वचन वर्तमान सांख्य प्रवचन-सूत्रों तथा तत्त्वसमास-सूत्रों में ज्यों के त्यों और कुछ बचन थोड़े परिवर्तन के साथ उपलब्ध होते हैं, तब इन्हें अपने मूल रूप में देवल से पूर्ववर्ती मानने के अतिरिक्त और कोई गति ही नहीं रह जाती। यदि यह माना जाय कि देवल से पूर्व कोई और सूत्र थे जिनके बचन उन्होंने अपने ग्रंथ में लिये और वर्तमान सांख्य-सूत्र देवल के बहुत बाद लिखे गए जिनमें उल्टे उन्हीं के ग्रंथ से वचन लिए गए, ऐसा मानने के लिए डा० हरदत्तशर्मा एवं उनके समान मत वालों के पास कोई युक्ति-युक्त आधार नहीं है, केवल मान्यता-मान्यताभर है। ऐसी स्थिति में वर्तमान सूत्रों को देवल आदि से पूर्ववर्ती मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

किन्तु उपलब्ध सांख्य-सूत्रों में कई ऐसे सूत्र हैं जो समूचे ग्रन्थ की प्राचीनता की मान्यता के साथ बड़ा विरोध उपस्थित करते हैं। जैसे इसमें कई सूत्र ऐसे हैं जो दूसरे सूत्र-ग्रन्थों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। सांख्य-प्रवचन-सूत्र ४।३ [**आवृत्तिरसकृदुपदेशात्**] ब्रह्मसूत्र ४।१।१ है, सां० सूत्र २।३३ [**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः**] योगसूत्र १।५ है। इसी प्रकार सां० सू० १।१२४ [**हेतुमदनित्यमव्यापि[2] सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्**] सांख्य-कारिका १० की प्रथम पंक्ति है, सां० सू० २।३१ [**सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः पञ्च**

---

१. द्रष्टव्य पूना से डा० गंगानाथझा कृत अँग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित संस्करण की डा० शर्मा लिखित भूमिका का पृ० २३।

२. वृत्तिकार अनिरुद्ध-धृत पाठ में 'अव्यापि' पद नहीं है, इसका व्याख्यान उन्होंने नहीं किया है।

वायवः] सांख्य-कारिका २६ की द्वितीय पंक्ति है, तथा सां० सू० २।१८ [**सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्**] सां० का० २५ की प्रथम पंक्ति है, यद्यपि सूत्र के 'सात्त्विक-मेकादशकम्' के स्थान में कारिका में 'सात्त्विक एकादशकः' पाठ है। इसी प्रकार और भी कारिकायें तथा सूत्र एक से हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि या तो सांख्य-सूत्रकार ने वेदान्तसूत्र, योगसूत्र तथा सांख्यकारिकाओं से उभयनिष्ठ सामग्री ली है या फिर इन सबके रचयिताओं ने सांख्य-सूत्रों से ली है। परन्तु कई के एक से ग्रहण करने की अपेक्षा तो एक का कई से ग्रहण करना ही स्वाभाविक एवं समीचीन लगता है। अतएव निस्सन्देह सांख्य-सूत्रों के कर्त्ता ने ही वेदान्त, योग आदि के सूत्रों तथा सांख्य-कारिकाओं से उभयनिष्ठ सामग्री उधार ली है एवं वर्तमान सांख्य-सूत्र इन सबसे अर्वाचीन हैं। इनके कपिल-कृत न होने तथा किसी अर्वाचीन आचार्य द्वारा रचित होने का एक प्रबल कारण इनमें कपिल-शिष्य आसुरि के शिष्य पञ्चशिख के मतों का उल्लेख होना भी है। कपिल-कृत होने पर इनमें पञ्चशिख के मतों का उल्लेख असम्भव है। सां० सू० ५।३२ [**आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः**] तथा ६।६८ [**अविवेकनिमित्तो वा पञ्च-शिखः**] में स्पष्ट ही आचार्य पञ्चशिख का मत उद्धृत है, जो सां० सूत्रों के पञ्चशिख के परवर्त्ती किसी आचार्य की कृति होने पर ही सम्भव है। इन सूत्रों के प्राचीन न होने का एक और कारण यह है कि इनमें स्रुघ्न, पाटलिपुत्र आदि नगरों के नाम आए हैं जो निश्चित रूप से ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के पूर्व के कदापि नहीं हो सकते। सबसे प्रबल कारण इनके प्राचीन न होने का यह प्रतीत होता है कि इनमें न्याय, वैशेषिक आदि सम्प्रदायों के मतों का खण्डन मिलता है, जो इन सूत्रों के इनसे अर्वाचीन हुए विना असम्भव है।

यों केवल विभिन्न वादों के सामान्य खण्डन-मण्डन का अवलम्बन कर पौर्वापर्य का निर्णय करना असम्भव है जब तक कि एक-दूसरे की रचना में एक-दूसरे के पद, नाम आदि का स्पष्ट उल्लेख न हो। सामान्य रूप से स्वमतानुकूल विचारों का समर्थन या मण्डन तथा स्वमत-विरुद्ध विचारों का खण्डन तो प्रत्येक विचारक विद्वान् करेगा ही, क्योंकि प्रतिपाद्य वस्तु के स्वरूप के निर्णय के लिए वह विचार अपेक्षित है। परन्तु उसके ऐसा करने का यह तात्पर्य नहीं होता कि वे अनुकूल या प्रतिकूल विचार उसके पूर्व अनिवार्य रूप से विशिष्ट मतों के रूप में विद्यमान रहे ही हों। तात्पर्य यह है कि किसी ग्रंथ में किसी वाद के उल्लेख-मात्र से हम उसकी पूर्वापरता का निर्णय करने में असमर्थ हैं, जब तक हम किसी आचार्य या, शास्त्र का नाम तथा उस शास्त्र के विशिष्ट पारिभाषिक पदों का वहाँ उल्लेख न देखें। क्योंकि केवल वाद का उल्लेख किसी भी आचार्य के मस्तिष्क की कल्पना हो सकती है। विशेषतः दार्शनिक आचार्यों तथा विचारकों के लिए यह एक सामान्य सी बात है कि वे अपने मत की पुष्टि के लिए पहले तद्विरोधी समस्त सम्भाव्य पक्षों या वादों को उपस्थित या प्रस्तुत करके फिर उनकी असारता का प्रतिपादन करते हैं। उनमें अनेक वाद या पक्ष केवल काल्पनिक होते हैं। वे वहाँ केवल इसलिए दिए जाते हैं कि वे भी किन्हीं के मत सम्भव हो सकते हैं। किन्तु सांख्य-सूत्रों में ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें कपिल के परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख है। इतना ही नहीं, उनके मत का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। उदाहरणार्थ, 'न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिका-

दिवत्' [सां० सू० १।२५] सूत्र लिया जा सकता है। इसमें स्पष्ट ही 'वैशेषिक' पद आया हुआ है और फिर उसका विशेषण-पद 'षट्पदार्थवादी' भी रक्खा हुआ है जिससे यह जानने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि यहाँ कणाद के वैशेषिक दर्शन का उल्लेख है। इसी प्रकार सांख्य-सूत्रों के पाँचवे अध्याय के पाँच सूत्रों में न्याय-वैशेषिक मतों का स्पष्ट खण्डन है। वे सूत्र इस प्रकार हैं :—**न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः** [५।८५], **षोडशादिष्वप्येवम्** [५।८६], **नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः** [५।८७], **न परिमाण-चातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्** [५।९०] तथा, **न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्** [५।९९]। इनमें षोडशपदार्थवादी न्यायसूत्रकार गौतम का उल्लेख स्पष्ट है। परिणाम के जिस चातु-र्विध्य का खण्डन यहाँ दिखता है, वह न्याय-वैशेषिक का ही एकदेशीय मत है। परमाणुओं की नित्यता जिसका खण्डन यहाँ किया गया है, न्याय-वैशेषिक का ही प्रसिद्ध सिद्धान्त है। जिस समवाय को अप्रामाणिक कहा गया है, वह वैशेषिक दर्शन का छठाँ पदार्थ है। यह सारा का सारा सन्दर्भ ऐसा है कि गौतम और कणाद के न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदायों के साथ इसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान सांख्य-सूत्र न्याय आदि से अर्वाचीन होंगे और तब फिर ये आदि विद्वान्, सर्वाधिक प्राचीन दार्शनिक कपिल की रचना नहीं हो सकते क्योंकि अपने से सहस्रों वर्ष पीछे होने वाले आचार्यों के मतों का नाम के सहित उल्लेख और वह भी उन्हीं के शब्दों में कैसे कर सकते थे। प्रो० मैक्स-मूलर ने अपने ग्रन्थ The Six Systems of Indian Philosophy में 'सांख्य-सूत्र' पर लिखते हुए इन सभी बातों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त एक और बात उन्होंने यह भी कही है कि सांख्य दार्शनिकों द्वारा जिस श्रुति की उपेक्षा की आशा की जाती थी, उसी की सांख्य-सूत्रों में बार-बार दुहाई दी गई है।[1] इन्हीं आधारों पर उन्होंने भी सांख्य-सूत्रों को बहुत अर्वाचीन सिद्ध किया, यद्यपि तत्त्वसमास-सूत्रों को उन्होंने प्राचीन ही बताया।

प्रो० मैक्समूलर ने जो सांख्य दार्शनिकों द्वारा श्रुति-प्रमाण की उपेक्षा की आशा प्रकट की है और इसके विपरीत वे सांख्य-सूत्रों में उसकी मान्यत के प्रतिपादन के कारण

1. The Sankhya-Sutras, as we possess them, are very chary of references. They clearly refer to Vaisheshika and Nyaya when they examine the six categories of the former (v. 85) and the sixtecn Padarthas of the latter (v. 86). Whenever they refer to the Anus or atoms, we know that they have the Vaisheshika philosophy in their minds; and once the Vaisheshikas are mentioned by name (I- 25). Shruti, which the Sankhyas were supposed to disregard. is very frequently appealed to, Smriti once (v. 123), and Vamadeva, whose name occurs in both Shruti and Smriti, is mentioned as one who had obtained spiritual freedom. But of individual philosophers we meet only with Sanandan Acharya (vi. 69) and Panchashikha (v. 32, vi. 68), while the teachers, the Acharyas, when mentioned in general. are explained as comprehending kapila himself as well as others.

जो इन सूत्रों को अर्वाचीन समझते हैं, यह उनका भ्रम है। पीछे इसी खण्ड के द्वितीय अध्याय में सांख्य दर्शन का श्रुतिमूलकत्वया वैदिकत्व स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ यह भी स्पष्ट कहा जा चुका है कि श्रुतियों की अपनी स्वतन्त्र समझ के कारण सांख्य के सिद्धान्त शङ्कराचार्य आदि श्रुति-व्याख्याकारों के अनुरूप न होकर उनसे पर्याप्त भिन्न हैं। इसी कारण ईसा की परवर्ती शताब्दियों के ग्रन्थकारों एवं आचार्यों ने उसे अवैदिक-श्रुतिविरुद्ध-घोषित करके उसकी निन्दा की है। इसी दृष्टि से देखने के कारण सांख्य-प्रवचन-सूत्रों में श्रुति प्रमाण की मान्यता उस पर वेदान्त आदि श्रौत दर्शनों के परवर्ती प्रभाव का फल प्रतीत होती है। अतः प्रो० मैक्समूलर तथा उनकी विचार-धारा के अन्य समस्त देशी-विदेशी विद्वानों का सांख्य-सूत्रों को इस आधार पर अर्वाचीन समझना भ्रम है। जहाँ तक वामदेव ऋषि के नामोल्लेख का प्रश्न है, इससे सांख्य-सूत्रों की प्राचीनता में कोई कठिनाई या गड़बड़ी उपस्थित होने की आशंका नहीं की जा सकती। वामदेव प्राचीनतम ऋषियों में से एक हैं। सर्वाधिक प्राचीन उपनिषद् बृहदारण्यक के भी 'तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (१।४।१०) सन्दर्भ में ऋषि वामदेव के ब्रह्म-दर्शन के साथ होने वाले सर्वात्म-भाव के लिए परोक्ष अर्थात् सुदूर, भूतकाल की सूचना देने वाले लिट्-रूप 'प्रतिपेदे' का ही प्रयोग हुआ है। इसी से वामदेव की प्राचीनता सर्वथा प्रमाणित होती है। सनन्दन ब्रह्मा जी के मानस पुत्र थे और सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार वे कपिल के समकालिक ही थे। आचार्य पञ्चशिख कपिल के प्रशिष्य थे और सनन्दन के समान ही उनके समकालिक भी। पीछे स्पष्ट कहा जा चुका है कि कपिलोपदिष्ट तन्त्र को पञ्चशिख ने ही बढ़ाकर खूब विस्तृत कर दिया, व्याख्या द्वारा उसे साठ खण्डों में कर दिया। ऐसे योग्यप्रशिष्य के मत का नाम-सहित उल्लेख सर्वथा स्वाभाविक ही है, उसमें असंगति ही क्या है? अतः इन समस्त तर्कों के आधार पर प्रो० मैक्समूलर एवं उनके समान विचार वालों का उपलब्ध सांख्य-सूत्रों को कपिल कृत न मान कर किसी परवर्ती आचार्य की कृति मानना संगत नहीं प्रतीत होता।

अब बच रहे वे सूत्र जिनमें परवर्ती न्याय, वैशेषिक आदि के नाम, मत आदि का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है, अथवा जिनमें स्रुघ्न, पाटलिपुत्र आदि अपेक्षाकृत अर्वाचीन नगरों का नामोल्लेख है। वस्तुतः ऐसे समस्त सूत्र प्रकरण आदि के विचार से स्पष्ट ही प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। संक्षेप में यह इस प्रकार है।

प्रथम अध्याय के प्रथम छः सूत्रों में त्रिविध दुःख से छुटकारा या मोक्ष पाने के लिए औषध आदि दृष्ट (लौकिक) तथा ज्योतिष्टोम इत्यादि अदृष्ट (वैदिक) उपायों की व्यर्थता तथा सांख्योपदिष्ट तत्त्वज्ञान की सार्थकता बताकर, सांख्य-शास्त्र का प्रारम्भ आवश्यक सिद्ध किया गया है। परन्तु मोक्ष एवं उसके लिए शास्त्रारम्भ की यह सारी बात तब तक निरर्थक है जब तक बन्ध की सम्भावना प्रतिपादित न कर दी जाय क्योंकि बद्ध का ही मोक्ष होता है। अतः छठें सूत्र से आगे इसी का विचार किया गया है। सातवें सूत्र[1] में कहा गया है कि 'स्वभावतः बद्ध प्राणी के मोक्ष के लिए साधनों का उपदेश नहीं हो

---

१. न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः।

सकता'। स्वभाव तो अविनाशी होता है और यदि कोई स्वभावतः बद्ध है, यदि किसी का बन्धन सहज-स्वभाविक है, तो निस्सन्देह उससे मोक्ष पाने के लिए साधनों का उपदेश एवं अनुष्ठान करना व्यर्थ अतएव असंगत है। अतः दुःख-बन्ध से आत्मा का मोक्ष कथन करने से स्पष्ट है कि वह स्वभावतः बद्ध नहीं हो सकता। आठवें से ग्यारहवें सूत्र तक यही प्रतिपादित है। आगे के चार सूत्रों में कहा गया है कि काल, देश, अवस्था एवं कर्म के योग या सम्बन्ध से भी आत्मा का बन्धन नही हो सकता। अठारहवें सूत्र में यह कहा गया है कि प्रकृति के कारण भी आत्मा का बन्धन नहीं हो सकता, क्योंकि बन्धन उत्पन्न करने में वह भी कर्म आदि के अधीन ही है, उन के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकती। तब क्या आत्मा का बन्धन होता ही नहीं, और यदि ऐसी बात है, तो शास्त्र में उसके मोक्ष का उपदेश क्यों ? इस शंका का उत्तर आगे के उन्नीसवें सूत्र में दिया गया है, जो इस प्रकार है :—'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते'। इसका अर्थ यह है कि स्वभावतः नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त आत्मा का 'तद्योग' अर्थात् बन्ध-योग 'तद्योग' अर्थात् प्रकृति-योग के विना नहीं हो सकता। परन्तु इस समाधान में भी यह शंका पूर्ववत् बनी रही कि विना किसी निमित्त के नित्य शुद्ध, असंग आत्मा का प्रकृति के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर बहुत आगे आने वाले ५५ वें सूत्र में दिया गया है जो इस प्रकार है :—'**तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्**'। इसका अर्थ यह है कि स्वभावतः शुद्ध, असंग आत्मा का प्रकृति के साथ योग भी अविवेक के कारण होता है। यह योग निर्निमित्त नहीं है, अतः पूर्वोक्त देश, काल, अवस्था आदि के योग के साथ इसकी समानता नहीं है क्यों इन सब के योग निर्निमित्त थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्नीसवें सूत्र का साक्षात् सम्बन्ध वर्तमान क्रमानुसार ५५ वें सूत्र के साथ है। इससे बीच के पैंतीस सूत्रों का प्रक्षिप्त होना स्पष्ट है। पं॰ उदयवीर शास्त्री का यह कथन सर्वथा संगत है कि "इन दोनों सूत्रों की रचना से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि उन्नीसवें सूत्र के अनन्तर यह सूत्र होना चाहिए। उन्नीसवें सूत्र के अन्तिम पद हैं 'तद्योगस्तद्योगादृते'। उन्हीं पदों को लेकर अगला सूत्र है—'**तद्योगोऽप्यविवेकात्**'। हमारे विचार में यह सूत्र-रचना इतनी स्पष्ट है कि अपने अव्यवहित आनन्तर्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। शब्द-कृत और अर्थ-कृत दोनों ही सम्बन्धों के आधार पर पहले सूत्र के ठीक अनन्तर दूसरा सूत्र आना चाहिए। इसलिए हम निस्संदेह कह सकते हैं कि २० वें सूत्र से लेकर ५४ वें सूत्र तक कुल पैंतीस सूत्र यहाँ पर प्रक्षिप्त हैं। ये सूत्र प्रकरण-विरुद्ध तथा पुनरुक्त आदि दोषों से दूषित हैं"।[१]

कहना न होगा कि इन्हीं प्रक्षिप्त सूत्रों के अन्तर्गत पूर्वोक्त **'न वयं षट्पदार्थवादिनो वशेषिकादिवत्**, तथा **'न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशभेदात् स्रुघ्नपाटलिपुत्र-स्थयोरि व'** सूत्र हैं, और इन्हीं के अन्तर्गत बौद्धों के **'विज्ञान'** और **'शून्य'** का उद्धरण करने वाले 'न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः' 'तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि' तथा 'शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य' इत्यादि सूत्र भी हैं जिनके बल पर सांख्य सूत्रों को कपिल से भिन्न किसी अर्वाचीन आचार्य की कृति कहा जाता है। इन सूत्रों का प्रकरण-विरोध तो

२. द्रष्टव्य सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० २४०।

बहुत कुछ पिछले विवेचन से स्पष्ट हो चुका है। प्रकरण से तो इनका सम्बन्ध है ही नहीं, परस्पर भी इनका विशेष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इनकी पारस्परिक असम्बद्धता इनके प्रतिपाद्य विषयों पर सामान्य दृष्टिपात करने से भी स्पष्ट हो जाती है।[१] इन सब बातों के अतिरिक्त इस प्रक्षिप्त प्रकरण के अन्तिम तीन सूत्र इस विचार को पुष्ट करने के लिए प्रबल प्रमाण हैं कि ये सूत्र कपिल-प्रणीत नहीं कहे जा सकते। इन तीन सूत्रों के पाठ-क्रम में अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने परस्पर कुछ भेद कर दिया है।[२] इन सूत्रों की रचना में जो सबसे पहले ध्यान देने की बात है, वह है पुनरुक्त दोष। जहाँ अर्ध-मात्रा का लाघव या संक्षेप भी सूत्र-ग्रंथों में अत्यन्त मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण माना जाता है, वहाँ ये तीन के तीनों सूत्र पूर्व के पन्द्रहवें तथा सोलहवें सूत्र हैं। यहाँ जिस बात को 'न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्' और 'अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे' इन दो सूत्रों में प्रकट किया गया है, ठीक इसी बात को और लगभग इन्हीं शब्दों में कपिल ने प्रथम ही सोलहवें सूत्र में कह दिया है :—'न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च'। सचमुच यह बात कल्पना के बाहर है कि महर्षि कपिल एक ही बात को बतलाने के लिए एक ही अध्याय में दो स्थलों पर सूत्रों की रचना करते। इसी प्रकार **'निर्गुणादिश्रुदिविरोधश्चेति'** इस सूत्र के प्रतिपाद्य अर्थ को भी **'असङ्गोऽयं पुरुष इति'** इस पन्द्रहवें सूत्र के द्वारा पूर्व ही प्रकट किया जा चुका है। इन दोनों सूत्रों में एक यह भी ध्यान देने की बात है कि दोनों में अन्त में 'इति' पद का प्रयोग किया गया है। **'असङ्गोऽयं पुरुष इति'** सूत्र में तो 'इति' पद के प्रयोग की संगति स्पष्ट ज्ञात होती है, और वह यह है कि सम्भवतः **'असङ्गोऽयं पुरुषः'** इन पदों को श्रुति का उद्धरण बताने के लिए 'इति' पद का प्रयोग किया गया है क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।१५ में इन्हीं शब्दों में पुरुष की असङ्गता कथित है। परन्तु 'निगुर्णादिश्रुतिविरोधश्चेति' सूत्र में 'इति' पद के पाठ की सङ्गति स्पष्ट नहीं होती। सम्भवतः 'इति' पद की यह असंगति विज्ञानभिक्षु के सामने भी थी, इसीलिए इसका कथञ्चित् परिहार करने के लिए उन्होंने इन तीनों सूत्रों का क्रम बदल दिया है, जैसा कि अभी स्पष्ट कर चुके हैं। उन्होंने इस सूत्र को इस प्रकरण का अन्तिम ५४ वाँ सूत्र मानकर 'इति' पद की व्याख्या इस प्रकार की है :—'इति शब्दो बन्धहेतुपरीक्षासमाप्तौ'। किन्तु 'इति' की संगति बैठाने के लिए की गई उसकी यह व्याख्या ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि १९वें सूत्र में प्रकृति-योग को बन्ध-योग का हेतु बता कर इस आकांक्षा की पूर्ति नहीं की गई कि असंग आत्मा के साथ प्रकृति का योग भी कैसे हुआ ? जब तक इसका उत्तर न दे दिया जाय, तब तक प्रकरण की समाप्ति कैसे मानी जा सकती है ? यह उत्तर आगे के ५५वें सूत्र 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्' में दिया गया है, इसे पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। अतः वर्तमान सूत्र-संख्या के अनुसार ५५वें सूत्र में ही प्रकरण को समाप्त कहा जा सकता है, इससे पूर्व नहीं। अतः विज्ञानभिक्षु का ५४वें सूत्र

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य 'सांख्य दर्शन का इतिहास', पृ० २४२–४६।

२. अनिरुद्ध-धृत क्रम :—न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥५२॥ निर्गणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥५३॥ अति-प्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥५४॥

विज्ञानभिक्षु-धृत क्रम :—न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥५२॥ अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥५३॥ निर्गुणा-दिश्रुतिविरोधश्चेति ॥५४॥

के 'इति' पद की संगति लगाने का प्रयास विफल ही कहा जायगा। सम्भव है कि प्रकरण के प्रक्षेप-कर्ता ने अपनी रचना की समाप्ति को द्योतित करने के लिए ही 'इति' का प्रयोग किया हो।

इस सबके अतिरिक्त एक और प्रबल कारण इन पैंतीस सूत्रों के प्रक्षिप्त होने का यह भी है कि इनके अन्तिम सूत्र— विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति' तथा अनिरुद्ध के अनुसार 'अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे'— की उसके आगे के सूत्र 'तद्योगोप्यविवेकान्न समानत्वम्' के साथ संगति नहीं बैठती। इसके लिए ७वें से १९वें सूत्र तक के प्रकरण का ही अवलम्ब लेना पड़ता है। यह बात विज्ञानभिक्षु एवं अनिरुद्ध दोनों के ही व्याख्यानों से स्पष्ट है। ५५वें सूत्र की भिक्षु-लिखित अवतरणिका इस प्रकार है :—"तदेवं स्वभावतो बद्धस्येत्यादिना प्रघट्टकेनेतरप्रतिषेधतः प्रकृतिपुरुषसंयोग एव साक्षाद् बन्धहेतुरवधारितः। तत्रेयमाशङ्का—ननु प्रकृति संयोगोऽपि पुरुषे स्वाभाक्रित्वादिविकल्पग्रस्तः कथं न भवति। संयोगस्य स्वाभाविकत्वकालादिनिमित्तकत्वे हि मुक्तस्यापि बन्धापत्तिरित्यादिदोषा यथायोग्यं समाना एवेति। तामिमां शङ्कां परिहरति – 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानात्वम्'।"

इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार 'न स्वभावतो बद्धस्य' (सू० ७) इत्यादि सूत्र-समूह द्वारा दूसरे वादों का खण्डन करके प्रकृति और पुरुष के संयोग को ही साक्षाद् बन्ध-हेतु ठहराया गया है। इस सम्बन्ध में यह शङ्का होती है कि पुरुष के साथ होने वाला प्रकृति-योग भी स्वाभाविकत्व इत्यादि विकल्पों से ग्रस्त क्यों नहीं होता? यदि प्रकृति-योग को स्वाभाविक मान लिया जाय तो इसके सदैव रहने से पुरुष का मोक्ष न होना चाहिए। यदि इसका निमित्त काल, देश आदि को ही माना जाय, तो उसमें समान रूप से वे ही दोष उपस्थित होंगे जो काल, देश आदि को बन्ध का निमित्त मानने में बताए जा चुके हैं। इस शंका का परिहार 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्' इस ५५वें सूत्र से सूत्रकार करते हैं। विज्ञानभिक्षु की इस अवतरणिका से स्पष्ट है कि वे ५४वें सूत्र का ५५वें सूत्र से सम्बन्ध न जोड़ सके और ५५वें सूत्र की अवतरणिका के लिए उन्हें ७ से १९ सूत्र तक प्रकरण का ही आश्रय लेना पड़ा, क्योंकि ७ से १८ सूत्र तक में ही आत्म-बन्ध के स्वाभाविक होने तथा देश, काल और अवस्था आदि से उत्पन्न होने का खण्डन करके १९वें सूत्र में यह निर्धारित किया गया है कि आत्म-बन्ध का हेतु आत्मा के साथ प्रकृति-योग है। इस प्रकार यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि शब्द-रचना के अतिरिक्त अर्थ-सम्बन्ध की दृष्टि से भी १९वें के ठीक बाद में ही ५५ वाँ सूत्र आना चाहिए। ऐसी स्थिति में २०वें से ५.वें सूत्र तक के पैंतीस सूत्रों के प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

सांख्य-सूत्रों की अर्वाचीनता के सूचक अन्य सूत्र पाँचवें अध्याय के मुक्ति-प्रकरण में आए हुए हैं। यह प्रकरण ७४वें सूत्र से लेकर ११९वें सूत्र तक चलता है। इनमें ७९ तथा ८० एवं ८४वें से लेकर ११५वें तक बत्तीस सूत्र प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। इन्हीं के अन्तर्गत वे सूत्र हैं जिनमें बौद्धों के शून्य तत्त्व तथा न्याय-वैशेषिक के सोलह और छः पदार्थ, एवं अणु, चतुर्विध परिमाण, समवाय इत्यादि का उल्लेख आया है। इन्हीं सूत्रों के आधार पर समस्त सांख्य-सूत्र न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शन-सम्प्रदायों से परवर्ती या अर्वाचीन समझे जाते हैं। इन सूत्रों की प्रक्षिप्तता कई कारणों से प्रकट होती है। इनमें अनेक सूत्र

सांख्य-मत के विरुद्ध हैं, अनेक पुनरुक्त हैं, कई ऐसे भी हैं जो परस्पर ही विरुद्ध हैं। सांख्य-मत से मुक्ति के स्वरूप का निरूपण करने के लिए सूत्रकार ने प्रथम कल्पना द्वारा मुक्ति के अनेक स्वरूप दिखाये हैं, और साथ ही साथ वे उनका निषेध भी करते गए हैं। जिन सूत्रों में ऐसा किया गया है, वे इस प्रकार हैं :—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात् ॥७४॥ न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥७५॥ न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥७६॥ नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७७॥ न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥७८॥ एवं शून्यमपि ॥७९॥ संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ॥८०॥ न भागयोगोऽभागस्य ॥८१॥ नाणिमादियोगोऽप्यवश्यम्भावित्वात्तदुच्छित्तेरितरवियोगवत् ॥८२॥ नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥८३॥

इनमें ७९वाँ सूत्र पूर्व के ७८वें सूत्र से अर्थतः बिलकुल ही भिन्न नहीं है। इसका भाव पहले ही सूत्र में आ चुका है। सर्वोच्छेद ही तो शून्यवादी की मुक्ति हो सकती है, फिर सर्वोच्छेद का मुक्ति-स्वरूप के रूप में निषेध हो चुकने का शून्य का तद्रूप में निषेध व्यर्थ ही है। 'संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि' इस ८०वें सूत्र का भाव वही है जो आगे के 'नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्' इस ८३वें सूत्र का है। देशादि-लाभ भी मुक्ति नहीं है, यही ७९वें सूत्र का भाव है और यह 'नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्' के भाव से भिन्न नहीं है। अतः एक ही अर्थ को प्रकट करने के लिए दो पृथक् सूत्रों की रचना व्यर्थ है। ७९वें सूत्र की शब्द-रचना से स्पष्ट है 'संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्' इस प्रसिद्ध लौकिक आभाणक की गन्ध मिलती है, अतः यही प्रक्षिप्त हो सकता है।

मुक्ति-प्रकरण के प्रथम दस (७४ से ८३) सूत्रों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि इनके आगे के सूत्रों में सूत्रकार को या तो अन्य ऐसे ही काल्पनिक मुक्ति-स्वरूपों का खण्डन करना चाहिए, या फिर अपने मत से मुक्ति के स्वरूप का निरूपण करना चाहिए। तभी प्रकरण की संगति हो सकती है, अन्यथा नहीं। परन्तु ८३वें सूत्र के आगे एक अन्य ही प्रकरण चल पड़ता है जिसका पहले और बाद के सूत्रों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। यदि सूत्रकार ने ११५वें सूत्र के बाद मुक्ति-स्वरूप-विषयक कोई मत न दिया होता तो यह समझा जा सकता था कि इस प्रकरण की यहीं समाप्ति हो गई और ८४वें सूत्र से दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है। पर ऐसी बात नहीं है। सूत्रकार ने ११६ से ११९ सूत्र तक अपने सिद्धान्तानुसार मुक्ति का विचार किया है। यदि यहाँ पर एकाध ही सूत्र मुक्ति के विषय में लिखा गया होता और ८४ से ११५ संख्या के सूत्रों में एक वाक्यता होती, वे किसी एक प्रकरण के अंग होते, तो वह सूत्र-विशेष ही अपने प्रकरण से दूर फेंक उठने के कारण उत्प्रकरस—प्रकरण-विरुद्ध—मान लिया जाता। परन्तु इसके विपरीत इन बत्तीस सूत्रों में न तो परस्पर कोई शृङ्खलाबद्ध सम्बन्ध है और न पूर्वापर के साथ ही कोई सम्बन्ध है; साथ ही इनके ठीक बाद पूर्व-प्रक्रान्त मुक्ति के विषय में सूत्रकार के अपने सिद्धान्त का निरूपण करने वाले एकाध नहीं अपितु चार सूत्र हैं। इससे यही मानना युक्त है कि ८४ से ११५ तक के बत्तीस सूत्र ही प्रकरण-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

जैसा अभी पीछे कहा जा चुका है, इन बत्तीस सूत्रों की प्रक्षिप्तता इस कारण से भी सिद्ध होती है कि इनमें से कई सूत्र सांख्य मत के विरुद्ध है, कुछ पुनरुक्त है और कई

ऐसे भी हैं जो परस्पर-विरुद्ध हैं। जैसे इन बत्तीसों में प्रथम सूत्र है 'न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः'। इसका अर्थ यह है कि इन्द्रियों का उपादान कारण पृथिवी आदि भूत नहीं है, क्योंकि उनका अहङ्कार से उत्पन्न होना श्रुति से प्रमाणित है। स्पष्ट है कि इस सूत्र का मुक्ति-स्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और इस प्रकार यह सूत्र प्रकरण-विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त यह पुनरुक्त भी है, क्योंकि इसके पूर्व ही 'आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि' [२।२०] सूत्र में यही बात कही जा चुकी है। अगले दो सूत्र 'न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः' तथा 'षोडशादिष्वप्येवम्' हैं। इनमें क्रमशः वैशेषिक और न्याय का खण्डन है। इनका अर्थ यह है कि 'पदार्थ छः ही हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए यह भी नियम नहीं हो सकता कि छः पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है। सोलह आदि पदार्थों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए'। इन दोनों सूत्रों से न्याय और वैशेषिक शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित मुक्ति के स्वरूप का कुछ भी प्रकाशन या स्पष्टीकरण नहीं होता, जब कि प्रकरण मुक्ति-स्वरूप के निरूपण का ही है। अतः इनमें कही गई बात प्रकृत विषय में संगत नहीं जान पड़ती। इसी प्रकरण के 'न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्' ॥५।७५॥ सूत्र में न्याय और वैशेषिक के मत के अनुकूल प्रतीत होने वाले एक वाद का खण्डन किया गया है, क्योंकि यद्यपि न्याय-सूत्रों अथवा वैशेषिक-सूत्रों में ही ऐसा कोई सूत्र नहीं प्राप्त होता जिसमें आत्मा के विशेष गुणों के उच्छेद को मुक्ति बताया गया हो, तथापि यह बात सत्य है कि उनकी मुक्ति में आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद या नाश हो जाता है। न्याय-सूत्र 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' [१।१।२२] में मुक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसमें आए हुए 'तत्' पद का अर्थ 'दुःख' है, जैसा कि न्याय-भाष्यकार ने भी किया है। यह दुःख इक्कीस प्रकार का बताया गया है। यदि सचमुच मूल सांख्य-सूत्रों का निर्माण न्याय-वैशेषिक-सूत्रों के बाद हुआ होता तो अवश्य ही 'न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्' की जगह कुछ 'न दुःखध्वंसः' अथवा 'नैकविंशतिदुःखध्वंसः' इत्यादि प्रकार का सूत्र बनाया गया होता। पर चूंकि ऐसे किसी सूत्र की रचना नहीं मिलती, इससे यही समझना युक्ति-युक्त लगता है कि मूल सांख्य-सूत्रों की रचना न्याय-वैशेषिक-सूत्रों के बहुत पूर्व हो चुकी थी, और 'न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्' सूत्र की रचना उत्कृष्ट दार्शनिक बुद्धि द्वारा कल्पित मुक्ति के अनेक सम्भाव्य स्वरूपों में से एक के आधार पर हुई है। यही कारण है कि यद्यपि इसमें खण्डित मुक्ति का स्वरूप तात्पर्यतः न्याय-वैशेषिक-सूत्रों में प्रतिपादित मुक्ति के स्वरूप के समान है, तथापि दोनों एक नहीं हैं।

आगे के दो सूत्रों 'नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः [५।८७] तथा 'न निर्भागं कार्यत्वात्' [५।८८] में परमाणु की नित्यता और निरवयवत्व का खण्डन है। प्रकरण-विरुद्ध होने के अतिरिक्त ये सूत्र पुनरुक्त भी हैं, क्योंकि परिच्छिन्न की नित्यता का निषेध पूर्व ही १।७६,७७ में कर दिया गया है। 'न रूपनिबन्धनत्वात् प्रत्यक्षत्वनियमः' [५।८९] सूत्र में न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त का खण्डन है कि किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष में उसका रूप ही कारण होता है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि सांख्य-सूत्रकार के अनुसार द्रव्य-प्रत्यक्ष में रूप कारण नहीं होता। तब तो उनके विचार से प्रकृति-पुरुष का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। पर क्या सांख्य की यह मान्यता है? इसके विपरीत

१।१०८,१०९ सूत्रों में इनके प्रत्यक्ष न होने का कारण दिया गया है। इस प्रकार यह सूत्र भी प्रकरण के विरुद्ध होने के साथ-साथ सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध भी है। 'न परिमाण-चातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्' [५।९०] में भी यही दोष है। इसमें न्याय-वैशषिक के चतुर्विध परिमाण का खण्डन यह कह कर किया गया है कि दो [अर्थात् अणु और महत्] ही परिमाणों से चार परिमाण [अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ] हो जाते हैं। भला इसका भी प्रस्तुत प्रकरण से क्या सम्बन्ध है ? फिर सांख्य दो भी परिणाम मानता है क्या ? क्या सांख्य में भी न्याय-वैशेषिक की भाँति गुण और गुणी की पृथक्-पृथक् कल्पना है ? फिर उसकी पच्चीस तत्त्व-संख्या की क्या गति होगी ? सांख्य में गुणों की अतिरिक्त कल्पना करके उसके भेदों का कथन करना उपहासास्पद ही है, जब कि उसमें प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण उससे भिन्न या पृथक् न होकर तदात्मक ही होता है। इसका सविस्ता प्रतिपादन इसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में हुआ है। ९१ से लेकर ९३ तक में सामान्य का विचार है। नित्य-प्रति होने वाला 'स एवायं जनः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान सामान्य को ही लेकर होता है अतः उसका खण्डन या निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु १।१५४,१५५ में स्पष्ट किया जा चुका है कि सामान्य की पृथक् कल्पना नहीं की जा सकती और यह कथन सांख्य-सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है भी। अतः ये तीनों सूत्र सांख्य-विरुद्ध हैं। ९४ में यह कहा गया है कि "सादृश्य 'सामान्य' से भिन्न तत्त्व नहीं हो सकता क्योंकि उसका तो 'सामान्य' रूप से ही प्रत्यक्ष होता है।" स्पष्ट ही इसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती तीनों सूत्रों से है जो सांख्य-विरोधी कहे जा चुके हैं। आगे के ९५ तथा ९६ में भी 'सादृश्य' का ही निषेध है। ९७ तथा ९८ में संज्ञा और संज्ञी के अनित्य होने के कारण उनके बीच के सम्बन्ध को भी अनित्य कहा गया है। पर जब 'प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम्' [५।७२] में सूत्रकार प्रकृति और पुरुष को छोड़ कर अन्य सभी कुछ को अनित्य कह चुके हैं, तब 'सम्बन्ध' के नित्य होने की आशङ्का कहाँ रह जाती है, और कहाँ रह जाती है उसके खण्डन की अपेक्षा ? इस प्रकार ये सूत्र पुनरुक्त हैं। आगे ९९ और १०० में 'समवाय' का खण्डन है। पर जब गत सूत्र में ही नित्य सम्बन्ध का खण्डन कर दिया गया, और नित्य सम्बन्ध ही नैयायिकों और वैशेषिकों का 'समवाय' पदार्थ है, तब फिर उसके खण्डन की क्या आवश्यकता थी। अतः ये सूत्र भी पुनरुक्त हैं। सूत्र १०१ में यह निरूपण किया गया गया है कि न केवल क्रिया का अनुमान भर होता है अपितु निकटस्थ पुरुष को उसका तथा उसके आश्रय-भूत द्रव्य का प्रत्यक्ष भी होता है। कहना न होगा कि इसका पूर्वापर से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अतः यह प्रकरण-विरुद्ध है।

सूत्र १०२ तो सर्वथा सांख्य-विरुद्ध है। यह इस प्रकार है :—'न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्।' इसका अर्थ यह है कि स्थूल शरीर पञ्च भूतों का बना नहीं हो सकता क्योंकि अनेक प्रकार के तत्त्वों का एकत्र योग नहीं देखा जाता। इसके ठीक विपरीत ३।१७ में स्थूल शरीर को पाञ्चभौतिक कहा जा चुका है। वह सूत्र इस प्रकार है :—'पाञ्चभौतिको देहः।' वहाँ केवल सिद्धान्त ही नहीं दिया गया है अपितु उसके अगले दो सूत्रों में सांख्य-सिद्धान्त के विरोधी मत भी 'एके' और 'अपरे' पदों द्वारा दिए गए हैं। वे सूत्र इस प्रकार हैं—'चातुर्भौतिकमित्येके' [३।१८], 'ऐकभौतिकमित्यपरे' [३।१९]। इन

सूत्रों के 'एके' तथा 'अपरे' पदों से सर्वथा स्पष्ट है कि ३।१७ में ही सिद्धान्त-पक्ष दिया गया है, यह पक्ष सांख्य का अपना है। अनिरुद्ध ने इस सूत्र की अवतरणिका में यह बात स्पष्ट भी कर दी है :—'विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वपक्षमाह'। फिर ३।१८ की अवतारणा 'का विप्रतिपत्तिरित्यत्राह' तथा ३।१९ की 'मतान्तरमाह' लिख कर की है। परन्तु इस बात पर महान् आश्चर्य होता है कि जिसे अनिरुद्ध ३।१७ में स्व-पक्ष कह आए हैं, उसी का ५।१०२ में खण्डन होने पर इसकी अवतरणिका में केवल 'पञ्चभूतारब्धं शरीरमित्यत्राह' लिख कर चुप नहीं हो जाते अपितु इसकी व्याख्या में 'उपष्टम्भकत्वे तु चतुर्णां निमित्तत्वमस्त्येव, तेन च पाञ्चभौतिकमुच्यत इति' लिख कर ३।१७ में स्व-पक्ष रूप से कथित पाञ्चभौतिकत्व का औचित्य इस आधार पर प्रतिपादित करते हैं कि स्थूल शरीर में पृथ्वी उपादान तथा शेष चारों भूत निमित्त होते हैं। यही बात विज्ञानभिक्षु ने भी इस सूत्र के भाष्य में लिखी है।[1] ३।१९ के भाष्य में भी भिक्षु ने इसे स्पष्ट किया है।[2] भिक्षु महाशय ने तो यहाँ तक कमाल कर डाला है कि इस सूत्र में 'अपरे' पद के रहते हुए भी इसके भाष्य के अन्त में स्पष्ट लिख दिया है कि इसे ही पाँचवें अध्याय में भी सिद्धान्त रूप से प्रतिपादित करेंगे--'इममेव पक्षं पञ्चमाध्यायेऽपि सिद्धान्तयिष्यति।' जिस मत या पक्ष को सूत्रकार 'अपरे' पद के प्रयोग द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं, वही स्व-पक्ष या सिद्धान्त भला कैसे हो सकता है। समस्त संस्कृत-साहित्य में एक भी स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जहाँ स्व-मत का प्रस्ताव 'अपरे' 'इतरे' 'अन्ये' इत्यादि पदों के द्वारा किया गया हो। इसका विशेष विवेचन द्वितीय खण्ड में होगा।

सूत्र १०३ में सूक्ष्मशरीर की चर्चा है जो ३।११,१२ में सविशेष हुई है। अतः यह सूत्र पुनरुक्त है। १०४ से ११० तक इन्द्रिय, उनकी वृत्ति तथा रचना के सम्बन्ध में विचार किया गया है। विषय-विचार की दृष्टि से ये सब सूत्र पुनरुक्त हैं क्योंकि इस सब का विस्तृत विचार द्वितीय अध्याय के २० वें ३३ वें सूत्र तक हुआ है। १११ वें सूत्र में शरीर-भेदों का वर्णन है। ११२ वें में शरीर को पार्थिव मान कर उसमें अन्य चारों भूतों का केवल निमित्त होना कथित है। जैसा अभी कहा जा चुका है, यह सांख्य का स्व-मत कदापि नहीं हो सकता। ११३ से ११५ तक तीन सूत्र में शरीर के साथ प्राण के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। ११३ वें सूत्र[3] में कहा गया है कि प्राण देह का प्रारम्भक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों की शक्ति से प्राण की सिद्धि या उत्पत्ति होती है। 'सिद्धेः' पद की पञ्चमी विभक्ति से स्पष्ट है कि सूत्र के उत्तरार्ध का कथन पूर्वार्ध के कथन के हेतु रूप में रक्खा गया है। परन्तु दोनों भागों का इस प्रकार का सम्बन्ध उनके अर्थ से स्पष्ट नहीं होता। फलतः इस सूत्र का अर्थ अस्पष्ट है। यह अस्पष्टता अनिरुद्ध के व्याख्यान में स्पष्ट दिखती है। डा०

---

१. द्रष्टव्य ५।१०२ का भिक्षु-कृत भाष्य :—इतरच्च भूतचतुष्टयमुपष्टम्भकमित्याशयेन पाञ्चभौतिकत्व-व्यवहारः।

२. पार्थिवमेव शरीरमन्यानि च भूतान्युपष्टम्भकमात्राणीति भावः। अथवैकभौतिकमेकैकभौतिक-मित्यर्थः। मनुष्यादिशरीरे पार्थिवांशाधिक्येन पार्थिवता, सूर्यादिलोकेषु च तेजआद्याधिक्येन तैजसादिता शरीराणां सुवर्णादीनामिवेति।

३. न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः।

रिचर्ड गार्बे ने इसकी ओर संकेत किया है। विज्ञानभिक्षु का भी अर्थ कुछ विशेष स्पष्ट नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें प्राण को इन्द्रिय-शक्तियों से उत्पन्न अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति माना है, जब कि २।३१ में इसे त्रिविध अन्तकरण की सामान्य वृत्ति कहा है।[1] इस प्रकार सूत्रकार के पूर्व लेख के साथ इसका स्पष्ट विरोध है। २।३१ में कथित मत ही ठीक है, क्योंकि इसका समर्थन ईश्वर कृष्ण की २९ वीं कारिका से भी होता है जो इस प्रकार है —'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ।।' ११४ वें सूत्र[2] में कहा गया है कि भोक्ता के अधिष्ठाता रहने से शरीर का निर्माण हो जाता है, यदि भोक्ता अधिष्ठाता न हो तो अवश्य ही शरीर सड़ जाय। परन्तु अगले सूत्र[3] में यह कहा है कि शरीर-निर्माण में स्वामी अर्थात् भोक्ता का यह अधिष्ठतृत्व साक्षात् नहीं अपितु अपने प्राण रूप भृत्य के द्वारा ही होता है। इस प्रकार दोनों सूत्रों में परस्पर विरोध स्पष्ट है। प्रकरण के साथ जो इन दोनों तथा इनके पूर्व के भी सूत्र का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं सो अलग। इसीलिए ये तीनों प्रक्षित ही हैं, कपिल-रचित नहीं।

इस समस्त विवेचन का तात्पर्य यह प्रदर्शित करना है कि जिन सूत्रों के आधार पर समस्त सांख्य-सूत्र को अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है, वे प्रक्षित हैं। वे कपिल-कृत नहीं हैं, परवर्ती काल में अन्यों के द्वारा ठूस दिए गए हैं। यद्यपि यहाँ मुख्य रूप से दो ही बड़े बड़े प्रक्षेप लिए गए हैं, एक प्रथम अध्याय का और दूसरा पञ्चम का, तथापि इनके अतिरिक्त यहाँ-वहाँ और भी दो-चार सूत्रों का प्रक्षेप हो सकता है। इनको न दिखाने का कारण यह है कि प्रथम एवं पञ्चम अध्यायों के लम्बे प्रक्षेपों में ही वे सारे सूत्र सम्मिलित हैं जिनसे सांख्य-सूत्र ग्रन्थ अर्वाचीन प्रतीत होता है। इनके प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर उपलब्ध समस्त सांख्य-सूत्रों के कपिल-कृत न होने का प्रमुख आधार समाप्त हो जाता है। जब परवर्ती आचार्यों, सम्प्रदायों एवं मतों का स्पष्ट शब्द में उल्लेख करने वाले सूत्र कपिल-प्रणीत हैं ही नहीं, तब उनके आधार पर पूरा का पूरा ग्रन्थ अर्वाचीन कैसे कहा जा सकता है ? हाँ, प्रक्षिप्त सिद्ध हुए ये सूत्र, अवश्य ही आदि विद्वान् कपिल की रचना नहीं। अवश्य ही ये बहुत बाद में मूल सूत्रों के बीच-बीच में घुसेड़ दिए गए हैं।

अब अन्त में वे तीन सूत्र विचारार्थ बच रहे जो कारिकात्मक कहे जाते हैं तथा जिनके आधार पर सारा सूत्र-ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिकाओं के आधार पर रचित कहा जाता है। ये सूत्र १।१२४, २।१८ तथा २।३१ हैं। विज्ञान-भिक्षु के भाष्य के अनुसार सूत्र २।१२४ का रूप 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्' है। परन्तु अनिरुद्ध-वृत्ति के अनुसार 'हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्' इतना भर ही सूत्र १।१२४ है। अनिरुद्ध ने इस सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या की है परन्तु 'अव्यापि' पद को बिलकुल ही छोड़ दिया है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतः यह पद मूल सूत्र

१. सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।
२. भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसङ्गात् ।।५।११४
३. भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।।५।११५।।

में नहीं था, क्योंकि यदि यह मूल में होता तो अनिरुद्ध ने उसकी व्याख्या अवश्य की होती। यह बात अवश्य ही सत्य है कि कभी-कभी व्याख्याकार कम महत्त्वपूर्ण अथवा स्पष्ट अर्थ वाले शब्दों की व्याख्या नहीं करते और 'शेषं निगदव्याख्यातम्' अथवा 'शेषमतिरोहितार्थम्' इत्यादि लिख देते हैं। परन्तु प्रस्तुत 'अव्यापि' पद सूत्र के अन्य पदों की अपेक्षा न तो कम महत्त्वपूर्ण या अधिक स्पष्ट है और न इसकी व्याख्या न करने में ऐसे किसी कारण का उल्लेख अनिरुद्ध ने किया ही है। ऐसी स्थिति में प्रथम प्रदर्शित सम्भावना ही वास्तविकता जान पड़ती है। रही मूल सूत्र में 'अव्यापि' पद के समाविष्ट होने की बात, उस के विषय में ऐसी सम्भावना की जाती है कि अनिरुद्ध के अनन्तर तथा विज्ञानभिक्षु के पूर्व किसी समय इस पद का समावेश सूत्र में हुआ। लगता है, किसी अध्येता ने कारिका के संस्कार-वश सूत्र में भी 'अव्यापि' पद जोड़ दिया। फिर धीरे-धीरे वह उसी का अङ्ग बन गया। यह सूत्र दसवीं कारिका के आधार पर रचा गया नहीं प्रतीत होता।

सूत्र २।१८ इस प्रकार है :—'सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्'। पच्चीसवीं कारिका, जो इसका आधार कही जाती है, इस प्रकार है :—सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्रःस तामसस्तैजसादुभयम्'॥ सूत्र और कारिका के पूर्वार्ध की तुलना से दोनों के पाठ में एक भेद दीख पड़ता है और वह यह है कि सूत्र में 'सात्त्विकमेकादशकम्' इस प्रकार का नपुंसकलिङ्ग-पाठ है परन्तु कारिका में 'सात्त्विक एकादशकः' इस प्रकार का पुंल्लिङ्ग-पाठ है। इस भेद के कारण की मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि सूत्रस्थ नपुंसक-पाठ पूर्व सूत्र [1] में प्रयुक्त 'कार्यम्' पद के नपुंसकलिङ्ग के के कारण है। 'सात्त्विकमेकादशकं कार्यं वैकृतात् (=सात्त्विकात्) अहङ्कारात् प्रवर्तते' यह पूर्ण सूत्रार्थ है। इसके विपरीत कारिका-स्थित पुंल्लिङ्ग-पाठ पूर्वक कारिका[2] में प्रयुक्त 'गणः' पद के पुंल्लिङ्ग के कारण है। 'सात्त्विक एकादशकः गणः प्रवर्तते वैकृताद-हङ्कारात्ः—यह पच्चीसवीं कारिका के पूर्वार्ध का पूर्णान्वय है। यहाँ स्पष्ट ही पुंल्लिङ्ग पद 'गणः' का अनुर्वतन होता है जिसमे 'सात्त्विक एकादशकः' इत्यादि ही पाठ सम्भव था। लिङ्ग-भेद की इस मीमांसा से यही लगता है कि सूत्र कारिका के आधार पर नहीं रचा गया है; क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो सूत्रकार के लिए किसी प्रकार की छन्दःसम्बन्धी विवशता न होने के कारण या तो सूत्र सर्वथा कारिका के समान होता या फिर अन्य सूत्रों की भाँति उससे पर्याप्त भिन्न होता, केवल लिङ्ग के भेद का कोई अर्थ अथवा प्रयोजन नहीं दिखता। इसके विपरीत कारिका सूत्र के आधार पर रचित होकर भी उसके सर्वथा समान नहीं भी हो सकती, क्योंकि कारिकाकार को छन्दः-सम्बन्धी विवशता थी। २४ वीं कारिका में छन्द की आवश्यकता के कारण पूर्वार्ध में 'सर्गः' पद तथा उत्तरार्ध में 'गणः' पद का ही प्रयोग करना पड़ा, इसी से २५ वीं कारिका में इनका अनुवर्तन होने के कारण 'सात्त्विक एकादशकः' इस प्रकार पुंल्लिङ्ग-पाठ अनिवार्य हो गया।

---

१. एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥२।१७॥ ['तत्' पद से पूर्व सूत्र में स्थित 'अहंकारः' का परामर्श होता है।]

२. अभिमानोऽहंकारस्तास्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पञ्चकश्चैव ॥ सांख्यका० २४॥

कारिका से सर्वथा मिलता हुआ तीसरा सूत्र २।३१ है जिसका रूप २९ वीं कारिका का उत्तरार्ध कहा जाता है, जो इस प्रकार है :—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च'। परन्तु सांख्य-सूत्र २।३१ का यह रूप सन्दिग्ध है। ब्रह्मसूत्र २।४।९ [न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्[१]] के भाष्य में पूर्व पक्ष का उपन्यास इस प्रकार किया है :—"स पुनर्मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञासते। तत्र प्राप्तं तावच्छ्रुतेर्वायुःप्राणइति। एवं हि श्रूयते—'यः प्राणः स वायुः, स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः' समानः इति। अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात् समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति"।[२] यहाँ पूर्व पक्ष के दो भाग हैं, एक श्रुति पर आधारित है और दूसरा तन्त्रान्तर (वेदान्त से भिन्न शास्त्र-विशेष) पर। 'आचक्षते' तथा 'इति' पदों के प्रयोग से सर्वथा स्पष्ट है कि 'सामान्या करणवृत्तिः' इत्यादि शास्त्र-विशेष का अक्षरशः उद्धरण है। ऐसी स्थिति में यह कहना समीचीन नहीं होगा कि यह उद्धरण २९वीं सांख्य-कारिका के उत्तरार्ध का ही थोड़ा परिवर्तित रूप है, केवल 'सामान्यकरणवृत्तिः' इस समास-पद को तोड़ कर 'सामान्या करणवृत्तिः' कर दिया गया है। हिन्दी अनुवाद के छपे हुए शांकर-भाष्य के कुछ संस्करणों[३] में अब कारिकानुसारी ही पाठ मिलता है पर वह स्पष्ट ही कारिकाभ्यास-जन्य संस्कार के कारण वैसा कर दिया गया है। शांकर-भाष्य के हिन्दी संस्करण तो अलग रहें, स्वयं सांख्य-सूत्रों के उपलब्ध संस्करणों में भी प्रस्तुत सूत्र का पाठ सांख्यानुसारी ही उपलब्ध होता है। परन्तु शाङ्कर-भाष्य-गत उद्धरण के आधार पर सांख्य-सूत्र २।३१ का 'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' ही मौलिक और प्रामाणिक पाठ सिद्ध होता है। इस पाठ के अनुसार सूत्र की रचना छन्दोबद्ध नहीं कही जा सकती। तात्पर्य यह कि यह भी सूत्र कारिकानुसारी नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत कारिका ही सूत्र पर आधारित कही जानी चाहिए। ईश्वरकृष्ण ने ही सूत्र के पृथक् पदों का समस्त करके उसे कारिका का रूप दे दिया।

अन्ततोगत्वा वे सांख्य-सूत्र बच रहे जो योग, वेदान्त आदि दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। पूर्व में कहा जा चुका है कि सांख्य-सूत्र २।३३ तथा योग सूत्र १।५ [वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः] दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार सांख्य-सूत्र ४।३ तथा ब्रह्मसूत्र ४।१।१ [आवृत्तिरसकृदुपदेशात्] दोनों एक ही हैं। ये दोनों ही सूत्र सांख्य के अपने मौलिक हो सकते हैं और योग तथा वेदान्त दोनों ही दर्शनों का सांख्य के साथ अनेक बातों में साम्य होने के कारण दोनों के सूत्रकारों ने उससे उद्धृत सूत्र ले लिये होंगे। इसमें कोई असंगति अथवा विषमता नहीं प्रतीत होती अथवा यह भी सम्भव है कि

---

१. इसका अर्थ यह है कि प्राण न तो वायु ही है और न समस्त करणों की सम्मिलित क्रिया ही।

२. ब्रह्मचारी विष्णु-कृत हिन्दी अनुवाद, वेदान्तकेसरी कार्यालय आगरा, अच्युत ग्रन्थमाला काशी संस्करण।

३. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य (निर्णयसागर प्रेस बम्बई का तृतीय संस्करण) पृ० ५७७। अन्य समस्त प्रामाणिक संस्करणों में भी 'सामान्या करणवृत्तिः इत्यादि ही पाठ है। अतः यही प्राचीन मौलिक पाठ समझा जाना चाहिए। पूना संस्करण, वाणीविलास संस्करण, भामती-तरु-परिमल सहित बम्बई संस्करण, चौ० सं० सि० बनारस संस्करण—सभी में यही पाठ मिलता है।

योग और वेदान्त दर्शनों के सूत्रों के निर्माण-काल के बाद किसी ने अपेक्षा समझ उक्त दोनों सूत्रों के बीच यथास्थान समाविष्ट कर दिया होगा। जो भी हो केवल इन दो सूत्रों के क्रमशः योग-सूत्र तथा वेदान्त-सूत्र में पाये जाने से सांख्य-सूत्रों की प्राचीनता को संदिग्ध नहीं कहा जा सकता सकता, यह बात असंदिग्ध है।

इस सब विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वर्तमान काल में उपलब्ध सांख्य-सूत्र समूचे के समूचे आदि विद्वान् कपिल की रचना नहीं कहे जा सकते, इनमें अनेक सूत्र निस्संदेह प्रक्षिप्त हैं, तथापि यह बात असंदिग्ध है कि महर्षि कपिल की कृति इहीं सूत्रों में निलीन अथवा समाविष्ट है।

पञ्चम अध्याय :

आसुरि, पंचशिख एवं अन्य प्राचीन सांख्याचार्य

आसुरि

पिछले अध्यायों में आये हुए अनेक प्रसङ्गों एवं उल्लेखों से स्पष्ट है कि आसुरि कपिल के शिष्य तथा प्रथित आचार्य पञ्चशिख के गुरु थे। यह तथ्य संस्कृत वाङ्मय में अनेकशः उल्लिखित है। इसका सर्वतः प्राचीन उल्लेख तो उस प्रसिद्ध पञ्चशिख-सूत्र में मिलता है जो योगसूत्र १।२५ के भाष्य में व्यास देव द्वारा उद्धृत है :—'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'। गुरु के विषय में शिष्य के कथन से बढ़ कर और कौन सा प्रमाण हो सकता है ? पञ्चशिख आसुरि के शिष्य थे, यह तथ्य महाभारत के अनेक उद्धरणों[१] से सुसिद्ध है। उपर्युक्त दोनों ही तथ्य ईश्वरकृष्ण की ७० वीं सांख्य-कारिका में एक ही साथ उल्लिखित हैं :— 'एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥' महर्षि कपिल से आसुरि के सांख्योपदेश प्राप्त करने के विषय में भागवत में भी अनेक श्लोक मिलते हैं। उनमें से एक प्रसिद्ध श्लोक वह भी है जिसका उद्धरण पीछे किया जा चुका है :—'पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्राम विनिर्णयम्' [भाग० १।३।१०]॥ इन प्राचीन उद्धरणों के आधार पर आसुरि का ऐतिहासिक होना नितरां सिद्ध है। तथापि कई अर्वाचीन विद्वान् ऐसे हैं, जो आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते। डा० कीथ भी उनमें से एक हैं।

अपने ग्रन्थ Sankhya system के पृ० ४७-४८ पर उन्होंने कपिल के साथ साथ आसुरि की भी ऐतिहासिकता को स्वीकार करने से इनकारा है[२]। परन्तु जहाँ उन्होंने कपिल की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का कारण देने का असफल प्रयास किया है, वहाँ आसुरि की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिया है। केवल बहुत संक्षेप में इतना ही कहा है कि आसुरि केवल नाम ही नाम है और सम्भवतः हम उन्हें एक

---

१. (i) महाभारत २१८।१० :—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रकम्॥

(ii) २१८।१४,१५ :—यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते। आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम्॥ तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः।......॥

२. The question arises whether we can, on the strength of these notices, attribute any serious value to the tradition preserved in the Sankhya-Karika. The answer as regards Kapila and Asuri can hardly be in the affirmative in the sense that the notice of the Karika receives any suport from the Epic. Asuri is a mere name and we cannot possibly accept him as a historical philosopher without more proof.

ऐतिहासिक दार्शनिक के रूप में तब तक स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक उसके लिए कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं मिलता। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि केवल ७० वीं सांख्य-कारिका के आधार पर आसुरि की ऐतिहासिकता नहीं मानी जा सकती। क्यों नहीं मानी जा सकती, क्यों अतिरिक्त अथवा अन्य प्रमाण की आवश्यकता है, इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। परन्तु आगे पृ० ४६ पर पञ्चशिख की ऐतिहासिकता का विचार करते हुए प्रसङ्गतः एक ऐसी बात लिख दी है जिससे इसका कुछ स्पष्टीकरण होता है। योगसूत्र १।२५ के व्यास-भाष्य के अन्त में उद्धृत 'आदिविद्वान् निर्माणचित्त मधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये तन्त्रं प्रोवाच' को वाचस्पति मिश्र ने अपनी योगभाष्य-टीका 'तत्त्व वैशारदी' में आचार्य पञ्चशिख का वचन कहा है। इस वचन पर अपना विचार प्रकट करते हुए डा० कीथ ने लिखा है कि "यदि हम व्यास और वाचस्पति मिश्र के वचन को प्रामाणिक मानें तो तदनुसार पञ्चशिख ने अपने उपर्युक्त वचन में कपिल को 'आदि विद्वान्' कहा है और यह भी कहा है कि उन्होंने आसुरि को सांख्य का उपदेश दिया था। परन्तु उसमें उन्होंने यह नहीं कहा कि वे स्वयं उन आसुरि के शिष्य थे जिससे ७० वीं कारिका में इस तथ्य का कथन अप्रामाणिक या अविश्वसनीय हो जाता है।"[१] डा० कीथ के इस कथन का यह अभिप्राय निकलना है कि उक्त वचन में आचार्य पञ्चशिख का अपने को आसुरि का शिष्य न कहना ईश्वरकृष्ण आदि के एतद्विषयक विपरीत कथन को अमान्य बना देता है। आपाततः यह बात ठीक भी लगती है, क्योंकि यदि शिष्य अपने तथा-कथित गुरु की चर्चा करते समय गुरुशिष्य-सम्बन्ध की चर्चा न करे तो औरों के तत्सम्बन्धी कथनों का क्या महत्त्व? परन्तु गहराई से विचार करने पर डा० कीथ के ये कथन समीचीन नहीं प्रतीत होते। उक्त पञ्चशिख-वचन में आसुरि के पञ्चशिख-गुरु होने की बात तो नहीं कथित है, यह सत्य है, परन्तु उनके कपिल-शिष्य होने की बात तो कथित है। तब फिर उन्हें अनैतिहासिक या काल्पनिक व्यक्ति कैसे कहा जा सकता है? क्या कपिल ने काल्पनिक आसुरि को सांख्य का उपदेश दिया था, क्या काल्पनिक व्यक्ति का शिष्य होना और शास्त्र-विशेष का उपदेश ग्रहण करना कथमपि सम्भव है? यदि नहीं तो डा० कीथ का उक्त पञ्चशिख-वचन का उपर्युक्त अभिप्राय समझना नितान्त भ्रम है।

अब रही पंचशिख के उक्त वचन में आसुरि के स्व-गुरु न कहे जाने की बात, उसका कारण ढूढ़ने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः उक्त वाक्य में सांख्य शास्त्र के अविर्भाव का उल्लेख या कथन करना ही पंचशिख को अभिप्रेत था। इसलिए उन्होंने इस शास्त्र के प्रथम उपदेष्टा या मूल प्रवर्तक कपिल मुनि तथा उनसे इसे सर्व प्रथम पाने वाले आसुरि मुनि का ही उल्लेख किया है। इनके उल्लेख के विना सांख्य के अविर्भाव या मूल सम्प्रदाय का कथन करना असम्भव ही होता। परन्तु इसके लिए अपने तथा आसुरि

1. "He appears also, if we may trust Vyasa and Vacapati Mishra, to have styled Kapila the 'Adi-vidvan and to have asserted that he taught Asuri, but he does not hint that he himself was the pupil of Asuri, a fact which discredits the assertion of this fact in verse 70 of the Sankhya-Karika".

के बीच के गुरु-शिष्य सम्बन्ध के कथन की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं थी। पंचशिख इसमें सांख्य शास्त्र की गुरुशिष्य-परम्परा लिखने नहीं बैठे थे। फिर आसुरि द्वारा अपने प्रति सांख्य सम्प्रदाय के दिए जाने का उल्लेख वे क्यों करते? इस प्रकार डा० कीथ के कथन की निरर्थकता सर्वथा स्पष्ट है।

डा० रिचर्ड गार्बे ने डा० कीथ की भाँति आसुरि की ऐतिहासिकता को सीधे-सीधे तो नहीं इनकारा है, तथापि उनके आसुरि-विषयक कथन का विशेष झुकाव उधर ही कहा जा सकता है। अपने ग्रन्थ Sankhya Und yoga के पृष्ठ २-३ पर उन्होंने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है जिसका निष्कर्ष यह है कि यदि सांख्य शास्त्र से सम्बद्ध आसुरि को ऐतिहासिक पुरुष मान भी लिया जाय तो भी शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से उन्हें अवश्य ही भिन्न मानना पडेगा। अपनी इस मान्यता के लिए डा० गार्बे ने कोई विशेष प्रमाण या तर्क नहीं उपस्थित किया है। परन्तु ऐसा मानने में उनकी यही आन्तरिक भावना प्रतीत होती है कि शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से सांख्य-सम्बद्ध आसुरि को अभिन्न मानने पर सांख्य शास्त्र को शतपथ ब्राह्मण से भी पर्याप्त प्राचीन मानना पड़ेगा, जो उनकी दृष्टि से शायद समीचीन नहीं है। परन्तु तृतीय अध्याय में यह बात सविस्तर प्रतिपादित की जा चुकी है कि शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती-विनशन की घटना पर्याप्त प्राचीन घटना के रूप में उल्लिखित है और सांख्य-प्रवर्तक कपिल के पिता प्रजापति महर्षि कर्दम का आश्रम अपनी पूर्ण धारा में प्रवाहित होने वाली सरस्वती के तीर पर था। ऐसी स्थिति में शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि को सांख्याचार्य से अभिन्न मानने में कठिनाई या असंगति नहीं है। इतना ही नहीं अपितु ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका की टीका 'माठर-वृत्ति' तथा 'जयमङ्गला' में सांख्य दार्शनिक आसुरि के गृहस्थाश्रम से संन्यास लेने का जो वर्णन मिलता है, उसमें तथा शतपथ-उल्लिखित आसुरि से सम्बद्ध वर्णनों में पर्याप्त साम्य है। शतपथ के नौ स्थलों में आसुरि के अनेक मतों का उल्लेख है। ये सारे मत यज्ञ-कर्म से सम्बद्ध हैं जिससे यह अनुमान होता है शतपथ ब्राह्मण के रचना-काल से बहुत पूर्व आसुरि नामक कोई महायाज्ञिक आचार्य हुए थे। अवश्य ही वे कर्म-काण्ड के प्रतिष्ठित एवं प्राचीन आचार्य रहे होंगे जिसके कारण परवर्त्ती शतपथ ब्राह्मण के रचयिता को उनके एतद्विष्यक तत्तत् मतों का उल्लेख करना पड़ा। माठर-वृत्ति के आरम्भ में ही कपिल और आसुरि के संवाद से सम्बद्ध जो सन्दर्भ[1] प्राप्त होता है,

१. स एवं विचिन्तयन् आसुरिसगोत्रं ब्राह्मणविशेषं वर्षसहस्रयाजिनमधिकारिणमवगत्य ब्रह्मोपदेश-विधया अतन्द्रितो भूत्वा वाचमित्युवाच-'भो भो आसुरे! रमसे गृहस्थधर्मेण' इति। स तमुवाच-'रमे भो, इति। स एवमुक्तो मुनिरीषदनिष्पन्नवैराग्योऽयमिति व्यवस्य निर्गम्य भूयोऽपि द्वितीये वर्षसहस्रे पूर्णे प्रत्यागत्य तथैवाभ्युवाच......तृतीये वर्षसहस्रे सम्पूर्णे अभ्येत्योवाच-'भो भो आसुरे! रमसे गृहस्थधर्मेण' इति। स तमुवाच-'न रमे भो, इति। अथ स भगवतोक्तः—'कथम्' इति। पुनराह आसुरिः—'दुःखत्रयाभिघातात्' इति। अथाह कपिलः—'उत्सहसे ब्रह्मचर्यवासं वस्तुं यदि तदामीषां दुःखत्रयाणां प्रतीकारमुपदेक्ष्याम' इति। सोऽब्रवीत् 'भगवन्! शक्तोऽहं भगवतामादेशमनुगन्तुम्' इति। स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च, प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव।

—माठरवृत्ति, पृ० २

उससे भी यही ज्ञात होता है कि प्रव्रज्या से पूर्व आसुरि सहस्रयाजी गृहस्थ ब्राह्मण थे। ७० वीं कारिका की वृत्ति में भी यह तथ्य दुहराया गया है।[1] इसके अनुसार आसुरि को अध्यात्म-ज्ञान देने के लिए कपिल तीन बार उनके पास आए। तीनों ही बार आसुरि से कपिल ने पूछा—'आसुरि ! गृहस्थ-धर्म में रत हो' ? प्रथम दो बार तो आसुरि ने यही उत्तर दिया कि 'हाँ, गृहस्थ धर्म में रत हूँ', परन्तु तीसरी बार प्रश्न करने पर, आसुरि ने उत्तर दिया कि 'नहीं, गृहस्थ धर्म में रत नहीं हूँ'। फिर भगवान् कपिल ने जब अरति का कारण पूछा तो उत्तर में आसुरि ने कहा कि 'दुःखत्रय के अभिघात के कारण'। फिर कपिल ने कहा—'तात ! यदि ब्रह्मचर्य पालन करने को प्रस्तुत हो तो इन त्रिविध दुःखों का उपाय हम तुम्हें बतायेंगे'। उन्होंने कहा—हाँ, मैं भगवान् के आदेश का अनुसरण करने को प्रस्तुत हूँ'। इस प्रकार वे आसुरि गृहस्थ-धर्म एवं स्त्री-पुत्रादि को छोड़ कर तथा संन्यास ग्रहण कर योग-सिद्ध भगवान् कपिलाचार्य के प्राणभूत शिष्य हो गए। सांख्यकारिका की टीका 'जयमङ्गला' में भी प्रायेण इसी आशय का सन्दर्भ[2] प्राप्त होता है। इसमें भी आसुरि को सहस्रवर्षयाजी कहा है। इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त महाभारत में भी आसुरि के सम्बन्ध में 'सहस्रयाजी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सन्दर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि अवश्य ही शतपथ ब्राह्मण तथा सांख्य-ग्रन्थों में उल्लिखित आसुरि एक ही व्यक्ति थे, शतपथ में वर्णित आसुरि के मत उनके प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व के हैं, तथा शतपथ में वर्णित आसुरि ही प्रव्रज्या के अनन्तर सांख्याचार्य आसुरि हुए।

अपने ग्रन्थ के 'अन्य प्राचीन सांख्याचार्य' नामक अन्तिम प्रकरण में आसुरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने पृष्ठ ४७४ पर लिखा है कि "माठर-वृत्ति तथा अन्य सांख्य-ग्रन्थों में आसुरि का एक गृहस्थ ब्राह्मण के रूप में उल्लेख किया गया है, और उसका 'आसुरि' यह गोत्र-नाम बताया गया है। उसका सर्वत्र यही नाम उपलब्ध होता है, उसके अन्य किसी सांस्कारिक नाम के सम्बन्ध में हमें अभी तक भी कुछ ज्ञात नहीं है"। शास्त्री जी के इस विचार का आधार माठर-वृत्ति के 'आसुरिसगोत्रं ब्राह्मण-विशेषम्...'इत्यादि शब्द प्रतीत होते हैं। परन्तु थोड़ा गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इन शब्दों के गलत अर्थ पर आधारित होने के कारण शास्त्री जी का उपर्युक्त विचार समीचीन नहीं है। 'सगोत्रः' शब्द का अर्थ 'समानं गोत्रं यस्य सः' और 'आसुरिसगोत्रम्' पद का अर्थ 'आसुरेः सगोत्रः आसुरिसगोत्रस्तम्' है। इस प्रकार 'आसुरिसगोत्रं ब्राह्मणवि-शेषम्......'इत्यादि पदों का 'आसुरि के समान गोत्र वाले किसी ब्राह्मणविशेषको अध्यात्म-

१. मुनिर्भगवान् कपिलः आसुरिसगोत्राय ब्राह्मणाय वर्षसहस्रयाजिनेऽधिकारितामवगम्य प्रददौ। पृ० ७०

२. द्रष्टव्य, का० ७० की जयमङ्गला टीकाः—कपिलस्य महामुनेः सहोत्पन्नाश्चत्वारो धर्मादयः। तत्र ज्ञानाख्येन भावनान्धे तमसि वर्तमानं जगद् दृष्टवतो मुनेः करुणोत्पन्ना। तया च प्रेर्यमाण आसुरिं सगोत्रब्राह्मणं वर्षसहस्रयाजिनमागत्योवाच—'आसुरे ! रमसे त्वं गृहस्थधर्मेण' इति। स तमाह—'भगवन् ! न रमेऽहम्' इति। पुनर्वर्षसहस्रे पूर्णे तं गत्वा तथोवाच। सोऽपि 'भगवन् ! न रमेऽहम्' इत्युवाच। ततो मुनिना 'यदि विरक्तस्त्वम्, एहि ब्रह्मचर्यं चर' इत्यसावुक्तः। स तु प्रतिपद्य गृहस्थधर्मं त्यक्त्वा प्रव्रजितः। तस्मै शिष्यायानुकम्पया संक्षिप्य दत्तवान्॥

विद्या का अधिकारी समझ कर......' इत्यादि अर्थ निकलता है। "......एवं स उत्पन्नः सन् अन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरि-सगोत्राय ब्राह्मणायेदं पंचविंशतितत्त्वानां ज्ञानमुक्तवान्" इत्यादि गौडपादीय लेख का भी यही तात्पर्य है। तात्पर्य यह है कि कपिल जिस अधिकारी को उपदेश देने गये, वह आसुरि नहीं अपितु कोई और ब्राह्मण था जो कि आसुरि का सगोत्र था। परन्तु 'आसुरिसगोत्रम्' पद का पं० उदयवीर ने यह अर्थ किया है कि "कपिल मुनि जिस ब्राह्मण-विशेष को अधि-कारी समझ कर उपदेश देने गये, वह 'आसुरि' गोत्र का था।" शास्त्री जी ने यह अर्थ कैसे निकाल लिया, समझ में नहीं आया। हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि इसका जो अर्थ पहले दिखाया गया है, वह प्रसिद्ध परम्परा के विरुद्ध है, क्योंकि यह बात सर्व-प्रसिद्ध है कि कपिल मुनि ने जिस अधिकारी शिष्य को सांख्य-ज्ञान का उपदेश दिया, वे आसुरि ही थे, अन्य कोई नहीं। ऐसी स्थिति में इसका और क्या अर्थ हो सकता है जो कि शब्दों का स्वाभाविक अर्थ हो और साथ ही परम्परा का विरोधी भी न हो। विचार करने पर 'आसुरिसगोत्रं' पद का एक और विग्रह सम्भव प्रतीत होता है—'आसुरिश्चासौ सगोत्रश्चेति आसुरिसगोत्रस्तम्'। इस प्रकार समस्त पदों का तात्पर्य यह होगा कि कपिल मुनि ने आसुरि नामक ब्राह्मण को, जो उनका सगोत्र था, अधिकारी जान कर सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया। जयमङ्गला का 'आसुरिं सगोत्रब्राह्मणं वर्षसहस्रयाजिनमागत्योवाच' इत्यादि लेख इस अर्थ का स्पष्ट समर्थन करता है। अतः यही अर्थ ठीक जान पड़ता है। शास्त्री जी का पूर्व प्रदर्शित अर्थ समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि उसमें मूल के 'स' शब्द का 'समान' अर्थ उपेक्षित या परित्यक्त हो जाता है। इस प्रकार उनका यह विचार निराधार और अयुक्त प्रतीत होता है कि 'आसुरि' कपिल के शिष्य का गोत्र-नाम था, सांस्कारिक नाम नहीं।

जीवन-काल के पूर्व भाग में आसुरि के गृहस्थ-धर्म में रत रहने एवं उत्तर भाग में विरक्त होकर प्रव्रज्या लेने की चर्चा अभी थोड़ा ही पूर्व हो चुकी है। वहाँ लिखा जा चुका है कि भगवान् कपिल ने आसुरि के पास आकर दो बार पूछा था कि आसुरि! गृहस्थ-धर्म में रत हो', और उत्तर में आसुरि ने कहा था कि 'हाँ, गृहस्थ-धर्म में रत हूँ।' किन्तु जब तीसरी बार भगवान् कपिल ने उनके पास आकर पूर्ववत् प्रश्न किया तो आसुरि ने उत्तर दिया कि 'नहीं, गृहस्थ-धर्म में रत नहीं हूँ', और इस विरक्ति का कारण पूछने पर कहा कि त्रिविध दुःख के अभिघात के कारण गृहस्थ धर्म में रति नहीं रह गई है। फिर भगवान् के यह आश्वासन देने पर कि 'यदि गृहस्थ-धर्म छोड़कर ब्रह्मचर्य का पालन करो तो हम तुम्हें त्रिविध दुःख के नाश का उपाय बतायेंगे,' आसुरि ने गृहस्थ-धर्म एवं स्त्री-पुत्रादि को छोड़ कर प्रव्रज्या ले ली। इससे स्पष्ट है कि आसुरि की विरक्ति जन्म-सिद्ध नहीं थी। बुद्धि के धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अवैराग्य, अज्ञान तथा अनैश्वर्य, इन आठ भावों के 'सांसिद्धिक', 'प्राकृतिक' एवं 'वैकृतिक' प्रकारों को स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने सनक, सनन्दन इत्यादि के वैराग्य को 'सांसिद्धिक'—जन्म सिद्ध - एवं आसुरि के वैराग्य को 'प्राकृतिक' कहा है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने आगे लिखा है कि परमर्षि की कृपा से आसुरि में धर्म उत्पन्न हुआ जिसके फल-स्वरूप अशुद्धि जाती रही और प्रकृति का शुद्धि-स्रोत फूट निकला जिससे अनुगृहीत होने पर दुःख-त्रय के अनेकशः प्रहार

से पीडित होकर उसकी निवृत्ति के उपायों को जानने की उन्हें इच्छा हुई और फलतः उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की[१] ?

आसुरि की कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है। उनके सिद्धान्तों के उल्लेख भी कहीं उपलब्ध नहीं होते। ऐसी स्थिति में यहाँ उनका विवेचन करना या उनकी कुछ भी चर्चा करना सम्भव नहीं है। तथापि जैन आचार्य हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक ग्रन्थ के सांख्य प्रकरण में आसुरि के नाम से एक श्लोक उद्धृत हुआ है जो इस प्रकार है :— "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे (स्वच्छो ?) यथा चन्द्रमसोऽम्भसि" बाद के स्याद्वादमञ्जरी तथा वादमहार्णव इत्यादि अन्य जैन ग्रन्थों में भी यह उद्धृत किया गया है। बहुत सम्भव है कि इन ग्रन्थों के उद्धरण का आधार हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का पूर्वोक्त उद्धरण ही रहा हो, यद्यपि कोई स्वतन्त्र आधार भी असम्भव नहीं कहा जा सकता। आसुरि के इस एक-मात्र उपलब्ध श्लोक का अर्थ यह है कि जिस प्रकार स्वच्छ, निर्मल जल में चन्द्र प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार असङ्ग अर्थात् शुद्ध चिद्रूप पुरुष में बुद्धि प्रतिबिम्बित होती है। उस समय जो बुद्धि का दृक् रूप में परिणाम होता है, उसे ही पुरुष का भोग कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रवणादि ज्ञानेन्द्रियों तथा वागादि कर्मेन्द्रियों के द्वारा आहार्य विषयों को लेकर पुरुष के सान्निध्य से दृक् अर्थात् चेतन रूप में परिणत हुई बुद्धि पुरुष में समर्पित करती है, और इस प्रकार उसका भोग सिद्ध करती है। यही सिद्धान्त ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-कारिका सैंतीस[२] में प्रतिपादित किया है। इसमें दस आन्तरिक तथा तीन बाह्य करणों में बुद्धि की प्रधानता को सिद्ध करते हुये कहा गया है कि चूंकि समस्त विषयों के सम्बन्ध में होने वाले पुरुष के भोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही अन्ततः प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है, इसलिए वही प्रधान है। तात्पर्य यह है कि पुरुष का सुख-दुःखादि भोग स्वतः न होकर बुद्धि के कारण सम्पन्न होता है। वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी टीका[३] में यह विषय अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। सांख्यसूत्र २।३५[४] में भी यही विषय प्रतिपादित है। उसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार लाल जपा कुसुम से समीप-स्थित स्वच्छ श्वेत स्फटिक मणि लाल हो जाता है और उसके हटा दिये जाने पर फिर स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धि के सान्निध्य से उसके विषय-भोग आदि धर्म निर्धर्मक पुरुष में संक्रान्त या आरोपित हो जाते हैं। पञ्चशिख के 'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रति-

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ४२ की युक्तिदीपिका, पृ० १४८—यथा च परमर्षेर्ज्ञानं सांसिद्धिकम्, एवं माहात्म्यशरीरस्यैश्वर्यं भृग्वादीनां धर्मः, सनकादीनां वैराग्यम्...। प्राकृतास्तु,तद्यथा वैराग्यं भगवदासुरेः। तस्य हि परमर्षिसम्भावनात् उत्पन्नो धर्मः, अशुद्धिः प्रतिद्वन्द्विभावादपजगाम। तस्यामपहतायां प्रकृतेः शुद्धिस्रोतः प्रवृत्तं येनानुगृहीतो दुःखत्रयाभिघातादुत्पन्नजिज्ञासः प्रव्रजितः।

२. सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३.

३. द्रष्टव्य, सांख्यकारिका ३७ की तत्त्व कौमुदी, पृ० १६६: बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वं विषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। सुख-दुःखानुभवो भोगः, सच बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपेवेति सा पुरुषमुपभोजयति।

४. कुसुमवच्च मणिः।

संक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रत या बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते'। सूत्र में भी यही बात कही गई है। इस प्रकार इन सभी आचार्यों के मत से अपरिणामी पुरुष में आहार्य भोग ही होता है, वास्तविक नहीं। इन सबसे भिन्न मत विन्ध्यवासी का प्रतीत होता है। उनके अनुसार पुरुष में वास्तविक भोग तो नहीं ही होता, आहार्य भोग भी सम्भव नहीं है, पुरुष के सान्निध्य से चेतन सी प्रतीत होने वाली बुद्धि में ही यह भोग होता है। इसे इसी अध्याय में आगे सविस्तर प्रतिपादित करेंगे।

महाभारत में आए हुए कपिल-आसुरि-संवाद की चर्चा पीछे कर चुके हैं। वहाँ आसुरि के प्रश्नों के उत्तर में कपिल मुनि ने जो कुछ कहा है, उसका वर्तमान मौलिक सांख्य-ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के साथ मोटे तौर पर कोई विरोध नहीं परिलक्षित होता। उसका संक्षेप इस प्रकार हैं :—'आद्य' तत्त्व, अर्थात् 'प्रकृति' सत्त्व-रजस्तमो-रूप है। प्रधान से महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार, और अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पञ्च भूत उत्पन्न होते हैं। ये तेईस तत्त्व 'मध्यम' अर्थात् मध्य के हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व 'पुरुष' है। पुरुष के अधिष्ठातृत्व में ही प्रकृति अपने सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होती है। इस संक्षेप से स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन में स्वीकृत पदार्थों का ही इसमें उल्लेख है और कपिल के नाम पर उपलब्ध ग्रन्थों के साथ इसका कोई विरोध नहीं है।

पंचशिख

पीछे अनेकशः कहा जा चुका है कि आसुरि के शिष्य प्रसिद्ध आचार्य पञ्चशिख थे जिन्होंने आसुरि से प्राप्त ज्ञान-सम्प्रदाय को अपनी उत्कृष्ट मेधा और बुद्धि से खूब विस्तृत-विकसित किया। इसमें ईश्वरकृष्ण की गवाही[1] भी प्राप्त है।। इसी गवाही से यह भी तथ्य स्पष्ट किया जा चुका है कि सर्व प्रथम कपिल मुनि द्वारा उपदिष्ट और आसुरि के माध्यम या द्वार से पञ्चशिख तक पहुँचे हुए उस ज्ञान-सम्प्रदाय की संज्ञा 'षष्टितन्त्र' या केवल तन्त्र थी। इस विषय में तो स्वयं-पञ्चशिख की भी गवाही प्राप्त है, जो पूर्व अनेकशः उद्धृत की जा चुकी है।[2] इन दोनों ही आचार्यों के लेखों के आधार पर स्पष्ट किया जा चुका है कि षष्टितन्त्र कपिल-प्रोक्त है। परन्तु वहाँ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा जैसे कतिपय विद्वान् ईश्वरकृष्ण के ही 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' शब्दों से यह निष्कर्ष निकलते हैं कि षष्टितन्त्र के कर्त्ता आचार्य पञ्चशिख ही थे, कपिल मुनि ने तो मौखिक उपदेश दिया था जैसा कि ईश्वरकृष्ण की ६९ वीं कारिका के 'समाख्यातम्' पद से स्पष्ट है, उन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। सांख्य दर्शन की चीनी परम्परा भी षष्टितन्त्र को पञ्चशिख की रचना मानती है। परन्तु जैसा पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं, डा० कीथ, डा० हरदत्त शर्मा तथा अन्य अनेक विद्वानों ने इस परम्परा को अविश्वसनीय माना है और ऐसा उन लोगों ने ठीक ही किया है। वस्तुतः ईश्वरकृष्ण के 'बहुधा कृतंन्त्रम्' पदों से किसी भी प्रकार से यह बात प्रमाणित नहीं होती कि पञ्चशिख ने तन्त्र की रचना की।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ७०:—एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥

२. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये तन्त्रं प्रोवाच।

यदि ईश्वरकृष्ण को यही अभिप्राय प्रकट करना होता तो वे 'कृतं तन्त्रम्' इतना ही लिखते, 'कृतं' के साथ 'बहुधा' पद का प्रयोग व्यर्थ ही क्यों करते ? प्रत्युत 'बहुधा' पद से तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि 'तन्त्र' पहले से ही था, पञ्चशिख ने आसुरि से स्वयं उसका अध्ययन किया, फिर उसे उन्होंने 'बहुधा'—अनेक-रूप, विविध—किया, उसको विकसित किया, बढ़ाया। 'बहुधा' पद में एक और गूढ़ स्वारस्य है जिसे माठर एवं युक्ति-दीपिकाकार, इन दों कारिका-व्याख्याताओं ने स्पष्ट किया है। पञ्चशिख तक गुरु-शिष्य परम्परा में यह क्रम रहा कि गुरु ने एक ही शिष्य को तन्त्र का अध्ययन कराया। परन्तु पञ्चशिख के बाद इस क्रम में भेद आ गया। उन्होंने इसका अध्यापन जनक, वसिष्ठ आदि अनेक शिष्यों को किया। युक्तिदीपिका के "**बहुधा कृतं तन्त्रं षष्टितन्त्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति, तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याताः**" तथा "**बहुभ्यो जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्**" लेखों से उपर्युक्त दोनों ही बातें प्रमाणित होती हैं।

अब जहाँ तक 'समाख्यातम्' पद के प्रयोग के आधार पर महर्षि कपिल द्वारा आसुरि को मौखिक ही ज्ञान दिए जाने की बात के सिद्ध या प्रमाणित होने का प्रश्न है, उसका समाधान, जैसा कि पहले भी निवेदन किया जा चुका है, यह है कि उपदेश सदा मौखिक ही होता है परन्तु ग्रन्थ-रचना के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। क्या कागज़, कलम और दावात लेकर कोई अपने विचारों एवं निश्चित सिद्धान्तों को कुछ सफेद-स्याह जैसा बाह्य रूप देने बैठे, तभी वह ग्रन्थकार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं ? यदि ग्रन्थ-कर्त्ता होने की यही कसौटी हो, तब तो कपिल शायद ही ग्रन्थकर्ता कहे जा सकें। परन्तु यदि किसी महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय विषय पर अपने विचारों को ग्रथित—व्यवस्थित—करने का नाम ही वस्तुतः ग्रन्थ-लेखन है, यदि किसी महत्त्वपूर्ण समस्याके सम्बन्ध में अपने विचारों को सुस्थिर करके शिष्यों के शासनार्थ उन्हें सिद्धान्तों का रूप देने का नाम ही वस्तुतः शास्त्र-लेखन है, तब तो कपिल अवश्य ही ग्रन्थकार या शास्त्रकार थे। कहने का तात्पर्य यह है कि 'समाख्यातम्' पद का ग्रन्थ या शास्त्र के साथ न केवल विरोध नहीं प्रत्युत सर्वथा संगति या सामञ्जस्य ही है, क्यों उसमें 'सम्' पद का अर्थ 'सम्यक् या 'अच्छी प्रकार से' है और इसकी संगति सुव्यवस्थित, सुस्थिर विचार-धारा अथवा शास्त्र के साथ ही हो सकती है। उपदेश दी जाने वाली वस्तु निस्सन्देह सुनिश्चित ज्ञान-राशि या स्वानुभूत तथ्यों आदि के रूप की ही होगी, एवं उसकी बाह्य या स्थूल सत्ता आवश्यक नहीं, मन या बुद्धि में तो उसकी विद्यमानता होगी ही अन्यथा उपदेश किसका होगा। निस्सन्देह कपिल द्वारा समाख्यात अर्थात् समुपदिष्ट सांख्य शास्त्र को अपने गुरु आसुरि के द्वार से प्राप्त करके आचार्य पञ्चशिख ने खूब बढ़ाया, उसके साठ पदार्थों को साठ खण्डों में विस्तृत करके अपने एक नहीं अनेक शिष्यों को दिया। पञ्चशिख के हाथों में पड़कर यह शास्त्र इतना बृहत्, इतना विशाल हो गया कि उसका लिखित या स्थूल बाह्य रूप आवश्यक हो गया होगा, बड़े से बड़े मेधावी एवं प्राज्ञ के लिए भी मौखिक रूप से धारण करना दुष्कर या असम्भव-प्राय ही हो गया होगा। फल यह हुआ होगा कि कपिल-कृत संक्षिप्त मूल षष्टितन्त्र के व्याख्या-रूप विस्तृत एवं संवर्धित षष्टितन्त्र का प्रचार पञ्चशिख के नाम से हुआ होगा। आगे आकर षष्टितन्त्र के पञ्चशिख-रचित होने की परम्परा चल गई होगी। ऐसा होने में कोई अनौचित्य भी नहीं।

हाँ, दोनों षष्टितन्त्रों के इस विकास-क्रम को अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिये। चीनी परम्परा में पञ्चशिख को षष्टितन्त्र का रचयिता मानने के मूल में यही रहस्य प्रतीत होता है, जिसका उद्घाटन विकास-क्रम के इस तथ्य से होता हुआ प्रतीत होता है।

डा० कीथ ने षष्टितन्त्र के पञ्चशिख द्वारा लिखे जाने की परम्परा को भ्रम-वश चली हुई माना है। और तो और, आसुरि द्वारा सिद्ध-श्रेष्ठ कपिल मुनि से प्राप्त सांख्य-ज्ञान के पञ्चशिख के प्रति दिए जाने की घटना को भी डाक्टर कीथ सन्दिग्ध ही मानते हैं। सांख्यसूत्र ५।३२ तथा ६।६८ में उद्धृत पञ्चशिख के मतों की निश्चितता के कारण उनको ऐतिहासिक मानने के लिए जहाँ वे विवश हैं, एवं जहाँ उनकी दृष्टि में इसका समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि योगसूत्र-भाष्य में 'तथा चोक्तम्' इत्यादि शब्दों के साथ उद्धृत अनेक वचनों को वाचस्पति मिश्र ने 'योग-भाष्य की अपनी टीका में आचार्य पञ्चशिख का बताया है, वहाँ उसी योग-भाष्य में उद्धृत तथा वाचस्पति मिश्र द्वारा पञ्चशिख को आरोपित किए गए प्रसिद्ध वचन 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' में कपिल द्वारा आसुरि के ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख होने पर भी आसुरि से पञ्चशिख के ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख न होने के कारण ईश्वरकृष्ण की ७० वीं कारिका में उल्लिखित इस घटना को वे सन्दिग्ध अथवा अविश्वसनीय ही मानते हैं।[1] पर डा० कीथ की यह मान्यता ईश्वरकृष्ण के 'आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्' (सांख्यकारिका ७० का उत्तरार्ध) इत्यादि लेख के विरुद्ध सर्वथा अमान्य है। पूर्व उद्धृत पञ्चशिख-वचन में इस घटना का उल्लेख अकिञ्चित्कर है। सच तो यह है कि उक्त वचन में इसका उल्लेख अस्थाने एवं अस्वाभाविक होता, क्योंकि इस का अभिप्राय [जैसा कि योगसूत्र १।२५ के व्यास-भाष्य, जिसके अन्त में यह उद्धृत है, से भी स्पष्ट है] केवल इस तथ्य को स्पष्ट करना है कि दुःख में पड़े हुए किन्तु उससे उद्विग्न होकर उससे मुक्ति पाने के उपाय को जानने की बलवती इच्छा वाले पुरुषों पर अनुग्रह करते हुए परमेश्वर अवतीर्ण होकर उन्हें परमार्थ-ज्ञान प्रदान करते हैं। भगवान् के पञ्चम अवतार जन्म-सिद्ध कपिल मुनि ने दीन एवं जिज्ञासु आसुरि को इसी प्रकार अपना कोई स्वार्थ या प्रयोजन न होने पर भी निर्माण-चित्त का आश्रय लेकर तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया था। परन्तु आसुरि का पञ्चशिख को उपदेश-दान उस प्रकार का नहीं था, अतः उक्त स्थल में उसके उल्लेख का कोई अवसर या अवकाश नहीं था। इसका अवसर तो तब होता जब सांख्य-सम्प्रदाय की परम्परा का कथन करना उद्देश्य रहा होता। अतः डा० कीथ का उपर्युक्त कथन अविचारिताभिधान ही प्रतीत होता है।

महाभारत के अनुसार पञ्चशिख पराशर गोत्र में उत्पन्न हुए थे।[2] उसके एक वर्णन[3] के अनुसार आचार्य पञ्चशिख की आयु बड़ी लम्बी थी। उन्होंने एक सहस्र वर्ष तक मानस

१. द्रष्टव्य, डा० कीथ का Sankhya Syitem, पृष्ठ ४६।

२. द्रष्टव्य, शान्ति पर्व ३२०।२४ :—पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥

३. द्रष्टव्य, शान्ति पर्व २१८।१०-१२ तथा १५—१७ :—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम्॥ यत्र चासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत्। पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः॥ पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥ पुरुषावस्थमव्यक्तं पुरुषार्थं न्यवेदयत्॥··

यज्ञ किया था। मन के ऊहापोह या तर्क धर्म में वे निष्णात थे। पञ्चरात्र के वे विशेषज्ञ थे। साथ ही वे पञ्चज्ञ, पञ्चकृत्, और पञ्चगुण भी थे। उनकी माँ कपिला नाम की ब्राह्मणी थीं। उन्होंने नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त कर ली थी, उनकी सर्वज्ञता अनुत्तम थी। आचार्य नीलकण्ठ ने स्व-कृत 'भारत-भावदीप' में महाभारत के प्रस्तुत स्थल की व्याख्या करते हुए इन पारिभाषिक पदों का इस प्रकार अर्थ किया है :—"पञ्चस्रोतांसि विषयकेदारप्रणालिका यस्य तस्मिन् मनसि, मानसं सत्रमित्यर्थः ॥ कापिलं कपिलमतानुसारि मण्डलं मुनिसमूहं प्रति परमार्थं यः न्यवेदयदित्युत्तरेण सम्बन्धः। पञ्चस्रोतसि मनसि निष्णातः ऊहापोहकौशलवान्। पञ्चरात्रो नाम विष्णुत्वप्रापकः क्रतुः 'पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयतात्यतिष्ठेयँ सर्वाणि भूतान्यहमेवेदँ सर्वँ स्यामिति स एतं पञ्चरात्रं पुरुषमेधं यज्ञक्रतुमपश्यत' इति शतपथोक्तस्तत्र विशारदः अनुष्ठिताखिलकर्मेत्यर्थः॥ पञ्च...कोशान् मिथः आत्मनश्च विविक्तान् जानातीति पञ्चज्ञः। अतएव पञ्चकृत् पञ्च तद्विषयाण्युपासनानि...'स तपस्तप्त्वान्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि विहितानि करोति स पञ्चकृत्। पञ्च 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' इति श्रुताः शान्त्यादयो गुणा यस्मिन् सः पञ्चगुणः। ततश्च 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः पञ्चभ्योऽतिरिच्यमानत्वात् शिखेवेति पञ्चशिखं पुच्छं ब्रह्म, तज्ज्ञत्वान्मुनिरपि पञ्चशिखः।........ पुरुषा अन्नमयादयः पञ्च अवसन्नतया बाधितया तिष्ठन्त्यस्मिन् इति पुरुषावस्थम्, अतएव शिरआद्यवयवरहितत्वादव्यक्तम् अबाध्यत्वाच्च परमार्थमबोधयत्" ॥ [श्लोक १०-१२ की व्याख्या]

नीलकण्ठ की प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार आचार्य पञ्चशिख का 'पञ्चशिख' नाम इस कारण से पड़ा था कि वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पञ्च पुरुषों के शिखा-स्वरूप, पुच्छ-रूप सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के ज्ञाता थे। इससे स्पष्ट है कि यह उनका सांस्कारिक नहीं प्रत्युत ज्ञानार्जित नाम था। 'पञ्चज्ञ' एवं 'पञ्चकृत्' शब्दों का सम्बन्ध पञ्चशिख बनने की पूर्वावस्था से है। ब्रह्म या आत्मा के अन्नमय इत्यादि पञ्च औपाधिक रूपों को जान कर उनकी आनुक्रमिक उपासना करने से ही अन्ततः अनौपाधिक शुद्ध 'ब्रह्म' वस्तु की प्राप्ति होती है। आचार्य पञ्चशिख भी ज्ञान और उपासना की इन समस्त पूर्वावस्थाओं से होकर ही अन्तिम स्थिति पर पहुँचे थे, इसी से वे पञ्चज्ञ तथा पञ्चकृत् थे। ज्ञान और उपासना की इस समस्त साधना के लिए साधक को शम, दम, उपरति, तितिक्षा एवं समाधान, इन श्रुत्युक्त पञ्चगुणों से सुसज्जित होना परम आवश्यक है, इसी से उन्हें 'पञ्चगुण' कहा गया है। 'पञ्चरात्रविशारद' शब्द इससे भी पूर्व की साधनावस्था का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'पञ्चरात्र' आदि पुरुष नारायण के द्वारा अनुष्ठित यज्ञ-विशेष का नाम है। फिर इसे विष्णुत्व-प्रापक कर्म-सामान्य का वाचक लेने से समस्त पद का अर्थ 'अखिलकर्मों के तत्त्व को जानने वाला, उनका अनुष्ठाता' हुआ। शमदमादि गुणों की प्राप्ति इसी अनुष्ठान का फल हुआ करती है। गृहस्थ रूप में आचार्य

तस्य पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः। ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी ॥ तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः स पिबति स्तनौ। ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम्। तस्य तत् कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम ॥

पञ्चशिख ने सारे विहित कर्मों का ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करके ही अग्रिम साधना के लिए आवश्यक शमदमादि पञ्चगुणों से अपने को सुसज्जित कर लिया था, ऐसा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'पंचशिख' नाम एवं उसके लिए महाभारत के पूर्वोद्धृत स्थल में आए हुए 'पंचज्ञ', पंचकृत्' आदि विशेषणों का नीलकण्ठ-कृत व्याख्यान आचार्य पंचशिख को वेदान्तसम्प्रदायानुयायी सिद्ध करता है। पहले भी स्पष्ट कर आए हैं कि नीलकण्ठ ने महाभारत में उल्लिखित पंचशिख आदि के प्राचीन 'सांख्य' को उपनिषत्-काण्ड या वेदान्त ही कहा है। यहाँ भी ऊपर उद्धृत महाभारतीय 'पुरुषावस्थमव्यक्तं पुरुषार्थं न्यवेदयत्' वचन की नीलकण्ठ-कृत व्याख्या से इसी बात का समर्थन होता है। उनके अनुसार यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ 'अव्याकृत पुरुष' है[१] और वही परमार्थ है, जिसका आचार्य पंचशिख द्वारा मिथिलाधिप 'जनदेव' नामक जनक के प्रति उपदेश दिये जाने का उल्लेख है। प्रस्तुत महाभारतीय प्रसङ्ग के चौदहवें श्लोक [यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते। आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ।।] की व्याख्या में भी नीलकण्ठ की यह दृष्टि स्पष्ट है :–"सांख्यसम्मतं गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यं प्रधानं चोपादानमिति पक्षं निरस्यति-यत्तदिति। अक्षरमेव जगदुपादानतया नानारूपं, न तु क्षरं प्रधानम्। अव्ययं ब्रह्मैव प्रतिपेदे ज्ञातवान्, न तु गुणपुरुषान्तरम्।" बीसवें श्लोक [तस्मै परमकल्याणाय प्रणताय च धर्मतः। अब्रवीत् परमं मोक्षं यत्तत् सांख्ये विधीयते ।।] की व्याख्या में तो 'सांख्ये उपनिषत्-काण्डे विधीयते अपूर्वतया ज्ञाप्यते न तु युक्तया उन्नीयते" इस• पंक्ति में सांख्य की तर्क-दृष्टि का सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट प्रत्याख्यान है। नीलकण्ठ की सांख्य-विषयक इस दृष्टि के मिथ्यात्व की चर्चा इसके पूर्व द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। वस्तुतः महाभारत, एवं भागवत आदि पुराणों में उल्लिखित कपिल, आसुरि, पंचशिख आदि आचार्यों का प्राचीन सांख्य सेश्वर है। परन्तु इससे उसको वेदान्त से अभिन्न समझना निरा भ्रम है, क्योंकि इससे त्रिगुणात्मक प्रधान या प्रकृति और पुरुष की सांख्यशास्त्रीय कल्पना—प्रकृति और पुरुष के वस्तुतः भिन्न तत्त्व होने—में कोई अन्तर नहीं आता। यह और बात है कि महाभारत और भागवत आदि में वर्णित सांख्य यत्र-तत्र वेदान्त सम्प्रदाय से प्रभावित है, क्योंकि इनकी रचना समाप्त होते-होते वेदान्त सर्वाधिक प्रभावशाली अतएव सर्वाभिभावी सम्प्रदाय हो चला था, यद्यपि इनकी पृष्ठ-भूमि में सांख्य-दर्शन का सर्वाधिक महत्त्व विद्यमान था, जैसा कि इन विपुल ग्रन्थों में सांख्य के अनेकशः एवं विस्तरतः वर्णन से स्पष्ट है। इससे स्पष्ट है कि महाभारत आदि में आसुरि या पंचशिख को ब्रह्मवादी प्रदर्शित करना सर्वथा ठीक ही है और इस अंश में 'पंचशिख' शब्द की नीलकण्ठी व्याख्या सर्वथा साधु है।

'पञ्चरात्रविशारदः' शब्द की नीलकण्ठ-कृत जो व्याख्या पहले दी जा चुकी है, उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष वक्तव्य है। आचार्य नीलकण्ठ ने 'पञ्चरात्र' का अर्थ 'विष्णुत्व-प्रापक क्रतु' किया है और इसका आधार उन्हें शतपथ ब्राह्मण के उस वचन में मिला है

---

१. इसकी तुलना 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः', इस कठ-श्रुति में आये हुए 'अव्यक्त' शब्द की शङ्कराचार्य-कृत व्याख्या से करने पर नीलकण्ठ की वेदान्तीय दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह व्याख्या द्वितीय खण्ड के 'प्रकृति एवं तीन गुण' नामक पञ्चम अध्याय में उद्धृत है।

जिसमें सर्वप्रथम 'पञ्चरात्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है और जिसमें यह कहा गया है कि आदि पुरुष भगवान् नारायण ने समस्त प्राणियों में श्रेष्ठत्व प्राप्त करने तथा स्वयमेव सब कुछ बन जाने के उपाय के रूप में 'पञ्चरात्र पुरुषमेध' की कल्पना की। यह शतपथ के १३ वें काण्ड के छठें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण का प्रथम अनुच्छेद अथवा सन्दर्भ है। यह 'पुरुषमेध' प्रकरण है। इसके आगे 'सर्वमेध' का प्रकरण है जो 'दशरात्र' कहा गया है, और इसके पूर्व १२।३।४ में इस बात का विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार नारायण अपनी ही आहुति देकर वस्तुतः समस्त विश्व बन गए। 'सर्वमेध' के साथ 'दशरात्र' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'पुरुषमेध' के साथ प्रयुक्त 'पञ्चरात्र' शब्द का अर्थ है 'पाँच रात्रि अर्थात् पाँच दिनों तक चलने वाला'। डा० एफ० ओटो श्रेडर का यह मत सर्वथा समञ्जस और सङ्गत है कि 'पाञ्चरात्र' नामक प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय ने अपना नाम मूलतः इसी पञ्चरात्र सत्र या मेध से ग्रहण किया जो दार्शनिक अर्थ में गृहीत होकर इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त बना। नारायण का यह पञ्चरात्र सत्र परवर्ती काल में भगवान् के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी एवं अर्चा नामक पाँच रूपों की आत्माभिव्यक्ति के अर्थ में लिया गया और इसी अर्थ में 'पञ्चरात्र' पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त होकर उसके नाम का कारण बना। इस बात का समर्थन अहिर्बुध्न्य-संहिता के ग्यारहवें अध्याय के उस वचन से भी होता है जिसमें यह कहा गया है कि भगवान् ने स्वयं ही मूलभूत शास्त्र से पञ्चरात्र तन्त्र को उत्पन्न किया जिसमें उनके पर, व्यूह, विभव इत्यादि स्वरूपों का वर्णन है[1]। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुलतः 'पञ्चरात्र पुरुषमेध' से उद्भूत होकर प्राचीन पञ्चरात्र[2] अथवा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय सैद्धान्तिक वैशिष्ट्य प्राप्त करके एक प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय बन गया था। शान्तिपर्व का समस्त नारायणीयोपाख्यान पञ्चरात्र के उल्लेखों से भरा हुआ है। इसके अनेक स्थलों में इसे उस काल के मुख्य सम्प्रदायों में परिगणित किया गया है :— 'सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च। ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह।" [शान्ति पर्व, अ० ३५९।१]।

---

१. द्रष्टव्य डा० श्रेडर का "Introduction to the Pancharatra and the Ahirbudhnya-Samhita" नामक ग्रन्थ, पृ० २५, विशेषतः यह सन्दर्भः—It appears, then that the sect took its name from its central dogma which was the Pancharatra Sattra of Narayana interpreted philosophically as the five-fold self manifestation of God by means of his Para, Vyuha, Vibhava, Antaryamin and Archa forms. This would well agree with the statement of Ahirbudhnya Samhita, at the end of the XI adhyaya, that the lord himself framed out of the original Shastra "The system (tantra) called Pancharatra describing His (five-fold) nature (known as) Para, Vyuha, Vibhava etc:"

२. वही, पृ० २ की नीचे दी गई टिप्पणी सं० १:—Both the system and its followers are usually called 'पाञ्चरात्र' but for the system the name 'पञ्चरात्र' and for its followers पञ्चरात्रिन् (पञ्चरात्रिक) are also used:

इस समस्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि शान्ति पर्व के पूर्वोद्धृत स्थल में भी 'पञ्चरात्र' शब्द तन्नामक सम्प्रदाय के ही लिए प्रयुक्त हुआ है और आचार्य पञ्चशिख को 'पञ्चरात्रविशारदः' कहने का महाभारतकार का तात्पर्य 'पञ्चरात्र सम्प्रदाय का विशेषज्ञ' ही है। वैसे इस अर्थ की नीलकण्ठ-कृत 'अनुष्ठिताखिलकर्मा' अर्थ के साथ कोई विशेष असंगति नहीं है, क्योंकि एक तो 'पञ्चरात्र' शब्द मूलतः 'पुरुषमेध'—यज्ञ-विशेष—के लिए ही शतपथ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, दूसरे मूल में यज्ञ की कल्पना निहित होने के कारण विकसित पञ्चरात्र मत में भी 'चर्या', जिसके अन्तर्गत अनुदिन होने वाले पञ्च महायज्ञ, वर्णाश्रमानुसार विहित सारे कर्म, एवं पर्वों पर किए जाने वाले विशिष्ट कर्म-कलाप इत्यादि आते हैं, चार प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों में से एक है। इस प्रकार 'पञ्चरात्रविशारदः' का 'अनुष्ठिताखिलकर्मा' अर्थ ठीक ही है। तथापि इससे पञ्चशिखाचार्य के 'पञ्चरात्रविशारद' कहे जाने के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता, क्योंकि ये पञ्च महायज्ञादि कर्म तथा वर्णाश्रम-कर्म तो अन्य सभी आस्तिक दर्शन-सम्प्रदायों में साधना की पूर्व अवस्थाओं में सामान्यतः गृहीत हैं। अतः उनके पञ्चरात्र का ही विशारद कहे जाने में कुछ विशेष रहस्य अवश्य है। वह रहस्य क्या हो सकता है? योगभाष्य में व्यास ने तथा सांख्यतत्त्व-कौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने पञ्चशिख का सर्व-प्रसिद्ध वचन "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" उद्धृत किया है। इस वचन से पञ्चशिख का हिंसा-विषयक यह मत ज्ञात होता है कि वेदों के द्वारा विहित यज्ञों में अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा भी पाप—अपुण्य—उत्पन्न करती है और उसका दुःखादि फल, चाहे वह यज्ञादि कृत्यों के फल-भूत सुख के समक्ष कितना भी अकिञ्चित्कर या नगण्य क्यों न हो, स्वर्ग में भी भोगना पड़ता है, वेद-बाह्य अविहित हिंसा का तो कहना ही क्या? इस प्रकार पञ्चशिख के मत से अहिंसा ही मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है और यही सिद्धान्त पाञ्चरात्र या भागवत सम्प्रदाय में विहित आचार की आधार-शिला है। यही पञ्चरात्र-मत की समस्त साधना का रहस्य एवं उस साधना की सफलता का मूल मन्त्र है। अतएव वेदों के यज्ञादि कर्म को श्रेयः-साधन, अतश्च करणीय मानते हुए भी उसकी अपेक्षा अहिंसा को ही ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में सर्वाधिक हितकर और अनिवार्य मानने के कारण ही आचार्य पञ्चशिख को 'पञ्चरात्र-विशारद'—पञ्चरात्र के गूढ़ तत्त्व का ज्ञाता—कहा गया होगा। आगे सांख्य में यही सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। ईश्वरकृष्ण का वैदिक यज्ञों के सम्बन्ध में 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इत्यादि कथन भी आचार्य पञ्चशिख की इसी मान्यता का समर्थक है, और मीमांसकों के एतद्विषयक मत के विरुद्ध 'तद्विपरीतः श्रेयान्' इत्यादि सांख्य-मत की स्थापना करता है। योग में भी अहिंसा को ही मुख्य सार्वभौम धर्म माना गया, जैसा कि यो० सू० २।३०[1] में प्रतिपादित योग के आठ अंगों में प्रमुख पञ्चविध 'यमों' में भी अहिंसा को प्रथम स्थान देने से स्पष्ट है। इसके भाष्य में यह तथ्य खूब स्पष्ट किया है :—"उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते।" इस

१—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः॥ यो० सू० २।३०॥

कथन का तात्पर्य यह है कि अहिंसा व्रत ही मुख्य है, अन्य सारे यम-नियमादि तन्मूलक हैं और उसी की सिद्धि के लिए किए जाते हैं। अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने यह वचन भी उद्धृत किया है :—"स खल्वयं ब्राह्मणो यथायथा व्रतानि बहूनि समादित्सते, तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।" यहाँ तक कि अहिंसा और सत्य के पारस्परिक विरोध के अवसर पर अहिंसा की ही मुख्यता मानी गई है, जैसा योगसूत्र २।३० के व्यास-भाष्य[1] से स्पष्ट है। भागवत-धर्म के साथ सांख्य और योग के सम्बन्ध का यही रहस्य है[2]।

यद्यपि आसुरि की ही भाँति आचार्य पञ्चशिख का भी कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, तथापि उनके सिद्धान्तों एवं विशिष्ट मतों के उद्धरण साङ्ख्य-योग के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। सबसे अधिक उद्धरण व्यास-कृत योगसूत्र-भाष्य में प्राप्त होते हैं। जैसा आगे स्पष्ट करेंगे, ये उद्धरण भाष्य में 'तथा चोक्तम्', 'तथा च सूत्रम्' इत्यादि शब्दों के साथ दिए गए हैं। भाष्य के 'तथा च सूत्रम्' शब्दों के अनुसार ही ये 'पञ्चशिख-सूत्र' कहे जाते हैं। भाष्य-स्थित वे वचन जिन्हें वाचस्पति मिश्र ने अपनी योगभाष्य-टीका तत्त्व-वैशारदी में तथा प्रायेण उनके लेख के आधार विज्ञानभिक्षु आदि परवर्ती टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीकाओं में पञ्चशिखाचार्य का कहा है, वे क्रमानुसार ये हैं :—

(१) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्। [योगभाष्य १।४]

(२) आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ॥ [योगभाष्य १।२५]।

(३) तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते [योग० १।३६]

(४) व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः, स सर्वोऽप्रतिबुद्धः। [योग० २।५]

(५) बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन। [योग० २।६]

(६) स्यात् स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति। [योग० २।१३]

(७) रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैःसह प्रवर्तन्ते। [योग० २।१५, ३।१३]

(८) तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। [योग० २।१७, ब्रह्मसूत्र २।२।१० के शां० भा० की 'भामती']

(९) अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तृष्वकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थेतत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छङ्कते। [योग० २।१८]

१—"एषा (यथार्थाऽपि-वाक्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्, तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्"।

२—द्रष्टव्य पं० बलदेव उपाध्याय का **भारतीय दर्शन** नामक ग्रन्थ।

(१०) अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते। [योग० २।२०]

(११) धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः। [योग० २।२२]

(१२) तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति। [योग० ३।१४]

संख्या ८ पर दिए गए उद्धरण की इयत्ता (परिमाण) के सम्बन्ध में कुछ विशेष वक्तव्य है। प्रश्न यह है कि जितना भाग यहाँ उद्धृत है, इतना ही पञ्चशिख-वचन है अथवा इससे अधिक? पं० उदयवीर शास्त्री के अनुसार पूरा उद्धरण इस प्रकार है—'तत्संयोग-हेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत् त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकार-मारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति'[1]। 'इति' का अन्त में होना इस समस्त सन्दर्भ के उद्धरण होने की पुष्टि भी करता प्रतीत होता है। परन्तु बात ऐसी है नहीं। यद्यपि आचार्य वाचस्पति मिश्र के इस स्थल के व्याख्यान से यह बात सर्वथा स्पष्ट नहीं होती, तथापि ब्रह्मसूत्र० २।२।१० के शाङ्कर-भाष्य के स्व-कृत व्याख्यान, जिसमें उन्होंने पञ्चशिख के प्रस्तुत वचन को उद्धृत किया है, से यह बात स्पष्ट है। वहाँ आचार्य ने इसकी प्रथम पंक्ति ही दी है और उद्धरण का चिह्न 'इति' भी दिया है:— "तदुक्तं पञ्चशिखाचार्येण—"तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः' इति।"[2] यदि यह वाक्य समूचे उद्धरण का एक भाग होता, तो वे 'इति' के स्थान में 'इत्यादि' लिखते, जैसा कि उन्होंने अन्यत्र किया है। यह बात इससे भी अधिक स्पष्ट होती है आचार्य विज्ञान भिक्षु के योगवार्तिक[3] से, जिसमें इस वाक्य की अवतारणा करते हुये उन्होंने इस प्रकार लिखा है:—"संयोगस्य दुःखहेतुत्वे पञ्चशिखाचार्यस्य संवादमाह— 'तथा चोक्तम्' इत्यादिना 'प्रतीकार' इत्यन्तेन"। निस्सन्देह 'प्रतीकार' शब्द समस्त सन्दर्भ के प्रथम वाक्य के ही अन्त में है, इसके अन्तिम वाक्य के अन्त में नहीं, वहाँ तो 'सामर्थ्यात्' पद है। अतः स्पष्ट है कि वाचस्पति और विज्ञान भिक्षु, दोनों के ही अनुसार प्रथम वाक्य ही पञ्चशिख-वचन है। सन्दर्भ के शेष भाग में लोक-प्रसिद्ध निदर्शन मात्र कथित है। अब रहा 'सामर्थ्यात्' पद के अनन्तर उद्धरण-सूचक 'इति' शब्द के प्रयोग का प्रश्न, उसका समाधान यह है कि 'इति' का प्रयोग निश्चित रूप से उद्धरण के आगे ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। प्रस्तुत स्थल में 'कस्मात्' इस पद के प्रयोग द्वारा उठाए गए प्रश्न का उत्तर 'त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यात्' है, इस बात को प्रकट करने के लिए 'इति' का प्रयोग हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

अन्य उद्धरणों पर विचार करने के पूर्व इन वचनों के तात्पर्य के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। संख्या २ तथा ६ के उद्धरणों के विषय में विस्तृत विचार इसके पूर्व हो चुका है। संख्या ३ के उद्धरण में मन की 'विषयवती' और 'अस्मि-

१. द्रष्टव्य साङ्ख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४८२, उद्धरण—संख्या ३५।
२. द्रष्टव्य भामती (निर्णयसागर प्रेस संस्करण, १९३४) पृ० ४२७।
३. विज्ञानभिक्षु-कृत योगभाष्य-टीका, पृ० १९२।

तामात्रा' नामक द्विविध 'ज्योतिष्मती' स्थिति की द्वितीय कोटि का वर्णन है। इस स्थिति में मन रूपादि समस्त विषयों से हीन होकर अन्य समस्त वृत्तियों से शून्य 'अहम्बोध' रूप वृत्ति के स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसी को 'सास्मित सम्प्रज्ञात' कहते हैं, क्योंकि इसमें 'अहमस्मि' इत्याकारक आत्मविषयक ज्ञान होता रहता है। संख्या ७ के उद्धरण में गुणों के परस्पर-विरुद्ध स्वभाव की बात कही गई है। बुद्धि के सत्त्व गुण के धर्म, वैराग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य, ये चार रूप हैं। तमोगुण के भी अधर्म, अवैराग्य या राग, अज्ञान तथा अनैश्वर्य, चार रूप हैं। सुख, दुःख और मोह इनकी वृत्तियाँ हैं। ये परस्पर विरोधी हैं। प्रबल धर्म, सुख इत्यादि, एवं प्रबल अधर्म, दुःख इत्यादि एक दूसरे का विच्छेद करते हुए, एक-दूसरे से विच्छिन्न होते रहते हैं, कटते रहते हैं। इसलिए लगातार दीर्घ समय तक न तो अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्म ही प्रबल रूप से चलते हैं और न हिंसा, असत्य, मैथुन आदि अधर्म ही। कभी एक प्रबल रहते हैं तो कभी दूसरे। इसी प्रकार सुख और दुःख भी लगातार नहीं चलते। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आते रहते हैं। हाँ, इनके सामान्य रूप विशिष्ट या प्रबल रूपों के साथ अवश्य रहते हैं, जैसे प्रबल सुख के साथ दुःख भी गौण रूप से रहता है अथवा प्रबल दुःख के साथ गौण सुख। तात्पर्य यह है कि बुद्धि के तीनों गुणों के चञ्चल या क्षिप्र-परिणामी होने के कारण बुद्धि या चित्त के भाव और व्यापार प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं और इस प्रकार उसकी अस्थिरता के कारण विवेकी-जनों—योगियों-को सब कुछ दुःख ही प्रतीत होता है। संख्या ७ के उद्धरण का यही तात्पर्य है। संख्या ८ तथा ११ के उद्धरणों का सविस्तर विचार थोड़ा बाद में करेंगे। संख्या १, ४, ५, ९ तथा १० के उद्धरण एक ही विषय से सम्बद्ध हैं, अतः इन सब का विचार एक साथ ही किया जा रहा है।

इन पाँचों उद्धरणों में जिस एक तथ्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है, वह स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार रक्खा जा सकता है कि ज्ञान, इच्छा, क्रिया, सुख-दुःख भोग इत्यादि अनेक व्यावहारिक धर्मों से युक्त जिस एक 'पुरुष' रूप धर्मी को हम सब जानते-समझते हैं, वह परमार्थतः एक वस्तु या तत्त्व नहीं है। यद्यपि न्याय आदि दर्शन इन उक्त धर्मों को एकमात्र आत्मा या पुरुष के ही विशिष्ट गुण मानते हैं एवं इन अनेक धर्मों से उस एक का ही अनुमान करते हैं, तथापि सांख्य दर्शन की ऐसी मान्यता नहीं है। उसकी दृष्टि में व्यावहारिक मनुष्य प्रधानतया तो निर्गुण एवं अपरिणामी 'पुरुष' तत्त्व तथा नित्य-परिणामी त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' तत्त्व का, किन्तु प्रकृति के बुद्धि, अहङ्कार, मन इत्यादि विकारों (कार्यों) को पृथक् लेने पर इन अनेक तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण है, इन सब की विचित्र समष्टि है। नित्य ज्ञान 'पुरुष' अथवा आत्मा का स्वरूप-भूत धर्म है, तथा सङ्कल्प, इच्छा, क्रिया, सुख-दुःख आदि प्रकृति के उक्त विकारों के धर्म हैं। अपरिणामी पुरुष चिति, चिच्छक्ति, या दृक्-शक्ति इत्यादि नामों से भी अभिहित होता है। इसके विपरीत परिणामिनी त्रिगुणात्मक प्रकृति अचित्, भोग्य, दृश्य आदि नामों से अभिहित होती है। बुद्धि, अहङ्कार, मन इत्यादि भी इस अचित् अथवा जड़ प्रकृति के प्रसव उपज— होने के कारण दृश्य के ही अन्तर्गत हैं। यद्यपि नित्य-ज्ञान स्वरूप होने के कारण 'पुरुष' में किसी भी प्रकार का परिणाम सम्भव नहीं है, तथापि अविवेक के कारण वह स्वभावतः प्रतिक्षण

परिणामिनी त्रिगुणात्मिका बुद्धि (चित्त) की वृत्तियों[1]—व्यापारों या परिणामों—को देखता हुआ तदात्मक या तद्रूप सा प्रतीत होता है। इस प्रकार बुद्धि-कृत विविध ज्ञानों को वह स्व-कृत ही कार्य समझता है, पर-कृत नहीं। उनके बुद्धि-कृत होने की तो उसे कभी शङ्का भी नहीं होती। इस काल में बुद्धि-वृत्ति से विशिष्ट या पृथक् कोई आत्म-वृत्ति ही नहीं होती। स्त्री, पति, पुत्र, गृह, शयन, भोजन आदि को अविवेक-वश स्वकीय मानता हुआ इनकी समृद्धि को आत्म-समृद्धि एवं विपत्ति को आत्म-विपत्ति समझता है। यह उसका निरा अज्ञान या मोह है (उद्धरण ४)। इसी को योग-सूत्रकार ने 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (योगसूत्र १।४) द्वारा, तथा भाष्यकार ने इसके समर्थन में उद्धृत 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' इस पञ्चशिख-वचन द्वारा स्पष्ट किया है। तात्पर्य यह कि व्यवहार-काल में एक-मात्र बुद्धि-कृत ख्याति, ज्ञान या दर्शन ही रहता है, वही पुरुष का भी दर्शन या ज्ञान बन जाता है। बुद्ध्यात्मक न होने पर भी पुरुष की तदात्मक प्रतीति अनादि अविवेक से उभय का संयोग होने पर उसके बुद्धि-धर्मों के उपद्रष्टा या साक्षी होने के कारण होती है। योगसूत्र 'द्रष्टा दृशि-मात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' (२।२०) तथा इसके 'गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति, अतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति, नात्यन्तं विरूपः। कस्मात् ? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः, यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रतिभासते' इत्यादि भाष्य से यह बात सर्वथा स्पष्ट है। इन भाष्य-पंक्तियों में एक अतिरिक्त बात यह कही गई है कि त्रिगुणात्मक बुद्धि के साथ अपना तादात्म्य ग्रहण करने में पुरुष के अनादि अविवेक के अति-रिक्त उसका बुद्धि से सर्वथा विरूप न होना—सर्वथा सरूप न होने पर भी कुछ सरूप होना—भी कारण है। रजत-खण्ड से विरूप या भिन्न, तथापि उसके सरूप या सदृश शुक्ति में ही रजत-खण्ड का आरोप होता देखा जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुष का अनादि अविवेक और बुद्धि के साथ उसका सादृश्य, दोनों ही तादात्म्य के जनक या कारण हैं। नवम उद्धरण में पुरुष के ये सारूप्य-वैरूप्य तथा तादात्म्य, दोनों ही कथित हैं। दशम उद्धरण में भी दोनों का यही तादात्म्य कथित है। इसमें आया हुआ 'ज्ञान-वृत्ति' पद चितिशक्ति अर्थात् चिन्मात्र पुरुष का बोधक है। इसमें सारूप्य की बात भी स्पष्ट की गई है। अनादि अविवेक के कारण परिणामिनी बुद्धि के साथ अपरिणामी पुरुष का सान्निध्य होने से बुद्धि में असंक्रान्त भी पुरुष संक्रान्त सा लगता है, और इसके फल-स्वरूप वह बुद्धि की भाँति ही परिणामी प्रतीत होता है। बुद्धि चिदवभास या चित्प्रतिबम्ब को प्राप्त करके पुरुष सी चेतन प्रतीत होने लगती है। इस उभय सारूप्य के कारण पुरुष व्यवहार-काल में बुद्धि के साथ अपना तादात्म्य ग्रहण कर बैठता है। इसी बात को 'तस्याश्च प्राप्तचैतन्यो-पग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते' इस अन्तिम पंक्ति में कहा गया है। स्पष्ट है कि तादात्म्य दोनों के सान्निध्य या संयोग से होता है और यह संयोग स्वयं भी अविवेक के कारण होता है। आचार्य पञ्चशिख के अनुसार यह अविवेक, जैसा कि अभी स्पष्ट किया जायगा, अनादि है। वहाँ यह बात स्पष्ट की

---

१. ये वृत्तियाँ ज्ञान या प्रत्यय रूप होती हैं, इसी से बुद्धि-वृत्तियों को 'नित्य ज्ञान' के विपरीत 'वृत्त्यात्मक ज्ञान' कहते हैं।

पादयति' शब्दों के द्वारा इस उद्धरण को प्रस्तुत किया है, और विज्ञानभिक्षु ने 'अत्रार्थे पूर्वाचार्यैरिदं वक्ष्यमाणं प्रमाणमुक्तम्' शब्दों के द्वारा।]

(५) एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः । [योगभाष्य ३।४४ में 'तथा चोक्तं' शब्दों के द्वारा उद्धत; वाचस्पति मिश्र ने भाष्य के ही शब्दों को दुहरा दिया है, और विज्ञानभिक्षु इत्यादि ने इसे पूर्वाचार्य-वचन कहा है।]

(६) ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वतयन्ति । [योगभाष्य ४।१० में 'तथा चोक्तम्' शब्दों के द्वारा उद्धृत; वाचस्पति मिश्र ने 'सम्मतिमाचार्याणामाह' इत्यादि शब्दों के द्वारा इसकी अवतारणा की है, विज्ञानभिक्षु ने भाष्य के ही शब्दों को दुहरा दिया है।]

(७) स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति, अरुचिश्च निर्णये भवति। [योगभाष्य ४।२५ में उद्धृत; वाचस्पति मिश्र ने इसकी अवतारणा 'अनधिकारिणमागमिनां वचनेन दर्शयति' शब्दों के द्वारा की है, विज्ञानभिक्षु आदि ने 'उक्तं पूर्वाचार्यैः' इत्यादि शब्दों के द्वारा।]

इन समस्त उद्धरणों के अतिरिक्त योग-भाष्य का एक और भी सन्दर्भ ऐसा है जिसे लोग आचार्य पञ्चशिख का ही वचन समझते हैं। योगसूत्र २।२२ के भाष्यान्त में 'तथा चोक्तं' शब्दों के द्वारा 'धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः' यह वचन उद्धृत है, जो उद्धरणों की पहली तालिका में संख्या ११ पर दिया गया है। विज्ञानभिक्षु एवं हरिहरानन्द आरण्यक ने इसको स्पष्टतः पञ्चशिख का वचन कहा है, वाचस्पति मिश्र ने 'आगमिनामनुमतिम्' कहा है। इस सन्दर्भ का अर्थ यह है कि धर्मी अर्थात् परिणामि-नित्य सत्त्व इत्यादि तीनों गुणों का कूटस्थ-नित्य क्षेत्रज्ञों या पुरुषों के साथ अनादि संयोग होने के कारण उन धर्मियों के महत् इत्यादि समस्त धर्मों या परिणामों का भी पुरुषों के साथ अनादि संयोग होता है। अनादि होने पर भी यह संयोग निमित्त-जन्य होने के कारण नित्य नहीं कहा जा सकता। इसी 'संयोग' के स्वरूप का कथन आगे के २३ वें सूत्र में किया गया है, जो इस प्रकार है :—'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'। इसका तात्पर्य यह है कि स्वशक्ति अर्थात् दृश्य एवं स्वामिशक्ति अर्थात् द्रष्टा, इन दोनों का संयोग—बुद्धि एवं पुरुष का संयोग—'दर्शन' कार्य का हेतु या निमित्त है। यह दर्शन दो प्रकार का है, एक तो द्रष्टा पुरुष द्वारा दृश्य बुद्धि का अविवेकपूर्वक दर्शन जिसे 'भोग' कहा जाता है और दूसरा विवेकपूर्वक दर्शन या विवेक-ज्ञान जिसका व्यवहित फल मोक्ष कहा जाता है। भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि इस अनादि संयोग का अन्त दर्शन या विवेक-ज्ञान सम्पन्न होने पर होता है, अन्यथा वह जन्म-जन्मान्तर पूर्ववत् चलता रहता है। इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि बुद्धि से अपने को पृथक् देखते ही पुरुष का अनादि अदर्शन या अविवेक नष्ट हो जाता है, जिससे उसकी चित्तवृत्ति भी अपने कारण-भूत चित्त या बुद्धि में निरुद्ध—लीन—हो जाती है और चित्त साम्यावस्था को प्राप्त हो जाता है, बुद्धि शान्त हो जाती है। यही जीवन्मुक्तावस्था है। फिर क्रमशः प्रारब्ध का भोग द्वारा

क्षय होने पर जब देहपात होता है, तब यह शांत बुद्धि अपने मूल कारण प्रधान में लीन हो जाती है जिससे सदैव के लिये पुरुष का बुद्धि से–दृक् शक्ति का दृश्य शक्ति से—वियोग सम्पन्न हो जाता है। यही कैवल्यावस्था है और यही नित्य अपवर्ग है। वस्तुतः अनादि संयोग का निमित्त है अनादि अविवेक या अदर्शन, जिसे अविद्या भी कहा जाता है और जो बन्ध का कारण है। दर्शन या विवेक-ज्ञान अदर्शन या अविवेक का स्वभावतः विरोधी होने के कारण उत्पन्न होते ही उसे नष्ट कर देता है, जिससे उस अनादि अविवेक का कार्य 'संयोग' भी नष्ट हो जाता है। संयोग के नष्ट हो जाने पर समस्त दुःखों की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि अनादि अविवेक के फल-भूत अनादि संयोग के फल-स्वरूप ही सारे दुःख अनादि काल से होते आ रहे थे। प्रथम तालिका की सख्या ८ के उद्धरण में इसी तथ्य का स्पष्ट रूप से उद्घोष है। विवेक-ज्ञान के न उत्पन्न होने पर तो अविद्या (अदर्शन) प्रलय-काल में स्वकीय आधार-भूत चित्त के साथ प्रधान में निरुद्ध होकर संस्कार रूप से पड़ी रहती है और सृष्टि-काल आने पर पुनः स्वकीय चित्त की उत्पत्ति का बीज बनती है। इस तथ्य को भाष्यकार व्यासदेव ने प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में 'किञ्चेदमदर्शनं नाम' यह प्रश्न उठा कर इसके उत्तर रूप में दिए गए आठ सम्भाव्य विकल्पों में से चतुर्थ विकल्प में दिया है। उन्हीं के शब्दों में यह विकल्प, जो सिद्धान्त रूप है, इस प्रकार है :—'अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम्'। वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु आदि सभी टीकाकारों ने इसी को सिद्धान्त माना है।[1] इसी के ठीक बाद पाँचवा विकल्प भाष्यकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—'किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः, यत्रेदमुक्तम्—"प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्, उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा, कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः"। इस सन्दर्भ को भी उदयवीर शास्त्री इत्यादि कुछ विद्वान् आचार्य पञ्चशिख का ही वचन मानते हैं[2]। यद्यपि ऐसा मानने में कोई विशेष असंगति नहीं दिखती, क्योंकि इसमें मूल कारण 'प्रधान' का जो स्वभाव वर्णित है, वह सांख्य का ही मत है और सर्वथा प्रामाणिक है, तथापि "प्रकृति या प्रधान के 'स्थिति संस्कार'—साम्यावस्था के क्षय होने पर जो 'गति-संस्कार'—परिणामावस्था— की अभिव्यक्ति को 'अदर्शन' बताया गया, वह अशास्त्रीय है, अपसिद्धान्त है; क्योंकि मूल कारण के स्वभाव-मात्र के कथन से 'अदर्शन' का स्वरूप ठीक उसी प्रकार स्पष्ट नहीं होता, जैसे घट को परिणामशील मृत्तिका का परिणाम-विशेष या कार्य कहने भर से उस (घट) का स्वरूप लक्षित नहीं होता। कहना न होगा कि जब 'अदर्शन' का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ, तब इसके कार्य 'संयोग' का स्वरूप कैसे स्पष्ट हो सकता है; और इसी के स्वरूप का स्पष्टीकरण या लक्षण प्रस्तुत करना सूत्र २।२३ का विषय था। ऐसी स्थिति में अप-

---

१. (i) तदेवं विकल्प्य चतुर्थविकल्पं स्वीकर्तुमितरेषां विकल्पानां सांख्यशास्त्रगतानां सर्वपुरुषसाधारण्येन भोगवैचित्र्याभावप्रसङ्गेन दूषयति—'इत्येते शास्त्रगता' इति।—तत्त्ववैशारदी, पृ० २३२।

(ii) पञ्चपर्वाऽविद्या प्रलयकाले स्वचित्तेन सह गुणेषु लीना वासनारूपेण स्वाश्रयचित्तस्योत्पत्तिबीजमित्यर्थः, तथा चाविद्यावासनैवादर्शनमिति। अयमेव पक्षः सिद्धान्तो भविष्यति। —योगवार्तिक, पृ० २२८।

२. द्रष्टव्य सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४८०, उद्धरण सं० ४।

सिद्धान्त रूप पञ्चम विकल्प को प्रमाणित करने के लिए योगभाष्यकार परम-पूज्य आचार्य-मूर्धन्य पञ्चशिख का वचन उद्धृत करेंगे, ऐसा मानना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता। सम्भवतः इसी कारण से वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु, दोनों ने ही इस उद्धरण की अवतारणा 'मतान्तर'[1] कह कर की है। यह बात सर्वथा विचारणीय है कि योगभाष्यकार के लिए आचार्य पञ्चशिख के वचन को 'मतान्तर' कहना कहाँ तक उचित है, जब कि अन्यत्र सर्वत्र उन्हीं के अन्य वचनों का उद्धरण सिद्धान्त रूप से किया गया है।

अभी पीछे योग-सूत्र २।२३ [स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः] की प्रसङ्गतः चर्चा करते समय कह आये हैं कि दृश्य बुद्धि और द्रष्टा पुरुष का संयोग अनादि है और इस अनादि संयोग का निमित्त है अनादि अविवेक या अविद्या। योगभाष्यकार ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वस्तुतः वह सिद्धान्त मूलतः कपिल[2] और पञ्चशिख का है। सांख्य-सूत्र ६।६८ में पञ्चशिख के इस सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है, जो इस प्रकार है :—'अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः'। इसमें बुद्धि और पुरुष के स्वस्वामिभाव अथवा दृश्य-द्रष्टृ-संयोग की अनादिता, अनादि अबिवेक को उसका कारण बताकर, प्रतिपादित की गई है। सांख्य-सूत्रकार का स्वकीय मत भी यही है, जैसा कि अभी स्पष्ट कह चुके हैं। विज्ञानभिक्षु ने भी इसे इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया है : एतदेव स्वमतं प्रागुक्तत्वात्। अविवेकश्च प्रलयेऽपि कर्मवदेवास्ति वासनारूपेणेति।' भाष्य-स्थित 'कर्मवदेव' पद से पूर्व सूत्र[3] में उल्लिखित सिद्धान्त की ओर संकेत है, जो सांख्य का एकदेशीय मत है[4]। अगले सूत्र में एतद्विषयक एक तीसरा मत भी प्रतिपादित है जो सनन्दनाचार्य के नाम से दिया गया है—लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः [सां० सू० ६।६९]। कर्म एवं लिङ्ग शरीर, इन दोनों ही निमित्तों के आधार पर प्रतिपादित बुद्धि और पुरुष के भोग्यभोक्तृ-भाव की अनादिता समुचित नहीं है, क्योंकि दोनों ही अनादि अविवेक के फल हैं। वस्तुतः तो भोक्तृभोग्यभाव अर्थात् बुद्धि और पुरुष के अनादि सम्बन्ध का मूलभूत कारण अविवेक ही है। इस प्रकार आचार्य पञ्चशिख का मत ही सर्वथा समीचीन है। डा० कीथ ने अपने ग्रन्थ Sankhya System में इसका उल्लेख किया है।[5]

---

१. (i) तदुभयसंस्कारसद्भावे मतान्तरानुमतिमाह—यत्रेदमुक्तमिति।—वाचस्पति-कृत तत्त्ववैशारदी, पृ० २२८।

(ii) तदुभयसंस्कारसद्भावे मतान्तरं प्रमाणयति—यत्रेदमिति।—भिक्षु-कृत योगवार्तिक, पृ० २२८।

२. द्रष्टव्य, सां० सू० १।१९, ५५ :—न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते॥ तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्॥

३. द्रष्टव्य सांख्य-सूत्र ६।६७ :—कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजाङ्कुरवत्॥

४. येषां सांख्यैकदेशिनां प्रकृतेः पुरुषस्य च स्वस्वामिभावो भोग्यभोक्तृभावः कर्मनिमित्तकस्तन्मतेऽपि स प्रवाहरूपेणानादिरेव, बीजांकुरवत् प्रामाणिकत्वादित्यर्थः।— सांख्यभाष्य।

५. His doctrine of the reason of the eternal connection of spirit and nature quoted in the sutra vi·68 is the obviously correct one that it is due to lack of discrimination, a view much more thorough than the reply of the teachers generally that it was caused by works, or that of Sanandana..that it was caused by the internal body or psychic apparatus.

षडध्यायी सांख्यसूत्र के एक और सूत्र में आचार्य पञ्चशिख के नाम से एक मत का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय के आठ [२९-३६] सूत्रों में व्याप्ति का स्वरूप प्रतिपादित है। इनमें ३२ वाँ सूत्र इस प्रकार है :—'आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः।' इस अध्याय के दूसरे से लेकर पच्चीसवें सूत्र तक ईश्वर के स्वरूप का विवेचन है, इसके अनन्तर २६ वें से ५६ वें सूत्र तक मुख्यतः जगदुपादान त्रिगुणात्मक प्रधान की सिद्धि त्रिविध प्रमाणों के आधार पर की गई है। इनमें सर्व प्रथम अनुमान, तदनन्तर शब्द, और अन्त में प्रत्यक्ष के आधार पर प्रधान की जगदुपादान के रूप में सिद्धि की गई है। एतदर्थ अनुमान एवं शब्द प्रमाणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पीछे प्रथम ही अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि सांख्य का दृष्टिकोण प्रधानतया बुद्धिवादी है, वह अपने प्रधान, पुरुष आदि मूलभूत प्रमेयों की सिद्धि के लिए अनुमान का ही मुख्यतः आधार लेता है तथा उसका 'सांख्य' नाम भी उसकी इस दृष्टि का परिचायक है। प्रस्तुत प्रकरण में भी महत्त्व-क्रम से तीनों प्रमाणों में से सर्वप्रथम अनुमान का विस्तार से, फिर शब्द का कम विस्तार से तथा अन्त में प्रत्यक्ष का संक्षेपतः निरूपण है। जब सांख्य दर्शन में अनुमान का महत्त्व इतना अधिक है, तब उसके प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, व्याप्ति आदि अंगों के निरूपण को परवर्ती काल के शास्त्रान्तरों के प्रभाव का फल नहीं कहा जा सकता। षडध्यायी सांख्यप्रवचनसूत्र के अनेक सूत्रों में हेतु और उदाहरण के प्रयोगों को दिखाया गया है।[1] इससे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अनुमान-सम्बन्धी व्याप्ति आदि की उद्भावना भी कपिल की अपनी ही वस्तु है। अनुमान का मूलाधार तो व्याप्ति ही है, अतः न तो उसके अभाव में कोई अनुमान हो सकता है और न ही उसकी उद्भावना के अभाव में अनुमान प्रमाण की कल्पना संगत कही जा सकती है। ऐसी स्थिति में जो विद्वान् विचारक व्याप्ति-विषयक इन सूत्रों को अर्वाचीन बताकर समस्त सांख्य-सूत्रों को इस कारण से बहुत बाद का बताते हैं, वे भूल करते हैं। इतने विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि व्याप्ति-विषयक जो मत पञ्चशिख के नाम से पूर्व उद्धृत सूत्र ५।३२ में निबद्ध है, वह वस्तुतः उन्हीं का समझा जाना चाहिए।

सां० सू० ५।२९ में सूत्रकार ने 'व्याप्ति' का लक्षण दिया है, जो इस प्रकार है :—'नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः'। इस सूत्र में 'व्याप्ति' का सामान्य स्वरूप लक्षित है। इसके अनुसार धर्मों के नित्य साहचर्य का नाम 'व्याप्ति' है। यह साहचर्य साध्य और साधन रूप, दोनों धर्मों का अथवा केवल साधन का भी हो सकता है। जैसे कृतकत्व या उत्पत्ति धर्म और अनित्यत्व धर्मों में परस्पर साहचर्य समान रूप से विद्यमान है :— यत्र-यत्र कृतकत्वं (उत्पत्तिधर्मकत्वं), तत्र-तत्र अनित्यत्वम्; यत्र-यत्र अनित्यत्वं, तत्र-तत्र कृतकत्वम्। यहाँ कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों ही धर्मों में व्याप्ति या साहचर्य समान रूप से है। जितने पदार्थों या स्थानों में कृतकत्व है, उतने ही में अनित्यत्व भी है; अथवा जितने में अनित्यत्व है, उतने ही में कृतकत्व भी है। यह समव्याप्ति कही जाती है। इसके विपरीत धूम एवं अग्नि के बीच जो व्याप्ति या साहचर्य है, वह दोनों में समान रूप से नहीं है; क्योंकि यह

---

१. प्रथम ही अध्याय में ५६-६०, ७६, ९९, ११९, १२२, १२९ इत्यादि कई ऐसे सूत्र हैं जिनमें प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, तीनों अंग दिखाए गए हैं। अगले अध्यायों में भी ऐसे अनेक सूत्र हैं।

तो सत्य है कि जहाँ-जहाँ धूम होगा, वहाँ-वहाँ वह अग्नि के साथ ही होगा, उससे पृथक् नहीं, परन्तु यह बात सत्य नहीं है कि जहाँ-जहाँ अग्नि होगा, वहाँ-वहाँ वह धूम के साथ ही होगा, उससे पृथक् नहीं। इस प्रकार धूम और अग्नि में व्याप्ति या साहचर्य समान रूप से नहीं अपितु 'विषम' रूप से है। इसी से यह विषम-व्याप्ति कही जाती है। तात्पर्य यह कि पूर्व उदाहरण में साहचर्य दोनों में रहता है, किन्तु द्वितीय में केवल धूम–साधन–में ही रहता है। अब यह प्रश्न उठता है कि साधन और साध्य अथवा केवल साधन में रहने वाली यह 'व्याप्ति' उनसे भिन्न तत्त्व है या अभिन्न ? इसका उत्तर अगले सूत्र 'न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः' [५।३०] में दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि 'व्याप्ति' भिन्न तत्त्व नहीं है, क्योंकि भिन्न तत्त्व होने पर उसके आश्रय रूप में साध्य और साधन से भिन्न पदार्थ की कल्पना करनी होगी, जो सर्वथा असत् होगी; क्योंकि व्याप्ति का आश्रय तो साध्य और साधन अथवा केवल साधन ही होता है, उनसे भिन्न कुछ भी नहीं। यह सूत्रार्थ विज्ञानभिक्षु के भाष्य के अनुसार है[१]। अनिरुद्ध-कृत 'वृत्ति' के अनुसार सूत्र का अर्थ यह है कि व्याप्ति को भिन्न तत्त्व मानने पर भी तो उसे साधन का साध्य के साथ नियत साहचर्य अथवा अविनाभव सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा। तब फिर उसे भिन्न वस्तु मानने की क्या आवश्यकता है[२]? यहाँ तक तो दोनो में तात्त्विक भेद नहीं है परन्तु अगले सूत्र 'निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः' [५।३१] के दोनों के व्याख्यान सर्वथा विपरीत हैं। अनिरुद्ध ने इसे स्व-मत का प्रतिपादन माना है, जब कि विज्ञान भिक्षु ने पर-मत का। इसकी व्याख्या में अनिरुद्ध ने लिखा है कि वह्नि और धूम की अपनी विशिष्ट शक्ति है जिसका ग्रहण दोनों को (साथ-साथ) देखने से होता है, यही 'व्याप्ति' है[३]। विज्ञान भिक्षु के मत से इसका अर्थ यह है कि व्याप्य की स्व-शक्ति से उत्पन्न शक्ति-विशेष रूप तत्त्वान्तर को ही अन्य आचार्य 'व्याप्ति' कहते हैं। उन आचार्यों के मत से स्व-शक्ति-मात्र 'व्याप्ति' नहीं है, क्योंकि द्रव्य की स्व-शक्ति द्रव्य-मात्र में ही सीमित रहती है और उसे ही व्याप्ति मान लेने पर तो वह्नि के स्थान से उठकर अन्य स्थान में फैले हुए धूम की भी वह्नि-व्याप्यता नहीं सिद्ध होती। सिद्धान्त पक्ष में इसका समाधान भिक्षु महोदय ने यह किया है कि 'उत्पत्तिकालावच्छिन्न' को 'धूम' का विशेषण कर देने से उसकी अव्याप्यता की शंका नहीं उठेगी।[४] अनिरुद्ध-वृत्ति के आधार पर स्व-रचित 'वृत्तिसार' में वेदान्ती महादेव ने भी विज्ञान भिक्षु की ही भाँति स्व-शक्ति से उत्पन्न शक्ति को ही 'व्याप्ति' कहा है, यद्यपि वे भी इसे अनिरुद्ध की भाँति स्व-मत ही मानते हैं, पर-मत नहीं।[५] । ५।३१ में स्व-मत का प्रतिपादन मानने के कारण

---

१. नियतधर्मसाहित्यातिरिक्ता व्याप्तिर्न भवति, व्याप्तित्वाश्रयस्य वस्तुनोऽपि कल्पनाप्रसंगात्। अस्माभिस्तु सिद्धवस्तुन एव व्याप्तित्वमात्रं क्लृप्तमित्यर्थः—पृ० २१६।

२. तत्त्वान्तरस्वीकारेऽप्यव्यभिचारो वक्तव्यः। स एवास्तु, किं वस्तुकल्पनयेति।—पृ० १६४।

३. द्रष्टव्य, अनिरुद्ध-वृत्ति, पृ० १६४।

४. द्रष्टव्य भिक्षु-भाष्य, पृ० २२०।

५. द्रष्टव्य वही, पृ० १६४ :—निजा सहजा या शक्तिस्तदुद्भवं नियतं वह्निसाहित्यं धूमे इत्याचार्याः। बहुवचनेन स्वाभिमतत्वं ज्ञापयति।

ही अनिरुद्ध को ५।३२ में प्रतिपादित पञ्चशिख के मत को एकदेशि-मत कहना पड़ा, यद्यपि अनिरुद्ध के अनुसार ३६ वें सूत्र में सिद्धान्त के साथ इसका समन्वय स्वयं सूत्रकार ने ही कर दिया है। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि विज्ञानभिक्षु के व्याख्यान से यह सब सूत्र, विशेषतः ३२ और ३६ स्पष्ट नहीं होते, अनिरुद्ध की इन सूत्रों की वृत्ति कहीं अधिक स्पष्ट एवं सन्तोष-प्रद है। डा० रिचर्ड गार्वे ने भी ३२वें सूत्र के स्व-कृत अनुवाद की पाद-टिप्पणी में इसे स्पष्ट कहा है।[१] अनिरुद्ध के अनुसार 'आधेयशक्तियोगः पञ्चशिखः' [५।३२] का अर्थ यह है कि पञ्चशिखाचार्य के अनुसार पदार्थों पर आरोपित शक्ति के के साथ सम्बन्ध का नाम 'व्याप्ति' है। यदि यह व्याप्ति निज या सहज शक्ति होती, आरोपित न होती तो किसी अव्युत्पन्न या अज्ञ व्यक्ति (जिसे उस व्याप्ति का ज्ञान नहीं है) को भी वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उस व्याप्ति का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए था परन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए व्याप्ति को पदार्थों में आरोपित ही शक्ति मानना चाहिए, प्राकृतिक अथवा सहज नहीं। अगले तीन सूत्रों में इसी मत के पोषक तर्क उपस्थित किए गए हैं, जिनका निष्कर्ष यही है कि यदि किसी प्रकार की भी शक्ति को स्वरूप-गत या सहज माना जायगा तो 'शक्तो मल्लः' कहने में पुनरुक्ति का प्रसङ्ग होने लगेगा और तब फिर 'शक्त' इत्यादि विशेषण उसी प्रकार व्यर्थ हो जायँगे जैसे स्वरूपतः या स्वभावतः ही उष्ण अग्नि के लिए 'उष्ण' विशेषण का प्रयोग। इन तर्कों का समाधान ३६ वें सूत्र में किया गया है, जो इस प्रकार है :— 'आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात्'। इसकी व्याख्या करते हुए अनिरुद्ध ने लिखा है कि सिद्धान्ती के अनुसार 'निजशक्ति' पद का स्वरूप-शक्ति (स्वरूपमेव शक्तिः स्वरूपशक्तिः) अर्थ नहीं है। उसका अर्थ 'निजा शक्तिरिति निजशक्तिः' अर्थात् अपनी सहज शक्ति है। अतः शक्ति को स्वरूप से अभिन्न मान कर लगाए गए उपर्युक्त दोष परिहृत हो जाते हैं। फिर जिस आधार पर आरोपित शक्ति के साथ स्थित सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहा जा सकता है, उसी आधार पर वास्तविक या सहज शक्ति के साथ स्थित सम्बन्ध को भी। और जो इसके विरुद्ध पूर्व में यह तर्क उपस्थित किया गया कि शक्ति के वास्तविक होने पर किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष के साथ उसकी उस वास्तविक या सहज शक्ति का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, उसका समाधान यह है कि पदार्थों की अनेक शक्तियाँ होती हैं और सभी का स्वतः ग्रहण असम्भव है, जैसे पिता और पुत्र का पारस्परिक सम्बन्ध वास्तविक होने पर भी बिना बताए दोनों को देखने भर से नहीं जाना जा सकता। तात्पर्य यह कि 'व्याप्ति' पदार्थों की शक्ति के साथ सम्बन्ध का नाम है, चाहे उसे कल्पित माना जाय और चाहे वास्तविक या सहज।

आचार्य पञ्चशिख के पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त उनका अन्य कोई भी मत सांख्य-सूत्रों में नहीं मिलता। हाँ, विज्ञान भिक्षु के सांख्य-भाष्य में एक उद्धरण अवश्य

१. द्रष्टव्य, सांख्यसूत्र-वृत्ति के गार्बे द्वारा सम्पादित संस्करण का अंग्रेजी अनुवाद वाला भाग, पृ० १६५, पाद-टिप्पणी सं० २ :—This is the sense which our two commentators give to the term 'Adheya shakti', differently from—and better than—Vijnanabhikshu..The individuals apprehending a 'vyapti' impose the connection on the two things in question, as the पितृ-पुत्र-सम्बन्ध is imposed on two persons by him who is aware of the relation.

उनके नाम से उद्धृत हुआ है,जो तीनों गुणों के स्वरूप से सम्बद्ध होने के कारण बड़ा महत्त्व रखता है। सांख्य-सूत्र 'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्' [१।१२७] के भाष्य में 'आदि' पद का अर्थ करते हुए विज्ञान भिक्षु ने इस प्रकार लिखा है: – "अत्रादिशब्दग्राह्याः पञ्चशिखाचार्यैरुक्ता, यथा 'सत्त्वं नाम प्रसादलाघवाभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्। एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्। एवं तमोऽपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम्' इति[१]।" इन पंक्तियों में प्रधान के सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीनों गुणों के अनेक रूपों का दिग्दर्शन-मात्र है। प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय में इस पर विशेष विचार किया जायगा।

विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने भी तत्त्वसमास-सूत्रों की स्व-रचित व्याख्या 'तत्त्वयाथार्थ्य-दीपन' में चार श्लोक पञ्चशिख के नाम से उद्धृत किए हैं। ग्रन्थारम्भ में ही उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि तत्त्वसमास की पञ्चशिख-कृत व्याख्या का आधार लेकर ही उन्होंने अपना 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' लिखा है।[२] यदि भावागणेश के इस लेख की प्रामाणिकता मानी जाय तो यह मानना पड़ेगा कि पञ्चशिख ने तत्त्वसमास-सूत्रों की भी एक व्याख्या लिखी थी जो सम्पूर्ण नहीं तो आंशिक रूप में तो अवश्य ही पद्यात्मक थी। इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुये पं० उदयवीर शास्त्री ने स्वकीय ग्रन्थ के ३३५ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है :—"अभी तक हमें ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका जिसके आधार पर यह निश्चित रूप में कहा जा सके कि वर्तमान सूत्र-क्रम के अनुसार इन सूत्रों पर पञ्चशिख की कोई व्याख्या थी। पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत जितने वाक्य अभी तक उपलब्ध हो सके हैं, उनसे यही अनुमान होता है कि पञ्चशिख के ग्रन्थ सांख्य-सिद्धान्तों का आश्रय लेकर स्वतन्त्र रूप में ही लिखे गए होंगे, और उनमें यथा-स्थान इन सब सूत्रों के व्याख्यान भी समाविष्ट होंगे। पञ्चशिख के व्याख्यान-ग्रन्थ इसी प्रकार के होंगे जैसा कि कणाद के वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद-भाष्य है। पीछे अन्य आचार्यों ने उन्हीं व्याख्या-ग्रन्थों के आधार पर सूत्रों के क्रम का अनुरोध करके अपने व्याख्यानों को लिखा।"

ये उद्धरण इस प्रकार हैं :—

(१) पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥[३]

(२) तत्त्वानि यो वेदयते यथावद् गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्घो गुणांस्तु भुङ्क्ते न गुणैः स भुज्यते।[४]

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य-सूत्र-भाष्य, पृ० १०८।

२. द्रष्टव्य भूमिका-श्लोक ३ :—समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च। भावागणेशः कुरुते तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम्॥

३. द्रष्टव्य, पृ० ६१। 'पुरुषः' इस तृतीय सूत्र की व्याख्या में प्रस्तुत श्लोक उद्धृत किया गया है।

४. द्रष्टव्य, पृ० ७२। यह श्लोक 'अध्यात्मम्', 'अधिभूतम्', तथा 'अधिदैवम्' [७-९], इन तीन सूत्रों के सम्मिलित व्याख्यान में उद्धृत किया गया है।

इन दोनों ही उद्धरणों में समस्त तत्त्वों के ज्ञान का फल बताया गया है। इनका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अध्यात्म (त्रयोदश करणवर्गः—बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ), अधिभूत (करणों के त्रयोदश विषय) तथा अधिदैव (करणों के त्रयोदश देवता; ये क्रमशः इस प्रकार हैं :—ब्रह्मा, रुद्र, चन्द्र, दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, पृथ्वी, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र तथा प्रजापति) इत्यादि समस्त गुणात्मक तत्त्वों को स्वरूप-भूत चित् तत्त्व से पृथक् जान लेता है, वह गुणों के वशीभूत न होकर, प्रत्युत स्वयं उन्हें ही वशीभूत करके मुक्त हो जाता है।

(३) प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते ॥[1]

अष्ट प्रकृतियों [अव्यक्त, महत्, अहङ्कार तथा पञ्चन्मात्र] में आत्माभिमान 'प्राकृत' बन्ध है, प्रकृति के शब्दादि विकारों में मन का सङ्ग या राग 'वैकारिक' बन्ध है, एवं कामोपहत गृहस्थादिकों का दक्षिणा देने से होने वाला बन्ध 'दाक्षिण' है। दक्षिणादि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले शुभ भोग बन्धन ही तो हैं। इनसे मुक्ति हुए विना कैवल्य असम्भव ही है।

(४) आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्क्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम् ॥[2]

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ज्ञानोद्रेक (तत्त्वज्ञान) द्वारा 'प्राकृत' बन्ध या अविद्या से मोक्ष मिलता है, रागक्षय द्वारा 'वैकारिक' बन्ध से मोक्ष मिलता है, तथा धर्माधर्म के क्षय द्वारा 'दाक्षिण' बन्ध से मोक्ष मिलता है। ये तीनों गौण मोक्ष हैं। इनकी सिद्धि होने पर ही दुःखत्रयनिवृत्ति रूप मुख्य मोक्ष की सिद्धि होती है।

पूर्वोक्त समस्त उद्धरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी उद्धरण पञ्चशिख के हो सकते हैं। भावागणेश द्वारा अपनी टीका में पञ्चशिख के नाम पर उद्धृत उपर्युक्त चारों श्लोक 'तत्त्वसमास-सूत्रों' की प्राचीनतम टीका 'क्रमदीपिका' में भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त उसमें ऐसे ही तेरह पद्य और भी हैं जिनके पञ्चशिख-कृत होने की सम्भावना की जा सकती है। पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रंथ के पृष्ठ ३३६ पर उन्हें एकत्र कर दिया है और 'पञ्चशिख-सन्दर्भों का संग्रह' शीर्षक के अन्तर्गत पृ० ४८३ पर 'इनके अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित श्लोक और हैं जिनको हमने अनुमानतः पञ्चशिख का समझा है', इन शब्दों के साथ फिर उद्धृत किया है। इन श्लोकों के सम्बन्ध में केवल इतना विवक्षित है कि इनमें ऐसी कोई बात नहीं कथित है जिसका पञ्चशिख के नाम से पूर्व दिए गए किसी वचन से विरोध हो। परन्तु केवल इतने ही आधार पर उन्हें पञ्चशिख-वचन मानने पर ऐसे और भी अनेक वचनों को पञ्चशिख का मानना पड़ेगा और फिर इस विषय में कोई इयत्ता नहीं निर्धारित

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ८२। यह श्लोक 'त्रिविधो बन्धः' इस इक्कीसवें सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया गया है।

२. द्रष्टव्य, वही पृ० ८२। यह श्लोक २२वें सूत्र 'त्रिविधो मोक्षः' के व्याख्यान में उद्धृत किया गया है। योगसूत्र २।१८ के योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु ने भी इसे पञ्चशिख का लिखा है।

की जा सकेगी। तात्पर्य यह है कि उक्त तेरहों श्लोक होने को तो पञ्चशिख के हो सकते हैं परन्तु किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

महाभारत के भी कई स्थलों में पञ्चशिख का उल्लेख है। शान्तिपर्व के २१८-१९ अध्यायों में पञ्चशिख का मिथिला के राजा 'जनदेव' जनक के साथ हुए संवाद का वर्णन है। इस संवाद को 'पुरातन इतिहास' कहा गया है। इसी पर्व के ३१९ वें अध्याय में भी मिथिला के किसी राजा जनक के साथ पञ्चशिख के संवाद की चर्चा है। आगे के ३२० वें अध्याय में पञ्चशिख-शिष्य धर्मध्वज जनक के साथ संन्यासिनी सुलभा का लम्बा संवाद है। ये दोनों संवाद भी 'पुरातन इतिहास' कहे गए हैं। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इन संवादों के पञ्चशिख एवं जनक एक-एक ही व्यक्ति हैं अथवा अनेकानेक ? जनक के सम्बन्ध में विचार इसके बाद किया जायगा। पञ्चशिख के सम्बन्ध में यहाँ इतना अवश्य वक्तव्य है कि समस्त संवादों के पञ्चशिख एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं क्योंकि जहाँ एक ओर प्रथम संवाद के पञ्चशिख को स्पष्ट ही आसुरि-शिष्य कहा गया है [अ० २१८।१०] और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों [अ० २१९] का प्रसिद्ध सांख्याचार्य पञ्चशिख के पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्तों के साथ प्रायेण सामञ्जस्य भी है, वहाँ दूसरी ओर सुलभा जनक-संवाद में जनक ने अपने पूज्य गुरु पञ्चशिख को 'सांख्य-मुख्य', तथा त्रिविध मोक्ष–जो केवल सांख्य में ही प्रसिद्ध है—का अपने प्रति उपदेष्टा कहा है :—'तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः। श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद्धि चालितः'॥ [३२०।२७]। परन्तु इसके विपरीत डा० कीथ का कथन[१] है कि 'सांख्यशास्त्र के प्रसिद्ध पञ्चशिख तथा महाभारत के पञ्चशिख, दोनों एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते। कम से कम महाभारत के पञ्चशिख, जैसा कि वे उसमें चित्रित या प्रदर्शित किए गए हैं, ने निस्सन्देह किसी एक भी सिद्धान्त का उपदेश नहीं दिया और सांख्य-सिद्धान्त का तो कदापि नहीं। अतएव हमारे सामने दो ही सम्भावनायें बच जाती हैं। या तो यह माना जाय कि 'पञ्चशिख' किसी प्राचीन ऋषि का नाम था, जो प्रारम्भ में देव पुरुष थे और जिनको कपिल की ही भाँति अज्ञात कारणों से कुछ सिद्धान्त आरोपित कर दिए गए, या फिर यह माना जाय कि परवर्ती काल के महाभारत में सांख्य-योग सम्प्रदाय के उच्च कोटि के वास्तविक आचार्य का उल्लेख हुआ है जिन्हें उसमें मनमाने सिद्धान्त आरोपित कर दिए गए, पर उन सिद्धान्तों की पारस्परिक या आन्तरिक संगति की चिन्ता नहीं की गई और उनकी उस आचार्य के वास्तविक सिद्धान्तों के साथ संगति की तो और भी नहीं।'

डा० कीथ का सारा कथन असंगत है। जब शान्ति पर्व का सारा २१९ वाँ अध्याय पञ्चशिख के उपदेशों से भरा है जिसके कारण उसका नाम 'पञ्चशिख-वाक्य' है, तब डा० कीथ का यह कथन कि 'कम से कम महाभारत के पञ्चशिख ने निस्सन्देह किसी एक भी सिद्धान्त का उपदेश नहीं दिया' अनर्गल ही प्रतीत होता है। जैसा आगे के विवरण से स्पष्ट होगा, यह उपदेश सांख्य के मूल सिद्धान्तों के विषय में है, अतः डा० कीथ का यह कथन भी संगत नहीं है कि महाभारत के पञ्चशिख ने सांख्य-सिद्धान्तों का तो कदापि उपदेश नहीं दिया। हाँ, इनकी निरूपण-शैली अवश्य भिन्न है। सच बात यह है कि इन संवादों

१. द्रष्टव्य, Sankhya System, पृ० ४८।

को लेखक ने साक्षात् सुन कर नहीं लिखा है। उसने पञ्चशिख, जनक आदि के सम्बन्ध में जो कुछ परम्परा या जनश्रुति से जाना होगा, अथवा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किन्हीं आधारों से जो कुछ समझा होगा, उसी का वर्णन संवाद रूप में किया होगा। इसलिए ऐसा सम्भव हो सकता है कि इन प्रकरणों में कोई ऐसा भी विचार हो जो पञ्चशिख के नाम से उपलब्ध सिद्धान्तों अथवा विचारों में न प्राप्त हो, और यह सत्य भी है। इसका एक और कारण यह भी है कि महाभारत के अन्तिम रूप [शान्ति पर्व, जिनमें ये संवाद उपलब्ध होते हैं, प्रायेण इसी के अन्तर्गत है।] धारण करने के समय तक वेदान्त सम्प्रदाय पर्याप्त प्रचलित होकर सांख्य को प्रभावित करने लगा था। यही कारण है कि उस काल में लिखे गए सांख्य-सिद्धान्तों के जो भी वर्णन तात्कालिक महाभारत, स्मृति, पुराण आदि साहित्य में उपलब्ध होते हैं, वे सभी वेदान्त-सिद्धान्तों से प्रभावित एवं मिश्रित हैं। परन्तु जहाँ यह बात सत्य है, वहाँ यह भी सत्य है कि सांख्य के मूल-भूत सिद्धान्तों में प्रायेण कोई अन्तर नहीं है। यह तथ्य पूर्वोक्त दोनों संवादों में आए हुए सिद्धान्तों के निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायगा।

२१९वें अध्याय में जनदेव जनक के प्रश्न के उत्तर में पञ्चशिख ने इस प्रकार उपदेश दिया है :—

यह मनुष्य शरीर इन्द्रिय और चित्त का समाहार-मात्र है। तात्पर्य यह है कि अनादि अज्ञान के कारण असंग और अपरिणामी चित् पुरुष का परिणामी तथा अचित् चित्त या बुद्धि एवं उसके शरीरेन्द्रिय आदि कार्यों के साथ अनादि संयोग होने से 'मनुष्य' नामक समाहार बनता है। ज्ञान होने से न तो इसका अन्त अभाव में होता है और न किसी भाव में, केवल अनादि संयोग के नष्ट हो जाने पर यह समाहार नष्ट हो जाता है और अपने विशुद्ध चित् रूप में पुरुष प्रतिष्ठित हो जाता है।[1] यह शरीर भी एक नहीं, अपितु अनेक तत्त्वों का समाहार है। ये तत्त्व पाँच हैं :—आकाश, वायु, तेजस्, जल और पृथिवी।[2] इन्द्रियाँ भी पाँच हैं :— श्रवण, स्पर्शन (त्वक्), जिह्वा, चक्षु तथा घ्राण।[3] मूर्त या रूपी द्रव्यों के साथ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन इन्द्रियों के ग्राह्य विषय हैं।[4] इस समस्त गुण-समाहार को आत्म-रूप से देखते हुए पुरुष का असद् दृष्टि से होने वाला अनन्त दुःख शान्त नहीं होता।[5] द्रष्टा आत्मा या पुरुष में देखा जाने वाला दृश्य अनात्मा ही है क्योंकि द्रष्टा या दृक्-शक्ति के दृश्य होने से स्वतो-विरोध होता है; जो द्रष्टा है, वही दृश्य कैसे हो सकता है ? इसी दुःखात्मक अनात्मा के आरोप से दृक् आत्मा अपने को दुःखी मानता है। अतः इस सब का त्याग ही दुःख का सम्यग्वध अर्थात् आत्यन्तिक विनाश है।[6] पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन, प्राण तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय [हस्त, पाद, उपस्थ, पायु तथा वाक्] स्व-स्व विषयों [ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध, तथा कर्मेन्द्रियों के

१. शान्ति पर्व २१९।६
२. " " २१९।८
३. " " २१९।१०
४. " " २१९।१२
५. " " २१९।१४
६. " " २१९।१५-१६

विषय ग्रहण, गमन, प्रजनन-आनन्द, मल-त्याग एवं वचन आदि व्यापारों] के सहित त्याज्य हैं।[1] यह समस्त अनात्म पदार्थ मूलतः सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुणों की ही उपज है। इनमें सत्त्व के लक्षण या कार्य प्रहर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख, शान्ति आदि हैं। रजस् के लिङ्ग अतुष्टि, परिताप, लोभ, अक्षमा इत्यादि हैं। इसी प्रकार तमस् के लिङ्ग अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न, तन्द्रिता (आलस्य) इत्यादि हैं।[2]

इस संक्षिप्त विवरण से भी यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि महाभारत-स्थित पञ्चशिख-उपदेश तथा सांख्य-योग दर्शनों के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध पञ्चशिख-वचनों में प्रतिपादित सिद्धान्त प्रायेण एक ही हैं। ऐसी स्थिति में डा० कीथ इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों के एतद्-विरुद्ध लेख भ्रमात्मक एवं असत् हैं। इस प्रकार उभयत्र प्रतिपादित सिद्धान्तों की एकता के आधार पर आचार्य पञ्चशिख एक ही व्यक्ति ठहरते हैं, दो नहीं।

धर्मध्वज जनक

अभी-अभी पञ्चशिख एवं मिथिला-नृपति 'जनदेव' जनक के पुरातन संवाद की चर्चा की जा चुकी है। शान्ति पर्व के ३१६ वें अध्याय में भी पञ्चशिख एवं किसी जनक का संवाद आया हुआ है।[3] इसके बाद के ३२० वें अध्याय में फिर एक लम्बा संवाद है जो संन्यासिनी सुलभा एवं मैथिल 'धर्मध्वज' जनक के बीच हुआ था।[4] इस जनक ने स्वयं ही एक स्थल पर अपने को पञ्चशिख का शिष्य एवं सांख्य-ज्ञान में पारङ्गत कहा है।[5] इस बात से पञ्चशिख-शिष्य धर्मध्वज नामक जनक के सांख्याचार्य होने की सम्भावना की जा सकती है। ७० वीं सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' व्याख्या में भी सांख्याचार्य पञ्चशिख के साक्षात् शिष्यों में 'जनक' नाम आया हुआ है।[6] यह 'जनक' महाभारत के 'धर्मध्वज' जनक ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि उक्त संवाद में उन्होंने सुलभा से यह बात स्पष्ट कही है कि उन्होंने अपने गुरु सांख्याचार्यों में मुख्य परम ज्ञानी पञ्चशिख से त्रिविध मोक्ष का ज्ञान प्राप्त किया। यह त्रिविध मोक्ष पीछे पञ्चशिख-प्रकरण में उद्धृत 'प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च। दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते॥' इस पञ्चशिख-वचन में स्पष्ट किया जा चुका है। इससे सांख्याचार्य पंचशिख का त्रिविध मोक्ष के उपदेश के साथ सम्बन्ध सर्वथा स्पष्ट है। इस प्रकार यह बात निश्चित है कि धर्मध्वज जनक के गुरु प्रसिद्ध सांख्याचार्य पंचशिख ही थे।

पं० उदयवीर शास्त्री का मत है कि धर्मध्वज जनक का ही दूसरा नाम 'जनदेव' था।[7]

---

१. द्रष्टव्य, शान्तिपर्व २१६।२०-२३।

२. द्रष्टव्य, २१६।२६-३१।

३. द्रष्टव्य, ३१६।३-४॥

४. द्रष्टव्य, ३२०।४ :—संन्यासफलिकः कश्चिद्बभूव नृपतिः पुरा। मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः॥

५. द्रष्टव्य, ३२०।२४-२५ :—पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः॥ सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा। त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः॥

६. तेन च बहुधा कृतं तन्त्रं बहुभ्यो जनकवसिष्ठादिभ्यः समाख्यातम्।—युक्तिदीपिका।

७. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४८५।

महाभारत के एतद्विषयक समस्त लेखों के आधार पर तीन सम्भावनायें प्रतीत होती हैं :— एक तो यह कि दोनों जनक तथा उनके उपदेशक पंचशिख भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे; दूसरी यह कि दोनों जनक तथा दोनों के उपदेशक पंचशिख एक-एक ही व्यक्ति हैं, तीसरी यह कि दोनों जनक दो व्यक्ति थे और पृथक्-पृथक् समयों में हुए थे किन्तु उन के उपदेशक आचार्य पंचशिख एक ही व्यक्ति थे। इनमें से द्वितीय को शास्त्री जी मान्यता देते हैं। पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों पंचशिख एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। अतः प्रथम संभावना मान्य नहीं हो सकती। द्वितीय भी सम्भावना इसलिए मान्य नहीं हो सकती क्योंकि यद्यपि दोनों पंचशिखों के एक होने के आधार मिलते हैं, तथापि दोनों जनकों के एक होने का कोई आधार नहीं मिलता। अतएव एकमात्र यही संभावना की जा सकती है कि दो विभिन्न समयों में उत्पन्न जनदेव और धर्मध्वज नाम के दो पृथक्-पृथक् विदेह-राजाओं को एक ही पंचशिख, जिनकी आयु सहस्रवार्षिक सत्र का अनुष्ठाता कहे जाने से बड़ी लम्बी अनुमान की जाती है,[१] ने उपदेश दिया होगा। यद्यपि इस सम्भावना के विरुद्ध भी एक अन्य तथ्य आ पड़ता है और वह यह है कि निमिवंशोत्पन्न विदेह राजाओं की विष्णु और भागवत पुराणों में दी गई सूचियों में से किसी में भी जनदेव नामक राजा की चर्चा नहीं है, तथापि यह भी सम्भव है कि वह अधिक प्रसिद्ध न हुआ हो और इसलिए उसका नाम उक्त सूचियों में न सम्मिलित किया गया हो। ऐसी कल्पना निराधार भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि दोनों सूचियों के कुछ नाम एक-दूसरे से भिन्न हैं जिससे यह सूचित होता है कि इन नाम वाले राजाओं के अतिरिक्त राजा भी हो सकते हैं जिनका नाम दोनों में से किसी में भी न आया हो। पार्जिटर महोदय भी अपने 'एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रडिशन' नामक ग्रन्थ में दोनों को पृथक्-पृथक् व्यक्ति तथा उनके उपदेशक पंचशिख को एक ही व्यक्ति मानते प्रतीत होते हैं।[२] जो कुछ भी सत्य हो, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि धर्मध्वज जनक के पंचशिख-शिष्य एवं सांख्याचार्य होने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन एवं विश्वसनीय है।

पार्जिटर महोदय ने आसुरि को ई० पू० अष्टम शताब्दी के आदि में, पंचशिख को मध्य में, एवं, निरुक्तकार यास्क को उसके अन्तिम पाद में रक्खा है।[३] पंचशिख के इस समय के समर्थन में उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि चूंकि बौद्ध आख्यानों में पंचशिख को बुद्ध से बहुत पूर्व का बताया गया है, अतः इस समय की उनके साथ संगति बैठती है। इस प्रकार पञ्चशिख के शिष्य धर्मध्वज जनक का समय भी पार्जिटर महोदय के मत से ई० पू० अष्टम शताब्दी का मध्य अथवा तृतीय पाद ही होना चाहिए। प्रश्न यह है कि

---

१. द्रष्टव्य, शान्तिपर्व २१८।१० :—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्। पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम्॥

२. द्रष्टव्य, पृ० ३२६ :—(Panchashikha) went to Janaka Janadeva of Mithila, and the king gave up his hundred teachers and followed Panchashika, who taught him Moksha according to Sankhya (Maha.XII·218); and Janaka Dharmadhvaja also was his disciple (Maha.XII·320).

३. द्रष्टव्य, पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ का पृ० ३३२।

पार्जिटर महोदय को यह कैसे ज्ञात हुआ कि भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व का समय दो ही सौ वर्ष होगा, अधिक नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि चूँकि महाभारत युद्ध का समय पार्जिटर महोदय ई० पू० नवीं शताब्दी मानते हैं[१] जो तात्कालिक वेदव्यास और उन के पिता पराशर का भी समय होगा, अतएव पराशर-सगोत्र[२] पञ्चशिख के समय को अष्टम शताब्दी में निर्धारित करना उन्हें स्वाभाविक और समीचीन ही प्रतीत हुआ होगा। फिर पंचशिख के इसी समय के साथ संगति बैठाने के लिए बौद्ध आख्यानों में कथित उनका बुद्ध से बहुत पूर्व का समय पार्जिटर महोदय द्वारा दो ही सौ वर्ष पूर्व मान लिया गया।

पार्जिटर महोदय के इस मत में कई गड़बड़ियाँ हैं। एक तो महाभारत-युद्ध को ई० पू० नवीं शताब्दी में मानना ही गलत है। दूसरे, इसे ठीक मान लेने पर भी उससे दो सौ वर्ष पीछे पंचशिख का समय मानना नितान्त अनुचित है। इसके पूर्व यह बात स्पष्ट कही जा चुकी है कि पंचशिख के साथ होने वाले सारे संवादों को महाभारत में अत्यन्त प्राचीन इतिहास कहा गया है। ऐसी स्थिति में पंचशिख का काल महाभारत-काल से अत्यन्त प्राचीन होना चाहिए, न कि उससे दो सौ वर्ष बाद। रही पंचशिख के पराशर-सगोत्र होने की बात, उसके सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि महाभारत-कालीन व्यास के पिता पराशर से अनेक पीढ़ी पूर्व एक और पराशर हुए थे। स्वयं पार्जिटर महोदय ने भी ऋषि-कुलों की तालिका में अर्वाचीन पराशर को किसी 'सगर' ऋषि का पुत्र तथा प्राचीन पराशर को सूर्यवंशी राजा सुदास के कुलगुरु वशिष्ठ के पुत्र 'शक्ति' का पुत्र माना है। पंचशिख का इन्हीं प्राचीन पराशर का सगोत्र होना कुछ संगत हो सकता है, क्योंकि कपिल मुनि के समकालिक महाराज सगर से बारहवीं पीढ़ी में महाराज सुदास हुए थे और इनसे बारहवीं पीढ़ी में भगवान् राम हुए थे जिनके समकालिक सीता-जनक 'सीरध्वज' के छोटे भाई[३] कुशध्वज के पुत्र धर्मध्वज रहे होंगे। महाभारत में इन्हीं रामायणकालीन धर्मध्वज के गुरु रूप में वर्णित पंचशिख महाभारत के भी बाद कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार पार्जिटर महोदय का मत नितान्त भ्रामक है। वस्तुतः परमायु योगी पंचशिख का समय रामायण-काल से बहुत अधिक पूर्व से लेकर रामायण-कालीन धर्मध्वज के काल तक माना जाना चाहिए। धर्मध्वज के समय में वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके रहे होंगे।

वसिष्ठ

सांख्य की युक्तिदीपिका टीका से पीछे उद्धृत हुए वाक्य से पंचशिख के अनेक शिष्यों के होने की सम्भावना प्रकट होती है। उनमें से दो के नाम दिए गए हैं। एक तो 'जनक' थे जिनका विवरण विगत पृष्ठों में दिया जा चुका है। दूसरे 'वसिष्ठ' थे। प्राचीन साहित्य से एक से अधिक वसिष्ठों का पता चलता है। वैवस्वत मनु के पुत्र महाराज इक्ष्वाकु के कुलगुरु 'वसिष्ठ' कहे जाते थे।[४] उन से २७वीं पीढ़ी[५] में उत्पन्न महाराज त्रिशङ्कु के

---

१. द्रष्टव्य, वही पृ० ३२५।

२. द्रष्टव्य, महाभारत का पीछे उद्धृत श्लोक ३२०।२४।

३. द्रष्टव्य, विष्णु पुराण ४।५।२९। किन्तु भागवत ९।२३।१९ के अनुसार वे सीरध्वज के पुत्र थे।

४. द्रष्टव्य, विष्णुपुराण ४।२।१७:--इक्ष्वाकुकुलाचार्योवशिष्ठस्तत्प्रोक्षणाय चोदितः प्राह। २।१।१।

५. द्रष्टव्य, विष्णुपुराण, अंश ४, अ० २-३।

सदेह स्वर्ग जाने के लिए यज्ञ कराने की कुल-पुरोधा वसिष्ठ जी से प्रार्थना करने का उल्लेख है।[1] उनसे ३२वीं पीढ़ी[2] में महाराज दशरथ हुए जिनके अनेक यज्ञादि कार्यों के अवसर पर भी वसिष्ठ जी की उपस्थिति का उल्लेख रामायण[3] में है। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि इक्ष्वाकु से लेकर दशरथ के समय तक एक ही वसिष्ठ मुनि सूर्य-वंशी राजाओं के पुरोहित रहे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'वसिष्ठ' नाम के कई व्यक्ति देश के इतिहास में हो चुके हैं। तब प्रश्न यह है कि सांख्याचार्य वसिष्ठ कौन थे ?

सांख्यशास्त्र का उपदेश देने वाले एक वसिष्ठ का उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व[4] में आया है। वहाँ इन्हें 'मैत्रावरुणि' वसिष्ठ कहा गया है। अध्याय ३०२ से लेकर ३०८ तक पूरे सात अध्यायों में इन वसिष्ठ के साथ 'कराल' जनक का संवाद दिया गया है। इसे पुरातन इतिहास कहा गया है। वाल्मीकि रामायण[5] और विष्णु पुराण[6] आदि में यह कथा आई है कि इक्ष्वाकु के बारहवें पुत्र और कुल-पुरोहित ब्रह्म-पुत्र वसिष्ठ में परस्पर बिगाड़ (अनबन) होने के कारण दोनों एक-दूसरे को शाप देकर मृत्यु को प्राप्त हुए। फिर ब्रह्मा जी के आशीर्वाद से वसिष्ठ जी ने मित्र और वरुण के वीर्य से पुनः शरीर धारण किया। इसी से वे मैत्रावरुणि कहलाये। उधर राजा निमि के मृतक शरीर को अरणि से मथ कर मुनि जनों ने एक कुमार उत्पन्न किया जो मथने से उत्पन्न होने के कारण 'मिथि' 'जनक' कहलाया। रामायण की कथा में यह भी कहा गया है कि पुनः उत्पन्न हुए वसिष्ठ को महाराज इक्ष्वाकु ने सूर्यवंश के कल्याण के लिए पुनः पुरोहित चुन लिया। महाभारत के ऊपर उद्धृत प्रसङ्ग को 'मैत्रावरुणि' वसिष्ठ और 'कराल' जनक का संवाद कहा गया है। इसलिए पं० उदयवीर शास्त्री का अनुमान है कि यह 'कराल' जनक निमि का ही पुत्र था।[7] पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ में कराल जनक को द्वितीय निमि का पुत्र लिखा है, और उसे भारत-युद्ध से ४०-५० वर्ष पूर्व का बताया है। इसे काटते हुये शास्त्री जी ने आगे लिखा है कि 'रामायण के उपर्युक्त प्रसङ्ग के अनुसार जनक-वंश के आद्य पुरुष 'निमि' के साथ ही वसिष्ठ (ब्रह्मसुत) का बिगाड़ हुआ, यही वसिष्ठ जन्मान्तर में मैत्रावरुणि वसिष्ठ हुआ। रामायण के उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि निमि-शाप से वसिष्ठ का देह छूट जाने पर अल्प काल के अनन्तर ही उसे देहान्तर की प्राप्ति हो गई थी। रामायण के इसी प्रसङ्ग में प्रथम निमि को इक्ष्वाकु का बारहवाँ पुत्र लिखा है।...... ऐसी स्थिति में मैत्रावरुणि वसिष्ठ और कराल जनक का संवाद भारत-युद्ध से केवल ४०-५० वर्ष पूर्व माना जाना कैसे सम्भव है ? इसके अतिरिक्त महाभारत में जहाँ इस संवाद का उल्लेख आया है, वहाँ इसको पुरातन इतिहास लिखा है। यह इति-

१. द्रष्टव्य, वाल्मीकि रामायण, बाल० अ० ५७।१०-१२।
२. द्रष्टव्य, विष्णु पुराण, अंश ४, अ० ४।
३. द्रष्टव्य, बालकाण्ड अ० १०, १४ इत्यादि।
४. द्रष्टव्य, अध्याय ३०२।
५. द्रष्टव्य, उत्तरकाण्ड, अध्याय ५५-५६।
६. द्रष्टव्य, चतुर्थ अंश, अ० ५।
७. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४८७।

हास भीष्म पितामह अपनी शस्त्र-क्षत अवस्था में युधिष्ठिर को सुना रहे हैं। भीष्म की आयु उस समय दो सौ वर्ष के लगभग थी। यदि उक्त संवाद की घटना भारत-युद्ध से ४०-५० वर्ष पूर्व की ही हो, तो यह निश्चित है कि वह भीष्म के जीवन-काल की ही घटना थी। ऐसी स्थिति में उसे भीष्म पितामह पुरातन इतिहास कैसे कहते ?'[१]

शास्त्री जी ने पं० भगवद्दत्त जी के मत का जो खण्डन किया है, वह सर्वथा यथार्थ और समीचीन है। परन्तु स्वयं शास्त्री जी का मत भी पं० भगवद्दत्त जी के मत की भाँति ही अनुपयुक्त प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि शास्त्री जी ने एक ओर तो पञ्चशिख के शिष्य वसिष्ठ को 'मैत्रावरुणि', जो पुनः महाराज इक्ष्वाकु के कुल-पुरोहित बने तथा जिनका इक्ष्वाकु के बारहवें पुत्र 'निमि' के पुत्र कराल जनक के साथ संवाद हुआ, माना है, और दूसरी ओर उन्हीं पञ्चशिख के शिष्य 'धर्मध्वज' जनक को जानकी जी के पिता महाराज 'सीरध्वज' जनक के छोटे भाई कुशध्वज का पुत्र माना है, जो सर्वथा असम्भव है। मैत्रावरुणि के समकालिक महाराज इक्ष्वाकु तथा धर्मध्वज के समकालिक महाराज रामचन्द्र जी में साठ पीढ़ियों का अन्तर है। ऐसी स्थिति में दोनों एक ही आचार्य के शिष्य कैसे हो सकते हैं ? शास्त्री जी ने लिखा है कि 'प्रस्तुत संवाद में वसिष्ठ मैत्रावरुणि था, यह निश्चित है; इसका समय त्रेता युग के प्रारम्भिक भाग में माना जा सकता है।'[२] इक्ष्वाकु से २८वीं पीढ़ी में होने वाले सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र एवं उनके पिता त्रिशङ्कु, सत्ययुग में हुये थे, यह बात सर्वथा प्रसिद्ध है। फिर इक्ष्वाकु के समकालिक मैत्रावरुणि का समय त्रेता का आरम्भ कैसे हो सकता है ? त्रिशंकु से भी नवीं पीढ़ी में होने वाले महाराज सगर के समय में वर्तमान कपिल मुनि का समय अहिर्बुध्न्य संहिता इत्यादि के अनुसार त्रेता युग का आरम्भ था।[३] इससे स्पष्ट है कि 'मैत्रावरुणि' वसिष्ठ का समय त्रेता का आरम्भ कदापि नहीं हो सकता, और यदि हो भी तो भी काम नहीं बनता क्योंकि महाराज सगर से २५ वीं पीढ़ी में होने वाले महाराज रामचन्द्र के समकालिक 'धर्मध्वज' जनक के गुरु पञ्चशिख अपने गुरु आसुरि के भी गुरु भगवान् कपिल के समकालिक [त्रेता के आरम्भ में होने के कारण] 'मैत्रावरुणि' वसिष्ठ के गुरु कैसे हो सकते हैं ? यदि द्वितीय असम्भावना को दूर करने के लिए यह कहा जाय कि अत्यधिक लम्बी आयु वाले पञ्चशिख अपने गुरु आसुरि के भी गुरु कपिल मुनि के समकालिक थे, इस प्रकार वे समकालिक मैत्रावरुणि वसिष्ठ के गुरु हो सकते हैं, तो प्रथम असम्भावना तो इस मत को अमान्य बना ही देती है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समकालिक वसिष्ठ सगर और कपिल के भी समकालिक किसी भी प्रकार से नहीं हो सकते।

तब फिर पञ्चशिख-शिष्य वसिष्ठ कौन हो सकते हैं ? पीछे 'धर्मध्वज' जनक के प्रकरण में सगर से बारहवीं पीढ़ी में होने वाले महाराज सुदास के समकालिक वसिष्ठ की चर्चा की जा चुकी है। सुदास से बारहवीं पीढ़ी में रामचन्द्र जी थे जिनके समकालिक 'धर्मध्वज' थे। यही वसिष्ठ पञ्चशिख के शिष्य हो सकते हैं। पञ्चशिख का अपनी सहस्रों वर्ष

---

१. द्रष्टव्य वही, पृ० ४८७-८८।

२. द्रष्टव्य, पृ० ४८८ का अन्तिम पैरा।

३. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ का तृतीय अध्याय।

की अत्यधिक लम्बी आयु के प्रारम्भिक भाग में आसुरि का शिष्य होना, मध्य भाग में सुदास के समकालिक वसिष्ठ का गुरु होना एवं अन्तिम भाग में 'धर्मध्वज' का गुरु होना सम्भव है। रही बात इनके 'मैत्रावरुणि' होने की, इसका इसके अतिरिक्त और कोई समाधान नहीं दिखाई पड़ता कि इसे भ्रम माना जाय। पुराणादि में अंकित प्राचीन इतिहास में नाम-साम्य के कारण उत्पन्न ऐसे अनेक भ्रमों का पार्जिटर महोदय द्वारा उल्लेख किया गया है।[1] और तो और, अनेकों वसिष्ठों के विषय में भी होने वाले भ्रम का उल्लेख उन्होंने किया है।[2] इस प्रकार इस बात की बहुत संभावना है कि महाभारत में सुदास के समकालिक वसिष्ठ, जो पञ्चशिख के शिष्य रहे हों, को नाम-साम्य से उत्पन्न भ्रम के कारण इक्ष्वाकु और निमि के समकालिक वसिष्ठ मुनि का 'मैत्रावरुणि' नाम दे दिया गया हो।

वसिष्ठ ने 'कराल' जनक को जो उपदेश दिया है, वह मूलतः सांख्य शास्त्र के सिद्धान्तों का ही प्रतीत होता है। इतनी बात अवश्य है कि सांख्य का महाभारतीय विवरण स्थल-स्थल पर बाद के निरीश्वर सांख्य से थोड़ा बहुत भिन्न है। पर अधिक महत्त्व-पूर्ण अतः स्मरणीय बात यह है कि प्राचीनतम काल में सांख्य के कई सम्प्रदाय थे जिनमें मूलभूत सिद्धान्तों के विषय में भी मत-भेद था, जैसे कुछ सम्प्रदायों में मूल प्रकृति एक मानी जाती थी, कुछ में प्रत्येक पुरुष के भेद से भिन्न-भिन्न; कई में इन्द्रियाँ आहंकारिक मानी जाती थीं परन्तु एकाध में भौतिक। महाभारत के विभिन्न संवादों में उपलब्ध सांख्य के वर्णनों में ये तथा इसी प्रकार के अन्य भेद भी लक्षित होते हैं। वसिष्ठ एवं करालजनक के बीच हुए संवाद में वर्णित सांख्य महाभारत के ही शब्दों में संक्षेपतः इस प्रकार का है :—

परमध्यात्मकुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम्।
मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः॥ [अ० ३०२।९]
स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्बणम्।
पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा॥१०॥
भगवन् श्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम्।
यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः॥११॥
यच्च तत् क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत्।
यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम्॥१२॥

वसिष्ठ उवाच

युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम्।
दशकल्पशतावृत्तमहस्तद् ब्राह्ममुच्यते॥१४॥

१. द्रष्टव्य, ऐन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रैडिशन, पृ० ६४-६६।

2. 'Similary rsis of the same name were confused. Thus the first Vishvamitra is wrongly called 'Bharatarshabha' in the story of Shunhshepa........Again the Ramayana wrongly identifies the Vishvamitra of Rama's time with the first Vishvamitra. Similarly the Vasisthas, of whom there were many, were often confused until at length they were all regarded as one who was 'chirajivin'.

रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यान्ते प्रतिबुद्‌ध्यते ।
सृजत्यनन्तकर्माणं महान्तं भूतमग्रजम् ॥१५॥
मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शम्भुः स्वयम्भुवः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् ॥१६॥
हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः ॥१८॥
एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना ।
अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहङ्कृतम् ॥२१॥
अव्यक्ताद् व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम् ।
महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥२२॥
भूतसर्गमहङ्कारात्तृतीयं विद्धि पार्थिव ।
अहङ्कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥२४॥
वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥२५॥
एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम् ।
पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥२६॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम् ।
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च ॥२७॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
सम्भूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥२८॥
एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते ।
यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥२९॥
कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम् ।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः ॥३५॥
एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत् ।
जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्तादव्यक्तसंज्ञकम् ॥३६॥
पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ।
तत्त्वसंश्रयणादेतत्तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥३८॥
तमस्सत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु ।
क्षीयते प्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ॥४३॥
तामसा निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ ।
सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥४७॥
अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः ।
अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम् ॥३०६।३७
सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम् ।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥४२॥

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ।।४३।।

याज्ञवल्क्य

महाभारत के शान्ति पर्व में याज्ञवल्क्य एवं दैवराति जनक का भी संवाद आया है। यह संवाद विगत वसिष्ठ-करालजनक-संवाद के ठीक बाद ही रक्खा गया है। यह संवाद ३१० से लेकर ३१८ तक नौ अध्यायों में समाप्त होता है। दैवराति जनक ने प्रकृति इत्यादि के विषय में जो प्रश्न किया है, उसके उत्तर में दिए गए ज्ञान को याज्ञवल्क्य ने योग और विशेषतः तो सांख्य का ज्ञान बताया है।[१] वस्तुतः उसका सामञ्जस्य भी सांख्य के ही साथ है। इस प्रकार महाभारत के अनुसार याज्ञवल्क्य भी अत्यन्त प्राचीन सांख्याचार्यों में से एक प्रतीत होते हैं। ये याज्ञवल्क्य कौन थे और कब उत्पन्न हुए थे, इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप में कहा जा सकता है कि संवादान्तर्गत ३१८ वें अध्याय के प्रारम्भिक विवरण से ये शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य से अभिन्न प्रतीत होते हैं।[२] ये याज्ञवल्क्य विष्णुपुराण के अनुसार ब्रह्मरात के पुत्र तथा महर्षि वैशम्पायन के शिष्य थे। महर्षि वैशम्पायन महर्षि वेदव्यास के जैमिनि, सुमन्तु आदि चार प्रसिद्ध शिष्यों में से एक थे। इस प्रकार इन याज्ञवल्क्य का समय महाभारत युद्ध का ही समय अर्थात् द्वापर का अन्त प्रतीत होता है। परन्तु महाभारत युद्ध के समय सैकड़ों वर्षों की आयु वाले अत्यन्त वृद्ध भीष्म पितामह द्वारा इस संवाद के पुरातन इतिहास कहे जाने से[३] यह बात खण्डित हो जाती है, कट जाती है। फिर इस बात का खण्डन इससे भी होता है कि यह संवाद याज्ञवल्क्य और दैवराति अर्थात् देवरात के पुत्र जनक में हुआ कहा गया है[४], क्योंकि 'देवरात' जनक विष्णुपुराण के अनुसार[५] राजा निमि की छठीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे जिससे उनका तथा उनके पुत्र का समय त्रेता के आरम्भ या उससे भी कुछ पूर्व का सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चय कर सकना कठिन है कि उक्त संवाद के याज्ञ-वल्क्य कौन थे और कब उत्पन्न हुए थे। पं० उदयवीर शास्त्री ने दोनों ही बातें मानी हैं जो कि परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होती हैं। यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण, जिसके चतुर्दश काण्ड के अन्तिम छः अध्याय बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं, अत्यन्त प्राचीन हैं, और इनके दैवराति-समकालिक याज्ञवल्क्य द्वारा रचित होने

---

१. द्रष्टव्य शान्ति पर्व ३१०।८:—श्रूयतामवनीपाल यदेतदनुपृच्छसि। योगानां परमं ज्ञानं सांख्यानां च विशेषतः ।।

२. यथार्षेणेह विधिना चरतावनतेन ह। मयादित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ।।२।। दश पञ्च च प्राप्तानि यजूंष्यर्कान्मयानघ। तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ।।२१।। बीजमेतत् पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम्। सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ।।२२।। कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया। यथाभि-लषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ।।२३।। शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः। प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिन्तयम् ।।२५।।

३. द्रष्टव्य ३१०।३:—अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्। याज्ञवल्क्यस्य संवादं जनकस्य च भारत ।।

४. द्रष्टव्य ३१०।४:—याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः। पप्रच्छ जनको राजा प्रश्नं प्रश्न-विदां वरम् ।।

५. द्रष्टव्य ४।५।२३-२५।

में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, तथापि इनके व्यास-शिष्य वैशम्पायन के शिष्य कहे जाने से विरोध अवश्य ही होता है। इस विरोध की ओर शास्त्री जी का ध्यान जाना चाहिए था। पं० भगवद्दत्त का यह लेख तो सर्वथा ही विप्रतिषिद्ध है कि 'निमि जनक ही उपनिषदों का प्रसिद्ध जनक था, याज्ञवल्क्य उसी का गुरु और मित्र था। यह याज्ञवल्क्य भारत युद्धकाल में वर्तमान था।'[१] भला, कहाँ विदेह राजवंश के आदिम पुरुष महाराज निमि का समय और कहाँ भारतयुद्ध-काल में विद्यमान याज्ञवल्क्य का समय? निस्सन्देह याज्ञवल्क्य द्वारा रचित शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में आए हुए जनक 'देवरात' के पुत्र 'बृहद्रथ'[२] अथवा 'बृहदुक्थ'[३] जनक हो सकते हैं। पर वे भारत-युद्ध के समय से बहुत अधिक प्राचीन होंगे, तात्कालिक कदापि नहीं।

याज्ञवल्क्य द्वारा जो उपदेश दैवराति जनक को दिया गया है, वह मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में वसिष्ठ द्वारा कराल जनक को दिए गए उपदेश के सर्वथा समान ही है। किन्तु इसमें उस से एक बड़ा महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि पच्चीस के अतिरिक्त एक छब्बीसवें तत्त्व की भी कल्पना की गई है जिससे इसमें उपदिष्ट सांख्य सर्वथा सेश्वर प्रतीत होता है। महाभारत के ही शब्दों में यह उपदेश संक्षेपतः इस प्रकार है :—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश।
तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः॥३१०।१०
अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्[४]॥११॥
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु।
श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम्॥१२॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।[५]
वाक् च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च॥१३॥
मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः।
त्वं चैवान्ये च विद्वांसस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः॥१५॥
अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव।
प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः॥१६॥
महतश्चाप्यहंकार उत्पन्नो हि नराधिप।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम्॥१७॥
अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम्।
तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते॥१८॥

---

१. द्रष्टव्य, पं० भगवद्दत्त द्वारा रचित 'भारतवर्ष का इतिहास' पृ०।

२. वाल्मीकिरामायण १।७१।६ के अनुसार।

३. विष्णुपुराण ४।५।२५ के अनुसार।

४. पृथिव्यादिपदैस्तन्मात्राण्युच्यन्ते प्रकृतिशब्दितत्वात्।—नीलकण्ठकृत भारतभावदीप।

५. शब्दादयः स्थूलवियदादयः, एषा प्राची व्याख्या। शब्दादीनां भौतिकत्वोपपादकवाक्यशेषविरोधात् यथाश्रुतमेव साधु, सर्वत्र लक्षणायां च सर्वशास्त्रविप्लवः स्यात्।—भारतभावदीप।

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप ।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥१९॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥२०॥
श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् ।
सर्गं तु षष्ठमित्याहुर्बहुचिन्तात्मकं[1] स्मृतम् ॥२१॥
अधःश्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नराधिप ।[2]
सप्तमं सर्गमित्याहुरेतदैन्द्रियकं स्मृतम् ॥२२॥
ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप ।
अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं[3] स्मृतम् ॥२३॥
तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यति नराधिप ।
नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः ॥२४॥
एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप ।
चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥२५
यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते ।
प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुषस्य गुणान् बहून् ॥३१३।१६॥
सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च ।
सुखं शुद्धित्वमारोग्यं सन्तोषः श्रद्दधानता ॥१७॥
अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता ।
समता सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥१८॥
शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसम्भ्रमः ।
इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥१९॥
दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।
सत्त्वभूतदया चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥२०॥
रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ ।
अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥२१॥
परापवादेषु रतिर्विवादानां च सेवनम् ।
अहङ्कारमसत्कारश्चिन्तावैरोपसेवनम् ॥२२॥
परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा ।
भेदः परुषता चैव कामः क्रोधो मदस्तथा ॥२३॥
दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः ।
तामसानां तु संघातं प्रवक्ष्याम्युपधार्यताम् ॥२४॥

---

१. बहुचिन्तात्मकं मानसमित्यर्थः । एतेन शब्दादीनां श्रोत्राद्यजनकत्वमुक्तं तेन च तेषां विशेषत्वं दृढीकृतं भवति ।—भारतभावदीप ।

२. श्रोत्रादिभ्योऽधस्तनोऽधःश्रोत्रः स चासाविन्द्रियग्रामश्च वागादिः । सोऽपि श्रोत्रादिवच्चिन्तात्मक एव । ऐन्द्रियकमिन्द्रियसमुदायः ।—भारतभावदीप ।

३. ऊर्ध्वं स्रोतः····प्राणः । तिर्यगित्यत्रापि स्रोतःपदानुषङ्गो द्रष्टव्यः । तेन नाभिमध्यस्थस्य-समानस्य सर्वाङ्गव्यापिनो व्यानस्य सर्वसन्धिगतस्योदानस्य च उपरिभागगतांशानां ग्रहणम् । एतदार्जवकम् एतस्य ऐन्द्रियकस्य आर्जवकम् ऋजुवृत्तिः, विशेषानाक्रान्तसामान्यवृत्तिरिति यावत् । यथोक्तं सांख्य-सप्तत्याम्—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति ।

मोहो प्रकाशस्तामिस्रमन्धतामिस्रसंज्ञितम् ।
मरणं चान्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥२५॥
तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ।
भोजनानामपर्याप्तिस्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥२६॥
नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्दधानता ।
द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः ॥२८॥
पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ।
द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु सन्निपातं च तद्वतः ॥३१४।५॥
सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च शृणुष्व मे ।
सत्त्वस्य तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा ॥६॥
तमसश्च तथा सत्त्वं सत्त्वस्याव्यक्तमेव च ।
अव्यक्तः सत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात् ॥७॥
रजस्सत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते ।
रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥८॥
राजसैस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात् ।
पुण्यपापनियुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् ॥९॥
शाश्वतं चाव्ययं चैवमक्षयंचामृतं च तत् ।
ज्ञानिनां सम्भवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम् ।
अतीन्द्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम् ॥१०॥
अव्यक्तस्थं परं यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ।
स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते ॥११॥
अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव ।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि ॥१२॥
यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः ।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥३१८।७७॥
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ।
तदा स सर्वविद् विद्वान्न पुनर्जन्म विन्दति ॥८०॥

पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक सांख्याचार्यों के नाम महाभारत के विभिन्न स्थलों में आए हुए हैं। पीछे उल्लिखित याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद के अन्तिम [३१८] अध्याय में ऐसे अनेक आचार्यों के नाम गन्धर्व विश्वावसु के मुख से कहलाए गए हैं। इनमें से कुछ नाम तो स्पष्टतः प्रसिद्ध सांख्याचार्यों के हैं, अवशिष्ट नाम भी सांख्य के प्रकरण में तथा प्रसिद्ध सांख्याचार्यों के नामों के साथ लिए जाने से सांख्याचार्यों के हो सकते हैं। फिर अन्य सांख्य-ग्रन्थों के आधार पर भी उनमें से कुछ का सांख्याचार्य होना सिद्ध होता है। वे नाम ये हैं:—जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, वार्षगण्य, भृगु, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, तथा कश्यप[1]। इनमें जैगीषव्य तथा पराशर के

१. द्रष्टव्य शान्तिपर्व, ३१८।५६-६२।

नाम 'बुद्धचरित' (१२।६७) में भी आये हैं। देवल का नाम ७१वीं सांख्यकारिका की माठर-वृत्ति में भी आया है। उसमें वाल्मीकि, हारीत, भार्गव तथा उलूक आचार्यों के भी नाम आये हैं। महाभारत में उल्लिखित शुक्र का माठरवृत्ति-स्थित भार्गव होना सम्भव है, क्योंकि शुक्र भृगुवंशी थे। गर्ग और गौतम के नाम ७१वीं सांख्यकारिका की जयमङ्गला टीका में भी आये हैं। महाभारत ही में अन्यत्र कपिल मुनि के साथ ब्रह्मा जी के छः अन्य मानस पुत्रों का उल्लेख करके उन्हें सांख्यविद् कहा गया है[1]। वे ये हैं :—सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार। सांख्यकारिकाओं के स्वकीय भूमिका-भाष्य[2] में गौडपाद ने कपिल मुनि के ब्रह्मा जी के मानस पुत्र होने के सम्बन्ध में एक अन्य उद्धरण दिया है जिसमें सन, सनत्सुजात तथा सनत्कुमार के स्थान में सांख्य के तीन प्रसिद्ध आचार्य आसुरि, वोढु तथा पञ्चशिख उल्लिखित हैं। इन सब में से अनेक नाम अन्य पुराणों में भी जहाँ-तहाँ उपलब्ध होते हैं। आज इन आचार्यों एवं इनकी सांख्य-सम्बन्धी रचनाओं के सम्बन्ध में विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं है। सम्भवतः ये सभी आचार्य अत्यन्त प्राचीन काल में हुए थे और कई तो वर्तमान कल्प के आदिम युगों में। इनमें जैगीषव्य, देवल और हारीत इत्यादि कुछ को छोड़कर अन्य आचार्यों के कोई सन्दर्भ आज उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, कुछ अन्य के सांख्य-सम्बन्धी कुछ एकाध विचार महाभारत इत्यादि में पाये जाने वाले संवादों में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए अवश्य प्राप्त होते हैं; किन्तु बहुसंख्यक आचार्यों के न तो सन्दर्भ ही मिलते हैं और न उनके मतों के उल्लेख ही। ऐसी स्थिति में उनके सम्बन्ध में नामोल्लेख-मात्र से सन्तोष ग्रहण करने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा ही नहीं है। जिनके एकाध सन्दर्भ यत्र-तत्र प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, उनका यावच्छक्य विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

सनन्दन

मनुस्मृति १।५६[3] में जीव के देहान्तर ग्रहण करने का संक्षेप में वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि 'जब जीवात्मा अणुमात्रिक होकर स्थावर अथवा जङ्गम बीज में प्रविष्ट होता है, तब वह वृक्ष, तृण आदि स्थावर अथवा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम स्थूल शरीर प्राप्त करता है'। मूल श्लोक के 'अणुमात्रिक' शब्द का अर्थ टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने 'पुर्यष्टक' किया है। फिर इस 'पुर्यष्टक' का अर्थ 'भूत इत्यादि अष्ट तत्त्व' करते हुए उसके समर्थन में सनन्दन के नाम से यह श्लोक उद्धृत किया है :—"भूतेन्द्रिय-मनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥" यह श्लोक सनन्दन-रचित किसी ग्रन्थ का उद्धरण है, अथवा फुटकर उक्ति है, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसमें वर्णित 'पुर्यष्टक' लिङ्ग शरीर का ही दूसरा नाम है, जैसा कि कुल्लूक भट्ट द्वारा वहीं उद्धृत ब्रह्मपुराण के इस श्लोक से स्पष्ट है :—"पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन

---

१. द्रष्टव्य शान्तिपर्व, ३४०।७२-७४ :—सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः। सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः॥ सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः। स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः॥ एते योगविदो मुख्या सांख्यज्ञानविशारदाः॥ आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः॥

२. द्रष्टव्य, पृष्ठ १:—सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥ इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥

३. यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च। समाविशति संसृष्टस्तदा देहं विमुञ्चति॥

स युज्यते । तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु ।।" अर्थात् सृष्टि के आदि में जीवात्मा प्राण आदि आठ तत्त्वों से निर्मित पुर्यष्टक रूप लिङ्ग शरीर से युक्त होता है। उससे सदा बँधा रहना ही उसका बन्धन है और उससे मुक्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। ब्रह्मपुराण के इस मत के समान ही सनन्दन का एतद्विषयक मत सांख्य-सूत्र ६।६९[१] में कथित है, जिसमें कहा गया है कि सनन्दनाचार्य के अनुसार पुरुष का भोक्तृत्व उसके लिङ्ग शरीर से युक्त होने के कारण सम्पन्न होता है। इसके ठीक पूर्व के सूत्र 'अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः' [६।६८] में दिए गए पञ्चशिखाचार्य के मत की अपेक्षा सनन्दनाचार्य के इस मत की अयुक्तता का कथन इसी अध्याय के पञ्चशिख-विवरण में पहले किया जा चुका है। क्योंकि वास्तव में प्रलय में अविद्यमान लिङ्ग शरीर भी तो उस समय भी जीव में विद्यमान अविवेक या अविद्या के कारण ही पूर्वसर्गीय कर्मों के भोग के लिए अभिनव सृष्टि के आरम्भ में पुनः प्राप्त होता है। यह लिङ्ग शरीर कुल्लूक द्वारा उद्धृत सनन्दन-सन्दर्भ के अनुसार भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, वायु एवं अविद्या—इन आठ तत्त्वों से बनता है। 'भूतों' से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच सूक्ष्म भूत या तन्मात्र गृहीत हैं। 'इन्द्रिय' से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ गृहीत हैं। वायु से शरीरान्तर्गत प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राण गृहीत हैं। इस प्रकार 'पुर्यष्टक' रूप लिङ्ग शरीर में अवान्तर संघटक तत्त्व पचीस होते हैं:—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, वासना, कर्म एवं अविद्या। किन्तु सांख्य-षडध्यायी में इसके सम्बन्ध में 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' [३।९] सूत्र आया है, जिसका अर्थ या तो यह किया जा सकता है कि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र, उभयेन्द्रिय मन, बुद्धि—ये सत्रह, तथा एक अहङ्कार—इन अठारह तत्त्वों का लिङ्ग शरीर बनता है, जैसा कि 'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्''।। इस सांख्य-कारिका में वर्णित प्रतीत होता है, या फिर यह अर्थ किया जा सकता है कि सत्रह तत्त्वों का एक ही लिङ्ग शरीर सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ का होता है एवं उसी से फिर जीव के कर्मानुसार अनन्त लिङ्ग शरीर हो जाते हैं जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने स्वकीय सांख्य-प्रवचन भाष्य में किया है। भिक्षु महोदय के अनुसार अहङ्कार का समावेश बुद्धि के अन्तर्गत होने से लिङ्ग शरीर के संघटक तत्त्वों की संख्या सत्रह ही रहती है, अठारह नहीं। तथापि सनन्दनाचार्य के उक्त सन्दर्भ में कथित आठ तत्त्व रह जाते हैं। इनमें पाँचों प्राण तो अन्तःकरण के धर्म होने के कारण उसके प्रधान तत्त्व बुद्धि से पृथक् नहीं हैं। अविद्या, वासना और कर्म भी बीजाङ्कुरवत् बुद्धि के धर्म या कार्य और कारण दोनों होने से उससे कथञ्चित् अभिन्न ही हुए। इस प्रकार सन्दनाचार्य की लिङ्गशरीर-विषयक कल्पना सांख्य-प्रसिद्ध लिङ्ग शरीर की कल्पना से वस्तुतः भिन्न नहीं है। वस्तुतः तो सनन्दन के उक्त सन्दर्भ में 'लिङ्गशरीर' पद न गृहीत होकर 'पुर्यष्टक' पद ही गृहीत है, अतएव आठ पुरियों की कल्पना को पूर्ण करने के लिए उन्होंने लिङ्ग शरीर के पाँच भूत (तन्मात्र), दस इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन प्रसिद्ध सत्रह अङ्गों जिनसे चार पुरियों की कल्पना पूरी होती है—के अतिरिक्त वासना, कर्म, वायु (पञ्च प्राण) एवं अविद्या—इन चार

१. लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः।

अधिक तत्त्वों का चार अन्य पुरियों के रूप में कथन किया है। इस विषय का विस्तृत वर्णन द्वितीय खण्ड के अष्टम अध्याय में किया जायगा।

जैगीषव्य

जैगीषव्य वर्तमान महाभारत के समय से भी पर्याप्त प्राचीन सांख्याचार्य थे, यह बात महाभारत में जैगीषव्य के सम्बन्ध में उपलब्ध उल्लेखों से ज्ञात होती है[1]। उसके शल्यपर्व में एक स्थल[2] पर ऐसा उल्लेख है कि देवल ने जैगीषव्य के योग-प्रभाव को देख कर ही गार्हस्थ्य-धर्म को छोड़कर संन्यास-धर्म को अपनाया था। शान्तिपर्व (२२९।४) से यह बात ज्ञात होती है कि देवल ने जैगीषव्य से ही ज्ञान प्राप्त किया था। यद्यपि इस ज्ञान में ऐसा कोई वैशिष्टय नहीं प्राप्त होता जिसके कारण इसको विशेष रूप से सांख्य शास्त्र का ही ज्ञान कहा जाय, तथापि अपने मूल में यह सांख्य से ही निकला हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें जो निन्दा और प्रशंसा आदि में समान रहते हुये प्रकृति से परे स्थित ब्रह्म रूप ध्रुव पद को प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है, वह पुरुष की सांख्योपदिष्ट गुणातीतता पर ही आधारित है। पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों तथा उनके मानापमान, निन्दा-स्तुति आदि विकारों से परमार्थतः परे है, उनसे अस्पृष्ट है—यह ज्ञान मूलतः सांख्य-शास्त्रीय ही है।

जैगीषव्य सिद्धि-प्राप्त परम योगी थे, यह बात योगसूत्र ३।१८ के व्यास-भाष्य में उद्धृत आवट्य-जैगीषव्य-संवाद से भी ज्ञात होती है। योगसूत्र ३।१८ में पूर्व जन्म के धर्माधर्म संस्कारों में चित्त का संयम करने से उन संस्कारों के साक्षात्कार एवं उस के द्वारा उस जन्म के साक्षात्कार या प्रत्यक्ष ज्ञान के उत्पन्न होने की बात कही गई है। योग के इसी परम रहस्य के दृष्टान्त रूप में जैगीषव्य का सम्मानपूर्वक उल्लेख व्यासदेव ने अपने भाष्य में किया है। उनके लिए 'भगवान्' जैसे सर्वोत्कृष्टता-सूचक पद का प्रयोग होने से ही उनकी अत्युत्कृष्ट समाधि-सिद्धि एवं उसके कारण भाष्यकार का उनके प्रति अत्युत्तम सम्मान-भाव प्रकट होता है। इस संवाद से जो तथ्य सर्वाधिक प्रकाश में आता है, उससे जैगीषव्य का सांख्य-योगाचार्य होना सर्वथा सिद्ध होता है। यह तथ्य समूचे जगत् एवं जीवन की दुःखमयता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में इस तथ्य का विशेष विवरण एवं उद्घाटन किया जायगा कि जगत् एवं जीवन के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन की जो विशिष्ट दृष्टि उसके जन्म के आदिम काल से ही रही है, उसे 'दुःखवाद' इस एक-मात्र समीचीन नाम द्वारा प्रकट किया जा सकता है। यही 'दुःखवाद' इस संवाद[3] में भी मानव-जीवन के असन्दिग्ध सत्य के रूप में प्रकट किया

---

१. द्रष्टव्य, शान्ति पर्व २२९।३,४:—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥ जैगीषव्यं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम्। अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥

२. शल्यपर्व ५०।५३-५५ [गीताप्रेस संस्करण]:—ततो बुद्ध्या व्यगणयद् देवलो धर्मयुक्तया। दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम् ॥ ततोऽब्रवीन्महात्मानं जैगीषव्यं स देवलः। विनयावनतो राजन्नुपसर्प्य महामुनिम् ॥ मोक्षधर्मं समास्थातुमिच्छेयं भगवन्नहम्। तस्य तद्वचनं श्रुत्वा उपदेशं चकार सः॥

३. अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्म-परिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत्। अथ भगवान् आवट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन नरकतिर्यग्गर्भसम्भवदुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति ? भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु......यत् किञ्चिदनुभूतं,

गया है। देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियों के समस्त अनुभवों को तो भगवान् जैगीषव्य ने दुःख-रूप कहा ही है, साथ ही योग द्वारा प्राप्त अपने प्रकृति-जय तथा अनुत्तम सन्तोष-सुख को भी आत्मा के कैवल्य की अपेक्षा दुःख ही कहा है, केवल विषय-सुख की अपेक्षा ही उसको अनुत्तम सुख कहा है। इससे सिद्ध होता है कि जैगीषव्य अपनी उत्कृष्टतम योग-ऋद्धि के द्वारा सांख्य दर्शन की मौलिक दृष्टि—उसके आधार-भूत सिद्धान्त—की सत्यता का अनुभव करके उस का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाले प्रमुख सांख्याचार्य थे।

इस संवाद के अतिरिक्त एक दूसरा भी सन्दर्भ जैगीषव्य के नाम पर योग-सूत्र २।५५[1] के व्यास-भाष्य में उद्धृत है, जो इस प्रकार है :—**'चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः'**। सूत्र में कहा गया है कि प्रत्याहार से उत्कृष्ट इन्द्रिय-जय प्राप्त हो जाता है। व्यास-भाष्य में इसी इन्द्रिय-जय के कई व्याख्यान विभिन्न दृष्टियों से प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें से एक जैगीषव्य के नाम से उद्धृत उपर्युक्त पक्ष भी है। इसका अर्थ यह है कि चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न इन्द्रियज-ज्ञान-निरोध ही 'इन्द्रिय-जय' है। इसी को सिद्धान्त रूप से सब के अन्त में रखते हुए भाष्यकार ने इस प्रकार स्वाभिप्राय स्पष्ट किया है :— **'ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृत-मुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति।'** इसका तात्पर्य यह है कि चित्त की एकाग्रता—निरोध—से उत्पन्न इन्द्रियों का निरोध ही उनकी परमा वश्यता या अधीनता है, उन पर वास्तविक विजय है। जैसे 'यतमान' संज्ञक वैराग्य की अवस्था में किसी इन्द्रिय-विशेष पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी अन्यान्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए पृथक्-पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा रहती है, उस प्रकार चित्त के निरुद्ध या विजित हो जाने पर समस्त बाह्य इन्द्रियाँ स्वतः विजित हो जाती हैं, तदर्थ पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रकार चित्त-निरोध से उत्पन्न इन्द्रिय-निरोध ही वास्तविक निरोध है, अन्य प्रकार के इन्द्रिय-निरोध अवास्तविक हैं क्योंकि उन सभी में स्व-स्व विषयों के प्रति इन्द्रियों में लौल्य या चञ्चलता गूढ रूप से बनी ही रहती है।

भाष्य की पूर्वोक्त पंक्तियों की अवतारणा करते हुये वाचस्पति मिश्र ने जैगीषव्य को 'परमर्षि' और उनके मत को सूत्रकार का स्वाभिमत पक्ष कहा है।[2] इस सब से स्पष्ट है कि वास्तविक योग-सिद्धि प्राप्त करने के कारण योग एवं उसके साधन आदि के सम्बन्ध में स्वानुभव पर आधृत उनके मत अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रामाणिक माने जाते थे। इस की पुष्टि आचार्य वाचस्पति मिश्र के उस वाक्य से भी होती है जिसे उन्होंने न्यायसूत्र ३।२।४२ के वार्तिक की स्व-रचित 'तात्पर्यटीका' में लिखा है। वह इस प्रकार है :—**'धारणाशास्त्रं जैगीषव्यादिप्रोक्तम्'**। इससे प्रतीत होता है कि जैगीषव्य की कोई अपनी कृति अवश्य थी जिसे उन्होंने प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योग-विषयों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये लिखा था। हो न हो, पूर्वोद्धृत 'चित्तैकाग्र्यादप्रति-

---

तत् सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं, किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति ? भगवान् जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तं, कैवल्यापेक्षया दुःखमेव बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः, त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दुःखस्वरूपस्तृष्णा-तन्तुस्तृष्णादुःखसन्तानापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ।

१. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।

२. द्रष्टव्य, योगभाष्य २।५५ की तत्त्व वैशारदी:—सूत्रकाराभिमतां वश्यतां परमर्षिसम्मतामाह—चित्तैकाग्र्यादिति ।

पत्तिरेवेति' वचन उसी ग्रन्थ का शब्दशः उद्धरण हो। अथवा यह उसके किसी वचन के अभिप्राय को लेकर भाष्यकार का लिखा हुआ भी हो सकता है। जो भी तथ्य हो, किन्तु यह बात निश्चित है कि जैगीषव्य अत्यन्त प्राचीन काल के प्रमुख सांख्ययोगाचार्यों में अन्यतम थे।

देवल

पीछे जैगीषव्य-प्रसंग में उद्धृत महाभारतीय वचनों से स्पष्ट है कि देवल नाम के प्रसिद्ध आचार्य शान्ति पर्व के रचना-काल से बहुत पूर्व हो चुके थे और परम योगी भगवान् जैगीषव्य के साथ उन का संवाद भी हुआ था। काश्यपान्तर्गत शाण्डिल गोत्र के प्रवरों में शाण्डिल्य एवं असित के साथ देवल का भी नाम उल्लिखित है।[१] इस प्रकार देवल के शाण्डिलगोत्रीय प्रवर ऋषि होने की बात प्राचीन परम्परा से सिद्ध है। इस परम्परा के अनुसार असित देवल से पूर्ववर्ती प्रवर ऋषि थे। निर्णयसिन्धु के कर्त्ता कमलाकर भट्ट के **"तत्त्वं तु गोत्रभूतस्य पितृपितामहप्रपितामहा एव प्रवराः 'पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रः' इति शतपथश्रुतेः"** इत्यादि लेख के अनुसार असित ऋषि देवल के पिता रहे होंगे। ऐसी स्थिति में पितृनाम-पूर्वक उल्लेख करने पर देवल को 'आसित देवल' कहना होगा। तात्पर्य यह है कि असित और देवल दो पृथक्-पृथक् और सम्भवतः समकालिक ऋषि थे। महाभारतीय अंश गीता के **"आहुस्त्वामृषयःसर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे"** [अ० १०, श्लो० १३] श्लोक में दोनों ऋषियों का स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु महाभारत के अन्य अनेक वचनों से ऐसा लगता है जैसे दोनों एक ही व्यक्ति हों। पीछे उद्धृत महाभारतीय वचन [**शान्तिपर्व** २२९।३,४] में 'असित' और 'देवल' पदों को एक साथ लेने के अतिरिक्त दूसरी कोई गति ही नहीं है। २२९।३ में तो कहा गया है कि 'इस [प्रकृति से परे स्थित ध्रुव ब्रह्मपद प्राप्त करने के] विषय में जैगीषव्य और असित के संवाद का पुरातन इतिहास उद्धृत किया जाता है'; तथा उसके बाद के श्लोक में यह कहा गया है कि 'क्रोध-हर्षादि से रहित [**अर्थात् जीवन्मुक्त**] महाप्राज्ञ जैगीषव्य से असित देवल ने कहा'। पहले श्लोक में 'असित' और दूसरे में 'असित देवल' के प्रयोग से यह बात निस्सन्देह रूप से स्पष्ट है कि दोनों पदों का प्रयोग एक ही व्यक्ति के लिये हुआ है। दूसरे श्लोक में एक वचन में प्रयुक्त 'अब्रवीत्' क्रियापद से भी इसी बात की पुष्टि होती है, क्योंकि असित और देवल के दो होने पर 'च' पद तथा द्विवचन की क्रिया का प्रयोग होना चाहिये था। यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाय कि 'अब्रवीत्' पद के साथ 'असितः' तथा 'देवलः' का पृथक्-पृथक् अन्वय करने से यह असंगति न होगी तो यह कथन असंगत है, क्योंकि उसी के ठीक बाद 'देवल उवाच' ऐसा प्रयोग आया है जब कि 'असित उवाच' ऐसा प्रयोग समूचे अध्याय में कहीं भी नहीं आया है। इससे स्पष्ट है कि कम से कम इस प्रसङ्ग में 'असित' तथा 'देवल' पद एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार नारद-देवल-संवाद [शान्तिपर्व, अ० २७५] के प्रारम्भिक श्लोकों की मीमांसा से भी यही निष्कर्ष निकलता है। प्रथम श्लोक[२] में

---

१. द्रष्टव्य कमलाकरभट्ट-कृत निर्णयसिन्धु, पृ० ३८६ :—शाण्डिलानां काश्यपशाण्डिल्येति। अन्त्यस्थाने देवलो वासितो वा, शाण्डिल्यासितदेवलेति वा, काश्यपासितदेवलेति वा, अन्त्ययोर्व्यत्ययो वा, देवलासितेति द्वौ वा।

२. अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च।।

भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि 'इसी मोक्ष-मार्ग के विषय में नारद तथा असित देवल के संवाद का प्राचीन इतिहास कहा जाता है'। द्वितीय[1] में यह कहा है कि 'बुद्धिमानों में श्रेष्ठ वृद्ध देवल को आसीन जान कर नारद जी ने उनसे भूतों के सर्ग एवं प्रलय के विषय में पूछा'। फिर तृतीय श्लोक में यही प्रश्न नारद जी के मुख से कराकर 'असित उवाच' पदों द्वारा अगले श्लोक, जिनमें प्रश्न का उत्तर दिया गया है, प्रस्तुत किए गये हैं। स्पष्ट है कि प्रथम में जिस व्यक्ति के लिये 'असित' और 'देवल' पदों का प्रयोग हुआ है, आगे उसी के लिये 'असित' का प्रयोग हुआ है। अध्याय के अन्त में दी गई 'इति श्रीमहाभारते······**नारदासितसंवादे**···इत्यादि पुष्पिका से भी इस निष्कर्ष का समर्थन होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्थापना के साथ इसका विरोध स्पष्ट है। इसका परिहार यह है कि २२६।३,४ को छोड़ कर अन्यत्र सर्वत्र संहित पदों का विच्छेद असित न होकर 'आसित' है जो 'देवल' का विशेषण है एवं जिसका अर्थ असितकुलोत्पन्न है। २२१।३,४ में 'असित' पाठ भ्रम के कारण है। वहाँ 'आसित' ही पाठ होना चाहिये। ऐसा होने पर भी छन्दोभंग नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि असित और देवल दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं, एक नहीं।

पीछे कहा जा चुका है कि जैगीषव्य-देवल-संवाद में देवल के प्रश्न के उत्तर में भगवान् जैगीषव्य ने जो उपदेश दिया है, उसका सम्बन्ध सांख्य-ज्ञान से है। इस प्रकार महाभारत के अनुसार देवल ने जैगीषव्य से सांख्य-ज्ञान प्राप्त किया था जिससे ज्ञात होता है कि देवल भी प्राचीन साङ्ख्याचार्यों में से एक थे। इस बात का विशेष रूप से समर्थन नारद-देवल-संवाद से होता है जिसमें देवर्षि नारद द्वारा भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में पूँछे जाने पर देवल ने उसका उत्तर देते हुये प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार किया है :—'पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते। तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्'॥ [**अ० २७५, श्लोक ३८**] अध्याय के मध्य में भी पञ्च भूतों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों, उभयात्मक मन, तीनों गुणों एवं इन सभी के कार्यों का वर्णन है जो सांख्य से बहुत-कुछ प्रभावित है। इस नारद-देवल-संवाद को भीष्म पितामह ने 'पुरातन इतिहास' कहा है। ऐसी स्थिति में देवल का समय महाभारत-युद्ध से पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होता है। कम से कम ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी, जिसके बाद का शान्ति पर्व नहीं हो सकता, से बहुत प्राचीन तो देवल का समय होना ही चाहिये। क्योंकि तभी उनके साथ होने वाले नारद जी के संवाद को पुरातन कहना उचित होगा अन्यथा नहीं। परन्तु इसके विपरीत डा० पी० वी० काणे उन्हें बृहस्पति तथा कात्यायन का समकालीन बताते हैं और इस प्रकार उनका समय विक्रमीय तृतीय शताब्दी के लगभग मानते हैं जो सर्वथा अशुद्ध अथवा असमीचीन जान पड़ता है। हाँ, दो पृथक्-पृथक् देवल मानने पर अर्वाचीन देवल का यह समय सम्भव हो सकता है। परन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में निश्चयपूर्वक ऐसा कहना कठिन है।

देवल के अन्य भी उल्लेख परवर्ती साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। उनसे भी पिछले निष्कर्षों का समर्थन होता है। माठर ने सांख्य-सम्प्रदाय की गुरु-शिष्य-परम्परा में देवल का उल्लेख इस प्रकार किया है :—"**कपिलादासुरिणा प्राप्तं...ततः पञ्चशिखेन, तस्माद्**

१. **आसीनं देवलं वृद्धं बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरम्। नारदः परिपप्रच्छ भूतानां प्रभवाप्ययम्** ॥

भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्" ।[1] देवल और ईश्वर कृष्ण के बीच भी कई आचार्य हुए होंगे, इस बात का संकेत 'प्रभृति' पद के प्रयोग से मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि देवल ईश्वरकृष्ण से पर्याप्त प्राचीन सांख्याचार्य थे। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र १।४।२८ के स्वरचित भाष्य में सांख्य सम्प्रदाय की मान्यता के सम्बन्ध में लिखते हुए देवल का इस प्रकार उल्लेख किया है : —**"ईक्षतेर्नाशब्दम् इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्वलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन् प्रतिभान्तीति। स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात् प्रत्यासन्नो-वेदान्तवादस्य । देवल प्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतः"**। शङ्कराचार्य के इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि देवल का कोई धर्मसूत्र अवश्य था जिसमें उन्होंने सांख्य दर्शन के प्रधानकारणवाद एवं उसके आधार-भूत सत्कार्यवाद का आश्रय लिया था, उनका समर्थन किया था। बहुत सम्भव है कि शङ्करा-चार्य के समय में देवल का ग्रन्थ उपलब्ध रहा हो और उन्होंने उसे देखा भी हो। पीछे चतुर्थ अध्याय में स्पष्ट कर आए हैं कि याज्ञवल्क्य-स्मृति की अपरादित्य-कृत व्याख्या में देवल का एक सांख्यविषयक सन्दर्भ उद्धृत है। वहाँ वह सन्दर्भ देकर दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार से 'सांख्यप्रवचनसूत्र' तथा 'तत्त्वसमाससूत्र', इन दोनों ही ग्रन्थों के अनेक सूत्र ज्यों के त्यों अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ उसमें उद्धृत हैं। वहाँ यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि देवल का उद्धृत सन्दर्भ अपरादित्य की व्याख्या के अतिरिक्त लक्ष्मीधर भट्ट के कृत्यकल्पतरु नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में भी उपलब्ध होता है, और दोनों स्थलों के पाठों में कोई अन्तर नहीं है जिससे देवल के ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। पाठों में अन्तर न होने पर भी दोनों स्थलों में उद्धृत सन्दर्भों में कुछ न्यूनाधिक्य होने से प्रतीत होता है कि दोनों ग्रन्थकारों ने देवल का ग्रन्थ देखा था और उससे पृथक्-पृथक् यह सन्दर्भ ग्रहण किया था, एक ने दूसरे के ग्रन्थ से नहीं। इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में देवल के उक्त सन्दर्भ के उद्धृत होने से उनका धर्मसूत्रकार होना सर्वथा सम्भव ही नहीं अपितु स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। इस प्रकार भाष्यकार शङ्कराचार्य का पूर्वोद्धृत यह कथन कि देवल धर्मसूत्रकार थे, और अपने ग्रन्थ में उन्होंने सांख्य के सिद्धान्तों को अपनाया था, सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध होता है।

सन्दर्भ की प्रारम्भिक पंक्तियों[2] से स्पष्ट है कि देवल ने इसे अपने से बहुत पूर्व प्रणीत विशाल सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों से सांख्य के प्रधान, महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, त्रिविध बन्ध, त्रिविध दुःख, त्रिविध मोक्ष, त्रिविध प्रमाण आदि पदार्थों को लेकर अत्यन्त संक्षेप के साथ अपने ग्रन्थ में रक्खा है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि देवल ने पूर्वदर्शित सूत्र या तो साक्षात् सांख्य-प्रवचन-सूत्र तथा तत्त्वसमास-सूत्र से ही लिए हैं, या फिर इनके व्याख्यान-भूत किसी अवान्तरकालीन ग्रन्थ से लिए हैं जो पञ्चशिख आदि द्वारा निर्मित हुए थे एवं जिनमें ये सूत्र अपने मूल रूप में ज्यों के त्यों स्थित थे। डा० हरदत्त शर्मा ने सांख्य-

१. द्रष्टव्य, सांख्यकारिका ७१ की माठरवृत्ति ।

२. एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणि संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते।

तत्त्वकौमुदी की भूमिका[1] में इस विचार का खण्डन यह कह कर किया है कि यह मत देवल से सांख्य-सूत्रों की पूर्ववर्तिता की कल्पना पर आधारित है; वह कल्पना जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वयं देवल के ही साक्ष्य के आधार पर यह बात सिद्ध है कि उनका लेख सांख्य-विषयक पूर्वाचार्यों के सांख्यशास्त्रीय गम्भीर ग्रन्थों के मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप—उनका नामतः कथन-मात्र—है। इस प्रकार माठर-वृत्ति से पूर्व उद्धृत सन्दर्भ, जिसमें देवल से पूर्व अनेक आचार्यों की लम्बी परम्परा के कुछ मुख्य-मुख्य आचार्य ही कथित हैं, स्वयं देवल के भी साक्ष्य से प्रमाणित होता है। ऐसी स्थिति में डा० शर्मा का पूर्व उद्धृत कथन सर्वथा असत् प्रतीत होता है।

हारीत, वाल्मीकि, भार्गव एवं उलूक आदि अन्य आचार्य

पीछे देवल के प्रसंग में ७१वीं सांख्यकारिका की माठर-वृत्ति से उद्धृत पंक्ति में देवल के अतिरिक्त चार अन्य आचार्यों के भी नाम प्राप्त होते हैं। वे ये हैं:—भार्गव, उलूक, वाल्मीकि एवं हारीत। महाभारत के शान्ति पर्व में आए हुए याज्ञवल्क्य-जनक संवाद[2] में भी अन्य कई नाम आए हैं जो प्राचीन सांख्याचार्यों के ज्ञात होते हैं। वे ये हैं:— जैगीषव्य, असित, देवल, पराशर, वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक्र, गौतम, आर्ष्टिषेण, गर्ग, नारद, आसुरि, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, कश्यप तथा रुद्र। इनमें कपिल, आसुरि पञ्चशिख, जैगीषव्य एवं देवल का वर्णन पीछे किया जा चुका है। वार्षगण्य का वर्णन इसके बाद करेंगे। शेष आचार्यों के विषय में कुछ विशेष ज्ञात न होने से उनका पृथक् विवरण नहीं दिया जा सकता। ये सभी आचार्य महाभारत से पर्याप्त प्राचीन हैं, यह बात अनेकशः कही जा चुकी है। आज ये सब नाममात्रावशिष्ट हैं। हारीत भी देवल की ही भाँति धर्मसूत्रकार के रूप में संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में सुप्रसिद्ध हैं। उनके नाम से भी एक स्मृति प्राप्त होती है जो हारीत-स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। यह सात अध्यायों में है। आज निश्चित तथ्यों के अभाव में यह कह सकना कठिन है कि स्मृतिकार हारीत सांख्याचार्य हारीत से अभिन्न हैं अथवा भिन्न। कृत्यकल्पतरु के मोक्षकाण्ड[3] में हारीत के नाम पर अनेक सन्दर्भ उद्धृत हैं। इनमें वानप्रस्थ एवं यति आदि के धर्मों के वर्णन मिलते हैं। परन्तु इनमें ऐसी कोई विशिष्ट बात नहीं कही गई है जिसका साक्षात् सम्बन्ध सांख्य सम्प्रदाय के साथ हो। इसी से इनको यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है।

आचार्य वार्षगण्य

अभी ही कहा गया है कि शान्ति पर्व के याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में अन्य प्राचीन आचार्यों के साथ वार्षगण्य का भी उल्लेख हुआ है।[4] सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका,

---

१. द्रष्टव्य, पूना से डा० गंगानाथझा-कृत अँग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित संस्करण की डा शर्मा द्वारा लिखित भूमिका, पृ० २३।

२. द्रष्टव्य, ३१८।५९–६२

३. द्रष्टव्य, पृ० २२, २६, ४२, ५२, ५३, ६०, ८१, ८२, तथा १७४।

४. द्रष्टव्य, शान्ति ३१८।५९:—जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्। पराशरस्य विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः॥

नामक टीका में भी ७१वीं कारिका की व्याख्या में अन्य सांख्याचार्यों के साथ आचार्य वार्षगण्य का भी उल्लेख है :—'संक्षेपेण तु द्वाव......हारीतबाद्धलिकैरातपौरिकर्षभेश्वर-पञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिण्यमूकादिकशिष्यपरम्परयागतम् ....।' इसमें आचार्यों का उल्लेख कालक्रमानुसार नहीं किया गया है। इनमें से कौन किसकी अपेक्षा प्राचीन अथवा अर्वाचीन है, इसका निर्णय कर सकना असम्भव है। इतना अवश्य निवेदन किया जा सकता है कि इनमें से हारीत एवं वार्षगण्य याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में अन्य प्राचीन आचार्यों के साथ उल्लिखत होने के कारण अवशिष्ट आचार्यों की अपेक्षा प्राचीन होंगे तथा कम से कम महाभारत के शान्ति पर्व के निर्माण-काल से पर्याप्त प्राचीन होंगे। शेष महाभारत से अर्वाचीन तथा ईश्वरकृष्ण से प्राचीन रहे होंगे। युक्ति-दीपिका में इन समस्त आचार्यों के नाम के अतिरिक्त उनके विशिष्ट-विशिष्ट सिद्धान्त भी उल्लिखित हैं। इससे इनकी ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है।

पं० उदयवीर शास्त्री के अनुसार 'वार्षगण्य' गोत्र-नाम प्रतीत होता है, सांस्कारिक नाम नहीं।[1] इस पद की सिद्धि शास्त्री जी ने 'वृषगण' पद से मानी है जो गर्गादिगण [अष्टाध्यायी ४।१।१०५[2]] में पठित है। इस प्रकार उनके अनुसार इस पद का अर्थ 'वृषगण गोत्र में उत्पन्न हुआ व्यक्ति' हुआ। इस प्रकार स्पष्ट ही यह गोत्र-नाम है। श्रीनाथूराम प्रेमी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक स्वकीय ग्रन्थ के पृ० ११८ पर लिखा है कि "वार्षगण्य सांख्यकारिका के कर्ता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है, और सुप्रसिद्ध चीनी विद्वान् डा० तक्कुसु के मतानुसार ईश्वरकृष्ण वि० सं० ५०७ के लगभग विद्यमान थे।" इसका खण्डन करते हुए शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :—"श्रीयुत प्रेमी जी का यह मत, कि वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण का ही दूसरा नाम है, सर्वथा निराधार है। इसका विस्तृत विवेचन हम इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण के माठर-प्रसंग में कर चुके हैं। वहाँ हमने उन सिद्धान्तों का भी निर्देश किया है, जिनको वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण सर्वथा भिन्न-भिन्न रूप में मानते हैं। इसलिए इनका एक होना सर्वथा असम्भव है। ईश्वरकृष्ण का काल भी खीष्ट शतक प्रारम्भ होने से पूर्व ही कहीं अनुमान किया जा सकता है। वार्षगण्य का समय पाणिनि से प्राचीन है, सम्भवतः भारत-युद्धकाल से भी।"[3]

शास्त्री जी का कथन सर्वथा समीचीन है। पीछे कहा जा चुका है कि वार्षगण्य का नाम महाभारत के शान्ति पर्व में अन्य प्राचीनतम आचार्यों के साथ लिया गया है। इससे वे महाभारत-काल से भी प्राचीनतर सिद्ध होते हैं। सांख्य के प्राचीनतम आचार्यों की इस सूची में एक भी ऐसा नाम नहीं है जो बुद्ध या पाणिनि के काल से अर्वाचीन हो। इससे भी महाभारत के लेख की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वार्षगण्य पाणिनि से पर्याप्त प्राचीन हैं, यह बात पूर्वोक्त इस तथ्य से सर्वथा प्रमाणित होती है कि पाणिनि ने 'वार्षगण्य' पद की सिद्धि 'गर्गादिभ्यो यञ्' [अष्टाध्यायी ४।१।१०५] सूत्र से मानी है। यदि 'वार्षगण्य' नाम का कोई व्यक्ति पाणिनि के पूर्व न हुआ होता तो उसकी सिद्धि या

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ५०७।
२. गर्गादिभ्यो यञ् ॥ गोत्र इत्येव—सि० कौ०।
३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ५०७।

व्युत्पत्ति का प्रश्न ही कैसे उठता और तब उसके समाधान के लिए पाणिनि का प्रयास भी व्यर्थ होता। अतः यह स्पष्ट है कि 'वार्षगण्य' नाम पाणिनि के समय के पूर्व से ही प्रचलित एवं प्रसिद्ध था। यह बात तो सर्वमान्य ही है कि ईश्वरकृष्ण पाणिनि से पर्याप्त बाद के हैं। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य और ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति कैसे हो सकते हैं? अतः श्री नाथूराम प्रेमी का पूर्वोक्त कथन सर्वथा असंगत ही कहा जायगा।

जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० तकाकुसु के अनुसार वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु थे। उनका यह मत अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने वाले परमार्थ के लेख पर आधारित है। परमार्थ ने अपने ग्रन्थ 'वसुबन्धुचरित' में लिखा है कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को विन्ध्यवास नामक एक सांख्य दार्शनिक ने शास्त्रार्थ में हराया था। इससे प्रतीत होता है कि विन्ध्यवास वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक थे। ये विन्ध्यवास वृषगण या वार्षगण्य के शिष्य कहे जाते हैं। एक अन्य वर्णन के अनुसार वार्षगण्य के एक शिष्य ने 'हिरण्यसप्तति' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। अब यदि 'हिरण्यसप्तति', 'सांख्यसप्तति' या सांख्यकारिका का ही दूसरा नाम है [और यह बात कुई-ची के लेख[1] के अनुसार सम्भाव्य ही नहीं अपितु सत्य प्रतीत होती है] तो निस्सन्देह विन्ध्यवास एवं ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं और वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण के गुरु। डा० तकाकुसु का यह भी कथन है कि चीनी भाषा में अनूदित सांख्यसप्तति की प्राचीन संस्कृत टीका उपान्त्य कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतं' पद की व्याख्या करती हुई बताती है कि सांख्यसप्तति का रचयिता ईश्वरकृष्ण है जो पो-पो-ली का शिष्य था। यह पो-पो-ली कथञ्चित् 'वर्ष' पद को प्रकट करने में समर्थ हो सकता है, क्योंकि लेखक के प्रमाद के कारण कभी-कभी 'सो' के लिए चीनी भाषा में 'पो' का भी प्रयोग देखा जाता है, साथ ही वर्ण-व्यत्यय भी। इस प्रकार पोपोली = पोसोली = पोलिसो = वरीसो = वर्षः होने से ईश्वरकृष्ण वर्ष या वार्षगण्य के शिष्य सिद्ध होते हैं[2]।

डा० तकाकुसु का यह मत साधु अथवा समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसका खण्डन करते हुए डा० बेल्वाल्कर ने लिखा है कि "मुझे यह प्रतीत होता है कि विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि माठर-वृत्ति से हमें प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण के गुरु 'पो-पो-ली' का मूल संस्कृत नाम देवल है, वृष या वृषगण नहीं। सांख्यसप्तति की उपान्त्य कारिका के 'शिष्यपरम्परयागतं' पद की व्याख्या करते हुए माठर ने लिखा है :— **कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानमतः पञ्चशिखेन, तस्माद् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्। तदेव षष्टितन्त्रमार्याभिः संक्षिप्तम्।**' इस प्रकार यह बात विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की एकता का प्रतिपादन करने वाले एक साधन को विचलित कर देती है।"

पं० उदयवीर शास्त्री डा० बेल्वाल्कर के उपर्युक्त मत के इतने अंश से अवश्य सहमत हैं कि विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण एक व्यक्ति नहीं हो सकते। परन्तु उनके मत के उस अंश से सहमत नहीं है जिसमें ईश्वरकृष्ण के गुरु पो-पो-ली का मूल संस्कृत नाम 'देवल'

---

१. इसका विस्तृत उल्लेख आगे ईश्वरकृष्ण के प्रसंग में किया जायगा।

२. द्रष्टव्य भण्डारकर कमेमोरेशन ग्रन्थ, पृ० १७६, पादटिप्पणी सं० १।

बताकर माठर-वृत्ति के उद्धरण से उसका समर्थन किया गया है। शास्त्री जी का कथन है कि माठर के लेख में 'देवल' के बाद आए हुए 'प्रभृति' पद तथा उसके बाद प्रयुक्त 'तेभ्यः' पद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देवल तथा ईश्वरकृष्ण के बीच अन्य कई आचार्य हुये होंगे। इस प्रकार देवल ईश्वरकृष्ण के गुरु कदापि नहीं हो सकते। शास्त्री जी ने डा० तकाकुसु के मत का भी खण्डन यह कह कर किया है कि 'पो-पो-ली' से वार्षगण्य का ग्रहण करने की अपेक्षा 'कपिल' का ग्रहण करना अधिक सहज और समीचीन है। 'कपिल' पद अपने उच्चारण के अनुसार 'वर्ष' और 'देवल' पदों की अपेक्षा चीनी पद के अत्यन्त समीप है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं अपनी अन्तिम चार कारिकाओं के द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट किया है कि जिस षष्टितन्त्र का उन्होंने संक्षेप किया है, सर्वप्रथम महर्षि कपिल ने उसका प्रवचन किया और कपिल का वही तन्त्र अनेक आचार्यों की परम्परा के द्वारा उन तक प्राप्त हुआ है। ईश्वरकृष्ण के इसी भाव को माठर ने अपनी उक्त पंक्तियों में स्पष्ट किया है। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया है, उसका सम्बन्ध साक्षात् कपिल से बता कर वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि मेरा परम गुरु कपिल है। सांख्यसप्तति के चीनी अनुवाद में इसी 'कपिल' को 'पो-पो-ली' पद से निर्दिष्ट किया गया है। सांख्यसप्तति की टीका 'माठर-वृत्ति' का ही चीनी अनुवाद किया गया था, यह निश्चित हो चुका है। माठरवृत्ति में सर्व प्रथम सांख्याचार्य कपिल का साक्षात् निर्देश है—'कपिला-दासुरिणा प्राप्तम्।' परम्परा का मूल आचार्य होने के कारण, तथा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुए सांख्य-ज्ञान का कपिल से सम्बन्ध होने के कारण, कपिल को ईश्वरकृष्ण का गुरु कहना सर्वथा उपयुक्त है। इसलिए चीनी अनुवाद में 'कपिल' पद का 'पोपोली' रूपान्तर हुआ है, यह बात निश्चित होती है। 'पो-पो-ली' पद के प्रथम 'पो' वर्ण का प्रयोग 'क' उच्चारण के लिए किया गया है। द्वितीय 'पो' वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा का निर्देश चीनी विद्वानों ने किया है, जो उस वर्ण के 'प' उच्चारण को सूचित करता है। रेखा-रहित चीनी 'पो' वर्ण का उच्चारण अन्यत्र भी 'क' देखा जाता है। बील के चीनी यात्रा-वर्णनों के संग्रह में 'पार्श्विक' पद का चीनी रूप 'पि-लो-शि-पो' दिया गया है। यहाँ अन्तिम 'पो' पद 'क' उच्चारण के लिए है। इस प्रकार सांख्यसप्तति के इस प्रसंग का 'पो-पो-ली' पद 'कपिल' के लिए प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है।[1]

इसके अतिरिक्त आचार्य वार्षगण्य एवं ईश्वरकृष्ण के समयों में अति दीर्घ व्यवधान से भी उपर्युक्त बात की ही पुष्टि होती है। पीछे दिखाया जा चुका है कि इन दोनों आचार्यों के आविर्भाव-कालों में अनेक शताब्दियों का व्यवधान रहा होगा क्योंकि वार्षगण्य पाणिनि और महाभारत से भी पर्याप्त प्राचीन थे, जब कि ईश्वरकृष्ण उनसे बहुत बाद के। इस तथ्य से भी जहाँ दोनों के अभिन्न या एक होने की बात कट जाती है, वहाँ दोनों के परस्पर गुरु-शिष्य होने की बात भी कट जाती है। अनेक शताब्दियों बाद होने वाले ईश्वरकृष्ण वार्षगण्य के शिष्य कदापि नहीं हो सकते। पं० उदयवीर शास्त्री के पिछले उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ईश्वरकृष्ण परमर्षि कपिल के अनुयायी थे। कपिल प्रवर्तित

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४३१ तथा ४३३।

सांख्य शास्त्र के अन्तर्गत वार्षगण्य की अपनी एक पृथक् एवं विशिष्ट विचार-धारा थी। एक ही दो तथ्यों के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो जायगी। जैसे वार्षगण्य के अनुसार 'करण' ग्यारह प्रकार के होते हैं।[1] उनके अनुयायी विन्ध्यवासी भी ग्यारह ही प्रकार के करण मानते हैं।[2] किन्तु कपिल के सांख्य में करण तेरह प्रकार के ही माने गए हैं। सांख्य-सूत्र २।३८ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है :—करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्।' सांख्यकारिका ३२ में भी इसी का निर्देश है :—'**करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्**'। स्पष्ट है कि वार्षगण्य और उनके अनुयायी आचार्य मन, अहंकार एवं बुद्धि, इस त्रिविध अन्तःकरण के स्थान में केवल बुद्धि रूप एक ही अन्तःकरण को स्वीकार करके करणों को एकादश ही बताते हैं, त्रयोदश नहीं। इसी प्रकार वार्षगण्य एवं ईश्वरकृष्ण के प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। ५ वीं सांख्य-कारिका की अवतरणिका में युक्तिदीपिकाकार ने अनेक आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष-लक्षणों का निर्देश करते हुए वार्षगण्य-कृत लक्षण इस प्रकार दिया है :—**श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः**[3] (पृ० ३६)। इसी का प्रत्याख्यान उद्योतकर ने १।१।४ के न्यायवार्तिक में किया है, जिसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्वकीय 'न्यायवार्तिकतात्पर्य' में इस प्रकार लिखा है :—**वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति**। इससे स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र भी उक्त लक्षण को वार्षगण्य का ही मानते हैं। ईश्वरकृष्ण-कृत प्रत्यक्ष-लक्षण तो स्पष्ट ही इससे भिन्न है। ५ वीं सांख्यकारिका के प्रथम चरण में 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण उन्होंने 'प्रतिविषयाध्यवसायः' किया है। इस प्रकार वार्षगण्य एवं ईश्वरकृष्ण की सांख्यान्तर्गत विशिष्ट विचारधारायें होने के कारण, दोनों का एक ही होना अथवा परस्पर गुरु-शिष्य होना कथमपि सिद्ध होता नहीं दिखायी देता।

षष्टितन्त्र के वार्षगण्य-कृत होने का विस्तृत विचार पीछे किया जा चुका है। वहाँ यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रो० हिरियन्ना तथा पं० उदयवीर शास्त्री, दोनों के ही अनुसार 'षष्टितन्त्र' वार्षगण्य की रचना नहीं कहा जा सकता। किन्तु प्रो० हिरियन्ना ने वाचस्पति मिश्र द्वारा भामती में आचार्य वार्षगण्य के नाम पर उद्धृत 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥' श्लोक के आधार पर वार्षगण्य को जो ब्रह्मपरिणामवादी ठहराया है, वह शास्त्री जी को मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "किसी प्रमाण के आधार पर अभी तक यह अवगत नहीं हो सका है कि वार्षगण्य दृश्यमान जगत् को सर्वथा मिथ्या अथवा काल्पनिक मानता था। भामतीकार ने भी जिस प्रसंग के साथ इस श्लोक को उद्धृत किया है, वहाँ से भी वार्षगण्य के इस

१. द्रष्टव्य युक्तिदीपिका, पृ० १३२:—करणं..एकादशविधमिति वार्षगणाः।

२. " " पृ० १०८ :—करणमपि..एकादशकमिति विन्ध्यवासी।

३. वार्षगण और वार्षगण्य शब्दों में स्वरूपतः भेद होने पर भी वस्तुतः या सिद्धान्ततः कुछ भी भेद नहीं है। 'वृषगण' से गर्गादिभ्यो यञ्॥[४।१।१०५॥] सूत्र द्वारा यञ् प्रत्यय जोड़कर 'वार्षगण्य' बनता है जिसका अर्थ 'आचार्य वृषगण के गोत्र या वंश में उत्पन्न आचार्य' हुआ। फिर वृषगण एवं वार्षगण्य, दोनों से ही 'तदधीते तद्वेद' ॥४।२।५९॥सूत्र के अनुसार 'अ' प्रत्यय जोड़कर 'वार्षगण' पद प्राप्त होता है, जिसका अर्थ 'वार्षगण्य के अनुयायी' अथवा 'वार्षगण्य-कृत शास्त्र के अध्येता एवं ज्ञानी' हुआ। इस प्रकार 'वृषगण' अथवा 'वार्षगण' नामों से उद्धृत मत भी प्रायेण वार्षगण्य के ही समझे जाने चाहिए।

प्रकार के विचारों की ध्वनि प्रतीत नहीं होती। फिर दृश्यमान जगत् का कारण, जो कि दृष्टिगोचर नहीं होता और गुणों का परम रूप है, वह क्या है ? वह प्रकृति अर्थात् प्रधान है, अथवा ब्रह्म ? हमने जहाँ तक वार्षगण्य के विचारों को समझा है, गुणों का परम रूप वह प्रधान को ही कह सकता है, ब्रह्म को नहीं। कम से कम हमने आज तक कोई भी ऐसा लेख नहीं देखा। फिर ब्रह्म को गुणों का रूप कहना भी सामञ्जस्यपूर्ण नहीं होगा। प्रश्न केवल इतना है कि दृश्यमान जगत् का मूल उपादान चेतन है, अथवा अचेतन ? वार्षगण्य मूल उपादान को चेतन नहीं मानता, प्रत्युत अचेतन[1] प्रधान को ही जगत् का मूल मानता है। उसके विचार से वही गुणों का परम रूप है। ऐसी स्थिति में अध्यापक हिरियन्ना महोदय ने वार्षगण्य को ब्रह्म-परिणामवादी किस आधार पर माना है, हम कह नहीं सकते। इसलिए वार्षगण्य इस दृश्य जगत् को भी काल्पनिक नहीं मान सकता। उसने 'माया' पद का प्रयोग नश्वरता को ही प्रकट करने के लिए किया है, और इस प्रकार 'एव' 'इव' के पाठ-भेद में भी अर्थ-भेद कुछ नहीं होता"।[2]

शास्त्री जी का यह लेख सर्वथा ठीक है, यद्यपि एतदर्थ 'इव' और 'एव' पाठों के अर्थ-भेदों का जो उन्होंने प्रतिषेध किया है, वह ठीक नहीं है। तदर्थ उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी। वस्तुतः तो योगभाष्यकार व्यासदेव के साक्ष्य के आधार पर वे प्रधानवादी सांख्ययोगाचार्य ठहरते हैं। योगसूत्र ३।५३ के भाष्यान्त में व्यास देव का लेख इस प्रकार है :—"अत उक्तम्—'मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्' इति वार्षगण्यः"। इस वाक्य की वाचस्पतिमिश्र-कृत व्याख्या[3] भी इसी बात का समर्थन करती है। भामती में वार्षगण्य के नाम से उद्धृत **'गुणानां परमं रूपम्'** इत्यादि श्लोक की **'अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽह स्म भगवान् वार्षगण्यः'** इत्यादि अवतरणिका तो पिछले अध्याय में उद्धृत हो ही चुकी है। सांख्यकारिका की प्राचीन टीका 'युक्तिदीपिका' में वार्षगण्य के सांख्ययोगविषयक अनेक विशिष्ट मत उद्धृत हुए हैं। अन्यत्र भी जहाँ कहीं उनका उल्लेख हुआ है, वहाँ सांख्ययोगाचार्य के रूप में ही। ऐसी स्थिति में उनके नाम पर अपने द्वारा उद्धृत श्लोक की व्याख्या के रूप में जगत् को निस्तत्त्व या काल्पनिक कहना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता। किस प्रमाण के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने ऐसा लिखा है, पता नहीं। "योग शास्त्र सविकार प्रधान अथवा अव्यक्त का मुख्य विषय के रूप में प्रतिपादन न करके केवल योग के निमित्त अथवा द्वार रूप से ही प्रतिपादन करता है, उसके प्रतिपादन का मुख्य विषय तो योग, उसका स्वरूप और साधन, उसका अवान्तर फल 'विभूतियाँ' तथा

---

१. सांख्य-सप्तति की युक्तिदीपिका व्याख्या में वार्षगण्य और उसके अनुयायियों के अनेक मतों का उल्लेख है। वहाँ से उद्धृत निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालते हैं :—प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते। [पृ० १०२, पंक्ति २४-२५]।। करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात्, स्वल्पा च स्वतः। [पृ० १०८, पंक्ति १५-१६]॥ साधारणो हि महान् प्रकृतित्वात् [पृ० १४५, पंक्ति ६]।

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ८७-८८।

३. द्रष्टव्य, योग० भा० ३।५३ की तत्त्ववैशारदी, पृ० ३८७ :—तदाह—'मूर्तिव्यवधि' इति। उक्तभेदहेतूपलक्षणमेतद्, जगन्मूलस्य प्रधानस्य पृथक्त्वं भेदो नास्तीत्यर्थः।

उसका परम फल 'कैवल्य' ही है"—इस प्रकार का जो सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म० २।१।३ के शाङ्कर-भाष्य की अपनी टीका भामती में स्थापित किया है, उसमें आचार्य वार्षगण्य का कितना स्वारस्य है, यह कहना कठिन है। फिर 'गुणानां परमं रूपं न दृष्टि-पथमृच्छति' इस पूर्वार्ध का व्याख्यान भामतीकार शायद जान बूझ कर बचा गए हैं, क्योंकि दृष्टि-पथ में न आने वाला गुणों का परम रूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त या प्रधान के अतिरिक्त ब्रह्म इत्यादि कुछ भी नहीं हो सकता और जगत् की काल्पनिकता अथवा निस्तत्त्वता के साथ इस प्रधान की किसी प्रकार की संगति नहीं बैठती, कोई समन्वय या सामञ्जस्य नहीं हो पाता। यद्यपि प्रो० हिरियन्ना ने वार्षगण्य को षष्टितन्त्र का रचयिता न मानने का जो आधार—'मायेव' तथा 'मायैव' पाठों का महत्त्वपूर्ण अर्थ-भेद—माना है; वह वाचस्पति मिश्र के व्याख्यानों से सर्वथा समर्थित है; तथापि जैसा अभी निवेदन किया जा चुका है, वार्षगण्य के त्रिगुणात्मक प्रधानवाद के साथ वाचस्पति मिश्र द्वारा उनके नाम पर उद्धृत श्लोक का 'मायैव' पाठ एव उसका 'जो कुछ दिखाई पड़ता है', वह सब माया ही है,' इत्यादि अर्थ असंगत एवं असमञ्जस ही लगता है, क्योंकि यद्यपि प्रधानवाद के अनुसार जगत् आविर्भाव-तिरोभाव-धर्मक होने के कारण 'मायेव' तो कहा जा सकता है तथापि 'मायैव' नहीं। ऐसी स्थिति में पं० उदयवीर शास्त्री के सुझाव के अनुसार 'मायेव' पाठ वाले श्लोक को वार्षगण्य-कृत षष्टितन्त्र-शास्त्र का मान लेने पर 'मायैव' पाठ वाले भामती-उद्धृत श्लोक के विषय में यही मानना पड़ेगा कि वाचस्पति मिश्र ने इच्छानुसार मूल के 'मायेव' पाठ को 'मायैव' में परिवर्तित कर के भी उसे वार्षगण्य के नाम पर ही उद्धृत किया और इस के कारण वार्षगण्य के मत में होने वाली असंगति की उन्होंने कुछ भी परवाह न की। जो कुछ भी सत्य हो पर इतना तो निश्चित ही जान पड़ता है कि षष्टितन्त्र के रचयिता वार्षगण्य कदापि नहीं हो सकते। इस तथ्य को प्रमाणित करने वाली सबसे बड़ी बात तो यही है कि ईश्वर-कृष्ण ने अपनी उपसंहारात्मक कारिकाओं में जहाँ कपिल, आसुरि और पञ्चशिख, इन तीन सर्व-प्राचीन आदिम आचार्यों का साक्षात् उल्लेख किया है और स्पष्ट कहा है कि उसकी कारिकायें उस 'तन्त्र' का संक्षेप हैं जिसे कपिल से आसुरि तथा उनसे पञ्चशिख ने पाकर खूब विस्तृत किया, वहाँ उन्होंने वार्षगण्य का नामोल्लेख तक नहीं किया। यदि उनकी दृष्टि में वार्षगण्य 'षष्टितन्त्र' के रचयिता होते तो उसका संक्षेप करते समय वे अवश्य ही उनका नाम लेते। यह बात समझ के बाहर है कि जिसके ग्रन्थ का संक्षेप किया जाय, उसका उल्लेख तो न हो और उसके बदले किसी दूसरे आचार्य का उल्लेख हो। फिर दूसरी बात यह भी है कि वार्षगण्य के नाम पर मिलने वाले उद्धरणों में उल्लिखित या निर्दिष्ट सिद्धान्तों में से कई का कपिलोपदिष्ट सिद्धान्तों से बड़ा विरोध है। कुछ का उल्लेख इसी प्रसंग में थोड़ा पूर्व हो चुका है। परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वह सिद्धान्त है जिसमें वार्षगण्य ने आदिम सर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति को चेतन पुरुष की सहायता के बिना ही माना है। वार्षगण्य के इस सिद्धान्त को युक्तिदीपिका[1] में इस प्रकार रक्खा गया है:—'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्य-

---

१. द्रष्टव्य पृ० १०२।

माणाऽदिसर्गे वर्तते' । इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि प्रधान की प्रवृत्ति आदि सर्ग में ज्ञानपूर्वक नहीं होती, पुरुष से अपरिगृहीत अर्थात् चेतन-निरपेक्ष ही प्रकृति स्वकार्य में प्रवृत्त होती है । इस प्रकार वार्षगण्य का यह मत चेतन-निरपेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है। परन्तु इसके विपरीत माठर-वृत्ति एवं गौडपाद-भाष्य में षष्टितन्त्र के नाम से उद्धृत "पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" वाक्य में चेतन पुरुष से परिगृहीत या युक्त प्रकृति की प्रवृत्ति का ही सिद्धान्त प्रतिपादित है। यह वाक्य सम्भवतः पञ्च-शिख का है । इसमें कथित सिद्धान्त सांख्य-षडध्यायी के 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' सूत्र में भी प्रतिपादित है । इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि वार्षगण्य षष्टितन्त्र के रचयिता नहीं हो सकते ।

आचार्य वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख सांख्य-योगदर्शन के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है । सर्वाधिक उल्लेख सांख्य-कारिका की प्राचीन टीका 'युक्तिदीपिका' में हुआ है। कुछ का उल्लेख वाचस्पति मिश्र की कृतियों में भी हुआ है । एक का उल्लेख योगसूत्रों के 'व्यास-भाष्य' में मिलता है । पिछले अध्याय में 'षष्टितन्त्र' के वार्षगण्य-कृत होने का विचार करते समय यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि वार्षगण्य ने अपने परवर्त्ती आचार्यों के कुछ सिद्धान्त कुछ शब्दों के हेर-फेर से अथवा ज्यों के त्यों ही अपना लिए थे। उस प्रसंग में उनके कुछ मुख्य सिद्धान्त दिये जा चुके हैं। वर्तमान अध्याय के प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी उन के कुछ और सिद्धान्तों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। परन्तु समग्रता की दृष्टि से उनके सिद्धान्तों के सारे उद्धरण यहाँ इकट्ठे दिए जा रहे हैं :—

(१) **मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथकत्वम् इति वार्षगण्यः।**

[योगभाष्य ३।५३]

(२) **अतएव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः ।**

[सांख्यतत्त्वकौमुदी आर्या ४७]

(३) **अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः—**

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥' इति । [ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।१।३ की भामती]

(४) **सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् ।** [न्यायवार्तिक १।१।५]

(५) **श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः ।** [युक्तिदीपिका, पृ० ३९]

(६) **तथा च वार्षगणाः पठन्ति—**

'तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः । तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः । स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानां, किञ्चित् कालान्तरावस्थानादितरेषाम्।' इति ।

[वही, पृ० ६७]

(७) **तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति—**

रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते ।

[वही, पृ० ७२]

(८) तथा च वार्षगणाः पठन्ति—
'बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुष' इति। [वही, पृ० ९५]
(९) तथा च वार्षगणाः पठन्ति—
'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणादिसर्गे वर्तते' इति। [वही, पृ० १०२]
(१०) वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यते। [वही, पृ० १०८]
(११) एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये, एकोत्तराणीति वार्षगण्यः [,, ,,]
(१२) करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात्, स्वल्पा च स्वतः इति वार्षगण्यः। [,, ,,]
(१३) करणं...एकादशविधमिति वार्षगणाः। [वही, पृ० १३२]
(१४) यदि यथा वार्षगणा आहुः 'लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेणाभिविष्टो विशिष्टलक्षणेन तथा स्यात्तत्त्वान्तरम्।' [वही, पृ० १३३]
(१५) साधारणो हि महान् प्रकृतित्वादिति वार्षगणानां पक्षः। [वही, पृ० १४५]
(१६) वार्षगणानां तु, यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः। [वही, पृ० १७०]

ईश्वरकृष्ण

पीछे वार्षगण्य के प्रसङ्ग में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि न तो वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण ही थे और न उनके गुरु ही। वहाँ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास भी भिन्न-भिन्न आचार्य थे, एक नहीं। वहाँ इन दोनों ही तथ्यों के दो समान कारण अत्यंत संक्षेप में दिए गए हैं। एक तो यह कि वार्षगण्य से ईश्वरकृष्ण एवं ईश्वरकृष्ण से विन्ध्यवास पर्याप्त परवर्ती थे, दूसरे यह कि कई महत्त्वपूर्ण बातों में वार्षगण्य तथा ईश्वरकृष्ण, एवं ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास में महान् मत-भेद दीख पड़ता है। जिन बातों के सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण का वार्षगण्य से मत-भेद है, उनके सम्बन्ध में उनका विन्ध्यवास से भी प्रायः मत-भेद है, एवं वार्षगण्य तथा विन्ध्यवास का प्रायः परस्पर मतैक्य। ईश्वरकृष्ण तेरह करण मानते हैं, इसके विपरीत वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास दोनों ही ग्यारह करण मानते हैं।[1] इसी प्रकार वार्षगण्य-कृत प्रत्यक्ष-लक्षण 'श्रोत्रादिवृत्तिः'[2] तथा विन्ध्यवास-कृत प्रत्यक्ष-लक्षण 'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका'[3] है, किन्तु ईश्वरकृष्ण-कृत लक्षण 'प्रतिविषयाध्यवसायः' है। वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास का अनुमान-लक्षण भी समान है और ईश्वरकृष्ण का भिन्न। इनके अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास का प्रसिद्ध मत-भेद सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध में है। विन्ध्यवास सूक्ष्म शरीर की सत्ता नहीं मानते। युक्तिदीपिका एवं श्लोकवार्तिक के रचयिताओं ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है :—**विन्ध्यवासिनस्तु...नास्ति सूक्ष्मशरीरम्** (युक्ति०, पृ० १४४);

१. द्रष्टव्य, युक्तदीपिका, पृ० १०८ एवं १३२।
२. द्रष्टव्य, वही, पृ० ३९।
३. द्रष्टव्य, सन्मतितर्क की अभयदेवसूरि-कृत व्याख्या, पृ० ५३३।

अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना (श्लोकवार्तिक)। वार्षगण्य के एतद्विषयक मत का उल्लेख न मिलने से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विन्ध्यवास के मत के विरुद्ध ईश्वरकृष्ण सूक्ष्म शरीर मानते हैं। ३९-४०वीं कारिकाओं में उन्होंने इसका विवरण प्रस्तुत किया है। इन भेदों के आधार पर स्पष्ट रूप से यह बात कही जा सकती है कि ईश्वरकृष्ण एवं विन्ध्यवास सर्वथा भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके विपरीत डा० तकाकुसु एवं तिलक जी का यह मत कि 'ईश्वरकृष्ण' एवं विन्ध्यवास एक ही व्यक्ति के नाम हैं, सर्वथा असंगत है। इससे डा० कीथ का यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि विन्ध्यवास सांख्यकारिका के रचयिता से अभिन्न थे और वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक थे[1]।

इसके पूर्व यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि वार्षगण्य महाभारत-काल से भी प्राचीन आचार्य हैं क्योंकि शान्ति पर्व[2] में जैगीषव्य, देवल आदि प्राचीन आचार्यों के साथ उनका भी उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण का महाभारत में कहीं भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण से अत्यन्त प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं। ईश्वरकृष्ण वार्षगण्य से अर्वाचीन होने पर भी विन्ध्यवास से प्राचीन हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं प्रतीत होता। जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' आधुनिक विद्वानों के अनुसार ईसवी प्रथम शताब्दी की रचना है। इसके ४१वें सूत्र में उल्लिखित जैनेतर ग्रन्थों में एक 'कनगसत्तरी' भी है। यह सांख्यसप्तति अर्थात् ईश्वरकृष्ण-कृत 'सांख्यकारिका' का ही एक नाम था। पीछे कह आये हैं कि चीनी यात्री कुई-ची (Kuei chi) का यह वर्णन कि ग्रन्थ के रचयिता को पारितोषिक रूप में तीन लाख सुवर्ण-मुद्रायें प्राप्त होने के कारण इस का नाम 'हिरण्यसप्तति' हो गया, इस बात को द्योतित करता है कि सम्भवतः रचयिता को सुवर्ण-प्राप्ति का साधन होने के कारण ही 'सांख्यसप्तति' के 'हिरण्यसप्तति', 'कनकसप्तति', सुवर्णसप्तति' आदि नाम पड़ गए। यदि यह सम्भावना सत्य हो, और ऐसा मानना युक्त ही प्रतीत होता है, तो निःसन्देह ईश्वरकृष्ण ईसवी प्रथम शताब्दी से पूर्ववर्ती होंगे। विन्ध्यवास का समय ईसवी तृतीय शतक से पूर्व कदापि नहीं हो सकता। इसके पूर्व भी कहा जा चुका है कि परमार्थ-कृत 'वसुबन्धचरित' के अनुसार विन्ध्यवास नामक सांख्य दार्शनिक ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था, और वसुबन्धु स्वगुरु-पराजय का प्रतिशोध करने को ही थे कि विन्ध्यवास की मृत्यु हो गई। इससे सिद्ध होता है कि विन्ध्यवास वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक रहे होंगे। वसुबन्धु का समय डा० कीथ[3] तथा डा० बेल्वल्कर ईसवी तृतीय शताब्दी का अन्त मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् उन्हें ईसवी चतुर्थ शतक का मानते हैं। ऐसी स्थिति में उनके वृद्ध समकालिक विन्ध्यवास का समय तृतीय शताब्दी का अन्त अथवा अधिक से अधिक उसका मध्य माना जा सकता है। इस प्रकार विन्ध्यवास ईश्वरकृष्ण से कम से कम ढाई-तीन सौ वर्ष बाद हुए होंगे, ऐसी संभावना है।

परन्तु कुछ विद्वान् इसके विपरीत ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास का परवर्ती मानने के पक्ष में हैं। श्री विनयतोष भट्टाचार्य महोदय की मान्यता है कि विन्ध्यवास के सूक्ष्मशरीर-

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य सिस्टम, पृ० ७९।

२. द्रष्टव्य ३१८।५९

३. द्रष्टव्य, सांख्य सिस्टम, पृ० ६७।

विषयक मत का खण्डन करने के लिए ही ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका जैसे अत्यन्त संक्षिप्त ग्रन्थ में भी उसके वर्णन में तीन कारिकाओं का उपयोग किया[१]। भट्टाचार्य महोदय की यह मान्यता अथवा स्थापना नितान्त भ्रान्त है। सूक्ष्म शरीर का वर्णन केवल ४० वीं कारिका में हुआ है, तीन कारिकाओं में नहीं। ३९ वीं कारिका में स्थूल शरीर एवं महाभूतों के साथ उसका उल्लेख-मात्र हुआ है। इसके अतिरिक्त ४० वीं कारिका में विषय का प्रतिपादन-मात्र है जो संक्षिप्त एवं सारगर्भित है, उसमें खण्डन की तो गन्ध भी उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में भट्टाचार्य महोदय की उपर्युक्त मान्यता वितथ एवं निरर्थक ही कही जायगी। भट्टाचार्य महोदय ने अपनी मान्यता के समर्थन में एक अन्य बात का भी उल्लेख किया है, और वह यह है कि तिब्बती लेखों के आधार पर ईश्वरकृष्ण वसुबन्धु के परवर्ती, पाचवीं शताब्दी के बौद्ध तार्किक दिङ्नाग के समकालिक सिद्ध होते हैं। क्योंकि तिब्बती लेखों में दोनों के शास्त्रार्थ एवं ईश्वरकृष्ण के प्रतिज्ञा-भंग की कथा मिलती है। इस सम्बन्ध में पं० उदयवीर शास्त्री का यह कथन सर्वथा ठीक ही लगता है कि 'इस प्रकार के तिब्बती लेख इसी ढंग के कहे जा सकते हैं, जैसे बल्लाल के भोज-प्रबन्ध में भोज के दरबार में उन सब कवियों को इकट्ठा कर दिया गया है जिनके सम्बन्ध में बल्लाल जानकारी रखते थे, चाहे वे कवि भोज से कितने ही पूर्व हुये हों अथवा पश्चात्। वस्तुतः उनमें ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। विन्ध्यवास ने जब शास्त्रार्थ में प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बुद्धमित्र को परास्त कर दिया, उसके अनन्तर उस पराजय-जन्य प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर बौद्ध दन्तकथाओं में में न मालूम कितने शास्त्रार्थों की कल्पना कर डाली गई होगी, और न मालूम कितने वैदिक विद्वानों को प्रतिज्ञा-भंग का दोषी ठहराया गया होगा। इन लचर आधारों पर इतिहास का शोधन नहीं किया जा सकता। उक्त तिब्बती लेखों की तथ्यता के कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं हैं'[२]। इस प्रकार स्पष्ट है कि अप्रामाणिक तिब्बती लेखों के आधार पर ईश्वरकृष्ण को पाँचवीं शताब्दी के दिङ्नाग का समकालिक बताकर तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा अन्त में होने वाले विन्ध्यवास से परवर्ती नहीं सिद्ध किया जा सकता। इन तिब्बती लेखों का, विन्ध्यवास को दिङ्नाग से पूर्ववर्ती वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र का समकालिक बताने वाली चीनी परम्परा के साथ विरोध भी सुस्पष्ट है।

पूर्व कथन से स्पष्ट है कि ईश्वरकृष्ण का समय ईसवी प्रथम शताब्दी के पूर्व होना चाहिए। परन्तु जैसा पहले भी कह आए है, डा० कीथ ईश्वरकृष्ण के विन्ध्यवास से अभिन्न होने का संकेत यह कह कर करते हैं कि सम्भवतः विन्ध्यवास स्वयं ही कारिकाकार थे, और फिर विन्ध्यवास को वसुबन्धु का वृद्ध समकालिक होने के कारण चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में रखते हैं; क्योंकि चीनी परम्परा के आधार पर वसुबन्धु का समय ३५० ई० के आस-पास निर्धारित होता है, जिससे यही समय ईश्वरकृष्ण का सिद्ध हो जाता है। परन्तु ईश्वरकृष्ण एवं विन्ध्यवास की अभिन्नता का खण्डन पहले किया जा चुका है। अतः इस आधार पर डा० कीथ द्वारा ईश्वरकृष्ण के समय का ३०० ई० के आस-पास निर्धारित किया जाना नितान्त भ्रान्त है। हाँ, विन्ध्यवास का समय अवश्य ही २५० ई० से ३०० ई०

---

१. द्रष्टव्य, जरनल आव् इण्डियन हिस्ट्री, भाग ६, पृ० ३६।

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४४३।

के बीच अथवा इसके थोड़ा बाद भी रक्खा जा सकता है। ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका सांख्यदर्शन का सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्व-विदित ग्रन्थ है। इसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

रुद्रिल विन्ध्यवासी

इन्हें विन्ध्यवास या विन्ध्यवासी, दोनों ही कहा जाता है। ईश्वरकृष्ण के प्रसंग में इनके सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है। वहाँ इन दोनों के कई मतों में भेद या वैषम्य दिखा कर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों कदापि एक व्यक्ति नहीं हो सकते एवं लोकमान्य तिलक, डा० तकाकुसु, डा० कीथ इत्यादि विद्वानों की एतत्सम्बन्धी विपरीत मान्यता अमान्य एवं असत् है। दोनों के मत-वैषम्य के अतिरिक्त एक अन्य कारण से भी ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी पृथक् व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वह कारण यह है कि विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्ण का हरिभद्रसूरि आदि प्राचीन आचार्यों ने भी पृथक्-पृथक ही उल्लेख किया है।

विन्ध्यवास का समय विज्ञानवाद के अप्रतिम आचार्य वसुबन्धु के समय-निर्धारण पर निर्भर है। चीनी परम्परा का अनुसरण करते हुए परमार्थ ने अपने ग्रन्थ 'वसुबन्धु-चरित' में लिखा है कि विन्ध्यवास ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। उसमें यह भी उल्लिखित है कि वसुबन्धु अपने गुरु के पराजय का बदला चुकाने का विचार ही कर रहे थे कि इसी बीच विन्ध्यवास का देहावसान हो गया। फिर वसुबन्धु ने अपने 'परमार्थसप्तति' नामक ग्रन्थ में विन्ध्यवास के सिद्धान्तों का खण्डन करके वह बदला चुकाया। इससे स्पष्ट होता है कि विन्ध्यवास वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक थे। किन्तु वसुबन्धु का समय अनिश्चित है। डा० तकाकुसु ने उन्हें ईसवी पञ्चम शताब्दी के अन्तिम तीन पादों अर्थात् ४२५ से ५०० ई० के बीच रक्खा है। इसके आधार पर विन्ध्यवास का समय ४५० ई० के आस-पास सिद्ध होता है। परन्तु चीनी परम्परा के साक्ष्य के आधार पर एन० पेरी द्वारा वसुबन्धु का समय उससे कम से कम एक शताब्दी पूर्व रक्खा गया। डा० कीथ भी चीनी परम्परा को ही ठीक मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार विन्ध्यवास का समय ईसवी चतुर्थ शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित होता है। जैसा ईश्वरकृष्ण के प्रसंग में कह आए हैं, डा० कीथ ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से अभिन्न मानने के कारण उन (ईश्वरकृष्ण) का भी यही समय मानते हैं।[1] डा० बेल्वाल्कर वसुबन्धु का समय तृतीय शताब्दी का अन्तिम भाग मानते हैं, एवं तदनुसार ही विन्ध्यवास का समय २५० ई० के लगभग मानते हैं।

परन्तु इसके विपरीत पं० तनुसुखराम शर्मा ने माठर-वृत्ति की अपनी भूमिका में विन्ध्यवासी को नन्दकालीन वैयाकरण व्याडि से अभिन्न मानते हुए ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती बताया है।[2] शर्मा जी त्रिकाण्डशेष, हैम इत्यादि कोशों के व्याडि-विषयक लेखों को अपनी इस स्थापना का आधार मानते हैं। त्रिकाण्डशेष की उद्धृत पंक्ति 'अथ व्याडि-

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य सिस्टम पृ० ७६।

२. द्रष्टव्य, भूमिका का पृ० ३, पंक्तियाँ १६-२५।

विन्ध्यस्थो नन्दिनीसुतः । मेधावी च', तथा हैम कोश की पंक्ति 'अथ व्याडिर्विन्ध्यवासी नन्दिनीतनयश्च सः' है । ये व्याडि भगवान् वर्ष के शिष्य, पाणिनि-सूत्रों की 'संग्रह' नामक टीका के रचयिता तथा पतञ्जलि के पूर्ववर्ती थे । ये व्याडि ही विन्ध्यवासी थे, ऐसा शर्मा जी का कथन है । जब विन्ध्यवासी व्याडि से अभिन्न हुए, तब ईश्वरकृष्ण से उनका पूर्ववर्तित्व सिद्धप्राय ही है, क्योंकि ईश्वरकृष्ण का समय नन्द से तो बाद का ही होगा । इसी आशय से शर्मा जी ने वार्षगण्य के साथ-साथ विन्ध्यवासी को भी ईश्वरकृष्ण का पूर्ववर्ती बताया है[1] । 'वसुबन्धु-चरित' में विन्ध्यवास के वार्षगण्य का शिष्य कहे जाने से भी इसी बात का समर्थन होता प्रतीत होता है। फिर सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका के एक सन्दर्भ से भी इसी बात की सत्यता प्रमाणित होती है। वह सन्दर्भ इस प्रकार है :— **एवं चेन्मन्यसे, सन्ति जिज्ञासादयोऽवयवाः शास्त्रे, तेषामनुपदेशे प्रयोजनं वक्तव्यम्— अमुष्माद्धेतोराचार्येण नोपदिश्यन्ते, सन्ति च ते इति । उच्यते—प्रमाणान्तरभावात् । प्रमाणेष्वन्तर्भाव एषामित्ययमुपदिष्टो हेतुरस्माभिः । अनुमानाङ्गं हि जिज्ञासादयस्तस्मात् तदन्तर्भूतास्त इति न पृथगुपदिश्यन्ते । किञ्च, तन्त्रान्तरोक्तेः । तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः, प्रमाणं नः ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनाम्** ।'[2] इस सन्दर्भ में इस प्रश्न को उठाकर उसका उत्तर दिया गया है कि प्रस्तुत 'सांख्यकारिका' शास्त्र में अनुमान के जिज्ञासा इत्यादि अवयवों का कथन क्यों नहीं किया गया ? इसके उत्तर में दो कारणों का कथन किया गया है। एक तो यह है कि अनुमान के अंग होने से उसी के अन्तर्भूत होने के कारण जिज्ञासा आदि का पृथक् कथन नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त यह भी कारण है कि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवास आदि आचार्यों ने इनका कथन कर रक्खा है, और वे आचार्य हमारे लिये प्रमाण हैं। इसलिये यहाँ जिज्ञासा आदि का पृथक् उपदेश करने की आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भ से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि युक्तिदीपिकाकार की दृष्टि से विन्ध्यवास अवश्यमेव सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती थे, अन्यथा उनका उपर्युक्त कथन असंगत हो जायगा ।

ईश्वरकृष्ण से विन्ध्यवास का पूर्ववर्तित्व सिद्ध करने वाले पूर्वोक्त तीनों ही तर्क परीक्षा-निकष पर खरे नहीं उतरते । त्रिकाण्डशेष, हैम इत्यादि कोशों के आधार पर विन्ध्यवास को व्याडि से अभिन्न बताकर नन्दकालीन, तथा ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती सिद्ध करना समीचीन नहीं जान पड़ता। इसका कारण यह है कि उन-उन कोशों में व्याडि के लिये प्रयुक्त हुआ 'विन्ध्यवासी' शब्द उसका नामान्तर नहीं अपितु विशेषण जान पड़ता है, क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो सभी कोशों में 'विन्ध्यवासी' अथवा विन्ध्यवास' शब्द ही प्रयुक्त होता, 'विन्ध्यस्थ'[3], 'विन्ध्यनिवासी'[4] इत्यादि शब्द न प्रयुक्त होते। 'विन्ध्यवासी' शब्द का अर्थ देने वाले 'विन्ध्यनिवासी' 'विन्ध्यस्थ' इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग होने से स्पष्ट है कि कोशकारों का तात्पर्य व्याडि को सांख्यदर्शन के

१. द्रष्टव्य, माठर वृत्ति की भूमिका का पृ० ३, पंक्तियाँ १६-२५।

२. द्रष्टव्य, युक्तिदीपिका, पृ० ४, द्वितीय पैराग्राफ।

३. द्रष्टव्य, त्रिकाण्डशेष २।३।२४-५।

४. द्रष्टव्य, केशवकल्पद्रुम, पृ० ८३।

अन्यतम आचार्य विन्ध्यवासी से अभिन्न कहने से न होकर इस बात से है कि व्याडि विन्ध्य-स्थित किसी आश्रम, स्थान आदि के रहने वाले थे । विन्ध्य-पर्वत एवं उसकी परिसर-भूमि में स्थित विन्ध्याटवी प्राचीनतम काल से देश के असंख्य महात्मा ऋषि-मुनियों, आचार्यों आदि की तपो-भूमि रही है । उनमें रहने वाले अनेक ऋषि-महर्षियों एवं उनके आश्रमों के उल्लेख देश के प्राचीन साहित्यों, विशेषतः संस्कृत साहित्य, में भरे पड़े हैं । हो न हो, परवर्ती काल में प्रसिद्ध ऐसे ही किसी आश्रम के निवासी आचार्यों में सुविख्यात होने के कारण व्याडि को विन्ध्यवासी अथवा विन्ध्यस्थ कहा जाने लगा हो । विभिन्न समयों में विभिन्न आचार्यों के विन्ध्यवासी कहे जाने से इस अनुमान की पुष्टि होती है । योगसूत्र ४।१ के व्यास-भाष्य की स्व-रचित टीका तत्त्व-वैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने माण्डव्य नामक एक मुनि के विन्ध्यवासी होने की बात कही है जिन्होंने रसायन के उपयोग से काम आदि की सिद्धि प्राप्त की थी[१] । सांख्याचार्य विन्ध्यवासी का भी वास्तविक नाम 'रुद्रिल' प्रतीत होता है, क्योंकि इसी नाम से उनका प्रायः उल्लेख हुआ है । इससे भी ज्ञात होता है कि विन्ध्यवासी 'व्याडि' से विन्ध्यवासी 'रुद्रिल' अवश्य भिन्न थे । इस प्रकार रुद्रिल के व्याडि से भिन्न सिद्ध होने पर व्याडि के समय से रुद्रिल के समय को ईसवी पूर्व चतुर्थ शतक में बताना एवं इस कारण से रुद्रिल विन्ध्यवासी को ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता । विन्ध्यवासी रुद्रिल का व्याडि से भिन्न होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि परमार्थ के लेख के के अनुसार विन्ध्यवासी वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक प्रतीत होते हैं और वसुबन्धु का समय चतुर्थ शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ से पूर्व का न सिद्ध होने के कारण विन्ध्यवासी का समय २५० ई०-३०० ई० के पूर्व का नहीं हो सकता, जब कि व्याडि का समय इससे लगभग ६०० वर्ष पूर्व नन्द के समय में बताया जाता है । इसी से पूर्वोक्त यह द्वितीय हेतु भी कट जाता है कि परमार्थ-कृत वसुबन्धु-चरित में विन्ध्यवासी के वार्षगण्य-शिष्य कहे जाने तथा वार्षगण्य के ईश्वरकृष्ण से पर्याप्त प्राचीन आचार्य होने के कारण विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती होंगे । जब वसुबन्धु-चरित के लेख के अनुसार भी विन्ध्यवासी का समय २५० से ३०० ई० से पूर्व का नहीं सिद्ध होता, तब महाभारत-काल से भी प्राचीन आचार्य वार्षगण्य का शिष्य मान कर उन्हें उनका समकालिक कैसे कहा जा सकता है ? निश्चित ही 'शिष्य' शब्द का प्रयोग इस स्थल में मतानुयायी के अर्थ में ही किया गया प्रतीत होता है, साक्षात् शिष्य के अर्थ में नहीं । वार्षगण्य के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का विन्ध्यवासी द्वारा अनुसरण किया जाना प्रस्तुत अध्याय के पूर्व लेख से स्पष्ट हो चुका है । और यदि ईश्वरकृष्ण से विन्ध्यवासी का पूर्ववर्तित्व प्रतिपादित करने वाले विद्वान् अपनी जिद रखने के लिये विन्ध्यवासी को वार्षगण्य का साक्षात् शिष्य मान भी लें तो भी उससे बात बनती नहीं, क्योंकि उस स्थिति में वार्षगण्य का समय विन्ध्यवासी का ही समय अथवा उनके समय से थोड़ा ही पूर्व अर्थात्

---

१. ओषधिसिद्धिमाह—असुरभवनेष्विति । मनुष्यो हि, कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनमुपसम्प्राप्तः.. रसायनमुपयुज्याजरामरणत्वमन्याश्च सिद्धीरासादयति, इहैव वा रसायनोपयोगेन यथा माण्डव्यो मुनी रसायनोपयोगाद् विन्ध्यवासीति ।

तृतीय ई० शताब्दी का मध्य हो सकता है और तब ईश्वरकृष्ण से वार्षगण्य का पूर्व-वर्तित्व, जिसके आधार पर विन्ध्यवासी का भी पूर्ववर्तित्व कहा जाता है, सन्दिग्ध हो जायगा जो अपने ही हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने के समान होगा। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों के लेख के साथ इसका जो विरोध उपस्थित होगा, वह अलग।

परन्तु ईश्वरकृष्ण से विन्ध्यवासी को पूर्ववर्ती मानने में जो तृतीय हेतु दिया गया है, वह सर्वाधिक प्रबल प्रतीत होता है। युक्तिदीपिका के पूर्वोद्धृत लेख से यही धारणा सुदृढ होती है कि उनकी दृष्टि में विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से पूर्व हुये थे, क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो वे सांख्यकारिका में जिज्ञासा आदि के कथित होने का यह कारण क्यों देते कि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवास आदि आचार्यों द्वारा इनका कथन होने एवं हम लोगों के लिये विन्ध्यवास आदि आचार्यों के प्रमाण होने के कारण यहाँ इनका कथन अनावश्यक हैं। युक्तिदीपिकाकार ने पहले अन्य कारण देकर उसके बाद ही यह कारण दिया है, इससे इसका गौण होना सिद्ध है। आगे इस द्वितीय हेतु के विषय में पूर्वपक्षी के यह शंका करने पर कि 'यदि तन्त्रान्तर में कथित होने से अनुमान के जिज्ञासा आदि' अंगों का कथन यहाँ नहीं किया गया तो तन्त्रान्तर में प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों के कथित होने से उनका भी कथन यहाँ नहीं होना चाहिये था', ग्रन्थकार यह समाधान देता है कि तो फिर प्रथम ही हेतु माना जाय। प्रधान का उपदेश होने पर गौण का उपदेश स्वतः ही हो जाता है। प्रमाणों का उपदेश होने से उसके अंगभूत जिज्ञासा आदि का उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः पृथक् उपदेश नहीं किया गया। इससे भी इस द्वितीय हेतु का गौण होना प्रकट होता है। बहुत सम्भव है कि यह ग्रन्थकार का प्रौढि-वाद मात्र हो। इस प्रौढिवाद में ग्रन्थकार का विन्ध्यवास से परवर्ती होना भी एक कारण अवश्य रहा होगा। अन्यथा तो विन्ध्यवासी का ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्तित्व सिद्ध नहीं होता।

विन्ध्यवासी के कुछ मुख्य सिद्धान्त इसके पूर्व उद्धृत किए जा चुके हैं। यहाँ उनके समस्त सिद्धान्त, जो श्लोवार्तिक, तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, षड्दर्शनसमुच्चय इत्यादि ग्रन्थों में, और विशेषतः तो सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में उपलब्ध होते हैं, इकट्ठा दिए जा रहे हैं ताकि उनके सम्बन्ध में समुदित धारणा हो सके। ध्यान देने की बात यह है कि ये सिद्धान्त उन-उन ग्रन्थकारों के शब्दों में है। सम्भव है, कोई उद्धरण-विशेष अथवा किसी गद्यात्मक उद्धरण का कोई अंश-विशेष विन्ध्यवासी के ही शब्दों में हो। वास्तविकता भी कुछ ऐसी ही प्रतीति होती है :—

(१) **सन्दिह्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।**
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥ [श्लोकवार्तिक, अनु० श्लो० १४३, पृ० ३६३]

(२) **अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।**
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते [श्लो० वा० सूत्र ५, श्लो० ६२]

(३ **विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—**
पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥ इति॥
[**षड्दर्शन समुच्चय की गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या, पृ० १०४**]

(४) विन्ध्यवासिनस्तु—
पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नमपूर्वव्यक्तौ प्रतीयमानं सामान्यमेव सादृश्यं तदेकशब्दवाच्यम् इति मतम् । [साहित्यमीमांसा, पृ० ४३]

(५) यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च ।
वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥ [तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० २२]

(६) प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम् ।
[वही, पृ० ४२३]

(७) सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम् । [वही, पृ० ६३६]

(८) श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम् ।
[सिद्धसेनदिवाकर-कृत सन्मतितर्क की अभयदेवसूरि-कृत व्याख्या, पृ० ५३३]

(९) अथवा कैश्चिदिष्यते—अस्त्यन्तराभवं शरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः । अन्यैस्त्वन्तराभवदेहो नेष्यते । यथाह भगवान् व्यासः—'अस्मिन् देहे व्यतीते तु देहमन्यन्नराधिप । इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः ॥ सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः [मनु० १।५५ का मेधातिथि-भाष्य]

(१०) अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—"सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्," इति ।
[योगसूत्र ४।२२ की भोजवृत्ति]

(११) देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते ।
प्रतिबिम्बोदयात् किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥ पूर्वसूरिभिः विन्ध्यवासिप्रभृतिभिः ।
[शास्त्रवार्तासमुच्चय ३।२७ की टीका स्याद्वादकल्पलता]

(१२) प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते—'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्, सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्, यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः स तत्राप्तः तस्योपदेश आप्तवचनम्' इति । [युक्तिदीपिका, पृ० ४] यद्यपि ' ' चिह्न के अन्तर्गत सन्दर्भ तन्त्रान्तर के नाम से उद्धृत किया गया है, उसमें विन्ध्यवासी का नाम नहीं है, तथापि इसके पूर्व की पंक्तियों[1] में 'तन्त्रान्तर' के साथ विन्ध्यवासी का नाम होने से यह अनुमान होता है कि प्रस्तुत उद्धरण विन्ध्यवासी का ही होगा ।

(१३) महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् ।
[वही, पृ० १०८]

(१४) इन्द्रियाणि..विभूनीति विन्ध्यवासिमतम् । [वही पृ० १०८]

(१५) करणमपि..एकादशकमिति विन्ध्यवासी । [" "]

(१६) तथा...सर्वार्थोपधिर्मनसि विन्ध्यवासिनः । [" "]

(१७) संकल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्,एकत्वं विन्ध्यवासिनः । [" "]

(१८) विन्ध्यवासिनस्तु 'विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म, तत्त्यागो मरणम्; तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरं, तस्मान्निर्विशेषः संसार' इति पक्षः । [वही, पृ० १४४]

---

१. तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः..।

(१६) विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकं च। किं तर्हि ? सिद्धिरूपमेव। तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते, यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यत इति। अपीत्याह –"सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते नापूर्वमुत्पादयति' इति। निमित्तनैमित्तिकभावश्चैवमुपपद्यते। तत्र परमर्षेः पटुस्तूक्तः, अन्येषां क्लिष्ट इत्ययं विशेषः। सर्वेषां तु तारकाद्यविशिष्टम्। [वही, पृ० १४८]

उपर्युक्त उद्धरणों में विन्ध्यवासी के कई विशिष्ट सिद्धान्त कथित हैं। उनमें से प्रमुख भोग, सूक्ष्म शरीर एवं पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति के विषय में हैं। पुरुष के भोग के विषय में विन्ध्यवासी का जो मत सं० ३ पर हरिभद्रसूरि-कृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या से उद्धृत है, वह उसी स्थल में दिए गए आसुरि के मत से कुछ भिन्न है। टीकाकार के 'तु' पद के प्रयोग से उसका यह आशय स्पष्ट है कि उसके पूर्व दिए गए तद्विषयक आसुरि के मत से विन्ध्यवासी का प्रस्तुत मत भिन्न है[१]। आसुरि का वह मत प्रस्तुत अध्याय के 'आसुरि' प्रकरण में पूर्व दिया जा चुका है। उसका सारांश यह है कि असंग या निर्लिप्त पुरुष में बुद्धि का दृक् रूप में परिणत होना ही पुरुष का भोग है अर्थात् श्रोत्र इत्यादि समस्त करणों के विभिन्न कार्यों के सहित अपने समस्त धर्मों को लेकर बुद्धि का स्वच्छजलचन्द्रवत् निर्मल पुरुष में प्रतिबिम्बित होना ही उस (पुरुष) का भोग कहा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आसुरि के मत से वस्तुतः असंग एवं उदासीन पुरुष के सम्बन्ध से वास्तविक भोग असम्भव होने पर भी आहार्य भोग सम्भव है। इसके विपरीत विन्ध्यवासी के अनुसार तो पुरुष में वास्तविक या आहार्य, किसी भी प्रकार का भोग सम्भव नहीं प्रतीत होता। उनके अनुसार भोग का स्वरूप स्पष्ट करने वाले श्लोक का अर्थ यह है कि निर्विकार या असंग पुरुष सान्निध्य के कारण अचेतन मन अर्थात् बुद्धि को वैसे ही अपने चित्प्रकाश से युक्त अर्थात् चेतन सा कर देता है, जैसे लाल जपा या कमल इत्यादि पुष्प स्फटिक को अपनी लालिमा से युक्त कर देता है। तात्पर्य यह है कि विन्ध्यवासी के मत से पुरुष के प्रतिबिम्ब से युक्त होने पर चेतन हुई सी बुद्धि में ही मुख्यतया भोग होता है, परन्तु चूंकि पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना बुद्धि में भी भोग नहीं हो सकता, इसलिए पुरुष में उसका उपचार या आरोप मात्र होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विन्ध्यवासी के मत से पुरुष में आहार्य भोग भी सम्भव नहीं है जब कि आसुरि के मत से वह सम्भव है। सांख्यसूत्र एवं कारिकाओं के अनुसार भी पुरुष में आहार्य भोग सम्भव है।

सूक्ष्म शरीर के विषय में भी विन्ध्यवासी का मत अन्य समस्त सांख्याचार्यों से भिन्न है। कपिल, पञ्चशिख, ईश्वर-कृष्ण आदि सभी प्रमुख सांख्याचार्यों को सूक्ष्म शरीर की सत्ता मान्य है। परन्तु विन्ध्यवासी का मत इसके विपरीत है। पीछे दिए गए उद्धरणों में से तीन में विन्ध्यवासी के इस विशिष्ट मत का उल्लेख है। सं० २ का उद्धरण कुमारिल के श्लोकवार्तिक का है। इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि विन्ध्यवासी ने अन्तराभव देह= सूक्ष्म शरीर का खण्डन किया है क्योंकि उनके अनुसार उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण

१. तु पक्षव्यावृत्तौ, अर्थात् एक पक्ष को छोड़ कर दूसरे पक्ष का ग्रहण प्रदर्शित करने के लिए 'तु' पद का प्रयोग होता है।

नहीं मिलता। सं० ६ का उद्धरण मनुस्मृति के मेधातिथि-भाष्य से संगृहीत है। इसमें सं० २ के उद्धरण से इतनी ही अतिरिक्त बात कथित है कि सूक्ष्म शरीर की सत्ता न ने में कुछ अन्य सांख्याचार्य भी विन्ध्यवासी के साथ हैं। किन्तु इससे न तो इन अन्य सांख्याचार्यों के नाम आदि के सम्बन्ध में कुछ पता चलता है और न सूक्ष्म शरीर न मानने के कारण के ही सम्बन्ध में कुछ विशेष। केवल भगवान् व्यास, जिसके मत के समर्थन में विन्ध्यवास प्रभृति कुछ सांख्याचार्यों का उल्लेख किया गया है, के उद्धृत श्लोक में इतनी बात कथित है कि 'चूंकि इस देह के नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ अन्य देह में प्रविष्ट हो जाती हैं, अतः दो स्थूल देहों के बीच कोई सूक्ष्म देह नहीं रहता'। इस प्रकार यद्यपि अन्य स्रोतों से विन्ध्यवासी के सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर न मानने का पता चलता है, तथापि उनकी इस मान्यता के कारण का उनमें से किसी से भी कुछ भी पता नहीं चलता। यों योगसूत्र ४।१० के व्यास-भाष्य में भी इसी मत का समर्थन है, पर वहाँ भी इसके कारण का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में विन्ध्यवास के इस मत के रहस्य का यदि युक्तिदीपिका में उद्घाटन न होता तो वह अप्रकट अथवा अज्ञात ही रहता। पीछे दी गई सूची के सं० १८ पर युक्तिदीपिका से दिया गया उद्धरण इस रहस्य का पर्याप्त उद्घाटन करता है। इसमें कहा गया है कि विन्ध्यवासी के मत से न केवल मन अपितु अन्य इन्द्रियाँ भी विभु हैं, अतः उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की गति का कथन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर जो कि नया जन्म होने पर इन्द्रियों के पुराने शरीर से दूसरे नए शरीर में जाने के लिए ही माना जाता है, को मानना अनावश्यक हो जाता है। जब विन्ध्यवासी के मत में मन की तरह सर्वव्यापक होने के कारण इन्द्रियाँ विना किसी साधन के ही सर्वत्र प्राप्त हैं और इस प्रकार बीज-देश में भी स्वतः प्राप्त हैं जिससे उन्हें वहाँ ले जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, तब फिर उनके मत में स्वतः सिद्ध उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए सूक्ष्म शरीर की कल्पना सचमुच निरर्थक ही नहीं, असंगत भी होती। अतः उनके द्वारा सूक्ष्म शरीर की सत्ता का खण्डन सर्वथा संगत एवं युक्त ही है। यह अन्य बात है कि इन्द्रिय-व्यापित्व के जिस सिद्धान्त पर विन्ध्यवासी का सूक्ष्म शरीर-विषयक सिद्धान्त आधारित है, उसकी सत्यता को प्रमाणित करने वाले विन्ध्यवासी के किसी तर्क अथवा हेतु के अभाव में वह सदा सन्दिग्ध ही बना रहेगा। सूची की सं० १४ का उद्धरण इन्द्रियों के विभुत्व-मात्र का कथन करता है, उसके समर्थक तर्क, हेतु आदि का नहीं।

विन्ध्यवासी का एक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति के विषय में है। प्रायेण समस्त सांख्याचार्य तन्मात्रों की उत्पत्ति तामस अहङ्कार से मानते हैं। सां० सू० २।१६ [अभिमानोऽहङ्कारः] में महत् तत्त्व के कार्यभूत अहङ्कार का लक्षण प्रस्तुत करके अगले सूत्र [एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ।।२।१७।।] में उसके कार्यों की गणना करते हुए कहा गया है कि ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पञ्च तन्मात्र उस अहङ्कार के कार्य हैं। पच्चीसवीं[1] सांख्यकारिका में भी ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहङ्कार से तथा पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति तामस अहङ्कार से बताई गई है। विष्णुपुराण में भी

१. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ।।

सांख्य के इसी सृष्टि-क्रम की ओर संकेत है। उसमें एक स्थल पर कहा गया है कि त्रिविध अहङ्कार महत् तत्त्व से उत्पन्न हुआ जो त्रिगुणात्मक होने के कारण भूतों (सूक्ष्म भूतों अर्थात् पञ्च तन्मात्रों एवं उनके द्वार से पञ्च स्थूल या महा भूतों) एवं इन्द्रियों का कारण है।[१] इससे प्रतीत होता है कि सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया इसी रूप में मुख्यतया प्रचलित थी। परन्तु विन्ध्यवासी के मत से पञ्च तन्मात्र त्रिविध अहङ्कार के साथ ही महत् तत्त्व से उत्पन्न होता है। पीछे दी गई सूची में संख्या १३ का उद्धरण इसी तथ्य को प्रकट करता है। इसमें स्पष्ट कथित है कि विन्ध्यवासी को अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्र, इन छहों को महत् तत्त्व से उत्पन्न मानना ही अभीष्ट है। इन्हें उक्त उद्धरण में छः 'अविशेष' कहा गया है। विष्णुपुराण के पूर्वोद्धृत प्रसङ्ग में आगे तन्मात्रों के 'अविशेष' कहे जाने का कारण इस प्रकार दिया गया है :—'तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिण': ॥ [वि० पु० १।२।४५] इस श्लोक का भाव यह है कि चूंकि तन्मात्रों में विशेष भाव नहीं है, वे शान्त, घोर एवं मूढ नहीं हैं अर्थात् उनका सुख, दुःख एवं मोह रूप से अनुभव नहीं हो सकता, अतः वे 'अविशेष' कहे जाते हैं। इन पाँचों के अतिरिक्त छठाँ अविशेष 'अस्मिता' या अहङ्कार है। ये छहों 'अविशेष' महर्षि पतञ्जलि द्वारा योगसूत्र २।१६ [विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि] में गुणों के चार पर्वों—अवस्थाओं—में से एक कहे गए हैं। अन्य तीन पर्व 'विशेष', 'लिङ्ग', एवं 'अलिङ्ग' हैं। योगसूत्रों के व्यास-भाष्य के अनुसार आकाश, वायु इत्यादि पञ्च महाभूत पञ्च तन्मात्र रूप अविशेषों के पञ्च विशेष रूप हैं। इसी प्रकार पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं उभयात्मक मन ये ग्यारह 'अस्मिता' नामक छठें अविशेष के ग्यारह 'विशेष' हैं। इस प्रकार ये सोलह गुणों के 'विशेष' परिणाम हैं। जो इन अविशेषों से भी परे इनका कारण रूप है, वह लिङ्ग मात्र अथवा महत् तत्त्व कहलाता है[२]। इस लिङ्ग से भी परे इसका कारण रूप अलिङ्ग प्रधान है। इस प्रकार गुणों के अलिङ्ग प्रधान से लेकर सोलह विशेषों तक कुल चौबीस परिणाम एवं इनके चार मुख्य प्रकार हुए। इस विवरण से स्पष्ट है कि योग-भाष्य के अनुसार तो स्पष्ट ही पञ्च तन्मात्र महत् तत्त्व के परिणाम हैं; योगसूत्र के अनुसार भी यही तथ्य प्रतीत होता है क्योंकि ऊपर उद्धृत योग-सूत्र में गुणों के चारों पर्व कारण-कार्य के क्रम से ही रक्खे गए प्रतीत होते हैं—सर्वप्रथम विशेष, फिर उनके कारण अविशेष, तदनन्तर अविशेषों का कारण लिङ्ग मात्र महत् तत्त्व, अन्ततः उसका भी कारण अलिङ्ग प्रधान। पञ्च तन्मात्रों के अहङ्कार के साथ ही 'अविशेष' पर्व के अन्तर्गत रक्खे जाने से यह बात स्पष्ट है कि उनका कारण अहङ्कार नहीं हो सकता, वे दोनों ही परिणाम-प्रक्रिया की एक ही अवस्था—'अविशेष'—में वर्तमान हैं। इस प्रकार योगसूत्रकार पतञ्जलि ही इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य जान पड़ते हैं, क्योंकि योगभाष्यकार व्यास एवं विन्ध्यवासी, दोनों ही उनकी अपेक्षा अर्वाचीन आचार्य हैं।

---

१. त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्त्वादजायत। भूतेन्द्रियाणां हेतुस्स त्रिगुणत्वान्महामुने ॥ —१।२।

२. द्रष्टव्य योगसूत्र २।१६ का व्यास-भाष्य:—एते (षडविशेषाः) सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड-विशेषपरिणामाः।

कुछ अन्य प्राचीन सांख्याचार्य

विन्ध्यवासी के अतिरिक्त जिन अन्य प्राचीन सांख्याचार्यों के उद्धरण युक्तिदीपिका टीका में प्राप्त होते हैं, वे पौरिक, पञ्चाधिकरण एवं पतञ्जलि हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्यों के नाम भी ७१वीं कारिका की युक्तिदीपिका में उपलब्ध सूची में दिए गए हैं। परन्तु उनके उद्धरण युक्तिदीपिका में नहीं प्राप्त होते। अतः आज वे नाम ही नाम रह गए हैं, उन्हें किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों के साथ उनके प्रवर्तक के रूप में सम्बद्ध कर सकना असम्भव ही प्रतीत होता है। ये हैं बाद्धलि, कैरात, ऋषभेश्वर (अथवा ऋषभ और ईश्वर) कौण्डिन्य एवं मूक। आचार्य पौरिक, पञ्चाधिकरण एवं पतञ्जलि का पौर्वापर्य निश्चित कर सकना आज सम्भव नहीं है। अतः जिस क्रम में इनके नाम सूची में मिलते हैं, उसी क्रम में इनके विवरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

पौरिक

आचार्य पौरिक के नाम से सांख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका में केवल एक ही उद्धरण प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि पौरिक के मत से प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् 'प्रधान' शरीर इत्यादि पदार्थों की सृष्टि करता है। युक्तिदीपिका की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—**यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भ इति, तदयुक्तमाचार्यविप्रतिपत्तेः। 'प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषां च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिरिति' पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते।**

हरिभद्रसूरि-कृत षड्दर्शनसमुच्चय के सांख्य-प्रकरण की व्याख्या में गुणरत्न सूरि ने इस 'अनेक-प्रधानवाद' को मौलिक्य सांख्याचार्यों का तथा 'एकप्रधानवाद' को परवर्ती सांख्याचार्यों का बताया है :—"मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः"।[1] 'उत्तरे' पद से स्पष्ट है कि "मौलिक्य' का अर्थ 'आदिम' अथवा 'पूर्ववर्ती' है। इस प्रकार गुणरत्न सूरि के लेख के अनुसार अनेक-प्रधानवाद प्राथमिक सांख्याचार्यों का, तथा एक-प्रधानवाद परवर्ती सांख्याचार्यों का सिद्ध होता है। परन्तु किसी भी स्रोत से कपिल, आसुरि, पञ्चशिख आदि प्राथमिक सांख्याचार्यों का ऐसा मत नहीं ज्ञात होता। ईश्वरकृष्ण की सर्व-प्रथित सांख्यकारिका में प्रधान एक ही प्रतिपादित किया गया है[2]। स्वयं ईश्वरकृष्ण के साक्ष्य से उनकी सांख्यकारिका कपिल, आसुरि एवं पञ्चशिख के सिद्धान्तों का अनुसरण करती है। इससे स्पष्ट है कि मौलिक्य सांख्य कदापि अनेक-प्रधानवाद का सिद्धान्त मानने वाले नहीं थे। तब फिर यह प्रश्न उठता है कि गुणरत्न के पूर्वोद्धृत लेख का आधार क्या रहा होगा ? इस सम्बन्ध में पं० उदयवीर शास्त्री का यह सुझाव सत्य प्रतीत होता है कि "गुणरत्न सुरि को 'पौरिक' पद से ही सम्भवतः भ्रान्ति हुई है और उसने वास्तविकता को न समझ पूर्व तथा उत्तर की कल्पना कर डाली है, क्योंकि किन्हीं भी आधारों पर इस बात को सिद्ध करना कठिन है कि सांख्य के मूल आचार्यों का वह मत था। इसलिए 'पौरिक' यह एक व्यक्ति-विशेष की संज्ञा है, इसका पूर्व-अपर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"[3]

---

१. द्रष्टव्य का० ३६ की गुणरत्नकृत व्याख्या तर्करहस्यदीपिका, पृ० ६६।

२. द्रष्टव्य, सांख्यकारिकायें ३ तथा १०।

३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ५२४।

पञ्चाधिकरण

आचार्य पञ्चाधिकरण के नाम से निम्न सन्दर्भ युक्तिदीपिका टीका में प्राप्त होते हैं :—

(१) [केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति] पतञ्जलिपञ्चाधिकरणवार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति ।—पृ० १०८, पं० ३ ।

(२) [अहङ्कारादिन्द्रियाणीति सर्वे ।] भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम् ।—पृ० १०८, पं० ७-८ ।

(३) करणं निर्लिखितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पं, प्राकृतवैकृतानि तु ज्ञानानि प्रेरकाङ्गसङ्गृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः । न तु तथेत्यन्ये ।

—पृ० १०८, पं० १३-१५ ।

(४) [करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः इति वार्षगण्यः, सर्वा स्वतः इति पतञ्जलिः] सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः । —पृ० १०८, पं० १५-१७ ।

(५) अनयोश्चाभिधानात् यः पञ्चाधिकरणपक्षः—प्राकृतवैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवत् शुष्कनदीस्थानीयान्तःकरणे बाह्ये च प्रेरकज्ञानांशकृत उपनिपातः, तथा च सात्त्विकस्थित्यात्मककृतमप्रत्ययस्यावस्थानमिति—तत् प्रतिक्षिप्तं भवति ।

—पृ० ११४, पं० १-३ ।

(६) करणं "एकादशविधमिति वार्षगणाः, दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः, द्वादशविधमिति पतञ्जलिः । —पृ० १३२, पं० २८-२९ ।

(७) पञ्चाधिकरणस्य तावत् वैवर्तं शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति, तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते । व्यूढावयवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निःसृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते । यावत् तत्क्षयात् शरीरपातस्तावत् । यदि धर्मसंस्कृतं करणं ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते, तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा, मिश्रीभावेन मानुष्यम् । एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनापायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च ।

- पृ० १४४, पं० १०-१६ ।

(८) पञ्चाधिकरणस्य तावत् द्विविधं ज्ञानं, प्राकृतिकं वैकृतिकं च । प्राकृतिकं त्रिविधम्—तत्त्वसमकालं सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च । तत्र तत्त्वसमकालं संहतश्च महांस्तस्वात्मना महति प्रत्ययो भवति । उत्पन्नकार्यकारणस्य तु सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च भवति । सांसिद्धिकं यत् संहतव्यूहसमकालं निष्पद्यते । यथा परमर्षेर्ज्ञानम् । आभिष्यन्दिकं च संसिद्धकार्यकरणस्य कारणान्तरेणोत्पद्यते । वैकृतं तु द्विविधं—स्ववैकृतं परवैकृतं च । स्ववैकृतं तारकं, परवैकृतं सिद्ध्यन्तराणि । आह च—"तत्त्वसमं वैवर्तं तत्राभिष्यन्दिकं द्वितीयं स्यात् । वैकृतमतस्तृतीयं षाट्कौशिकमेतदाख्यातम्" ॥ अत्र तु तत्त्वैः सहोत्पत्त्यविशेषात् सांसिद्धिकमभेदेनाह—"वैकृतमपि च द्विविधं स्ववैकृतं तत्र तारकं भवति । स्यात् सप्तविधं परवैकृतं सुत्वारामादि निर्दिष्टम्" इति । यथा ज्ञानम्, एवं धर्मादयोऽपीति ।

—पृ० १४७-४८, पं० २१-२३ तथा १-१०

इन सन्दर्भों में आचार्य पञ्चाधिकरण के कुछ विशिष्ट मतों का उल्लेख हुआ है। ये मत इन्द्रियों की उत्पत्ति, करणों की संख्या, सूक्ष्म शरीर की सत्ता इत्यादि के विषय में हैं। संख्या १ के उद्धरण से ज्ञात होता है कि सांख्य के कुछ आचार्य प्रकृति एवं महत् तत्त्वों के बीच एक और तत्त्व की सत्ता मानते हैं। यह तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होकर महत् को उत्पन्न करता है। इसका स्वरूप अनिर्देश्य या अनिर्वचनीय होता है। इसके विपरीत पञ्चाधिकरण महत् को प्रकृति से साक्षात् उत्पन्न मानते हैं और यही मत सांख्य-सूत्रों एवं सांख्य-कारिकाओं का भी है।

संख्या २ के उद्धरण में पञ्चाधिकरण का यह मत उल्लिखित है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं। न्याय और वेदान्त भी इन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। परन्तु सांख्याचार्यों में पञ्चाधिकरण के अतिरिक्त अन्य कोई भी आचार्य इन्द्रियों को भौतिक मानता हुआ नहीं प्रतीत होता। हाँ, सांख्य-कारिकाओं की प्राचीन व्याख्या के परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद में कई जगह[1] इस मत को स्वीकार किया गया है, यद्यपि अन्यत्र[2] सांख्य का साम्प्रदायिक मत—इन्द्रियाँ वैकृत या तामस अहङ्कार के परिणाम हैं—भी स्वीकार किया गया है। इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः परमार्थ इस सम्बन्ध में पञ्चाधिकरण के मत से प्रभावित थे, अतः अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति बताने वाली कारिकाओं की व्याख्या में प्राचीन साम्प्रदायिक मत सुरक्षित रख कर भी अन्यत्र अपने को समीचीन लगने वाले मत को यथावसर प्रकाशित किया है। विनिगमक या समर्थक तर्कों के अभाव में पञ्चाधिकरण के इस मत के औचित्यानौचित्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता। युक्तिदीपिकाकार ने सांख्याचार्यों के एतद्विरोधी मत का समर्थन करते हुए इसका खण्डन किया है, जो इस प्रकार है :—"एवं हि सांख्यवृद्धा आहुः—आहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि अर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा। तथा हि, कारकं कारकत्वादेव प्राप्यकारि भवति। भौतिकानि चेन्द्रियाणि कथं प्राप्यकारीणि दूरवर्तिनि विषये भवेयुः, आहङ्कारिकाणां तु तेषां व्यापकत्वात्। विषयाकारपरिणामात्मिका वृत्तिर्वृत्तिमतोऽनन्या सती सम्भवत्येवेति सुवचं प्राप्यकारित्वम्। अपि च, महदणुग्रहणमाहङ्कारिकत्वे तेषां कल्पते, न भौतिकत्वे, भौतिकत्वे हि यत्परिमाणं करणं तत्परिमाणं ग्राह्यं गृह्णीयात्"।[3] इस खण्डन का सारांश यह है कि भौतिक होने पर इन्द्रियाँ दूरस्थ विषयों तक पहुँच कर उन्हें ग्रहण नहीं कर सकतीं किन्तु आहङ्कारिक होने पर कर सकती हैं, क्योंकि समस्त विषयों के साक्षात् या परम्परया अहङ्कार-कार्य होने के कारण उनमें आहङ्कारिक इन्द्रियों की व्यापकता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त, आहङ्कारिक होने पर ही इन्द्रियाँ महत् एवं अणु, सभी प्रकार के विषयों को ग्रहण कर सकती हैं; भौतिक होने पर तो स्व-समान परिमाण वाले विषयों को ही ग्रहण कर सकती हैं। पञ्चाधिकरण के मत से उनके सिद्धान्त के विरोधी इन तर्कों का क्या समाधान रहा होगा, कहा नहीं जा सकता।

संख्या ३ से लेकर ६ तक के सन्दर्भों में करणों के स्वरूप, संख्या आदि के सम्बन्ध

---

१. द्रष्टव्य, चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर, का० ३, ८, १०, १५, ५६, ६८ की व्याख्या।

२. वही, का० २२, २४-२७।

३. द्रष्टव्य युक्तिदीपिका, पृ० १२३।

में पञ्चाधिकरण के विशेष मतों का उल्लेख है। कपिल, पञ्चशिख, ईश्वरकृष्ण आदि करणों की संख्या तेरह मानते हैं—तीन अन्तःकरण और दश बाह्य करण। परन्तु पञ्चाधिकरण दश ही करण मानते हैं। वार्षगण एवं उनके अनुयायी ग्यारह तथा सांख्याचार्य पतञ्जलि बारह करण मानते हैं।

सातवें सन्दर्भ में पञ्चाधिकरण के सूक्ष्मशरीर-विषयक मत का उल्लेख है। पीछे विन्ध्यवास-प्रकरण में कहा जा चुका है कि इन्द्रियों को मन की ही तरह व्यापक मानने के कारण विन्ध्यवास सूक्ष्म शरीर की सत्ता नहीं मानते, क्योंकि सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों को पुराने शरीर से नए शरीर में पहुँचाने के लिए ही माना जाता है और विन्ध्यवास के मत में सूक्ष्म शरीर का यह प्रयोजन इन्द्रियों के सर्व-व्यापक होने के कारण स्वतः सिद्ध है। इसके विपरीत आचार्य पञ्चाधिकरण सूक्ष्म शरीर की सत्ता मानते हैं। माता-पिता के संसर्ग-काल में करणों में आविष्ट हुआ वैवर्त (सूक्ष्म) शरीर शुक्र-शोणित में प्रविष्ट हो कर कलल (जरायु-परिवेष्टित शोणित-मिश्रित वीर्य), बुद्बुद, मांस-पिण्ड इत्यादि अवस्थाओं में होता हुआ अंग-प्रत्यंग के पूर्ण हो जाने पर चैतन्य-युक्त होकर माता के गर्भ से बाहर निकल कर पूर्व-कृत धर्माधर्म के भोग के लिए स्थूल शरीर के पात (विनाश) होने तक अवस्थित रहता है। भोग द्वारा पुण्यापुण्य प्रारब्ध के क्षीण हो जाने पर जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तब अवशिष्ट कर्म के धर्म-प्राय होने पर तदनुसार धर्म-संस्कृत करणों को स्वर्ग लोक या दिव्ययोनि, अधर्म-युक्त करणों को नरक लोक या तिर्यग् योनि तथा धर्माधर्म-युक्त-करणों को पृथ्वी लोक या मनुष्य योनि में प्राप्त कराने के लिए सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा होती है। इस प्रकार इन्द्रियों के धारण एवं प्रापण में समर्थ नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर अनित्य बाह्य अथवा स्थूल शरीर के द्वारा निरन्तर (अर्थात् प्रत्येक जन्म में) परिवेष्टित और परित्यक्त होता रहता है।

पतञ्जलि

भारतीय इतिहास के वसिष्ठ, व्यास, जनक आदि नामों की ही भाँति 'पतञ्जलि' नाम भी कई आचार्यों का था, यह ध्रुव सत्य है। प्रसिद्ध योगसूत्रों के रचयिता के रूप में आचार्य पतञ्जलि किसे अज्ञात होंगे ? सर्व-विज्ञात व्याकरण-महाभाष्य के रचयिता भी 'पतञ्जलि' नाम से ही प्रसिद्ध हैं जो परम्परया भगवान् शेषनाग के अवतार माने जाते हैं। आयुर्वेद के 'चरक' नामक ग्रन्थ का परिष्कार या संशोधन करने वाले भी कोई पतञ्जलि ही थे[१]। महर्षि पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी के 'उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे' (२।४।६९) सूत्र में स्थित उपकादि गण तथा 'एङि पररूपम्' (६।१।९४) पर कात्यायन द्वारा रचित 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' में स्थित 'शकन्ध्वादिगण' में भी 'पतञ्जलि' पद पठित है। इससे अनुमान होता है कि पाणिनि एवं कात्यायन से पूर्व भी कोई 'पतञ्जलि' नामक आचार्य हुए थे। इन सभी से पृथक् वे पतञ्जलि जान पड़ते हैं जिनके

१. द्रष्टव्य, समुद्रगुप्त-कृत कृष्णचरित :—विद्ययोद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः। पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ॥ कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्। धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः ॥ महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्। योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम् ॥—सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ५१४ पर उद्धृत।

मतों का उल्लेख सांख्यकारिका की 'युक्तिदीपिका' नामक टीका में हुआ है। ये सांख्याचार्य पतञ्जलि योगसूत्रकार पतञ्जलि से तो अवश्य ही भिन्न थे। ऐसा मानने का कारण यह है कि सांख्याचार्य पतञ्जलि के युक्तिदीपिका-स्थित उद्धरणों पर विचार करने से सांख्य के अन्तर्गत उनकी अपनी एक विशिष्ट विचार-धारा प्रतीत होती है जिसकी योगसूत्र के साथ सर्वांशतः समानता नहीं है। जैसे, सांख्याचार्य पतञ्जलि की एक विशिष्ट मान्यता यह है कि वे 'अहङ्कार' को महत्, तन्मात्र आदि की भाँति पृथक् तत्त्व नहीं मानते, वे महत् से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्च तन्मात्र एवं एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति न मान कर सीधे महत् से ही (इनकी उत्पत्ति) मानते हैं[१]। इसका कारण सांख्याचार्य पतञ्जलि यह देते हैं कि जिस 'मैं' प्रत्यय के लिए अहङ्कार स्वीकार किया जाता है, वह तो महत् अथवा बुद्धि तत्त्व का ही कार्य है, उसी के कई रूपों में से एक है। इसके विपरीत योगसूत्रकार पतञ्जलि महत् से अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र दोनों की उत्पत्ति मानकर, फिर अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों तथा पञ्च तन्मात्रों से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति मानते हैं। पीछे विन्ध्यवासी के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है कि विन्ध्यवासी का भी एतद्विषयक सिद्धान्त यही है जिसका मूल आचार्य योग सूत्रकार को ही मानना पड़ेगा क्योंकि विन्ध्यवासी की अपेक्षा वे बहुत प्राचीन थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्याचार्य पतञ्जलि योगसूत्रकार पतञ्जलि नहीं हो सकते।

अनेक विद्वान्[२] योगसूत्रकार पतञ्जलि को महाभाष्यकार एवं चरक-संहिता के संस्कर्ता पतञ्जलि से अभिन्न मानते हैं। यदि यह सत्य है तो सांख्याचार्य पतञ्जलि उन दोनों से भी भिन्न होंगे। तीनों की अभिन्नता की धारणा के आधार उक्त विद्वानों के अनुसार प्राचीन लेख हैं। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' के टीकाकार पुण्यराज के अनुसार महाभाष्यकार की प्रशंसा में कहा गया उसका 'कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः। चिकित्सा-लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः॥' (वाक्यपदीय १।१४७)—श्लोक शरीर, वाणी एवं मन के मलों को दूर करने वाले उनके चिकित्साशास्त्र अर्थात् संशोधित एवं संवर्धित चरकसंहिता, लक्षणशास्त्र अर्थात् व्याकरण-महाभाष्य और अध्यात्म-शास्त्र अर्थात् योग-शास्त्र का निर्देश करता है।[३] इस प्रकार उनके मत से महाभाष्यकार पतञ्जलि ही योग दर्शनकार तथा चरक-संस्कर्ता भी हैं। योगसूत्रों की 'वृत्ति' के रचयिता भोज ने भी उसकी उपक्रमणिका में इसी आशय का एक श्लोक लिखा है जो इस प्रकार है :—'शब्दानाम-नुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्चे-तोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः'॥ [योगसूत्रवृत्ति, श्लोक ५]। इसका अभिप्राय यह है कि 'जिस प्रकार शेषावतार पतञ्जलि

---

१. द्रष्टव्य युक्तिदीपिका, पृ० ३२ :—एवं तर्हि नवाहङ्कारो विद्यत इति पतञ्जलिः। महतोऽस्मि प्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्।

२. द्रष्टव्य, गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल प्रेस बम्बई से प्रकाशित योगसूत्र-भाष्य के द्वितीय संस्करण की वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर-लिखित भूमिका तथा पं० रामगोविन्द त्रिवेदी-कृत दर्शन-परिचय पृ० १७९-१८१।

३. द्रष्टव्य, वाक्यपदीय २।४८५ की पुण्यराज-कृत टीका।

ने व्याकरण, योगशास्त्र एवं आयुर्वेद पर ग्रन्थों की रचना करके क्रमशः वाणी, मन एवं शरीर के मलों को दूर किया था, उसी प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण[1], राजमार्तण्ड[2] तथा राजमृगाङ्क[3] ग्रन्थों की रचना द्वारा मनुष्यों के उक्त त्रिविध मलों को दूर करने वाले मुक्त रणरंगमल्ल राजा भोज के उज्ज्वल वचन सदा विजयी हों'। इससे स्पष्ट है कि भोज के अनुसार महाभाष्यकार शेषावतार पतञ्जलि ने योगशास्त्र एवं चिकित्सा-शास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे थे। 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥' इत्यादि श्लोक भी इसी आशय का है। चरक-संहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि का भी एक श्लोक इसी भाव को प्रकट करता है। वह इस प्रकार है :—पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः'॥ पीछे समुद्रगुप्त-रचित 'कृष्णचरित' से उद्धृत पतञ्जलि-विषयक श्लोकों से भी प्रकट होता है कि व्याकरण-भाष्य, चरकसंहिता के अनेक रोगापहारक योगों या कल्पों, तथा योग के व्याख्यान-भूत किसी काव्यात्मक योग-ग्रन्थ की रचना शेषावतार पतञ्जलि मुनि ने की थी। 'पतञ्जलि-चरित' का 'सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः। कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्' ॥—यह श्लोक तो स्पष्ट ही योगसूत्रों का उल्लेख करता है। इससे कुछ पूर्व के श्लोक में महाभाष्य का भी उल्लेख हुआ है जिससे स्पष्टतः महाभाष्यकार के योगसूत्रकार होने की बात 'पतञ्जलि-चरित' से प्रमाणित होती है। इन सब लेखों के आधार पर महाभाष्य, योग-सूत्र तथा परिष्कृत चरक-संहिता के रचयिता एक ही पतञ्जलि (शेषावतार) माने जाते हैं।

किन्तु पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'सांख्य दर्शन का इतिहास' के ५१४-५२३ पृष्ठों में इस मत का खण्डन करके यह स्थापना की है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि महाभाष्य-कार पतञ्जलि से भिन्न थे तथा महाभाष्य के रचयिता, चरक के संस्कर्ता एवं युक्तिदीपिका में उद्धृत पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे। उन्होंने यह भी सम्भावना प्रकट की है कि पाणिनि एवं कात्यायन द्वारा प्रसङ्गतः उल्लिखित पतञ्जलि ही योग-सूत्रों के रचयिता थे, किन्तु इसका समर्थक कोई विशेष तर्क नहीं प्रस्तुत किया है। योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि के भिन्न होने के विषय में भी शास्त्री जी ने प्रायः तो निषेधात्मक तर्क ही दिए हैं, विधिपरक तर्क केवल एकाध ही दिये हैं और वे भी बहुत शक्तिशाली नहीं प्रतीत होते। इस सम्बन्ध में उन्होंने (पृष्ठ ५१५ पर) इस प्रकार लिखा है :—"डा० रामकृष्ण भण्डारकर आदि भारतीय तथा डा० गोल्डस्टकर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी के अन्तिम भाग में निर्णय किया है। यद्यपि इस विषय में अन्य विद्वानों[4] का पर्याप्त मतभेद है, तथापि अधिक स्पष्ट और प्रामा-

---

१. व्याकरण शास्त्र का ग्रन्थ।

२. योगसूत्र-वृत्ति का नाम।

३. वैद्यकशास्त्र का ग्रन्थ।

४. डा० वेबर ईसा की प्रथम शताब्दी में महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय मानते हैं [Dr. Weber's Endische studien, 1873]. प्रो० पिटर्सन ईसा की पांचवी सदी बताते हैं [G. R. A. S., Bombay Branch, vol XVI, P. 189]

रिणक आधारों पर उक्त विद्वानों का एतत्सम्बन्धी निर्णय मान्य हो सकता है। परन्तु यागसूत्रों की रचना का यह समय माना जाना अत्यन्त विवादास्पद है। श्वेताश्वतर, कठ, मुण्डक आदि उपनिषदों तथा गीता व महाभारत में स्पष्ट तथा अस्पष्ट योग-सम्बन्धी अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी योग का उल्लेख आता है। ऐसी स्थिति में योग-सूत्रों की रचना वैयाकरण पतञ्जलि के समय की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन समय में होनी चाहिए।" कठ आदि में योग-सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष में तब बल आता जब कि वे उल्लेख साक्षात् योग-सूत्रों के होते। योग-विषयक उल्लेखों से केवल इतनी ही बात सिद्ध होती है कि योग के सामान्य सिद्धान्त महाभाष्यकार के समय से पर्याप्त प्राचीन हैं और यह बात सामान्यतः सिद्धप्राय है। पतञ्जलि का योगसूत्र भी अन्य दर्शन-सूत्रों की भाँति ही प्राचीन उपनिषदों पर आधारित है, न कि इसके विपरीत ये दर्शन-सूत्र ही उपनिषदों में आए हुए योग आदि विषयों के वर्णन के आधार हैं। ऐसी स्थिति में पं० उदयवीर जी का उपर्युक्त लेख असंगत ही कहा जायगा तथा उसके आधार पर योगसूत्रकार को महाभाष्यकार से प्रर्याप्त प्राचीन कह कर भिन्न बताना सर्वथा निराधार माना जायगा।

पीछे उद्धृत भोज और भर्तृहरि के वचनों के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :—"भोज और भर्तृहरि के जो विचार ऊपर लिखे गये हैं, उनमें कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता कि योगदर्शन के सूत्रों का रचयिता वही पतञ्जलि है जिसने व्याकरण-महाभाष्य की रचना की। भर्तृहरि ने उक्त श्लोक (१।१४७) में केवल यही बताया है कि शरीर, वाणी और बुद्धि के दोष यथाक्रम चिकित्सा, व्याकरण तथा अध्यात्म-शास्त्र के द्वारा दूर किए जा सकते हैं। भर्तृहरि ने स्वयं उक्त कारिका (१।१४७) की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखा है :—

'यथैव हि शरीरे दोषशक्तिं रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं दृष्ट्वा चिकित्सा-शास्त्रमारब्धं, रागादींश्च बुद्धेरुपप्लवानवगम्य तदुपघातहेतुज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि उपनिबद्धानि; तथेदमपि साधूनां वाचःसंस्कारणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं लक्षणमारब्धम्'।

भर्तृहरि का यह लेख साधारण अर्थ को ही प्रकट करता है। इस में केवल चिकित्सा-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र और व्याकरण-शास्त्र किन-किन प्रयोजनों से प्रारम्भ किये गये, यही स्पष्ट किया गया है। इससे भर्तृहरि का यह भाव कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह पतञ्जलि को इन तीनों प्रकार के शास्त्रों का प्रवक्ता मानता है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने उक्त श्लोक का यह आशय माना है। परन्तु पुण्यराज के विचारों पर भोज आदि विद्वानों का प्रभाव प्रतीत होता है। तब तक इस सम्बन्ध में जो परम्परा भ्रान्तिवश चल पड़ी थी, पुण्यराज उससे बच नहीं सका, और भर्तृहरि के उक्त श्लोक में भी उसने उसी गंध को सूंघ निकाला, यद्यपि भर्तृहरि ने स्वयं अपने श्लोक का यह अर्थ नहीं किया'।[१]

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ५१४।

अनन्तर पीछे उद्धृत समुद्रगुप्त-कृत कृष्णचरित के पतञ्जलि-विषयक तीन श्लोकों का उल्लेख करके शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :—'महाराज समुद्रगुप्त के कथनानुसार यह निश्चित हो जाता है कि पतञ्जलि ने उक्त तीनों विषयों पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखे। महाभाष्य की रचना में किसी प्रकार का सन्देह नहीं। चरक के प्रतिसंस्कार को भी प्रामाणिक माने जाने में कदाचित् ही सन्देह किया जाय। परन्तु योगसूत्र व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि की रचना है, ऐसा मानने के लिए अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका। इस सम्बन्ध में जितने भी प्रमाण आज तक उपलब्ध हो सके हैं, उन सबसे इतना ही ध्वनित होता है कि पतञ्जलि ने योग-विषय पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था। इस सम्बन्ध के सबसे प्राचीन प्रमाण, महाराज समुद्रगुप्त के श्लोक से यह निर्णय हो जाता है कि पतञ्जलि ने योग का व्याख्यान-भूत काव्यमय ग्रन्थ लिखा। इससे हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि योगसूत्रों का रचयिता पतञ्जलि व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न था।'[१]

आगे पृ० ५१८ पर शास्त्री जी ने फिर इस प्रकार लिखा है :—'पतञ्जलि का संबंध जिन तीन ग्रन्थों की रचना से बताया जाता है, वस्तुतः उन्हें व्याख्या-रूप ही समझना चाहिये। भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भ में पतञ्जलि के साथ जो अपनी समानता प्रकट की है, उसका सामञ्जस्य भी उसी स्थिति में ठीक बैठता है जब कि भाष्यकार पतञ्जलि को भी योग का व्याख्याता माना जाय।'

शास्त्री जी का पूर्वोद्धृत लेख सदोष है। सर्व प्रथम दोष तो स्वतो-विरोध का है। पतञ्जलि द्वारा व्याकरण, योग एवं चिकित्सा, तीनों ही शास्त्रों पर ग्रन्थ लिखे जाने की जिस परम्परा को शास्त्री जी ने पहले भ्रान्ति-वश चली हुई माना, उसी को बाद में समुद्रगुप्त के लेख के आधार पर प्रामाणिक या ठीक मान लिया। निस्सन्देह भोजराज का एतद्विषयक लेख भ्रान्ति पर आधारित न होकर उन्हीं के द्वारा प्रमाण माने जाने वाले समुद्रगुप्त के लेख से सुसिद्ध है। हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि वाक्यपदीय से उद्धृत श्लोक में इस तथ्य की चर्चा नहीं है, केवल तीनों शास्त्रों के प्रयोजन का ही कथन है और टीकाकार पुण्यराज ने सम्भवतः भोज आदि के लेख से प्रभावित होकर भर्तृहरि के लेख में भी उसी गन्ध को सूंघ निकाला। पर यह भिन्न बात हुई। इसके अतिरिक्त शास्त्री जी का यह लेख कि चरकसंहिता की चक्रपाणि-कृत व्याख्या से पीछे उद्धृत 'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः..., इत्यादि श्लोक में स्थित 'पातञ्जल' पद का अर्थ भोजराज एवं समुदद्रगुप्त के पूर्वोद्धृत श्लोकों के अनुसार 'पतञ्जलि-कृत योगसूत्रों से सम्बद्ध कोई व्याख्या-ग्रन्थ' ही होना चाहिये, पतञ्जलि-चरित से उद्धृत श्लोक के 'सूत्राणि-योगसूत्रे' इत्यादि के अनुसार उसका अर्थ 'योगसूत्र न माना जाय क्योंकि पतञ्जलि-चरित के कर्ता को नाम-साम्य से भ्रान्ति हुई है' उनका निरर्थक दुराग्रह प्रतीत होता है। यह समझ में नहीं आया कि पतञ्जलि-चरित की अपेक्षा कृष्णचरित को अधिक प्रामाणिक क्यों समझा गया? क्यों न पतञ्जलि-चरित के लेख को सही मानकर तदनुसार चक्रपाणि के 'पातञ्जल' पद का अर्थ 'पतञ्जलि-कृत योगसूत्र' लिया जाय, और तदनुसार अन्यत्र भी सामान्यतः उक्त 'योग-शास्त्र'

१. द्रष्टव्य, उसी का पृष्ठ ५१४-१५।

आदि का अर्थ 'योगसूत्र' ही किया जाय ? ऐसी स्थिति में यही कहना पड़ता है कि योगसूत्र-कार पतञ्जलि से महाभाष्यकार पतञ्जलि को परवर्ती काल में उत्पन्न योगसूत्र-व्याख्याकार मानना सबल प्रमाणों पर आधारित असन्दिग्ध बात नहीं है, सत्य बात भले ही हो। इसी प्रकार शास्त्री जी का "युक्तिदीपिका तथा योग-व्यासभाष्य में जो सन्दर्भ पतञ्जलि के नाम से उद्धृत किये गये हैं, सम्भवतः वे उस योगसूत्र-व्याख्या के ही हों जिसकी रचना महाभाष्यकार पतञ्जलि ने की, तथा यही योग अथवा अध्यात्म-शास्त्र (सांख्य)-विषयक वह ग्रन्थ है जिसका उल्लेख समुद्रगुप्त, भोज तथा अन्य लेखकों ने किया है। इस प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि सांख्य अथवा योगाचार्य पतञ्जलि कहा जा सकता है। + + हमारे इस विचार के लिये एक सुपुष्ट प्रमाण यह है कि युक्तिदीपिका में उद्धृत पतञ्जलि 'करणों' की संख्या बारह मानता है, वह अहङ्कार को पृथक् कारण नहीं मानता (देखिये उसके उद्धृत सन्दर्भों में पहला तथा चौथा)। इसी प्रकार भाष्यकार पतञ्जलि के प्रतिसंस्कृत चरक में भी बारह ही 'करण' स्वीकार किये गये हैं। वहाँ लिखा है—'करणानि मनोबुद्धि-र्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च' (शारीरस्थान १।५६[१])" इत्यादि लेख[२] सांख्याचार्य पतञ्जलि तथा चरक-संस्कर्ता महाभाष्यकार पतञ्जलि के एक-मात्र करण-संख्या-विषयक मतैक्य पर आधारित है। जब तक कुछ और सिद्धान्त न मिलें, तब तक शास्त्री जी की यह मान्यता सुदृढ़ आधारों पर स्थापित नहीं कही जा सकती। क्या दो भिन्न व्यक्तियों के किसी एक विषय में एक ही प्रकार के विचार नहीं हो सकते ? इन कारणों से शास्त्री जी का मत सम्भाव्य सत्य तो कहा जा सकता है परन्तु ध्रुव सत्य नहीं।

जैसा पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, सांख्याचार्य पतञ्जलि योगसूत्रकार पतञ्जलि से भिन्न हैं। यह ध्रुव सत्य है। इसका प्रमुख कारण दिया जा चुका है, और वह यह है कि जहाँ सांख्याचार्य पतञ्जलि अहङ्कार को पृथक् तत्त्व नहीं मानते, सीधे महत् तत्त्व से ही पञ्चतन्मात्रों और एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न मानते है, वहाँ योगसूत्रकार पतञ्जलि महत् तत्त्व से अहङ्कार एवं पञ्च तन्मात्रों को उत्पन्न मानकर फिर अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों तथा तन्मात्रों से स्थूल भूतों की उत्पत्ति मानते हैं। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है। योगसूत्र ३।४४ के व्यास-भाष्य में एक उद्धरण पतञ्जलि के नाम से दिया गया है, जो इस प्रकार है :—'अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः।' यह उद्धरण किस पतञ्जलि का है, कुछ कहा नहीं जा सकता। योग-भाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, हरिहरानन्द आरण्यक आदि ने इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। एक बात निश्चित सी लगती है और वह यह कि यह उद्धरण योगसूत्रकार पतञ्जलि का नहीं है, क्योंकि यह योगसूत्रों में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि योगसूत्रकार और महाभाष्यकार का एक या भिन्न होना, कुछ भी पूर्ण निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, तथापि महाभाष्य में भी इस उद्धरण के उपलब्ध न होने के कारण इस कथन में किसी

---

१. इसी प्रकार और देखिये—चरक, सूत्रस्थान ८।१७ तथा १८।१८। इन स्थलों में भी केवल बुद्धि और मन का उल्लेख है, अहंकार का नहीं।

२. द्रष्टव्य, पृ० ५२२।

प्रकार की विप्रतिपत्ति की शङ्का नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में इसे सांख्याचार्य पतञ्जलि का उद्धरण मानना पड़ेगा, क्योंकि उक्त तीनों पतञ्जलियों को छोड़कर अन्य कोई भी पतञ्जलि दर्शन-विषयक अथवा दर्शन से कथञ्चित् सम्बद्ध किसी ग्रन्थ के रचयिता के रूप में ज्ञात नहीं है, और प्रस्तुत सन्दर्भ के किसी दर्शन-ग्रन्थ के ही उद्धरण होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार इस सन्दर्भ से भी स्पष्ट है कि योगसूत्रकार से सांख्याचार्य पतञ्जलि भिन्न व्यक्ति हैं।

योग-भाष्य से ऊपर उद्धृत सन्दर्भ के अतिरिक्त सांख्याचार्य पतञ्जलि के अन्य सारे सन्दर्भ युक्तिदीपिका में उद्धृत हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) एवं तर्हि नवाहङ्कारो विद्यते इति पतंजलिः। महतोऽस्मिप्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात्। [पृ० ३२]

(२) केचिदाहुः—'प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते, ततो महानिति। पतंजलि-पंचाधिकरणवार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति। [युक्ति०, पृ० १०८]

(३) करणानां...स्वभावातिवृत्तिः सर्वा स्वतः इति पतंजलिः [,, ,,]

(४) करणं...द्वादशविधमिति पतंजलिः। [पृ० १३२, पं० २८-२६]

(५) पातंजले तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशं, यातनास्थानं वा, करणानि वा प्रापय्य निवर्तते। तत्र चैवं युक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीज-देशं नयति तदपि निवर्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि। [पृ० १४४, पं० १६-२०]

(६) यत्तावत् पतंजलिराह—'सूक्ष्मशरीरं विनिवर्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते' [पृ० १४५, पं० १-२]

(७) एवं त्रिविधभावपरिग्रहात् स्वाचार्यस्य न सर्वं स्वतः पतंजलिवत्।

इन उद्धरणों में से संख्या १ तथा ४ का विवेचन पहले किया जा चुका है। इनमें सांख्याचार्य पतञ्जलि द्वारा अहङ्कार के पृथक् तत्त्व न माने जाने तथा फलतः तेरह के स्थान में बारह ही करण माने जाने का उल्लेख है। संख्या २ के उद्धारण में यह कहा गया है कि कुछ आचार्यों के अनुसार प्रधान और महत् तत्त्वों के बीच में एक और तत्त्व होता है। इसके स्वरूप का ठीक-ठीक निर्देश नहीं किया जा सकता। इसी अनिर्देश्य-स्वरूप तत्त्व से महत् की उत्पत्ति होती है। परन्तु पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण एवं वार्षगण इस तत्त्व को नहीं मानते। उनके अनुसार प्रधान से सीधे महत् की उत्पत्ति होती है। संख्या ३ के उद्धरण में यह बात कही गई है कि करणों में दिखाई पड़ने वाला स्वभावातिक्रमण सबका सब स्वतः ही होता है, ऐसी मान्यता आचार्य पतञ्जलि की है। इसके विपरीत पञ्चाधिकरण के अनुसार समस्त स्वभावातिक्रमण परतः अर्थात् अपने से भिन्न किसी बाह्य वस्तु के कारण होता है। इन दोनों से ही भिन्न वार्षगण्य का यह मत है कि करणों का स्वभावातिक्रमण

विशेषतः तो प्रधान के कारण किन्तु थोड़ा स्वतः भी होता है। सांख्याचार्य पतञ्जलि की उपर्युक्त मान्यता का उल्लेख सं० ७ के उद्धरण में भी हुआ है। इसमें कहा गया है कि बुद्धि के सांसिद्धिक, प्राकृतिक एवं वैकृतिक, इन त्रिविध भावों का ग्रहण करने के कारण आचार्य ईश्वरकृष्ण के मत में सब कुछ स्वतः नहीं होता, जैसा कि पतञ्जलि के मत में मान्य है; सब परतः भी नहीं, जैसा पञ्चाधिकरण के मत में मान्य है; अपितु विशेषतः प्रकृति से किन्तु थोड़ा स्वतः भी होता है। संख्या ५ और ६ के उद्धरणों में पतञ्जलि का सूक्ष्म-शरीर-विषयक सिद्धान्त उल्लिखित है। पाँचवें उद्धरण से स्पष्ट है कि पतञ्जलि के मत में भी सूक्ष्म-शरीर इन्द्रियों को बीजदेश अर्थात् जन्म-स्थान तक पहुँचाने का कार्य करता है और यही इसके माने जाने का प्रयोजन है। पर अन्य आचार्यों के एतद्विषयक मत से पतञ्जलि के इस मत में यह विशेषता है कि यह सूक्ष्म-शरीर एक न होकर अनेक होता है। इस मत में सूक्ष्म शरीर प्रथम इन्द्रियों को बीज-देश में ले जाता है, वहाँ से प्रारब्ध के अनुसार देव-लोक या नरक-लोक अथवा करणों तक पहुँचाकर निवृत्त हो जाता है। उसके स्थान में कर्म-वशात् दूसरा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाता है । जो सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों को बीज-देश तक ले जाता है, वह निवृत्त हो जाता है और शरीर-पात के समय दूसरा सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार अनेक सूक्ष्म शरीर होते हैं। आचार्य ईश्वरकृष्ण का इस मत के साथ स्पष्ट विरोध है। उनके अनुसार सूक्ष्म शरीर नियत अर्थात् सृष्टि से लेकर प्रलय तक एक ही रहता है, बदलता नहीं।

प्रसिद्ध प्राचीन सांख्याचार्यों का यही यावच्छक्य विवेचन है।

षष्ठ अध्याय

ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका एवं उसके टीकाकार

पिछले अध्याय में प्राचीन सांख्याचार्यों के प्रसङ्ग में सविस्तर प्रतिपादित कर चुके हैं कि ईश्वरकृष्ण सांख्य के मूल प्रवर्तक कपिल द्वारा प्रचलित एवं आसुरि-पञ्चशिख आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचार-धारा के अनुयायी थे, एवं उसकी एक विशिष्ट धारा के पोषक आचार्य वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण से कई शताब्दी पूर्व तथा उस धारा के अनुयायी विन्ध्यवास उनके पर्याप्त पश्चात् हुए थे। वहाँ यह बात भी स्पष्ट कर आए हैं कि विन्ध्यवास का समय बौद्ध परम्परा तथा डा० तकाकुसु के अनुसार ईसवी पञ्चम शतक के मध्य तक तथा बेल्वल्कर के अनुसार तृतीय शतक के मध्य के समीप सिद्ध होता है, एवं ईश्वर-कृष्ण का समय कुशन-काल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक के अन्त से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवास से पर्याप्त पूर्व के प्रतीत होते हैं। ईश्वरकृष्ण की कुशन-काल से पर्याप्त पूर्ववर्तिता केवल उनके टीकाकार माठर के कनिष्क के शासन-काल में रक्खे जाने पर ही आधारित नहीं है, अपितु इस सुदृढ तथ्य पर भी आधारित है कि आधुनिक विद्वानों द्वारा ईसवी प्रथम शतक का अनुमान किए जाने वाले प्राचीन जैन-ग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' में कनगसत्तरी (संस्कृत 'कनकसप्तति') नामक ग्रन्थ का उल्लेख है[1], जो पं० गोपीनाथ कविराज, पं० उदयवीर शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार ईश्वरकृष्ण का 'सांख्यसप्तति' या सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ ही है। जब विन्ध्यवास का समय किसी भी प्रकार से २५० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत ईश्वर-कृष्ण का समय कई आधारों पर १०० ई० से पर्याप्त पूर्व का सिद्ध होता है, तब ईश्वरकृष्ण का विन्ध्यवास से कई शताब्दी पूर्व का होना ध्रुव सत्य है। इसके विपरीत श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य का ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से परवर्ती सिद्ध करने में यह हेतु देना कि 'ईश्वरकृष्ण ने सम्पूर्ण सांख्य अर्थों को प्रस्तुत करने के लिए रचित केवल ७२ आर्यायों के संक्षिप्त ग्रन्थ में तीन आर्यायें सूक्ष्म शरीर के ही प्रतिपादन में लिखी हैं, जिससे प्रकट होता है कि इनके द्वारा वे विन्ध्यवास के द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर के निषेध या अभाव का खण्डन करना चाहते हैं',[2] नितान्त असत्य है। न तो सूक्ष्म शरीर का वर्णन ही तीन कारिकाओं में है और न सूक्ष्म शरीर का वर्णन प्रस्तुत करने वाली ४० वीं कारिका में विरोधी मत के खण्डन की भावना ही ध्वनित होती है। इसमें तो विषय का केवल साधा-रण रूप में वर्णन है, जैसा कि अन्य कारिकाओं में अन्यान्य विषयों का। ऐसी स्थिति में भट्टाचार्य महोदय का कथन अप्रामाणिक एवं असत्य ही कहा जायगा।

गत अध्याय में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि पं० गोपीनाथ कविराज इत्यादि विद्वानों के अनुसार 'कनकसप्तति' 'सांख्यकारिका' से भिन्न अथवा पृथक् ग्रन्थ नहीं है, किन्तु

---

१. द्रष्टव्य, अनुयोगद्वारसूत्र का ४१ वां सूत्र।

२. द्रष्टव्य, जनरल आव् इण्डियन हिस्ट्री, भाग ६ का पृ० ३६।

इसके विपरीत डा० बेल्वल्कर का मत है कि ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' या 'सांख्य सप्तति' का 'कनकसप्तति', 'सुवर्णसप्तति' या 'हिरण्यसप्तति' नाम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। भोज-कृत 'राजमार्तण्ड' नामक योगसूत्र-वृत्ति में ४।२२ सूत्र पर विन्ध्यवास के दो वाक्य[१] उद्धृत हैं, जिनकी रचना से प्रतीत होता है कि वह व्याख्या-ग्रन्थ रहा होगा। इसीलिए यह अधिक सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर विन्ध्यवास ने 'हिरण्यसप्तति' नामक व्याख्या लिखी हो।[२] 'हिरण्य-सप्तति' नाम के सम्बन्ध में डा० बेल्वल्कर का सुझाव है कि सांख्य के मौलिक सिद्धांतों में से एक 'हिरण्य' या हिरण्यगर्भ के आधार पर सांख्यकारिका का नाम 'हिरण्य सप्तति' हो सकता है। बेल्वल्कर महोदय का मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि सांख्य में इस प्रकार का कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में कुई-ची (Kuei-chi) का यह कथन ही अधिक सम्भव एवं समीचीन प्रतीत होता है कि सांख्य-सप्तति के रचयिता को स्वर्ण भेंट किए जाने का साधन होने के कारण इसी ग्रन्थ के 'हिरण्यसप्तति' 'कनकसप्तति' अथवा 'सुवर्ण-सप्तति' नाम भी पड़ गए होंगे। विन्ध्यवास के जो उद्धरण पीछे संगृहीत हैं, वे किसी व्याख्या-ग्रन्थ के नहीं ज्ञात होते और सांख्य-सप्तति की व्याख्या के तो और भी नहीं, क्योंकि सांख्य-सप्तति एवं कई उद्धरणों के विषयों में महान् वैषम्य या भेद दिखाई पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि विन्ध्यवास का ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण की सांख्य-सप्तति की व्याख्या था, तब तो डा० बेल्वल्कर को भी यह बात माननी पड़ेगी कि वह व्याख्या गद्य में लिखी गई रही होगी क्योंकि योगवृत्ति में उद्धृत विन्ध्यवास-वचन गद्यात्मक ही हैं। जब व्याख्या गद्य में रही होगी, तब उसका 'हिरण्य-सप्तति' नाम कैसे समञ्जस या संगत होगा, क्योंकि 'सप्तति' यह गणनापरक शब्द गद्य के सम्बन्ध में कदापि-कथमपि समीचीनतया प्रयुक्त हुआ नहीं कहा जा सकता। भला गद्य की भी कहीं पद्यवत् गणना हो सकती है? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिरण्य-सप्तति विन्ध्यवास-कृत व्याख्या का नाम नहीं अपितु सांख्य-सप्तति या सांख्य-कारिका का ही नामान्तर रहा होगा।

ईश्वरकृष्ण सांख्य की कापिल विचार-धारा के अनुयायी थे। इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने अपनी अन्तिम चार सांख्य-कारिकाओं में किया है। इनमें उन्होंने कहा है कि—"मानव जीवन के 'अपवर्ग' प्रयोजन को सिद्ध करने वाला यह सांख्य-ज्ञान परमर्षि (कपिल) द्वारा प्रतिपादित हुआ था। इस पवित्र ज्ञान को उन्होंने कृपा करके आसुरि को और आसुरि ने पञ्चशिख को दिया, जिसे पञ्चशिख ने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा बहुविध एवं विस्तृत किया। फिर शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए इसी ज्ञान को (इस) ईश्वरकृष्ण ने इन आर्याओं द्वारा संक्षेप में रख दिया। इन सत्तर कारिकाओं में जो पदार्थ निरूपित हैं, वे निस्सन्देह समस्त 'षष्टितन्त्र' के ही विषय हैं, केवल उसकी आख्यायिकायें एवं परमत-खण्डन इसमें नहीं हैं।" अपने सम्प्रदाय के विषय में ईश्वरकृष्ण के अपने कथन से बढ़

१. 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्'। 'बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशाच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्ब-शब्देनोच्यते'।

२. द्रष्टव्य, भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० १७६-७७।

कर अन्य क्या प्रामाणिक बात हो सकती है ? अपने विषय में अपने ही द्वारा कही गई बात को झूठ मानने का कोई कारण नहीं है। फिर अन्य आधारों पर भी यह बात ठीक प्रतीत होती है।

पीछे सविस्तर प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रक्षेपों को छोड़ कर शेष सांख्य-प्रवचनसूत्र कपिलोपदिष्ट ही हैं। इन सूत्रों के साथ कारिकाओं की तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि सृष्टि-क्रम, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों के घटकावयव, तथा इन्हीं प्रकार के अन्य सभी विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में कारिकाकार ने सूत्रों का ही अनुसरण किया है। सांख्य-सूत्रों एवं सांख्य-कारिकाओं, दोनों ही में प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व तथा प्रकृति के परिणामभूत महत्, अहंकार आदि तेईस अवान्तर तत्त्वों को लेकर कुल पच्चीस तत्त्व माने गए हैं। परन्तु सांख्यकारिकाओं की युक्तिदीपिका टीका से ज्ञात होता है कि कुछ सांख्याचार्य प्रधान और महत् के बीच एक और सूक्ष्म तत्त्व मानते हैं, यद्यपि पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण एवं वार्षगण्य सूत्रकार तथा कारिकाकार की भाँति प्रधान से सीधे महत् तत्त्व की ही उत्पत्ति मानते हैं। अहङ्कार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति प्रायः सभी आचार्य मानते हैं। किन्तु विन्ध्यवासी महत् से ही अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र, इन छओं की उत्पत्ति मानते हैं। प्रायः सभी आचार्य इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानते हैं, परन्तु पञ्चाधिकरण भूतों से मानते हैं। सूत्रकार तो 'न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः' (५।८४) सूत्र में स्पष्ट ही इन्द्रियों के भौतिकत्व का खण्डन तथा आहङ्कारिकत्व का कथन करते हैं। सांख्य-सूत्रों तथा कारिकाओं, दोनों ही में करण तेरह माने गए हैं परन्तु पतञ्जलि बारह, वार्षगण्य एवं उनके अनुयायी ग्यारह तथा पञ्चाधिकरण आदि दश ही करण मानते हैं। इसी प्रकार सूत्रों तथा कारिकाओं, दोनों ही में सूक्ष्म-शरीर को बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च तन्मात्र, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय, इन अठारह तत्त्वों से निर्मित एवं नित्य अर्थात् सृष्टि से लेकर प्रलय तक रहने वाला माना गया है। इसके विपरीत पतञ्जलि प्रत्येक जन्म और मृत्यु पर पृथक्-पृथक् सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति मानते हैं। विन्ध्यवासी तो सूक्ष्म शरीर की सत्ता ही नहीं मानते। इसी प्रकार सूत्रकार ने 'पाञ्चभौतिको देहः' (३।१७) सूत्र में स्थूलशरीर की पाञ्चभौतिकता का कथन तथा 'चातुर्भौतिकमित्येके' (३।१८) और 'ऐकभौतिकमित्यपरे' (३।१९), इन अगले दो सूत्रों में उससे भिन्न मतों का निषेध किया है। यद्यपि इस सम्बन्ध में कारिकाओं में कोई स्पष्ट कथन नहीं है, तथापि ३८-३९ वीं कारिकाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि सम्भवतः कारिकाकार के मत से भी स्थूल शरीर पाञ्चभौतिक ही था।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि कारिकाकार मुख्यतः कपिलानुयायी ही थे। 'मुख्यतः कपिलानुयायी' कहने का कारण यह है कि कम से कम एक विषय में अवश्य भेद प्रतीत होता है। वह है ईश्वर की मान्यता। इस विषय में दोनों का ऐकमत्य नहीं प्रतीत होता। कपिलोपदिष्ट सांख्य शास्त्र मूलतः ईश्वरवादी था, इस विषय का विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। विज्ञानभिक्षु भी इसी मत के हैं। आगे द्वितीय खण्ड के चतुर्थ अध्याय में सविस्तर प्रतिपादित किया जायगा कि यद्यपि विज्ञानभिक्षु के मत से वर्तमान सांख्य-सूत्र अद्वितीय नित्य ईश्वर की सत्ता का खण्डन ही करते

हैं, तथापि यह खण्डन वास्तविक नहीं अपितु विशेष अभिप्राय या कारण से किया गया होने के कारण अवास्तविक है। किन्तु इसके विपरीत स्वामी दयानन्द सरस्वती सांख्य-सूत्रों में एक नित्य ईश्वर की सत्ता का ही प्रतिपादन मानते हैं, जैसा कि उक्त स्थल में स्पष्ट किया जायगा। हाँ, सांख्य-सूत्रों के ईश्वर-खण्डन-परक होने के विषय में इतना अवश्य वक्तव्य है कि ब्रह्मसूत्रों में स्वतन्त्र प्रधानकारणवाद का खण्डन होने से यह बात ध्रुव सत्य प्रतीत होती है कि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण व्यास के समय से भी पूर्व से सांख्य निरीश्वर हो गया था एवं उपलब्ध सांख्य-सूत्रों में ईश्वर-विषयक एकाध सूत्र तो ऐसे हैं ही जिन्हें ईश्वर खण्डन-परक मानने के अतिरिक्त अन्य कोई गति ही नहीं दिखाई पड़ती। शेष अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के व्याख्यान के ढंग पर ईश्वर की सत्ता के प्रतिषेधक भी माने जा सकते हैं और स्वामी दयानन्द के व्याख्यान के ढंग पर उसके प्रतिपादक भी। ईश्वरकृष्ण द्वारा विरचित सांख्यकारिकाओं में यद्यपि कहीं पर भी ईश्वर का साक्षात् खण्डन नहीं है, तथापि किसी प्रसंग में उसका प्रतिपादन भी नहीं है। सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली कारिकाओं में प्रधान से ही सृष्टि बताई गई है। ज्ञानाभ्यास के प्रसंग में भी कहीं भी ईश्वर की चर्चा नहीं है। यद्यपि योगदर्शन में भी प्रधान से ही सृष्टि बताई गई है और ईश्वर का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है, तथापि चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग की प्राप्ति के लिए ज्ञानाभ्यास और वैराग्य के मिलित या संयुक्त उपाय के विकल्प रूप में योगसूत्रकार पतञ्जलि ने ईश्वर के प्रणिधान का विधान करके 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरा-मृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' सूत्र में उसके स्वरूप, 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' में उसकी सर्वज्ञता, 'तस्य वाचकः प्रणवः' में उसके वाचक या नाम 'ॐ', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' में उसके नाम-जप इत्यादि का निरूपण किया है। इससे योगसूत्रकार पतञ्जलि ईश्वरवादी, किन्तु सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण अनीश्वरवादी ही सिद्ध होते हैं।

पं० उदयवीर शास्त्री ईश्वरकृष्ण को निरीश्वरवादी नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि ईश्वरकृष्ण ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानते। परन्तु इससे वे निरीश्वरवादी नहीं कहे जा सकते। एक भिन्न प्रसङ्ग में लिखते हुए इस विषय पर उन्होंने इस प्रकार लिखा है :—"हम पूँछते हैं, ईश्वर को सृष्टि का उपादान न मानने के कारण कोई भी व्यक्ति निरीश्वरवादी कैसे कहा जा सकता है? पातञ्जल योगदर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानता, परन्तु उसे निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। न्याय-वैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं कहते, पर वे भी निरीश्वरवादी नहीं हैं; और न कोई अन्य दार्शनिक उन्हें निरीश्वरवादी कहता है। ईश्वर की तरह पुरुष की भी उपादान-कारणता का यहाँ निषेध होने से, ईश्वरकृष्ण को तब पुरुषवादी भी नहीं माना जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यह होगा कि लोकमान्य तिलक के कथनानुसार वह केवल जडवादी रह जायगा। ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह बात कही जानी शास्त्र-विरुद्ध और असंगत है। यदि पुरुष की उपादानता का प्रत्या-ख्यान करने पर भी वह पुरुष को मानता है, तो ईश्वर की उपादान-कारणता का खण्डन करने पर भी वह निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता"।[१] शास्त्री जी का यह कथन

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १२६।

सर्वथा अनर्गल और अयुक्त है। ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण न मानने से ही कोई आचार्य या सम्प्रदाय निरीश्वर अथवा अनीश्वरवादी न माना जाता है, और न माना जा सकता है। इसके विपरीत ईश्वर को सृष्टि का उपादान या निमित्त कारण, कुछ भी न मानने वाला आचार्य या सम्प्रदाय अवश्य ही अनीश्वरवादी कहा जाता है और कहा जाना चाहिए। ईश्वरकृष्ण सृष्टि के उपादान अथवा निमित्त, किसी भी रूप में ईश्वर को न मानने के कारण ही निरीश्वरवादी आचार्य हैं। 'पुरुष' को सृष्टि का उपादान न मानते हुए भी निमित्त मानने के कारण ईश्वरकृष्ण निस्सन्देह पुरुषवादी या अध्यात्मवादी आचार्य हैं, जड़वादी कदापि नहीं। न्याय-दर्शन ईश्वर को सृष्टि का निमित्त मानने से तथा योग दर्शन उसके 'प्रणिधान' को समाधि का सरल उपाय मानने से अनीश्वरवादी कदापि नहीं हैं।

पहले कहा जा चुका है कि स्वयं अपने ही कथन के अनुसार ईश्वरकृष्ण ने केवल सत्तर कारिकाओं में कपिलोपदिष्ट समस्त सांख्य-ज्ञान को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में रख दिया है। इन कारिकाओं की संक्षिप्तता सचमुच ही आश्चर्यकारिणी है। 'षष्टितन्त्र' जैसे विशाल एवं गुरु-गम्भीर या सारवान् ग्रन्थ को केवल सत्तर कारिकाओं में रख देना और वह भी इस प्रकार से कि कोई भी सारवान् अंश न छूटे, बड़ी भारी बात है। इतने अधिक संक्षेप के कारण ही ये कारिकायें आकार में छन्दोबद्ध होती हुई भी वस्तुतः सूत्र ही जान पड़ती हैं। सूत्रों की भांति ये कारिकायें भी 'सारवद्विश्वतोमुखम्' ही हैं। थोड़े ही में विविध अर्थ-जात इनमें भरा हुआ है। यही कारण है कि ये बहुत गुरु-गम्भीर एवं दुरूह हो गई हैं। इनकी इस दुरूहता को दूर करने के लिए इनके निर्माण के सौ पचास साल के बाद से ही व्याख्यायें लिखी जाने लगीं और हजारों वर्षों बाद तक लिखी जाती रहीं हैं। इनका विस्तृत विवेचन इसी प्रकरण में थोड़ा आगे चल कर प्रस्तुत किया जायगा। इस स्थल में इनकी उपर्युक्त संख्या पर ही थोड़ा विचार प्रस्तुत किया जा रहा है, क्योंकि कुछ समय से इसको लेकर बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ है। सामान्यतः तो ईश्वरकृष्ण के 'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य'—इस स्वकीय कथन के वर्तमान रहने पर संख्य-विषयक विवाद निर्मूल अथवा निराधार ही प्रतीत होता है, तथापि इसके मूल में प्रवेश करने पर इसे सर्वथा निराधार नहीं कह सकते। अस्तु, इस पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक है।

कारिकाओं की संख्या के विषय में विवाद उठ खड़े होने का मूल कारण यह रहा है कि ईश्वरकृष्ण के स्वकीय साक्ष्य के अनुसार तो सांख्यकारिकाओं की संख्या सत्तर होनी चाहिए, परन्तु वर्तमान समय में इसमें सत्तर के स्थान में बहत्तर कारिकायें उपलब्ध होती हैं। इसलिए अन्तिम दो कारिकायें प्रक्षिप्त होनी चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् श्री विल्सन महोदय ने तो अन्तिम दो कारिकाओं के अतिरिक्त उनके पूर्व की ७० वीं कारिका को भी प्रक्षिप्त माना है। अपनी इस मान्यता का आधार उन्होंने गौडपाद-भाष्य को माना है जो केवल ६६ कारिकाओं पर ही प्राप्त होता है। केवल ६६ कारिकाओं पर गौडपाद-भाष्य देख कर ही विल्सन महोदय के मन में बीच की किसी एक कारिका के लुप्त होने की कल्पना आई होगी। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् पं० बाल गङ्गाधर तिलक ने अन्तिम कारि-

काओं को तो प्रक्षिप्त नहीं बताया, फिर भी अन्तिम कारिका में कही गई सत्तर संख्या को सांख्य-सिद्धान्त-परक कारिकाओं की संख्या माना एवं ऐसी कुल कारिकाओं की संख्या ६९ ही पाकर बीच की किसी एक कारिका के लुप्त हो जाने की विल्सन-कृत कल्पना को ठीक मान लिया। स्वयं गौड़पाद-भाष्य के अन्त में भी एक श्लोक मिलता है जिसमें कारिकाओं की संख्या सत्तर दी हुई है। वह श्लोक इस प्रकार है :—'सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि। यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम्' ॥ इससे भी सिद्धान्त-परक सत्तर कारिकाओं में से किसी एक कारिका के लुप्त होने की तिलक महोदय की धारणा और अधिक दृढ हुई। जब तिलक जी के समक्ष लुप्त कारिका के स्वरूप एवं क्रम के निर्धारण का प्रश्न उठा तो उसके समाधान में भी उन्होंने गौडपाद-भाष्य से ही सहायता ली। ६१ वीं कारिका का गौडपाद-भाष्य उन्हें असङ्गत लगा। उसके आरम्भ में 'लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एव मतिरुत्पन्ना। कस्मात्? अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति, पुरुषस्यादर्शनमुपयातीत्यर्थः। तत्र सुकुमारतरं वर्णयति' लेख, इसके ठीक बाद 'केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते...तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति' इत्यादि लेख, तथा इसके ठीक बाद 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य, अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति' इत्यादि उपसंहारात्मक लेख देख कर उन्हें यह दृढ निश्चय हो गया कि वर्तमान ६१ वीं कारिका का भाष्य दो विभिन्न कारिकाओं का भाष्य है। उनमें एक तो ६१ वीं कारिका ही है जिसमें प्रकृति के सुकुमारतरत्व का वर्णन है। दूसरी कारिका इसी ६१ वीं के बाद होनी चाहिए। इसमें ईश्वरादि-कारणवाद का उल्लेखपूर्वक प्रत्याख्यान रहा होगा। भाष्यानुरोध से यह लुप्त कारिका इस प्रकार की रही होगी—'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा। प्रजाःकथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च' ॥ पूर्वापर ग्रन्थ के साथ इस कारिका की संगति भी ठीक बैठती है। इसमें ईश्वरवाद का खण्डन होने के कारण किसी विरुद्ध-पक्षी ने इसे निकाल बाहर कर दिया, परन्तु वह इसके भाष्य को निकालना भूल गया। पूर्व काल में स्वभाव, काल एवं ईश्वर भी जगत् के कारण माने जाते थे, यह बात श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्' ॥ इस मंत्र से सूचित होती है।

डा० हरदत्त शर्मा को तिलक जी की यह अभिनव कल्पना बहुत अच्छी और ठीक लगी। उन्होंने तिलक जी की इस मान्यता की बड़ी वकालत की है। तिलक जी के द्वारा कल्पित नूतन कारिका का एस्० सूर्यनारायण शास्त्री ने यह कहकर खण्डन किया है कि ६१ वीं कारिका के गौडपाद-भाष्य तथा माठर-वृत्ति के अन्तिम भाग में किया गया 'सुकुमारतरम्' शब्द का परामर्श[1] इस सम्भावना का सर्वथा निराकरण कर देता है कि ६१ वीं

---

१. (i) तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य। अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति।—गौड० भाष्य

(ii) एवमीश्वरादीनि अकारणानि। सुकुमारतरमित्येतद्वाक्यशेषः कृतः। यस्मात् सुकुमारतरं प्रधानं, तस्मादुच्यते—'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मतिर्भवति' इति। मे पुरुषस्य।—माठर

कारिका के भाष्य का उत्तरार्ध किसी अन्य कारिका का भाष्य है [क्योंकि 'सुकुमारतरम्' पद ६१ वीं कारिका में ही स्थित है]। तथाकथित कारिका के लुप्त होने का तिलक जी ने यह कारण दिया है कि उक्त कारिका में प्रतिपादित ईश्वर-निषेध को सहन न कर सकने के कारण किसी ईश्वरवादी ने इसे निकाल बाहर कर दिया, इसका खण्डन करते हुए सूर्य नारायण शास्त्री ने लिखा है कि यदि ईश्वर के निषेध या खण्डन की असह्यता उक्त कारिका के लोप का कारण होती तो उसका भाष्य भला लुप्त किए जाने से कैसे बच जाता क्योंकि वही ईश्वर-खण्डन तो भाष्य में भी किया गया था। शास्त्री जी की इन दोनों ही बातों का खण्डन करते हुये डा० शर्मा ने लिखा है कि "सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा किया गया इस कारिका का खण्डन युक्ति-युक्त नहीं है। वस्तुतः ६१ वीं कारिका के उपलब्ध गौडपाद-भाष्य की आनुपूर्वी में अर्थ-सामाञ्जस्य नहीं है। 'तत्र सुकुमारतरं वर्णयति' के बाद भाष्य का 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इत्यादि अन्तिम भाग आना चाहिए था। 'सुकुमारतरं वर्णयति' के बाद 'केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते' इत्यादि पाठ नितरां असंगत है, क्योंकि ईश्वर इत्यादि की कारणता का कथन प्रकृति की सुकुमारतरता का प्रतिपादन नहीं है। इसलिए निस्सन्देह ईश्वर-खण्डन को न सह सकने वाले किसी पुरुष ने यह कारिका लुप्त कर दी। बेचारे किसी अन्य पुरुष ने इस कारिका के भाष्य को कारिका-विहीन समझ कर ठीक पूर्व की ६१ वीं कारिका के भाष्य के बीच में मिला दिया। कोई स्थूल-दृष्टि भी इस बात को समझ सकता है। इसीलिये 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' के अनन्तर उसने 'अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं सुभोग्यतरं न किञ्चिदीश्वरादिकारणमस्तीति मे मतिर्भवति' इत्यादि अंश अर्थ की सङ्गति या सामञ्जस्य बैठाने के लिये अपनी ओर से जोड़ दिया। किन्तु इस पर भी समस्त भाष्यार्थ में सङ्गति नहीं है, जो कि स्पष्ट है'। 'ईश्वर-खण्डन को न सह सकने के कारण यदि किसी ईश्वरवादी ने उक्त कारिका का लोप कर दिया तो उसका भाष्य लुप्त किये जाने से कैसा बच गया'- सूर्यनारायण शास्त्री की इस शङ्का का समाधान करते हुये डा० शर्मा ने लिखा है कि "यह बात सम्भव है कि जिस कुटिल-मति व्यक्ति की दृष्टि में यह कारिका आई, उसकी दृष्टि में इसका भाष्य न आया हो। कारिका और उसका भाष्य, दोनों नियत रूप से तो एक साथ रहते नहीं जिससे कारिका को निकाल फेंकने वाला व्यक्ति अनिवार्य रूप से उसके भाष्य को भी निकाल ही फेंके। हमारे सौभाग्य से कारिका का भाष्य उसके हाथ में नहीं पड़ा। इसलिये ऐसे कुबुद्धि पुरुष के अनन्तर होने वाले लेखकों अथवा किसी लेखक-विशेष के द्वारा कारिका-विहीन भाष्यांश येन-केन प्रकारेण ६१ वीं कारिका के भाष्य में ही समाविष्ट कर दिया गया, उसी में जोड़ दिया गया। यही वास्तविकता है। आज भी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में मूल ग्रन्थ एवं टीका-ग्रन्थ पृथक्-पृथक् लिखे हुये उपलब्ध होते हैं। इसलिये मूल ग्रन्थ में स्थित उक्त कारिका तो निकाल दी गई किन्तु भाष्य-ग्रन्थ के उस समय प्राप्त न होने से उसका भाष्य आज भी स्थित है।"[1]

डा० शर्मा के उपर्युक्त विचार युक्ति-युक्त एवं समीचीन नहीं प्रतीत होते। शर्मा जी का यह कथन कि 'तत्र सुकुमारतरं वर्णयति' इत्यादि भाष्य-पंक्ति के अनन्तर 'न पुनर्दर्श-

१. द्रष्टव्य, डा० गङ्गानाथ झा-कृत अंग्रेजी अनुवाद के साथ ओ० बु० ए० पूना द्वारा प्रकाशित सांख्यतत्त्वकौमुदी, संस्कृत अंश, पृ० ७३-७४ पर नीचे दी गई टिप्पणी।

नमुपयाति पुरुषस्य' इत्यादि पंक्ति आनी थी, न कि 'केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते' इत्यादि; क्योंकि ईश्वर इत्यादि की कारणता का कथन प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन नहीं है'', ऊपर-ऊपर से देखने पर ही ठीक लगता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भाष्य की इन पंक्तियों के अर्थ-विषयक सामञ्जस्य पर ऊपर-ऊपर से ही दृष्टिपात किया, उसके भीतर प्रविष्ट होकर नहीं देखा। यह बात तो ठीक है कि ईश्वर इत्यादि की कारणता का कथन प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन नहीं है, किन्तु 'केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते' से लेकर 'तस्मात् कालो न कारणं नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति' तक का पूरा भाष्यांश[1], जिसमें वस्तुतः ईश्वर, काल एवं स्वभाव की सृष्टि-कारणता का पहले पूर्वपक्ष के रूप में कथन होकर फिर उत्तर पक्ष या सिद्धान्त के रूप में उसके निषेध तथा प्रधान की सृष्टि-कारणता का कथन है, अवश्य ही प्रधान की सुकुमारतरता का वर्णन है, जैसा कि ऊपर उद्धृत भाष्यांश के ठीक बाद की 'न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' इत्यादि भाष्य-पंक्ति से स्पष्ट है; क्योंकि पुरुष जब प्रधान के इस वास्तविक स्वरूप, सृष्टि के प्रति उसके उपादानत्व, को जान लेता है, तो मानो प्रकृति यह जानकर कि पुरुष ने मेरे स्वरूप को पहचान लिया है, पुनः उसके समक्ष नहीं आती, लज्जावती सुकुमारी की भांति उससे निवृत्त या पराङ्मुख हो जाती है। अभिप्राय यह है कि पुरुष द्वारा प्रकृति की सृष्टि-कारणता के माने जाने पर ही यह बात सम्भव है कि पुरुष के समक्ष प्रकृति अपनी अठखेलियाँ या क्रीडायें न करे, उससे निवृत्त होकर छिप जाय उससे दूर हो जाय, और यही प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन है। इसी वर्णन का उपसंहार स्वाभाविक रूप से 'न पुनर्दशनमुपयाति पुरुषस्य' इस पंक्ति में किया गया है। ऊपरी दृष्टि से देखने के कारण ही डा० शर्मा को उक्त भाष्यांश की गूढाभिसन्धि प्रत्यक्ष न हो सकी जिसके कारण ही उन्हें इसमें अर्थ की असंगति प्रतीत हुई। वस्तुतः ऐसी कोई भी बात नहीं है। इसीलिए पं० उदयवीर शास्त्री ने डा० शर्मा के उपर्युक्त मत पर अपने ग्रंथ में इस प्रकार कटाक्ष किया है:—''शर्मा जी की यह कितनी भोली कल्पना है। हम पूछते हैं कि उस जमाने में किसी को यह कैसे मालूम हो गया कि यह भाष्य बिना आर्या के है। श्रीयुत सोवानी महोदय और लोकमान्य तिलक आदि विद्वानों के लेखानुसार तो श्रीयुत विल्सन महोदय ही सर्व प्रथम ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने एक कारिका के लुप्त होने का सबसे पहले

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ६१ का गौडपाद-भाष्य:—केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा'। अपरे स्वभावकारणिका ब्रुवते—'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव' इति। अत्र साङ्ख्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायरेन्, कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव ? तस्मात् प्रकृतेरेव युज्यते। यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति कृष्णेभ्य कृष्ण एवेति, एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा केषाञ्चित् कालः कारणमिति, उक्तं च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः'॥ व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्। स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः। तस्मात् कालो न कारणं नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति।

निर्देश किया। यदि उस काल में भी किसी को यह मालूम हो गया था कि भाष्य बिना आर्या के है, आर्या लुप्त हो गई है, तो उस समय के साहित्य में कहीं न कहीं प्रसंग-वश इसका उल्लेख आया होता। उल्लेख को भी जाने दीजिये, जब किसी के ज्ञान में यह बात आ गई थी, तो कम से कम परम्परा में ही यह चली आती। इस सम्बन्ध में यह कल्पना तो व्यर्थ ही होगी कि जिसे यह बात मालूम हुई थी, उसने पाप की तरह इसे छिपा के रक्खा। फिर भाष्य के उलट-फेर को दूसरे विद्वानों ने कैसे सहन किया होगा ? फिर जिस प्रतिलिपि में यह उलट-फेर किया गया, क्या भारत भर में इस ग्रंथ की वह एक ही प्रति थी ? जिस प्रति से कारिका लुप्त की गई, उसके सम्बन्ध में भी ये प्रश्न समान हैं। फिर गौडपाद-भाष्य के ही उलट-फेर नहीं, उससे अत्यन्त प्राचीन माठर-वृत्ति के उलट-फेर की भी कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि उसके व्याख्यान से भी यही प्रकट होता है कि यह एक ही आर्या का भाष्य है, दो का नहीं। शर्मा जी के कथनानुसार अब न मालूम कितने कुटिलमति व्यक्तियों को ढूढ़ना पड़ेगा ? सचमुच यदि कोई कुटिलमति होता तो वह कारिका के साथ भाष्य को भी कभी न छोड़ता। वह कैसा कुटिलमति था, जो एक कारिका को निकालकर समझ बैठा कि बस, अब ईश्वर को आँच न आ सकेगी। हमें तो यह मति का कौटिल्य और ही जगह मालूम हो रहा है।"[१]

सांख्य-कारिकाओं की प्राचीन संस्कृत टीका के परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद के संस्कृत-रूपान्तरकार श्री अय्यास्वामी शास्त्री ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका[२] में लिखा है कि 'परमार्थ के साक्ष्य के आधार पर हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वरकृष्ण ने केवल सत्तर ही कारिकायें लिखीं थीं, न एक कम और न एक अधिक; क्योंकि 'वसुबन्धु-चरित में लिखा है कि वसुबन्धु ने सुवर्ण-सप्तति अर्थात् सांख्य-कारिका का खण्डन करने के विशिष्ट अभिप्राय से ही उसका अनुकरण करते हुए सत्तर कारिकाओं का अपना 'परमार्थ-सप्तति' नामक ग्रन्थ लिखा। कारिका ६३ जिसका अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में नहीं किया है, तथा कारिका ७२[३] जिसे चीनी अनुवाद में किसी मेधावी की उक्ति कहा गया है, को छोड़ देने से हमें सांख्य-कारिका में ठीक-ठीक ७० कारिकायें प्राप्त हो जाती हैं। परमार्थ के ५४६ ई० में सांख्यकारिका के चीन ले जाने के पूर्व ही ७२वीं कारिका को सांख्य-कारिका में जुड़ जाना चाहिए, क्योंकि चीनी भाषा में इसका भी अनुवाद मिलता है एवं इसकी संस्कृत टीका का भी। इसके प्रतिपाद्य विषय से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अवश्य ही इस कारिका के कर्त्ता को षष्टितन्त्र का व्यक्तिगत ज्ञान रहा होगा, और इस कारण से उसी के चीनी भाषा में अनूदित संस्कृत-टीका के रचयिता होने की सम्भावना है। ६३वीं कारिका की पाद-टिप्पणी संख्या १ में भी शास्त्री जी ने तद्विषयक अपना उपयुक्त विचार फिर

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १२८।

२. द्रष्टव्य, पृ० ४३।

३. अय्यास्वामी शास्त्री की भूमिका के पृ० ४३ पर ७२ के स्थान में ७१ संख्या दी गई है, जो निस्सन्देह मुद्रण की अशुद्धि है, क्योंकि ७२ वीं को ही चीनी अनुवाद में 'इह मेधावी कश्चिदाहार्याम्' इन शब्दों के साथ प्रस्तुत किया गया है, ७१ वीं को नहीं।

अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है कि 'यह कारिका चीनी भाषा में अनूदित नहीं हुई है और इस कारण से परमार्थ के समय के बाद का प्रक्षेप प्रतीत होती है'[१]।

इस प्रकार अय्यास्वामी शास्त्री के अनुसार ६३वीं एवं ७२वीं कारिकाओं के मूल ग्रन्थ में न रहने से कारिकाओं की संख्या भी केवल ७० रह जाती है, और लोकमान्य तिलक के समान किसी अन्य आर्या की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती। इतनी बात अवश्य है कि अय्यास्वामी शास्त्री के इन विचारों से कारिका-विषयक यह धारणा या मान्यता दूर हो जाती है कि इनमें सांख्य-सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन होना चाहिये; क्योंकि सांख्य-सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करने वाली प्रथम ६८ कारिकाओं में से तथा कथित प्रक्षिप्त ६३वीं कारिका के निकल जाने पर कुल ६७ ही कारिकायें शेष रह जाती हैं, जिनमें बाद की तीन [६९-७१] उपसंहारात्मक कारिकाओं को जोड़ने पर ही 'सत्तर' संख्या पूरी होती है, जब कि विल्सन महोदय के अनुसार ६९वीं कारिका तक ही गौडपाद-भाष्य प्राप्त होने, सांख्य-सिद्धान्त-परक कारिकाओं की संख्या 'सत्तर होने, तथा ६१वीं कारिका के गौड़पद-भाष्य के एक नहीं अपितु दो कारिकाओ का भाष्य होने के कारण वर्तमान ६१वीं तथा ६२वीं कारिकाओं के बीच में सिद्धान्त-परक एक कारिका और मान लेने से 'सत्तर' संख्या पूरी हो जाती है। जहाँ विल्सन महोदय ने ७० से ७२ तक की तीन कारिकाओं को, उन पर गौडपाद-भाष्य न होने के कारण, प्रक्षिप्त माना है, वहाँ अय्यास्वामी ने ६३वीं कारिका को, उसका चीनी अनुवाद न होने के कारण, तथा ७२वीं कारिका को, 'इह मेधावी कश्चिदाहार्याम्' इन शब्दों के द्वारा चीनी व्याख्या में प्रस्तुत की जाने के कारण, प्रक्षिप्त माना है। इन दोनों ही महानुभावों के ये मत एक समान दोष से दूषित हैं। वह दोष यह है कि ये दोनों ही सांख्यकारिकाओं की 'सत्तर' संख्या मानते हुये भी इसके एक-मात्र आधार ७२वीं कारिका को प्रक्षिप्त बताते हैं। जब कारिकाओं की 'सत्तर' संख्या बताने वाली ७२वीं कारिका ही प्रक्षिप्त है, तब इन महानुभावों के पास क्या अधार बच रहता है जिस पर ये सिद्धान्तपरक कारिकाओं की संख्या 'सत्तर' मानते हैं, और मानते ही नहीं अपितु उसकी यथार्थता सिद्ध करने के लिए जमीन और आसमान एक करते दिखाई पड़ते हैं। यह सर्वथा विरुद्ध बात है कि कारिकाओं की संख्या 'सत्तर' सिद्ध करने का तो भगीरथ-प्रयत्न करें, और एकमात्र जिस कारिका में इसका कथन हो, उसे ही प्रक्षिप्त कह कर उड़ा दें।

श्री वी० वी० सोवानी ने भी ७२वीं कारिका की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया है। उनका कथन है कि "७२वीं कारिका इस बात को बताती है कि सप्तति के प्रतिपाद्य विषय का आधार षष्टितन्त्र है, केवल उसकी आख्यायिकायें एवं पर-वाद छोड़ दिए गए हैं। सम्भवतः प्रस्तुत कारिका बाद का प्रक्षेप है, क्योंकि 'सप्तति' तो ६९वीं कारिका, जिस पर गौडपाद-भाष्य समाप्त होता है, पर ही समाप्त हो जाती है"।[२] सोवानी महोदय के इस मत के विरुद्ध भी वही आक्षेप है जो ऊपर श्री विल्सन महोदय एवं पं० अय्यास्वामी शास्त्री के मत के विरुद्ध उठाया गया है, क्योंकि वे भी कारिकाओं की 'सत्तर'

---

१. द्रष्टव्य, अय्यस्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र का संकृत भाग, पृ० ९१।

२. द्रष्टव्य, वी० वी० सोवानी-कृत 'A Critical Study of The Sankhya System' नामक ग्रन्थ, पृ० ८, पंक्ति १–५।

सख्या के लिए ७२वीं कारिका का ही आश्रय लेते हुए प्रतीत होते हैं। इसके अतिरि. सोवानी जी का मत स्वतो-विरोध दोष से भी दूषित है, क्योंकि वे जहाँ एक जगह यह कहते हैं कि सप्तति ६९वीं कारिका पर ही समाप्त हो जाती है, वहाँ दूसरी जग. इस मत को काटते हुए भी प्रतीत होते हैं। अपने ग्रन्थ के पृ० ५३ पर वे इस प्रकार लिखते हैं :—"गौडपाद-भाष्य में अन्तिम तीन कारिकायें लुप्त हैं। 'सांख्य-कारिका' में केवल ६६ कारिकायें हैं और एक कारिका लुप्त हो चुकी है, इस बात का निर्देश करने वाले सर्व-प्रथम व्यक्ति विल्सन थे। तिलक जी ने ६१वीं कारिका के गौडपाद-भाष्य से उस लुप्त कारिका की फिर से रचना कर डाली। उनका विचार था कि अनीश्वरवाद की प्रतिपादक होने के कारण यह कारिका निकाल दी गई। किन्तु यह बात स्पष्ट नहीं है कि किस आधार पर एक कारिका का लुप्त होना प्रकट होता है। [क्योंकि] यदि वर्तमान ७०वीं कारिका 'सप्तति' का आवश्यक अंग न होने के कारण अमान्य है, तो ६९वीं कारिका भी उसी आधार पर अमान्य कही जा सकती है। सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो ६८वीं कारिका में ही समाप्त हो जाता है, और यदि ६९वीं कारिका ग्रन्थ की प्रामाणिकता बताने के कारण आवश्यक है तो ७०वीं कारिका भी सांख्य-के प्राचीन आचार्यों की परम्परा एवं उसके अविच्छिन्न सम्प्रदाय को बताने के लिए आवश्यक है"[१]। सोवानी जी के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे ७०वीं कारिका को ६९वीं से कम आवश्यक नहीं समझते जब कि पूर्व उद्धरण में वे ६९वीं पर 'सप्तति' की समाप्ति बताते हैं। इस प्रकार सोवानी महोदय के दोनों कथनों में परस्पर-विरोध स्पष्ट है। उनके कथन में एक तीसरा दोष यह भी है कि उसमें ७१वीं कारिका के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। हाँ, पहले उद्धरण में विल्सन का अनुसरण करते हुए अवश्य ही यह बात कही गई है कि अन्तिम तीन [७०-७२] कारिकायें प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि उन पर गौडपाद-भाष्य नहीं है। तब फिर स्वतो-विरोध की बात न केवल ७०वीं अपितु ७१वीं कारिका के विषय में भी घटित होती है।

जहाँ तक ७२ वीं कारिका का प्रश्न है, उसे तो पूर्व निवेदन के अनुसार तिलक जी को छोड़कर अन्य तीनों ही पूर्वोक्त विद्वान् प्रक्षिप्त बताते हैं। पर जैसा पहले निवेदन किया जा चुका है, इन विद्वानों का यह मत भी स्वतो-विरोध से दूषित है, क्योंकि ये सभी लोग सिद्धान्तपरक कारिकाओं की संख्या तो ७० बताते हैं और इस संख्या को पूरी करने के लिये जमीन और आसमान एक करते हैं, परन्तु साथ ही इस संख्या की एकमात्र प्रति-पादक ७२ वीं कारिका को प्रक्षिप्त बतलाते हैं। पूर्वागत परम्परा को भी इस सूचना का मूल स्रोत नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'सांख्यकारिका' के परम्परागत 'सांख्यसप्तति' नाम भर से यह बात कैसे जानी जा सकती है कि सारी सत्तर सांख्यकारिकाओं में सांख्य-सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन रहा होगा ? इससे यही मानना संगत प्रतीत होता है कि ७२ वीं कारिका के ही आधार पर विल्सन आदि के मन में यह भावना दृढ़ रूप से स्थिर हुई होगी। तब इन विद्वानों का इस कारिका को प्रक्षिप्त कहना न्याय्य और संगत कैसे कहा जा सकता है ? इसे तथा इसके पूर्व की भी दो कारिकाओं को इसलिये प्रक्षिप्त कहना कि इन पर गौडपाद

१. द्रष्टव्य, कारिका ७० की पाद-टिप्पणी।

का भाष्य नहीं है, सर्वथा अनुचित और असंगत है। गौडपाद का भाष्य नहीं है तो न सही, अन्य टीकाकारों के व्याख्यान तो हैं ही। यह कहना भी असंगत ही लगता है कि गौडपाद के समय तक इन कारिकाओं का प्रक्षेप नहीं हुआ था, इसी से इन पर उनका भाष्य नहीं है; अनन्तर प्रक्षेप होने पर इन पर भी व्याख्यान लिखे गये। क्योंकि कारिकाओं की शायद प्राचीनतम संस्कृत टीका के परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद, युक्तिदीपिका, जयमंगला, तत्त्व-कौमुदी, माठर-वृत्ति इत्यादि सभी प्राचीन टीकायें तो गौडपाद-भाष्य से अर्वाचीन नहीं कही जा सकतीं। कम से कम यह बात तो निश्चित रूप से ज्ञात है ही कि परमार्थ ने ५५७ ई० से ५६९ ई० के बीच सांख्यकारिका की प्राचीन संस्कृत टीका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, अतः मूल संस्कृत टीका छठीं ईसवी शताब्दी के मध्य काल से पर्याप्त प्राचीन होगी और इसी कारण से यह छठीं के उत्तरार्ध या अन्तिम पाद के आस पास होने वाले[1] गौडपाद के भाष्य से अवश्य ही प्राचीन होगी। पं० उदयवीर शास्त्री ने चीनी अनुवाद के मूल से भी प्राचीन माठर वृत्ति को सिद्ध किया है। इसमें भी अन्तिम तीन कारिकाओं पर टीका प्राप्त है। ऐसी स्थिति में गौडपाद के बाद इनके प्रक्षिप्त होने की कल्पना निराधार ही सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त इन कारिकाओं पर गौडपाद-भाष्य का न होना सम्भाव्य ही कहा जा सकता है, निश्चित नहीं; क्योंकि, जैसा पं० उदयवीर शास्त्री ने लिखा है[2], यह भी (तो) हो सकता है कि गौडपाद ने इन पर भाष्य किया हो और वह किसी कारण से खण्डित हो गया हो। खण्डित होने का कारण प्रतिलिपि करते समय लेखक के प्रमाद से उक्त भाष्यांश के छूट जाने अथवा मूल हस्तलिखित ग्रंथ के अन्तिम पन्ने के वर्षा, दीमक आदि से नष्ट होने के अनन्तर उसी खण्डित ग्रथ से आगे की प्रतिलिपियों का बनाया जाना इत्यादि हो सकता है। इतना ही नहीं, शास्त्री जी ने तो अगली ही पंक्तियों में इसी बात को सत्य कहा है। उन्होंने लिखा है कि 'गौडपाद-भाष्य के अन्तिम भाग का खण्डित होना सांख्यकारिका के उपलभ्यमान अन्य व्याख्यानों के अन्तिम भाग की उससे तुलना करने पर भी स्पष्ट हो जाता है'। आगे माठर-वृत्ति, युक्तिदीपिका, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी, सांख्य-चन्द्रिका एवं गौडपाद-भाष्य के अन्तिम भागों को उद्धृत करके शास्त्री जी ने फिर लिखा है कि 'इन सब ही व्याख्यानों की अन्तिम पंक्तियों की परस्पर तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैसे ऊपर के अन्य सब व्याख्यानों में ग्रंथ की समाप्ति-द्योतक भावना ध्वनित होती है, वैसी गौडपाद-भाष्य की पंक्तियों[3] में नहीं है। केवल 'इति' पद का प्रयोग तो उसने अनेक कारिकाओं के अन्त में किया है। इसलिये यह सम्भावना होती है कि कदाचित् गौड-पाद के भाष्य का अन्तिम भाग खण्डित हो गया हो'। जो भी सत्य हो, किन्तु इतनी बात

---

१. द्रष्टव्य, इसी अध्याय के उत्तरार्ध का गौडपाद-प्रकारण।

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १२२।

३. द्रष्टव्य, कारिका ६९ का गौड० भाष्यः—पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थं ज्ञानमिदं गुह्यं रहस्यं परमर्षिणा श्रीकपिलर्षिणा समाख्यातं सम्यगुक्तम्, यत्र ज्ञाने भूतानां वैकारिकाणां स्थित्युत्पत्तिप्रलया अवस्थानाविर्भा-वतिरोभावाश्चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवित्तिरिति

निश्चित रूप से सत्य है कि उपलब्ध गौडपाद-भाष्य[१] के आधार पर सिद्धान्त-परक सांख्यकारिकाओं की संख्या कदापि-कथमपि 'सत्तर' नहीं पूरी होती क्योंकि तिलक जी के द्वारा कल्पित कारिका को सम्मिलित करने पर भी सिद्धान्त परक कारिकाओं की संख्या उनहत्तर ही होती है, वर्तमान ६९ वीं कारिका में तो सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर इस बात का प्रतिपादन है कि 'पुरुषार्थ (अर्थात् मोक्ष) का उपाय-भूत यह सांख्य-शास्त्रीय ज्ञान परमर्षि कपिल का कहा हुआ है' । ऐसी वस्तु-स्थिति में विल्सन महोदय तथा लोकमान्य तिलक जी का आँखें मूँदकर यह मान लेना कि सिद्धान्त-परक सत्तर कारिकाओं में से उनहत्तर तो १ ली से लेकर ६९ वीं तक उपलब्ध कारिकायें ही हैं, शेष एक कारिका वर्तमान ६१ वीं तथा ६२ वीं कारिकाओं के बीच में होनी चाहिये जो त्रुटित या खण्डित हो गई है, बड़ी ही आश्चर्यजनक बात है ।

वास्तविक बात तो यह है कि न तो अन्तिम तीन [७०-७२] कारिकायें प्रक्षिप्त ही हैं और न कोई कारिका ग्रन्थ के बीच से खण्डित ही हुई है; क्योंकि ७०-७१ वीं कारिकाओं के मूल ग्रंथ में सम्मिलित न होने पर ६९ वीं कारिका के वर्णन के अनुसार सांख्यकारिका रूप शास्त्र के रचयिता कपिल ही हो जायँगे और इस ग्रंथ से ईश्वरकृष्ण का सम्बन्ध बताने वाला कोई भी साधन हमारे पास न रह जायगा । इन्हीं दोनों कारिकाओं में यह बात कही गई है कि इस पवित्र एवं श्रेष्ठ सांख्यशास्त्रीय ज्ञान को कपिल मुनि ने आसुरि को तथा आसुरि ने पञ्चशिख को दिया एवं पञ्चशिख ने (अनेक शिष्यों को) देकर इसे खूब विस्तृत कर दिया । आगे शिष्य-परम्परा द्वारा आए हुए इस ज्ञान को बुद्धिमान् ईश्वरकृष्ण ने अच्छी तरह जान कर इन आर्यायों द्वारा संक्षेप में रख दिया । इस प्रकार ६९ वीं कारिका को ही अन्तिम मान लेने पर, उसमें कहा गया अर्थ अधूरा रह जाता है एवं न केवल ग्रंथ की प्रामाणिकता अकथित रह जाती है प्रत्युत इससे भी बढ़ कर यह अनर्थ उपस्थित हो जाता है कि इसके रचयिता ईश्वरकृष्ण के स्थान में कपिल मुनि प्रतीत होते हैं । अतएव यदि ६९ वीं कारिका सिद्धांत-प्रतिपादक न होने पर भी इसलिए आवश्यक है कि यह 'सांख्यकारिका' की प्रामाणिकता पर प्रभाव डालती है, तो ७० वीं इसलिए आवश्यक है कि यह प्राचीन आचार्यों की परम्परा का निर्देश करती है, एवं ७१ वीं इसलिए आवश्यक है कि यह शिष्य-परम्परा द्वारा मूल शास्त्र के ईश्वरकृष्ण तक पहुँचने का निर्देश करती है और ७२ वीं तो अत्यधिक आवश्यक है क्योंकि यह सर्वप्रथम कपिल द्वारा उपदिष्ट मूल शास्त्र के आधार पर इस ग्रंथ की रचना का कथन करके इसकी पूर्व प्रतिपादित प्रामाणिकता को सुदृढ करती है । पं० उदयवीर शास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि 'इन चारों आर्यायों का परस्पर आर्थिक सामञ्जस्य इतना संघटित और संतुलित है कि उसमें से एक पद भी हटाया जाना अनर्थ का हेतु हो सकता है । इसलिए इनमें से किसी भी कारिका को प्रक्षिप्त बताना दुस्साहस-मात्र है । वस्तुतः ग्रंथ के पूर्वापर का परस्पर असामञ्जस्य, रचना की विशृङ्खलता, आर्थिक सम्बन्धों का अभाव या परस्पर विरोध, मौलिक सिद्धांतों का विरोध आदि प्रबल कारणों के रहते हुए ही

१. द्रष्टव्य, गौडपाद-भाष्य का उपसंहारात्मक श्लोकः—सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि । यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥

किसी ग्रन्थांश को प्रक्षिप्त कहा जा सकता है। मूल ग्रंथ के किसी भाग पर केवल एक भाष्य के न होने को प्रक्षेप का कारण मानना तो शास्त्र के साथ सर्वथा उपहास ही करना है'।[१]

इस प्रकार पूर्व कृत समस्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान ७२ कारिकाओं में न तो कोई कारिका प्रक्षिप्त है, और न ही कोई कारिका बीच से लुप्त है। पहले दिखाया जा चुका है कि ६१ वीं कारिका का गौडपाद-भाष्य, जिसे लोकमान्य तिलक एवं उनके समर्थक डा० हरदत्त शर्मा दो कारिकाओं का भाष्य मान कर उसके आधार पर एक नई कारिका गढ़ते हैं और इस प्रकार सिद्धांतपरक कारिकाओं की 'सत्तर' संख्या पूरी करते हैं, वस्तुतः एक ही कारिका का भाष्य है। ऐसा मानने में कोई असंगति नहीं है और यदि दुराग्रह-वश कोई व्यक्ति ६१वीं के गौडपाद भाष्य में उससे विषयान्तर का प्रतिपादन मानता है तो इस विषयान्तर के आधार पर गढ़ी गई ६२ वीं कारिका और भी अधिक विषयान्तर प्रस्तुत करती है। यह विषयान्तर भी मूल ग्रंथ अर्थात् कारिकाओं के साथ होने के कारण अधिक अक्षम्य होगा। ५३ वीं से लेकर ६१वीं कारिका तक के कथन का एकमात्र विषय यही है कि 'प्रकृति-कृत सर्ग केवल पुरुष के भोग एवं तदनन्तर विवेक-ज्ञान द्वारा उसको मोक्ष प्राप्त कराने के लिए है; और ज्यों ही प्रकृति ने पुरुष का यह प्रयोजन या अर्थ सम्पन्न किया त्यों ही वह उसकी ओर से निवृत्त हो जाती है और फिर कभी भी उसकी दृष्टि में नहीं आती; क्योंकि वह उस परम लज्जालु सुकुमारी कुलाङ्गना से भी अधिक लज्जालु है जो किसी पुरुष के द्वारा एक बार देख ली जाने पर फिर उसकी दृष्टि में नहीं आती'। इस संदर्भ में लोकमान्य तिलक द्वारा गढ़ी गई पूर्व-प्रस्तुत तथाकथित ६२ वीं कारिका की संगति कैसे बैठेगी जिसमें ईश्वर, काल, स्वभाव आदि की सृष्टि-कारणता का निराकरण किया गया है। इस प्रकार इस अभिनव कल्पित कारिका का मूल ग्रंथ से विषयान्तर प्रस्तुत करना सुस्पष्ट है और यह विषयान्तर भाष्य-गत विषयान्तर की अपेक्षा अधिक अक्षम्य है। इसके अतिरिक्त यह दूसरा दोष भी है कि इस कारिका को गढ़ कर तिलक जी जो सिद्धांत-परक कारिकाओं की 'सत्तर' संख्या पूरी करना चाहते थे, उनका वह प्रयोजन भी तो असिद्ध ही रह जाता है, क्योंकि वर्तमान कारिकाओं में से न केवल ७० वीं ही अपितु ६९ वीं कारिका भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करती। इस प्रकार नई गढ़ी कारिका को मिलाकर भी सिद्धान्त-परक कारिकाओं की समूची संख्या उनहत्तर ही होती है, सत्तर नहीं।

सच तो यह है कि ७२वीं कारिका में आये हुए 'सप्तति' पद का 'ठीक सत्तर, न एक कम और न एक अधिक' अर्थ ग्रहण करने में ही विल्सन, लोकमान्य तिलक, डा० हरदत्त शर्मा, पं० अय्यास्वामी शास्त्री आदि विद्वानों ने भूल की है। 'सप्तति' का शब्दार्थ 'सत्तर' अवश्य है, परन्तु इसका अभिप्राय यहाँ 'लगभग सत्तर' ही है, 'ठीक सत्तर' नहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रंथ का ही नाम 'सप्तति' समझना चाहिए, केवल सिद्धांतपरक सत्तर कारिकाओं का नहीं। ७२ कारिकाओं के होने पर भी ग्रंथकार के 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः'[२]

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १३१-३२।

२. सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।....॥

इत्यादि स्वकीय कथन के आधार पर लोक में इस ग्रंथ का नाम ही 'सप्तति' हो गया होगा, जैसा कि इसके प्राचीन एवं प्रामाणिक टीकाकारों के कथनों या लेखों से प्रकट होता है। इसकी जयमंगला टीका के रचयिता ने प्रथम श्लोक में ही 'क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमङ्गला नाम' लिखा है। इसी प्रकार ५१ वीं कारिका की व्याख्या में भी जयमङ्गलाकार ने 'एते प्रत्ययसर्गभेदाः पञ्चाशत् पदार्थाः, अस्तित्वादयश्च दश। ते चास्यामेव सप्तत्यां निर्दिष्टाः'। यद्यपि ७१ वीं कारिका के 'आर्याभिः' पद की "आर्याभिः इति सप्तत्येत्यर्थः, 'दु:खत्रयाभिघातात्' 'एतत् पवित्रम्' इति सप्तत्याभिहितम्" इत्यादि व्याख्या में जयमङ्गलाकार ने १ ली से ७० वीं तक की ७० कारिकाओं का ही 'सप्तति' पद से ग्रहण किया है, पर यह स्पष्ट ही असंगत है; क्योंकि ईश्वरकृष्ण द्वारा जितनी आर्याओं में सांख्य-सिद्धांत के संक्षेप करने की बात ७१ वीं कारिका में कथित है, वे 'दुःखत्रयाभिघातात्' इत्यादि १ ली से लेकर 'एतत् पवित्रम्' इत्यादि ७०वीं तक की ७० कारिकायें नहीं अपितु १ ली से ६८ वीं तक की ६८ ही कारिकायें हैं। युक्तिदीपिका में भी आरम्भ के श्लोको में से ६वें श्लोक की प्रथम पंक्ति में सांख्यकारिका को 'सप्तति' कहा गया है :—'सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा'। 'सप्तति' शब्द के आगे प्रयुक्त हुआ 'आख्या' पद इसके 'सप्तति' नाम को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि युक्तिदीपिकाकार ने कारिकाओं का 'सप्तति' नाम स्पष्ट करके भी अपनी व्याख्या पूरी बहत्तर कारिकाओं पर ही की है। उनकी दृष्टि में कारिकाओं की संख्या 'बहत्तर' होने पर भी उनके 'सप्तति' नाम में कोई अनौचित्य अथवा अस्वारस्य नहीं है।

केवल प्रस्तुत ग्रंथ के ही विषय में यह सत्य हो, सो भी नहीं। भर्तृहरि के तीनों शतकों में से किसी में भी श्लोक-संख्या ठीक-ठीक सौ नहीं है। वैराग्यशतक में कुल १०८ श्लोक हैं जिनमें से प्रथम में मङ्गलाचरण तथा शेष १०७ में मुख्य विषय का प्रतिपादन है। शृङ्गारशतक में कुल १०२ श्लोक हैं जिनमें से प्रथम में मङ्गलाचरण, अन्तिम दो में उपसंहार तथा शेष में मुख्य विषय का प्रतिपादन है। नीतिशतक में कुल १०६ श्लोक हैं जिनमें से प्रथम में मङ्गलाचरण तथा शेष १०८ में मुख्य विषय का प्रतिपादन है। ये विवरण क्रमशः चौखम्बा-विद्याभवन-संस्कृत-ग्रंथ-माला ६१, ६७ तथा चौखम्बा-हरिदास-संस्कृत-ग्रंथमाला ६७ के आधार पर दिए गये हैं। बाण के चण्डीशतक में १०२ श्लोक हैं, जो सब के सब मुख्य विषय पर ही लिखे गए हैं। यह विवरण काव्यमाला-संस्करण (१६३७) के आधार पर दिया गया है। आनन्दवर्धन के देवीशतक में कुल १०४ श्लोक हैं जिनमें अन्तिम, जो कि आत्मपरिचयात्मक है, को छोड़ कर शेष १०३ में देवी की स्तुति की गई है। लगभग दसवीं शताब्दी के कवि भल्लट के भल्लट-शतक में कुल १०८ श्लोक हैं, जिनमें से सभी में मुख्य विषय अर्थात् अन्योक्तियाँ ही प्रतिपाद्य हैं। अभिनवगुप्त-प्रणीत परमार्थसार में कुल १०५ आर्यायें हैं परन्तु स्वयं ग्रंथकार ने ही अन्तिम आर्या में में 'आर्याशतक' कह कर इसका उल्लेख किया है। ग्यारहवीं शताब्दी के काश्मीर-कवि क्षेमेन्द्र का पुरुषार्थशतक नामक ग्रंथ है जिसमें कुल १०५ श्लोक हैं। दो श्लोकों में मङ्गलाचरण, १०२ श्लोकों में मुख्य विषय तथा अन्तिम श्लोक में उपसंहार है। ये विव-

रण इस ग्रन्थ के जयपुर-संस्करण के आधार पर दिए गये हैं। लगभग १५ वीं शताब्दी के धनद नामक कवि ने भी भर्तृहरि की तरह तीन शतक लिखे हैं। इनमें से **शृङ्गारशतक** में कुल १०३ श्लोक हैं जिनमें से प्रथम पाँच में प्रस्तावना तथा शेष ९८ में मुख्य विषय का प्रतिपादन है। **नीतिशतक** में भी १०३ ही श्लोक हैं जिनमें से १-९० में मुख्य विषय तथा शेष तेरह श्लोकों में वंशादि का परिचय है। इसी प्रकार **वैराग्यशतक** में कुल १०८ श्लोक हैं जिनमें सभी में मुख्य विषय का ही प्रतिपादन है। उत्प्रेक्षा-वल्लभ नामक कवि के **सुन्दरीशतक** में कुल १११ श्लोक हैं जिनमें से प्रथम दो में मङ्गलाचरण, अन्तिम दो में आत्मपरिचय, शेष में नायिका का नखशिख-वर्णन है। यह कवि १७वीं शताब्दी का है। प्रसिद्ध नीलकण्ठ दीक्षित के **सभारञ्जन-शतक** में कुल १०५ श्लोक हैं जिनमें से अन्तिम में आत्म-परिचय तथा शेष में मुख्य विषय का प्रतिपादन है। यद्यपि उपर्युक्त किसी भी ग्रंथ में न तो समस्त श्लोकों की और न मुख्य विषय के प्रतिपादक श्लोकों की ही संख्या सौ है, तथापि कहलाते सब के सब 'शतक' ही हैं। शतकों के ही विषय में ऐसी बात हो, वह भी नहीं। सप्तशतियों एवं पञ्चाशिकाओं के विषय में भी यही बात सत्य है। एकाध उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। हाल की **गाथासप्तशती** (प्राकृत नाम **गाहासत्तसई**) में कुल ७०३ पद्य हैं जिनमें छः श्लोकों में प्रस्तावना एवं उपसंहार तथा शेष ६९७ पद्यों में मुख्य विषय प्रतिपादित है। इसी प्रकार प्रसिद्ध गोवर्धनाचार्य की **आर्यासप्तशती** में कुल ७५६ आर्यायें हैं जिन में से प्रथम चौवन में प्रस्तावना है, अन्तिम छः में उपसंहार तथा शेष ६९६ में मुख्य विषय दिया गया है। साम्ब-कृत **साम्ब-पञ्चाशिका** में कुल ५३ श्लोक हैं। विल्हण-कृत चौरपञ्चाशिका में भी पूरे-पूर पचास श्लोक होने के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। ये सब नाम अधिक प्रसिद्ध ग्रंथों के ही दिये गये हैं। अन्यथा ऐसे ग्रंथों की संख्या बहुत अधिक है। इन सब का यहाँ उल्लेख अनावश्यक है। इस समस्त विवरण के देने का मुख्य अभिप्राय केवल इस एक तथ्य को स्पष्ट करना है कि सांख्यकारिका के 'सांख्यसप्तति' नाम की संगति के लिये उसमें समस्त, या केवल मुख्य विषय का प्रतिपादन करने वाली आर्यायों की संख्या का ठीक-ठीक सत्तर होना आवश्यक नहीं है, भारत की समस्त साहित्यिक परम्परा इसका समर्थन करती है।

सांख्यकारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय

जैसा पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, सांख्य-कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय वही है जो प्राचीन 'षष्टितन्त्र' नामक सांख्य-ग्रंथ का था। हाँ, इनमें षष्टितन्त्र के केवल सिद्धान्तों का ग्रहण किया गया है, सिद्धान्तों को सुबोध बनाने के लिये प्रयुक्त हुई आख्यायिकायें तथा विरोधी सम्प्रदायों के खण्डन छोड़ दिये गए हैं। षष्टितन्त्र के उपदेशों का संक्षेप करने के लिये ही ईश्वरकृष्ण ने ऐसा किया होगा। संक्षेप में ये इस प्रकार हैं:—प्रथम कारिका में सांख्य दर्शन का यह चरम सत्य प्रतिपादित है कि जीवन दुःखमय है और प्राणि-मात्र उससे छुटकारा--मुक्ति--पाना चाहता है। किन्तु बुद्धि के केवल मनुष्य ही में होने के कारण समस्त दुःख से छुटकारा दिलाने वाले साधन या उपाय को जानने की इच्छा का उसी में उत्पन्न होना संगत है। यह जानने की इच्छा दुःख-नाश के दृष्ट या लौकिक उपायों के विषय में न होगी, क्योंकि इनसे दुःख का आत्यन्तिक—सार्वकालिक—तथा ऐकान्तिक—

कल्पनापत्तेश्च, शास्त्रस्य मन्दप्रयोजनतापत्तेश्च, पूर्ववदनुमानस्य विषयाप्रदर्शनेन न्यूनतापत्तेश्च।" [पृ० १८३।]

यद्यपि नारायण तीर्थ के अर्थ में सिद्धान्ततः कुछ भी भेद नहीं है, तथापि जैसा वंशीधर की उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है, इस अर्थ में मूल के 'अनुमानात्' पद का 'सामान्यतोदृष्टानुमान' ही अर्थ लेना पड़ेगा [सामान्य अर्थ के वाचक शब्द का विशिष्ट अर्थ लेना पड़ेगा जो अनुचित है]; क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति सामान्यतोदृष्ट से ही हो सकती है, पूर्ववद् अनुमान से कदापि नहीं। इसके अतिरिक्त इस अर्थ में यह भी दोष है कि पूर्ववद् अनुमान के विषय [धूम इत्यादि के दर्शन से अदृश्यमान वह्नि आदि की सत्ता का अनुमान] का इसमें कथन ही नहीं हो पाता। परन्तु इस प्रकार का दोष तो प्रथम अर्थ में भी है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण के विषयों का कथन नहीं हो पाता। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष के विषयों के नितान्त स्पष्ट होने के कारण उनका कथन न होने में कोई हर्ज नहीं है, तो यही बात तो पूर्ववद् के विषयों का कथन न होने के विषय में भी कही जा सकती है क्योंकि पूर्ववद् के विषय भी अन्यत्र (अर्थात् व्याप्तिग्रहण काल में) तो प्रत्यक्ष ही रहते हैं, केवल अनुमान-स्थल में पक्ष में प्रत्यक्ष नहीं होते।

कारिका की द्वितीय पंक्ति से स्पष्ट है कि जिन अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से नहीं होता, उनका ज्ञान कारिकाकार के मत से आप्तागम अर्थात् शब्द प्रमाण से होता है। परन्तु इस प्रमाण के विषय-भूत अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में टीकाकारों में कुछ मत-भेद है। अपनी टीका 'सांख्यचन्द्रिका' में नारायणतीर्थ ने केवल एक विषय का स्पष्ट कथन किया है, वह है यज्ञ आदि कर्मों की स्वर्गादि के प्रति साधनता। अन्य विषयों का स्पष्ट कथन न करके 'आदि' पद से ग्रहण कर लिया है। गौडपाद ने इसके विषयों में देवराज इन्द्र, उत्तर कुरु आदि स्वर्ग प्रदेश तथा स्वर्गादि में अप्सराओं की सत्ता को स्थान दिया है। माठर ने कुछ भी नहीं कहा है। 'सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र' में देवराज इन्द्र तथा उत्तरावती का कथन किया गया है। 'उत्तरावती' उत्तरकुरु ही है या उससे भिन्न, कुछ ज्ञात नहीं होता। वाचस्पति ने गौडपाद के ही अर्थ को दुहरा दिया है। हाँ, शब्द प्रमाण के विषयों में उन्होंने दो अपनी ओर से जोड़े हैं—एक तो महत्, अहङ्कार इत्यादि पदार्थों के आरम्भ या सृष्टि का क्रम, और दूसरा अपूर्व [यज्ञादि विविध कर्मों के सम्पादन से सञ्चित होने वाला]। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कथन जयमंगलाकार का है। उन्होंने शब्द प्रमाण के विषयों का कथन करते हुये लिखा है कि 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भी विषय न बनने वाले जो अतीन्द्रिय या परोक्ष पदार्थ हैं, वे अत्यन्त परोक्ष होने के कारण शब्द प्रमाण के विषय होते हैं, जैसे स्वर्ग और अपवर्ग।'[१] इसकी महत्ता के विषय में आगे विचार होगा।

सातवीं कारिका में उन आठ स्थितियों का निर्देश है जिनके कारण विद्यमान वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। आठवीं कारिका में प्रकृति और पुरुष के अभाव नहीं अपितु उनकी सूक्ष्मता को उनकी अनुपलब्धि का कारण बताते हुए कारिकाकार ने

१. द्रष्टव्य, का० ६ की जयमङ्गला टीकाः—सामान्यतोदृष्टादनुमानादसिद्धं तदत्यन्तपरोक्षत्वादागमात् सिद्धम्। यथास्वर्गापवर्गाविति।

यह कथन किया है कि प्रकृति की उपलब्धि या सत्ता का अनुमान उसके महत् अहंकार आदि कार्यों से होता है । यद्यपि प्रकृति की ही भाँति पुरुष की भी सत्ता सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही सिद्ध होती है, तथापि यहाँ पुरुष की सत्ता में प्रमाण न कहकर केवल प्रकृति की सत्ता में प्रमाण का कथन करने का कारण यह है कि दोनों के सामान्यतोदृष्ट अनुमानों में भेद है । महत् आदि समस्त विकारों का मूल कारण होने से प्रकृति के अनुमान में उसके ये कार्य लिङ्ग बन जाते हैं, परन्तु किसी का भी कारण न होने से पुरुष का कोई कार्य है ही नहीं जो उसके अनुमान में लिङ्ग बने । इसलिए इसका अनुमान अन्य प्रकार के हेतुओं से होता है, जिनका कथन कारिककार ने अलग १७वीं कारिका में किया है ।

महत् आदि कार्यों से अनुमित होनेवाली प्रकृति को त्रिगुणात्मक सिद्ध करने के लिए अपेक्षित 'सत्कार्यवाद' की प्रतिष्ठा नवम कारिका में की गई है । कार्य अपने उपादान कारण में उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान रहता है और नष्ट होने पर फिर उसी कारण में विलीन हो जाता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता । इस प्रकार सांख्य दर्शन में उत्पत्ति एवं विनाश सत् वस्तु के क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव मात्र हैं, पहले से असत् किसी नई वस्तु की सत्ता की प्राप्ति एवं हानि नहीं हैं । दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि कारण कार्य की सूक्ष्म या अव्यक्त, तथा कार्य कारण की स्थूल या व्यक्त अवस्था है, एवं दोनों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है । यही सांख्यीय सत्कार्यवाद का स्वरूप है, जिसकी स्थापना नवम कारिका में की गई है । इसके पाँच कारण दिये गये हैं । इस सिद्धान्त के स्वरूप तथा हेतुओं का विस्तृत विवेचन द्वितीय खंड के सृष्टि-प्रकरण में किया गया है । कारण और कार्य में वस्तुतः अभेद होने अर्थात् कार्य के कारण-रूप होने से, कार्य के त्रिगुणात्मक होने पर कारण-भूत प्रधान भी त्रिगुणात्मक सिद्ध होगा । इस प्रकार जगत् के कारण-भूत प्रधान के स्वरूप का निश्चय करने में सत्कार्यवाद की साक्षात् उपयोगिता है ।

इस प्रकार प्रधान की सिद्धि में उपयोगी सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने के अनन्तर दशम कारिका में व्यक्त तथा अव्यक्त (प्रधान) के भेद, एवं एकादश में दोनों के परस्पर सादृश्य और पुरुष से उनके वैषम्य या भेद का कथन किया गया है । विवेक-ज्ञान में इनकी बड़ी उपयोगिता है । १२-१३ कारिकाओं में तीनों गुणों के लक्षण, प्रयोजन, कार्य-प्रणाली आदि का वर्णन है । चौदहवीं में पीछे (११वीं में) वर्णित अविवेकित्व, विषयत्व आदि धर्मों के आश्रय रूप में अव्यक्त की सिद्धि अत्यन्त संक्षेप में करके अगली १५-१६वीं कारिकाओं में पाँच विशिष्ट हेतुओं के आधार पर अव्यक्त की सिद्धि, एवं उसके द्विविध—सदृश एवं विषम—परिणाम बताये गये हैं ।

सत्रहवीं कारिका में चेतन पुरुष की सत्ता तथा अठारहवीं में उसकी अनेकता सिद्ध की गई है । उन्नीसवीं कारिका में पुरुष के विवेकज्ञानोपयोगी अत्रिगुणत्व, अविषयत्व, साक्षित्व, चेतनत्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टत्व और अकर्तृत्व धर्मों का वर्णन किया गया है । इससे सांख्य को चेतन पुरुष का अकर्तृत्व मान्य प्रतीत होता है, परन्तु जीवन का अनुभव इसके विपरीत इस बात में प्रमाण है कि जो चेतन होता है, वही कर्ता होता है । लोग प्रमाणों से कर्त्तव्य का ज्ञान करके चेतन मैं अपने कर्त्तव्य को जानकर उसे करने जा रहा हूँ, ऐसा सोचते हैं । इससे स्पष्ट है कि चेतन ही कर्त्तव्य का ज्ञान

प्राप्त करता है, और ज्ञान प्राप्त करके वही उसे करता है। इससे सांख्य सिद्धान्त अनुभव-विरुद्ध एवं अमान्य जान पड़ता है। इसका उत्तर २०वीं कारिका में यह कथन करके दिया गया है कि चेतन पुरुष के संयोग से अचेतन बुद्धि आदि चेतन-सदृश तथा चेतन किन्तु अकर्ता पुरुष कर्त्री प्रकृति—त्रिगुणों की साम्यावस्था -के संयोग से कर्ता सा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि चूंकि चैतन्य और कर्तृत्व प्रमाणों के आधार पर भिन्न-भिन्न आश्रय में सिद्ध हो चुके हैं, इसलिए दोनों की एक ही में प्रतीति निरा भ्रम है। दोनों का यह संयोग क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर अगली (२१वीं) कारिका में यह कहकर दिया गया है कि पुरुष के द्वारा प्रधान का दर्शन, तथा प्रधान के द्वारा पुरुष का कैवल्य सम्पन्न होने के लिए पङ्गु और अन्ध के समान अकर्ता पुरुष तथा अचेतन प्रधान का परस्पर संयोग होता है, एवं इसी संयोग से सृष्टि होती है।

इसके अनन्तर सृष्टि तथा सृष्ट तत्त्वों के लक्षण, कार्य आदि का विवेचन आरम्भ होता है। २२वीं कारिका में प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तेईस तत्त्वों का उत्पत्ति-क्रम से कथन है। प्रकृति से महत् या बुद्धि, उससे अहङ्कार, तमःप्रधान अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र तथा सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से एकादश इन्द्रिय, एवं पञ्च तन्मात्रों से आकाश इत्यादि पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। २३वीं में बुद्धि को निश्चय करने वाली कहकर, उसके 'सात्त्विक' और 'तामस' दो भेद करके, 'सात्त्विक' के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य, एवं 'तामस' के अधर्म, अज्ञान, राग तथा अनैश्वर्य भेद किये गये हैं। २४वीं में अहङ्कार को अभिमान करने वाला कह कर, उससे उपर्युक्त पञ्च तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रियों की द्विविध सृष्टि बताई गई है। २५वीं में इसी द्विविध सृष्टि के विषय में यह बात कही गई है कि सात्त्विक अहङ्कार से सात्त्विक इन्द्रियों का ग्यारह का गण, तथा तामस अहङ्कार से तामस तन्मात्रों का पाँच का गण उत्पन्न होता है, तथा रजोगुण सत्त्व और तमस् गुणों की अपने अपने कार्य में साहाय्य करता है, उनकी भाँति इसका अपना कोई स्वतन्त्र या पृथक् कार्य नहीं होता। २६वीं में मन को छोड़कर शेष दस इन्द्रियों का दो पृथक्-पृथक् कोटियों में वर्णन है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन तथा घ्राण, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। २७वीं कारिका में मन को उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय, दोनों कह कर, उसे सङ्कल्प करने वाली इन्द्रिय कहा गया है। साथ ही अन्य इन्द्रियों के साथ इसके साधर्म्य को इसके इन्द्रिय होने में कारण बताया गया है। इसका यह साधर्म्य है, सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होना। इसका विशेष विचार द्वितीय खंड के सृष्टि-प्रकरण में किया जायगा। प्रस्तुत अध्याय के अगले प्रकरण में भी इस पर थोड़ा विचार किया जायगा।

२८ वीं कारिका में दसों इन्द्रियों के व्यापारों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का केवल 'आलोचन'—अस्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान करना -है। एवं भाषण, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा रमण पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार हैं। २९ वीं में त्रिविध अन्तःकरण—बुद्धि, अहङ्कार तथा मन - के पूर्वोक्त लक्षणों को ही उनके-उनके व्यापार कहा गया है। इस प्रकार अध्यवसाय या निश्चय बुद्धि का, अभिमान अहङ्कार का, तथा सङ्कल्प मन का व्यापार होगा। प्राण इत्यादि पञ्च

वायु इन तीनों ही अन्तःकरणों के सामान्य या मिलित व्यापार हैं। ३० वी कारिका में यह कथित है कि प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में बाह्य तथा त्रिविध अन्तःकरण के व्यापार कभी एक साथ और कभी क्रमशः होते हैं। इसी प्रकार परोक्ष पदार्थों के विषय में भी तीनों अन्तःकरणों के व्यापार एक साथ और क्रमशः होते हैं। ३१ वीं में यह बात कही गई है कि ये करण एक दूसरे की स्व-स्व-कार्योन्मुखता के कारण अपने-अपने व्यापार में संलग्न रहते हैं। इनकी यह व्यापारशीलता एकमात्र पुरुषार्थ ही के कारण है, ईश्वर आदि अन्य किसी प्रयोजक से प्रेरित होने के कारण नहीं। अगली कारिका में यह कथित है कि तेरहों (दश बाह्य तथा तीन आन्तरिक) करण आदान, धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं। इनका आहार्य, धार्य और प्रकाश्य—प्रत्येक कार्य दश प्रकार का होता है। जैसे पञ्च कर्मेन्द्रियों के वचन आदि पाँचों कार्य दिव्य (देव-भोग्य) तथा अदिव्य (मनुष्य-भोग्य) होने से दस प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार त्रिविध अन्तःकरण का अपने प्राणादि कार्यों से धारण करने योग्य शरीर पञ्च भूतों का बना होता है जिनमें पृथ्वी शब्द, स्पर्श आदि पाँचों तन्मात्रों का समूह होती है। ये शब्द आदि दिव्य और अदिव्य रूप से द्विविध होने के कारण दश होते हैं। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश्य विषय शब्द, स्पर्श आदि पञ्च तन्मात्र हैं जो दिव्यादिव्य रूप से दस प्रकार के हुये। ३३ वीं में यह तथ्य कथित है कि दस बाह्य करण त्रिविध अन्तःकरण के विषयों को उपस्थित करने वाले होते हैं। इनमें बाह्य करण वर्तमान-विषयक तथा अन्तःकरण त्रिकाल-विषयक होते हैं। ३४ वीं में यह कथित है कि दस बाह्य करणों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तो स्थूल और सूक्ष्म द्विविध विषयों में प्रवृत्त होती हैं, कर्मेन्द्रियों में वाक् तो स्थूल विषय में ही प्रवृत्त होती है, शेष चारों स्थूल शब्द, स्पर्श आदि पाँचो विषयों में प्रवृत्त होती हैं। ३५ वीं में अन्तःकरणों को प्रधान, तथा बाह्य करणों को सहायक (द्वार) कहा गया है। अन्तःकरणों में भी बुद्धि प्रधान है, क्योंकि अन्य सभी करण समस्त विषयों को ला-लाकर बुद्धि को ही समर्पित करते हैं, यह बात आगे की ३६ वीं कारिका में कथित है। क्यों सभी करण समस्त विषयों को बुद्धि को ही समर्पित करते हैं, इस प्रश्न का उत्तर ३७ वीं कारिका में यह कहकर दिया गया है कि चूँकि समस्त विषयों के सम्बन्ध में होने वाले पुरुष के भोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही प्रकृति से पुरुष के भेद को प्रकट करती है, इसलिये सभी स्व-स्व विषयों को लाकर बुद्धि को ही समर्पित करते हैं।

इस प्रकार २८ से ३७ तक की दस कारिकाओं में करणों एवं उनके विषयों आदि का विवेचन करके ३८ वीं कारिका से विषयों का विवेचन किया गया है। ३८ वीं में कहा गया है कि पञ्च तन्मात्र 'अविशेष' या सूक्ष्म विषय हैं। इन पाँचों से उत्पन्न आकाश आदि पञ्च महाभूत 'विशेष' या स्थूल कहे जाते हैं, क्योंकि ये शान्त, घोर, मूढ़ होते हैं। इन विशेषों के भी अवान्तर भेद ३९ वीं में इस प्रकार दिये गये हैं:—सूक्ष्म शरीर, माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर, और पञ्च महाभूत, ये तीन प्रकार के स्थूल विषय हैं। इनमें सूक्ष्म शरीर नित्य होते हैं किन्तु माता-पितृज स्थूल शरीर अनित्य। अगली तीन (४० से ४२) कारिकाओं में सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर का विवेचन है। इनमें संक्षेपतः यही कथित है कि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, अप्रतिहत गति वाला, महत् तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रों तक के अठारह तत्त्वों से बना हुआ, भोग-रहित, धर्माधर्म भावों से युक्त लिङ्ग शरीर संसरण करता

रहता है। जैसे आधार के बिना चित्र और स्तम्भ के बिना छाया नहीं रहती, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के बिना आश्रयहीन बुद्धि अहङ्कार आदि भी नहीं रह सकते। पुरुषार्थ के लिये उत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर धर्म, अधर्म इत्यादि निमित्त, तथा उसके कार्य स्थूल शरीर से सम्बन्ध होने के कारण नटवत् विभिन्न रूप धारण किया करता है। ४४-४५ वीं कारिकाओं में कहा गया है कि धर्म से स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों में, तथा अधर्म से सुतल आदि निम्न लोकों में गति प्राप्त होती है। ज्ञान से मोक्ष तथा अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है; वैराग्य से प्रकृति-लय, राग से संसरण, ऐश्वर्य से इच्छा की सफलता, तथा अनैश्वर्य से उसका हनन होता है। ये बुद्धि के आठों भावों के फल हुये। इसके बाद ४६ से लेकर ५२ वीं तक की सात कारिकाओं में बुद्धि के धर्म आदि आठ भावों के संक्षिप्त और विस्तृत भेद वर्णित हैं। विपर्यय या अज्ञान, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि, ये चार बुद्धि के संक्षिप्त परिणाम हैं। गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण इन्हीं के पचास भेद होते हैं। विपर्यय के पाँच, अशक्ति के अट्ठाइस, तुष्टि के नव, तथा सिद्धि के आठ भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर पचास भेद हुये।

बुद्धि-सर्ग के बाद भौतिक या तन्मात्र-सर्ग का वर्णन करते हुये ५३ वीं कारिका में कहा गया है कि देव-सृष्टि आठ[1] प्रकार की, तिर्यक् सृष्टि पाँच[2] प्रकार की, तथा मनुष्य-सृष्टि एक प्रकार की होती है। चैतन्य के उत्कर्षापकर्ष के तारतम्य से ऊर्ध्व, अधः और मध्यम लोकों में जन्म होने से भौतिक सृष्टि की त्रिविधता अगली कारिका में इस प्रकार कथित है :—ऊर्ध्व लोकों में सत्त्व-प्रधान, अधो-लोकों में तमः-प्रधान तथा मध्य-लोक में रजः-प्रधान सृष्टि होती है। इस प्रकार सृष्टि बताकर अगली कारिका में इसे समस्त दुःखों का कारण बताया है। इससे पुरुष को मुक्ति दिलाने के लिये प्रकृति के द्वारा महत् से लेकर आकाश आदि भूतों तक की यह सारी सृष्टि की जाती है। दूसरे शब्दों में प्रकृति-कृत यह सारी सृष्टि परार्थ अर्थात् अपने से भिन्न पुरुष के लिये है,यह तथ्य ५६वीं कारिका में प्रतिपादित है। इसी तथ्य को सांख्य दार्शनिकों के अति प्राचीन एवं सर्व-विदित दृष्टान्त द्वारा अगली कारिका में इस प्रकार प्रकट किया गया है :—जैसे बछड़े के बढ़ने के लिये अचतेन दुग्ध स्वतः निकलता है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति भी स्वतः प्रवृत्त होती है। यही विषय अगली तीन कारिकाओं में भी विभिन्न प्रकार से प्रतिपादित है।

६१ से ६६ तक की कारिकाओं में प्रायेण यह विषय कई तरह से प्रतिपादित है कि प्रकृति-कृत सृष्टि का पर्यवसान प्रकृति-पुरुष-विवेकज्ञान में, और विवेक-ज्ञान का पर्यवसान मोक्ष में होता है। वस्तुतः मोक्ष निर्गुण तथा अपरिणामी पुरुष का नहीं अपितु अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही होता है। यह प्रकृति अपने एकमात्र ज्ञान रूप से स्वयं को मुक्त करती है, शेष धर्माधर्म आदि सात रूपों से अपने को ही बाँधती है। जिस एक रूप से प्रकृति अपने को मुक्त करती है, वह सतत अभ्यास से 'नास्मि, न मे, नाहं' रूप में दृढ और स्थिर होता है। यह ज्ञान संशय-भ्रम आदि से रहित होने के कारण विशुद्ध और अमिश्रित होता है। इस प्रकार के इस ज्ञान के उत्पन्न हो

१. ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच।

२. पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, तथा स्थावर।

जाने पर इसके सामर्थ्य से धर्माधर्म आदि सात रूपों से रहित, परिणाम-विहीन प्रकृति को द्रष्टा के समान स्थित विमल पुरुष देखता है, और 'मैंने इसे देख लिया' इस विचार से वह प्रकृति से उदासीन हो जाता है एवं प्रकृति भी 'इसने मुझे देख लिया' इस भाव से व्यापार-शून्य हो जाती है। इस प्रकार दोनों का संयोग रहने पर भी सृष्टि—प्रकृति-व्यापार का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

तत्वज्ञान की प्राप्ति से धर्माधर्म आदि का बीज-भाव (उत्पादकत्व) नष्ट हो जाने पर भी अवशिष्ट (अभुक्त) प्रारब्ध के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किये रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक फिर दण्ड-चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग (नामक संस्कार) से घूमती रहती है। (का० ६७) शरीर-पात होने पर, भोग एवं अपवर्ग-दोनों ही प्रयोजनों (पुरुषार्थों) के पूर्व से ही सिद्ध हुए रहने के कारण प्रकृति के निवृत्ति हो जाने से पुरुष ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त कर लेता है। [का० ६८]

सांख्य दर्शन का समस्त प्रतिपाद्य विषय इतना ही था जो अड़सठ कारिकाओं में दिया गया है। ६९वीं कारिका में परमर्षि कपिल को इसका मूल उपदेष्टा कहा गया है। ७० वीं में सांख्य की गुरु-शिष्य-परम्परा दी गई है। कपिल ने आसुरि को, एवं आसुरि ने पञ्चशिख को यह ज्ञान दिया। पञ्चशिख ने इसे अपनी प्रखर प्रतिभा से खूब बढ़ाया। ७१वीं में यह कथित है कि इसी प्रकार शिष्य-परम्परा से आए हुये इस ज्ञान को ईश्वर-कृष्ण ने प्राप्त किया और इसे भली भाँति जानकर ७० कारिकाओं में संक्षेप में रख दिया। ७२वीं कारिका में यह प्रतिपादित है कि इस 'सप्तति' में जो पदार्थ निरूपित हैं, वे निस्सन्देह समस्त 'षष्टितन्त्र' के ही प्रतिपाद्य विषय हैं। केवल उसकी आख्यायिकायें एवं परमत-खण्डन इसमें नहीं हैं।

सांख्यकारिका में प्रतिपादित ज्ञान का मूल्याङ्कन

सांख्य शास्त्र के अनेक प्राचीन ग्रंथों में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका जितनी प्रचलित हुई, उतना अन्य कोई ग्रंथ नहीं। विभिन्न सम्प्रदायों के मौलिक ग्रंथों में सांख्य-सिद्धांतों के उल्लेख के लिये सबसे अधिक इसी का आश्रय लिया गया है। आज भी जितना प्रचार सांख्य-कारिका का है, उतना तो क्या, उसका दशांश भी अन्य किसी सांख्य-ग्रंथ का नहीं है। इसी से इसकी महत्ता और मूल्यवत्ता आँकी जा सकती है। आखिर इस ग्रंथ के इतना अधिक प्रचलित होने का क्या कारण हो सकता है? निस्सन्देह इसका मूल कारण सांख्यकारिका द्वारा परम्परागत सांख्य-ज्ञान का अत्यन्त संक्षिप्त एवं निश्चयात्मक भाषा में निबद्ध होकर लोक में प्रचारित किया जाना ही है। समूचे षष्टितंत्र की विशाल ज्ञान-राशि को केवल अड़सठ ही कारिकाओं में रख देना तथा इसके अतिरिक्त उस ज्ञान की प्रामाणिकता के साथ ही सांख्य के प्राचीनतम आचार्यों की परम्परा को भी अति संक्षेप में दे देना बड़ी भारी बात है। इसीलिये ईश्वरकृष्ण की ये कारिकायें सूत्रवत् सारगर्भित एवं मूल्यवती मानी जाती हैं, और इसी लिये माठर, गौडपाद, शङ्करार्य, वाचस्पति मिश्र इत्यादि जैसे महनीय प्राचीन आचार्यों एवं नारायण तीर्थ, मुड्डम्ब नरसिंह

स्वामी आदि जैसे अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्यों ने इस पर टीकायें लिखना गौरव की बात समझा। आधुनिक काल में भी अंग्रेजी, हिन्दी आदि कई भाषाओं में इसके अनुवाद एवं व्याख्यान निकल चुके हैं। इसी से इसका महान् महत्त्व आँका जा सकता है।

अब जहाँ तक इसमें कथित अथवा व्याख्यात सांख्यीय ज्ञान के तर्क-संगत अथवा असंगत होने की बात है, उसका निश्चय करने के लिये तो हमें इसके मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना के लिये दिये गये हेतुओं एवं तर्कों की मीमांसा करके देखना होगा कि ये हेतु इत्यादि कहाँ तक यथार्थ अथवा ठीक हैं। सांख्यकारिका के विवादास्पद मौलिक सिद्धान्तों में सर्वप्रथम तो उसका अतीन्द्रिय पुरुष को अनुमान प्रमाण का विषय मानना है। यों, पुरुष की ही भाँति प्रकृति को भी सांख्यकारिका में अनुमान का ही विषय माना गया है। जैसे पुरुष तत्त्व की सत्ता का अनुमान पाँच हेतुओं के आधार पर किया गया है, उसी प्रकार प्रकृति तत्त्व की सत्ता का अनुमान भी पाँच हेतुओं के आधार पर किया गया है। तथापि सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद के प्रतिष्ठित होने के कारण, जगत् रूप त्रिगुणात्मक कार्य से प्रकृति का न केवल उसका मूल कारण होना अनुमित होता है अपितु साथ ही साथ उसके त्रिगुणात्मक होने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक होना भी अनुमित होता है। इस प्रकार केवल अनुमान प्रमाण से प्रकृति के जगत्-कारण (उपादान) होने का ज्ञान तो होता ही है, उसके त्रिगुणात्मक होने का भी ज्ञान हो जाता है। परन्तु पुरुष के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। पुरुष की सत्ता के अनुमान में जो हेतु प्रस्तुत किए गए हैं, उनके आधार पर प्रकृति से पृथक् पुरुष तत्त्व तो अवश्य सिद्ध होता है, परन्तु त्रिगुणात्मक जगत् के भोक्ता, अधिष्ठाता, एवं बद्ध आदि रूप में ही, अकर्त्ता, अभोक्ता आदि विशुद्ध रूप में नहीं। यद्यपि संघात का भोक्ता तथा त्रिगुण-विपरीत कहे जाने से संघात के त्रिगुणात्मक जड़ रूप से भिन्न उसका निर्गुण चित् रूप प्रकट होता है, तथापि 'संघातपरार्थत्वात्' एवं 'अधिष्ठानत्वात्' हेतुओं से उसका भोक्तृत्व आदि, एवं 'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च' हेतु से उसका बद्धत्व भी स्पष्ट प्रकट होता है। इसी प्रकार १८वीं कारिका में पुरुष की अनेकता सिद्ध करने वाले जो पाँच हेतु दिए गए हैं, उनसे पुरुष की अनेकता तो सिद्ध होती है, परन्तु साथ ही वह पुरुष जन्म लेने वाला, मरने वाला, विभिन्न देश-काल में विविध कार्य करने वाला (अर्थात् कर्ता) तथा 'त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' हेतु के आधार पर त्रिगुणात्मक स्वभाव वाला भी प्रतीत होता है। यह सब बातें 'वदतोव्याघात' दोष का प्रसंग उपस्थित करती हैं क्योंकि, जैसा कि थोड़ा आगे चल कर स्पष्ट किया जायगा, स्वयं कारिकाकार ने ही अन्यत्र[1] पुरुष को कारण-कार्य-भाव से रहित, बन्धन-मोक्ष से शून्य तथा भोक्तृत्व-कर्तृत्वादि से विहीन कहा है। निस्सन्देह १७-१८वीं कारिकाओं में दिए गए अनुमान प्रमाण से प्रकृति से पुरुष की पृथक् सत्ता एवं पुरुष की अनेकता के सिद्ध होने के साथ-साथ उसका व्यावहारिकत्व—जीवत्व—भी सिद्ध या कथित होता प्रतीत होता है जो ईश्वरकृष्ण को कदापिकथमपि अभीष्ट नहीं। ऐसी स्थिति में पुरुष-विषयक ये दोनों ही अनुमान सदोष या अशुद्ध कहे जाने चाहिए। जिस पुरुष की अनेकता सिद्ध करने के लिए 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' इत्यादि तर्क दिये गये हैं, वह तो निर्गुण होने से असंग, उदासीन और

१. द्रष्टव्य, का० ३, ६२, ६४ इत्यादि।

अकर्ता, तथा नित्य होने से जन्म-मरण-विमुक्त है। वस्तुतः कभी भी जन्म, मरण प्राप्त न करने वाला पुरुष जन्म, मरण एवं करण (इन्द्रियों) आदि की पृथक्ता या भेद के आधार पर वस्तुतः भिन्न-भिन्न या अनेक कैसे कहा जा सकता है?

पुरुष की सत्ता के अनुमान-साध्य होने की पुष्टि 'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्' इत्यादि छठीं कारिका से भी होती है। सभी टीकाकारों ने 'अतीन्द्रियाणाम्' पद से 'प्रधानपुरुषादीनाम्' अर्थ लिया है और ऐसा ठीक ही किया है, क्योंकि स्वयं कारिकाकार ने ही आगे आने वाली १५-१६ वीं कारिकाओं में प्रकृति तथा १७ वीं में पुरुष की सत्ता की अनुमान से सिद्धि की है। यद्यपि छठीं कारिका की 'तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्' इत्यादि द्वितीय पंक्ति में कारिकाकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि जो परोक्ष या अतीन्द्रिय पदार्थ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी नहीं सिद्ध होते, वे आप्तवचन या शब्द प्रमाण से सिद्ध होते हैं, तथापि टीकाकारों ने इस आप्तवचन प्रमाण के विषय रूप में स्वर्ग, देवताओं, अपूर्व, तथा महत् आदि प्रकृति-कार्यों के विकास-क्रम आदि का ही ग्रहण किया है, पुरुष के पारमार्थिक स्वरूप आदि का नहीं। वाचस्पति मिश्र जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ आचार्य ने भी इस कारिका की अपनी टीका में पुरुष के इस पारमार्थिक रूप को शब्द प्रमाण का विषय नहीं कहा। इस सब से मन में ऐसी भावना होती है कि सम्भवतः कारिकाकार को पुरुष के बन्ध-मोक्ष से रहित इस नित्य मुक्त रूप—कैवल्य—को शब्द का विषय कहना अभिप्रेत नहीं था।

परन्तु 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'। (का० ३), 'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्' (का० ६२), 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्' (का० ६४) इत्यादि में यह रूप अनेकशः वर्णित है। एवं कार्यकारणोभय रूप से भिन्न इसका जो यह पारमार्थिक विशुद्ध चिद्घन रूप है, उसका अनुमान किसी भी प्रकार से होना सम्भव नहीं है क्योंकि उसमें लिङ्ग बनने वाले किसी धर्म, गुण, क्रिया, अवस्था इत्यादि की न तो सत्ता ही है और न प्राप्ति ही होती है। किन्तु 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' एवं उसके कार्य-भूत 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' तथा 'षोडशकस्तु विकारः' से सर्वथा विविक्त 'न प्रकृतिर्न विकृतिः' पुरुष का उस रूप में ज्ञान ही सांख्य दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में इसी तथ्य को इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति से अपने विविक्त या पृथक् केवली (विशुद्ध) रूप —कैवल्य—का अनुभव या साक्षात्कार ही पुरुष का समस्त दुःखों से मोक्ष या छुटकार प्राप्त कर लेना है; क्योंकि जब दुःख प्रकृति के रजोगुण के परिणाम हैं और पुरुष वस्तुतः उससे अछूता है, निर्गुण है, शुद्ध चित्स्वरूप है, तब फिर अनादि काल से अज्ञान-वश प्रकृति के गुणों एवं उनके दुःखादि कार्यों या परिणामों का अपने में आरोप करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से पुरुष में दुःखादि की सम्भावना नहीं की जा सकती, और उस अनादिकालिक अज्ञान का उपर्युक्त विवेक-ज्ञान से नाश होते ही उसके समस्त प्रातीतिक या मिथ्या आरोपित दुःखादि धर्मों का भी नाश हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष'—दुःखों से मुक्ति या छुटकारा —का एकमात्र उपाय पुरुष के द्वारा अपने कैवल्य रूप का अनुभव किया जाना ही है, और उसका यह रूप श्रुत अर्थात् शब्द प्रमाण से ही अवगत

होने पर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक मनन-निदिध्यासनादि साधनों के सतत अभ्यास करने से प्रत्यक्ष या अनुभव-गम्य होता है[१], अनुमान प्रमाण से नहीं ।

ऐसी वस्तु-स्थिति में शब्द प्रमाण के विषयों में कैवल्य या अपवर्ग का प्रमुख स्थान होना चाहिए । पर पूर्व उद्धृत किसी भी टीका में इसका उल्लेख नहीं है, यह आश्चर्य की बात है । कारिका ६ के उत्तरार्ध ['तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्'] से तो स्पष्ट है कि कारिकाकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भी विषय न बनने वाले समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान आप्तागम या शब्द प्रमाण से मानते हैं, तथा उस शब्द प्रमाण को कारिकाकार ने पूर्वोदधृत तृतीय, एवं बासठवीं से लेकर अड़सठवीं तक की अन्तिम कारिकाओं में दे भी रक्खा है। तथापि, न जाने, क्यों टीकाकारों ने आप्तागम अर्थात् शब्द प्रमाण के विषयों में 'कैवल्य' अर्थात् आत्म-स्वरूप का उल्लेख नहीं किया । इसका एकमात्र अपवाद जयमङ्गलाकार हैं जिन्होंने छठीं कारिका के उत्तरार्ध के व्याख्यान में **'सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् यदसिद्धं परोक्षं, तदत्यन्तपरोक्षत्वादागमात् सिद्धं, यथा स्वर्गापवर्गौ ।'** लिखकर स्पष्ट शब्दों में अपवर्ग अर्थात् कैवल्य को भी शब्द प्रमाण के प्रमेयों में अन्तर्भावित किया है । जयमङ्गलाकार ने ऐसा ठीक ही किया है । जब स्वयं कारिकाकार ने ही तीसरी कारिका में 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' लिखकर पुरुष को परमार्थतः कारण-कार्य-भाव से अस्पृष्ट या परे, ६२ वीं में 'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्' इत्यादि लिखकर उस पुरुष को परमार्थतः बन्ध-मोक्ष से परे, तथा ६४ वीं कारिका में 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्' इत्यादि लिखकर पारमार्थिक ज्ञान के स्वरूप-वर्णन के द्वार से विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप उस पुरुष को कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समस्त व्यावहारिक धर्मों से भी परे बताया है, तब इस बात में क्या सन्देह रह जाता है कि १७ वीं कारिका में पुरुष की सत्ता के विषय में किया गया अनुमान उसके व्यावहारिक या लौकिक रूप को विषय बनाता है, ऊपर वर्णित उसके पारमार्थिक या पारलौकिक रूप को नहीं । सच तो यह है कि अनुमान स्वभावतः उसी वस्तु को अथवा उसके उसी धर्म, स्वभाव आदि को विषय बनाता है, लौकिक होने से जिसका कुछ अंश इन्द्रिय-गोचर या प्रत्यक्ष हो । अनुमान के पक्षधर्मता-ज्ञान तथा व्याप्ति-ज्ञान रूप जो दो मुख्य अंग हैं (जिन पर वह अनुमान आश्रित होता है), वे तो प्रत्यक्ष ही होते हैं । अतः जिसका कुछ भी प्रत्यक्ष या दृष्ट नहीं है, उसका अनुमान कदापि नहीं हो सकता । इस प्रकार पुरुष की सत्ता तथा उसके बहुत्व का भी अनुमान उसके व्यावहारिक या प्रत्यक्ष-दृष्ट धर्मों के आधार पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं । अतएव कारिकाकार ने वही किया है जो किया जा सकता था । हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि इन अनुमानों से पुरुष के विषय में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म, मरण, बन्धन, मोक्ष आदि भावों अथवा धर्मों की प्रतीति और दृढ होती है, क्योंकि पुरुष की वास्तविकता तथा पारमार्थिक अनेकता को सिद्ध करने के लिये इनका आश्रय लिया गया है । पर यह कारिकाकार की विवशता है, उनका अभिप्रेत नहीं । इसीलिये ३ री, ६२ वीं,

---

१. द्रष्टव्य, का० ६४-६५ :—एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् । प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥

६४ वीं इत्यादि कारिकाओं में उन्होंने १७ वीं तथा १८ वीं कारिकाओं के अनुमानों से दृढ होने वाली इस मिथ्या प्रतीति का बल-पूर्वक निराकरण किया है। इन्हीं कारिकाओं के वर्ण्य विषय से पुरुष-विषयक अनुमानों के दोष अपास्त या निवृत्त हो जाते हैं।

दूसरा विवादास्पद विषय 'सत्कार्यवाद' है जिसके एकमात्र आधार पर सांख्य की प्रकृति का स्वरूप निर्धारित होता है। सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली ६ वीं सांख्यकारिका की प्रस्तावना में वाचस्पति मिश्र ने इस तथ्य की ओर निम्नलिखित शब्दों में संकेत किया है :—

"कार्यात् कारणमात्रं गम्यते। सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः। तथा हि केचिदाहुः 'असतः सत् जायते' इति। 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं, न वस्तु सत्' इत्यपरे। अन्ये तु 'सतः असत् जायते' इति। 'सतः सत् जायते' इति वृद्धाः। तत्र पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिध्यति। सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकं हि जगत् कारणस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वमवगमयति। यदि पुनरसतः सज्जायेत, असत् निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात् ? सदसतोस्तादाम्यानुपपत्तेः। अथैकस्य सतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चः, तथापि सतः सज्जायेत इति न स्यात्। न चास्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपित्वप्रपंचस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव। येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणादसतो जन्म, तेषामपि सदसतोरेकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते प्रधानसिद्धिः"।[1]

तत्त्वकौमुदीकार के कथन का तात्पर्य यह है कि बौद्ध (शून्यवाद), शांकर वेदान्त तथा न्याय मतों में जगत् के उपादान कारण का त्रिगुणात्मकत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार जगत् रूप कार्य से उसके कारण के 'प्रधान' अर्थात् त्रिगुणात्मक (सत्त्वरजस्तमोरूप) होने का अवश्यमेव अनुमान होता है क्योंकि जगत् वस्तुतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के स्वरूप का ही है और ये शब्द, स्पर्श इत्यादि सर्वदा सुख-दुःख या मोह को उत्पन्न करने के कारण सत्त्वरजस्तमोरूप या त्रिगुणात्मक ही होते हैं (और सांख्यों के सत्यकार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य में अभेद होने से 'जिस प्रकार का कार्य है, उसी प्रकार का कारण भी होगा' यह अनुमान हो जाएगा)। परन्तु यदि 'असत् से सत् की उत्पत्ति होती है'-- यह बौद्ध सिद्धान्त मान लिया जाय तो 'असत् एवं धर्म-शून्य कारण सुख, दुःख इत्यादि उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्श आदि कार्यों के रूप का होगा अर्थात् सत्त्वरजस्तमोरूप प्रधान होगा'— यह कैसे कहा जा सकता है; क्योंकि सत् और असत् में अभेद असम्भव है। वेदान्त के अनुसार शब्दादि प्रपञ्च को एक ही सत् ब्रह्म का विवर्त (अतात्त्विक परिणाम) अर्थात् उसमें किया गया अध्यारोप मान लेने पर भी उक्त मत में सत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह अद्वय सत्ता — ब्रह्म—प्रपञ्चात्मक नहीं है अपितु (अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् इत्यादि श्रुति के कथनानुसार) इस प्रपञ्च-विहीन ब्रह्म की प्रपञ्चात्मक प्रतीति भ्रम ही है।

[इस प्रकार इस मत में भी शब्दादि प्रपञ्च के मिथ्यात्मक होने एवं सत्कार्यवाद के अमान्य होने से यह नहीं कहा जा सकता कि 'कारण' त्रिगुणात्मक प्रधान ही है।] जो

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ६५-६६।

कणाद और गौतम आदि सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति मानते हैं, उनके भी मत में सत् और असत् में अभेद असम्भव होने से शब्द इत्यादि स्वरूप वाले जगत् का कारण उसके स्वरूप का नहीं हो सकता। अतः उनके भी मत में 'प्रधान' रूप से कारण की सिद्धि नहीं होती।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सांख्यों के प्रधान के त्रिगुणात्मकत्व की सिद्धि का मूलाधार उनका सत्कार्यवाद ही है जो सर्वथा विवादास्पद है। इससे सांख्य मत में इस सिद्धान्त की स्थापना की महती महत्ता का अन्दाज लगाया जा सकता है। यही कारण है कि ईश्वरकृष्ण ने इसकी स्थापना में पूरी नवम कारिका लगाई है और उसमें पाँच सबल हेतु दिए हैं। इन हेतुओं की मीमांसा से यह बात स्पष्ट होती है कि सांख्यों के सत्कार्यवाद के प्रबल विरोधी नैयायिकों के असत्कार्यवाद के खण्डन को ही विशेष रूप से दृष्टि में रखकर ये हेतु उपस्थित किए गए हैं। पहला ही हेतु इस निष्कर्ष का प्रबल समर्थक है। यह हेतु है—'असदकरणात्'। अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व कारण में कार्य के असत् होने पर उसको उत्पन्न किया ही नहीं जा सकता। अतः उत्पन्न होने के पूर्व भी उसे सत् ही मानना पड़ेगा। इस हेतु की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है[1] कि कारण-व्यापार के पूर्व असत् कार्य को कोई भी उत्पन्न नहीं कर सकता, जैसे हजारों कुशल कारीगर भी नीले रंग (जिसमें पीले का अभाव है) को पीला नहीं कर सकते। इसके विपरीत यदि यह तर्क दिया जाय कि जैसे एक ही घट कच्चा रहने पर नीला और पक जाने पर लाल होने के कारण अवस्था-भेद से दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनता है, उसी प्रकार एक ही घट कारण-व्यापार के पूर्व असत् और कारण-व्यापार के अनन्तर सत् हो सकता है, तो यह युक्ति युक्त नहीं लगती क्योंकि उस समय धर्मी 'घट' के अविद्यमान रहने पर 'असत्त्व' धर्म उसमें आधेय-रूप से कैसे रहेगा और आधेय धर्म तो आधारभूत धर्मी में ही रहता है। इसलिये कारण-व्यापार से पूर्व भी घट सत् ही रहता है, असत् नहीं। जिस 'असत्त्व' का न तो धर्मी 'घट' से कोई सम्बन्ध ही है और न वह तद्रूप ही है, उसके आधार पर घट असत् कैसे कहा जा सकता है? इसलिये जैसे कारण-व्यापार के अनन्तर कार्य सत् होता है, वैसे ही उसके पूर्व भी।

तत्त्वकौमुदी का 'असम्बद्धेन' पद न्याय-मत को दृष्टि में रखकर तथा 'अतदात्मना' पद सांख्य-मत को दृष्टि में रखकर कहा गया है। न्याय-मत के अनुयायी 'नीलं कमलम्' अर्थात् 'कमल नीला है' इत्यादि वाक्य में धर्मी 'कमल' में नील वर्ण का समवाय सम्बन्ध से आश्रय मानकर आश्रयाश्रयिभाव से दोनों की प्रतीति मानते हैं। सांख्य-मत के अनुयायी धर्म तथा धर्मी में अभेद मानने के कारण गुण या धर्म की गुणी या धर्मी के रूप से अर्थात् दोनों की तादात्म्य-रूप से प्रतीति मानते हैं। वाचस्पतिमिश्र के द्वारा पूर्व दी गई युक्ति का अभिप्राय यह है कि जब 'असत्त्व' धर्म धर्मी 'घट' में समवाय आदि सम्बन्ध से भी नहीं है और तद्रूप भी नहीं है, तब घट को असत् कैसे कह सकते हैं। जैसे 'नीलं कमलम्' का अर्थ या तो 'नील गुण का आश्रय कमल' या 'नील गुण से अभिन्न कमल' है, उसी प्रकार 'असन् घटः' का अर्थ भी या तो 'असत्त्व धर्म का आश्रय घट' या 'असत्त्व धर्म से अभिन्न घट' है। पहला अर्थ तो इसलिए उपपन्न या घटित नहीं होता कि जब तक कमल के समान

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ७०।

घट को विद्यमान नहीं मानते, तब तक 'असत्त्व' धर्म को समवाय सम्बन्ध से घट में आश्रित या विद्यमान कैसे कहेंगे ? दूसरा अर्थ भी इसलिये उपपन्न नहीं होता कि 'असत्' अभाव का तथा 'घट' भाव का द्योतक है और भाव तथा अभाव में तादात्म्य तो स्पष्ट ही असम्भव है। अतः 'असन् घटः'— यह वाक्य ही निरर्थक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कारण-व्यापार के बाद की ही तरह उसके पहले भी कार्य सत् रहता है।

इस प्रकार सत् कार्य का कारण से केवल अभिव्यक्त होना भर बाकी (शेष) रहता है, और सत् की अभिव्यक्ति तो अनुभव-सिद्ध है। जैसे तिलों के पेरे जाने से उनमें पहले से ही अनभिव्यक्त-रूप से विद्यमान तेल, धान के कूटे जाने से उनमें पूर्वतः स्थित चावल, एवं गायों के दुहने से उनमें अदृश्य-रूप से विद्यमान दूध अभिव्यक्त अथवा प्रकट हो जाता है। परन्तु असत् वस्तु के उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। वस्तुतः असत् वस्तु कभी प्रकट या उत्पन्न होती हुई नहीं देखी गई।[१]

वाचस्पतिमिश्र के पूर्वोक्त गम्भीर व्याख्यान की सहायता से ईश्वरकृष्ण के 'असद-करणात्' इस प्रथम हेतु की सबलता एवं दृढ़ता स्पष्ट है। द्वितीय हेतु भी अत्यन्त सबल एवं सार्थक है। वह है 'उपादानग्रहणात्'। इसका संक्षेप में यह अर्थ है कि कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध होने से भी सत्कार्यवाद सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है, क्योंकि यदि कारण से सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त न मानेंगे तो सभी से सभी कुछ पैदा होने लगेगा, जो अनुदिन के अनुभव के सर्वथा विरुद्ध अतएव असंगत बात है। मिट्टी से घड़ा, तन्तुओं से कपड़ा, ईख से गुड़ ही पैदा होते देखे जाते हैं, न कि मिट्टी से कपड़ा, तन्तुओं से घड़ा, तथा ईख से नमक इत्यादि। इसी तथ्य को 'सर्वसम्भवाभावात्' इस तृतीय हेतु के द्वारा कहा है। कारण से सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को ही अवान्तर प्रकार से चौथे हेतु 'शक्तस्य शक्यकरणात्' से भी प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार जब यह बात सिद्ध हो जाती है कि कारण से सम्बद्ध ही कार्य उत्पन्न होता है, असम्बद्ध कदापि नहीं, तब तो कारण-व्यापार के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता को ध्रुव सत्य मानना ही पड़ेगा, क्योंकि यदि कार्य पूर्वतः असत् है तो फिर उसका अपने कारण या उपादान के साथ सम्बन्ध कैसा ? कहीं असत् का भी किसी से सम्बन्ध होता है ? जो स्वयं असत् है अर्थात् जो है ही नहीं, उसका फिर सम्बन्ध किससे और कैसे होगा ?

स्पष्ट है कि तृतीय एवं चतुर्थ हेतु एक प्रकार से द्वितीय के ही पूरक या सहायक हैं, स्वतन्त्र नहीं। परन्तु इसके विपरीत पाँचवा हेतु प्रथम और द्वितीय की ही भाँति स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण हेतु है। यह है :—'कारणभावात्'। इसका अत्यन्त संक्षेप में तात्पर्य यह है कि कार्य कारण की विशिष्ट अवस्था ही है, उससे अभिन्न ही है। और कारण तो सत् है ही। तब उससे अभिन्न कार्य भी सत् ही होगा, असत् नहीं। सत् और असत् कदापि अभिन्न नहीं हो सकते। ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिका में इस तथ्य पर प्रकाश नहीं डाला कि किस प्रकार कार्य कारण से अभिन्न है। शायद यह तथ्य उनकी दृष्टि में सर्व-सामान्य के लिए सुस्पष्ट एवं प्रत्यक्ष-कल्प रहा हो। यद्यपि इससे इनके इस अन्तिम हेतु का मूल्य कम नहीं

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ७१।

किया जा सकता, तथापि आधुनिक अध्येता के लिये इसकी व्याख्या का अभाव अवश्य खटकता है। व्यासदेव ने अपने योग-भाष्य में इसे अत्यधिक स्पष्ट किया है। ईश्वरकृष्ण के प्रथित टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया है, परन्तु कुछ भिन्न प्रकार से। यह विषय द्वितीय खण्ड के छठें अध्याय में सविस्तर प्रतिपादित है, अतः वहीं द्रष्टव्य है। विस्तार एवं पुनरुक्ति के भय से इसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

अभी तक जिस सत्कार्यवाद का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसके विरुद्ध न्याय, वेदान्त इत्यादि दर्शनों में अनेक शङ्कायें उठाई जाती हैं। उन शङ्काओं एवं उनके समाधानों का विस्तृत विवेचन तो द्वितीय खण्ड के षष्ठ अध्याय में किया जायगा, किन्तु ईश्वरकृष्ण द्वारा पूर्वोक्त पाँच हेतुओं के आधार पर स्थापित किये गये सत्कार्यवाद के मूल्यांकन के लिये यहाँ भी उनकी थोड़ी-बहुत चर्चा आवश्यक है। तर्क-प्रवीण नैयायिक सांख्य के सत्कार्यवाद के विषय में यह प्रश्न उठाते हैं कि तन्तुओं से होने वाला पट का आविर्भाव उनमें वयन (बिनना) व्यापार होने के पूर्व सत् था या असत्? यदि असत् था तो असत् की ही उत्पत्ति या सृष्टि सिद्ध होती है, और यदि सत् था तो कारण-व्यापार व्यर्थ हुआ क्योंकि (आविर्भाव रूप) कार्य के सत् या विद्यमान होने पर कारण-व्यापार का तो कोई भी प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता। यदि यह कहा जाय कि पट के अप्रकट आविर्भाव के प्राकट्य या आविर्भाव के लिये कारण-व्यापार अपेक्षित है, तब तो इस दूसरे भी अप्रकट आविर्भाव के लिये एक तीसरे भी आविर्भाव की आवश्यकता होगी, और इसको भी प्रकट करने के लिये एक चौथे की आवश्यकता होगी। इस प्रकार तो चलते जाने पर इस परम्परा का कहीं अन्त ही नहीं होगा, एवं अव्यवस्था दोष का प्रसङ्ग उठेगा। इसलिये सांख्यानुयायियों का यह कथन निस्सार लगता है कि 'तन्तुओं में पूर्व से ही विद्यमान किन्तु अप्रकट या अव्यक्त पट कारण-व्यापार के द्वारा प्रकट किया जाता है'।

तार्किक के इस तर्क का उत्तर उसकी मान्यता के विषय में भी समान प्रश्न उठाकर दिया जा सकता है। 'कारण में पूर्वतः असत् कार्य उत्पन्न होता है'—इस तार्किक-मत के विषय में भी समान रूप से यही प्रश्न उठता है कि असत् कार्य की उत्पत्ति भी सत् है या असत्? यदि सत् है तो उसके लिये कारणों की क्या आवश्यकता है, और यदि असत् है तो इस असत् उत्पत्ति की भी एक दूसरी उत्पत्ति होगी और यह स्वयं भी प्रथम की ही भाँति असत् होगी तो इसकी भी एक तीसरी उत्पत्ति माननी होगी और इस प्रकार यहाँ भी वही अव्यवस्था-दोष उठेगा। इसके परिहार के लिये जो उत्तर तार्किक-शिरोमणि का होगा, वही सांख्यानुयायी का भी होगा। यदि इस विषम स्थिति को बचाने के लिये तार्किक यह तर्क उपस्थित करे कि एक उत्पत्ति की दूसरी उत्पत्ति भी तो आखिर उत्पत्ति ही है, इसलिये यह प्रथम से स्वरूपतः अभिन्न है और इसीलिये इसकी कल्पना करना व्यर्थ है, तो इसी प्रकार तो सांख्यानुयायी भी कह सकता है कि सांख्य में भी इसी कारण से अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं मानी जाती। तात्पर्य यह है कि तन्तु आदि में पूर्व से ही सत् या विद्यमान पट आदि के आविर्भाव के लिये कारण-व्यापार को आवश्यक कहना निस्सार नहीं अपितु तर्क-संगत होने से सर्वथा सारवान् है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद अर्थात् 'सतः सदेव जायते' का सिद्धान्त

सुदृढ़ आधारों पर प्रतिष्ठित है। परन्तु कारण और कार्य, दोनों सत् या वास्तविक होते हुये भी दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं, जैसा कि सत्कार्यवाद की स्थापना के लिये प्रस्तुत किये हेतुओं में से अन्तिम 'कारणभावाच्च' से स्पष्ट है। कार्य कारणात्मक होता है, कारण से स्वरूपतः अभिन्न होता है—यही इसका तात्पर्य है। कार्य-भूत गुण या धर्म आदि कारण-भूत द्रव्य या धर्मी की ही विशेष अवस्थायें हैं। इसके विपरीत न्याय दर्शन की एतद्विषयक मान्यता यह है कि द्रव्य और गुण अथवा कारण और कार्य, दोनों ही यथार्थ या वास्तविक हैं, एवं परस्पर पृथक् या भिन्न भी हैं। कारण से कार्य सर्वथा भिन्न वस्तु है जो कारण में पहले नहीं थी, 'असत्' थी। इन दोनों ही मान्यताओं के विपरीत शाङ्कर वेदान्त का मत है जो 'विवर्तवाद' या 'मायावाद' के नाम से विख्यात है। 'विकार' या 'परिणाम' वास्तविक परिवर्तन या सत् कार्य को कहते हैं। उसके विपरीत 'विवर्त' अवास्तविक या मिथ्या कार्य को कहते हैं। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार जगत् का उपादान कारण 'ब्रह्म' ही एकमात्र यथार्थ या सत् पदार्थ है. उसका कार्य 'जगत्' अर्थात् यह दृश्यमान प्रपञ्च उसमें भ्रममात्र है, मिथ्या प्रतीति है। इसके कई कारणों में से एक प्रमुख कारण वेदान्तियों के अनुसार यह भी है कि यदि धर्मी और धर्म अथवा कारण और कार्य दो भिन्न वस्तु नहीं हैं तो उनमें से एक ही यथार्थ हो सकता है, दूसरा अवश्य ही भ्रम-मात्र होगा। धर्म और धर्मी, अथवा कारण और कार्य, दोनों एक ही हों और यथार्थ हों, यह तो हो ही नहीं सकता। यदि दोनों ही यथार्थ हैं, तो वे वस्तुतः दो ही होंगे, एक नहीं हो सकते। इसलिये यदि धर्मी से उसका धर्म, अथवा कारण से उसका कार्य अभिन्न है,तो धर्म या कार्य अयथार्थ, अवास्तविक, या कल्पना-मात्र है। सांख्य दोनों में अभेद मानता हुआ भी दोनों को जो यथार्थ या पृथक्-पृथक् सत् मानता है, वह उसका निरा भ्रम या मोह है। जो भी दो वस्तुयें पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं, वे कदापि अभिन्न नहीं हो सकतीं। जैसे अश्व और महिष पृथक्-पृथक् सत् हैं और परस्पर भिन्न हैं, एक ही नहीं हैं। इसके विपरीत मिट्टी का घड़ा अपने कारण 'मिट्टी' से पृथक् सिद्ध या स्थित नहीं दिखाई देता, अतः वह उस मिट्टी से भिन्न प्रतीत होने पर भी उससे वस्तुतः भिन्न नहीं है। इसके विपरीत यदि वह मिट्टी से वस्तुतः भिन्न हो जैसे अश्व से महिष अथवा महिष से अश्व है, तो अश्व और महिष की ही भाँति उन्हें भी पृथक्-पृथक् स्थित दिखाई पड़ना चाहिए। ऐसी स्थिति में एकमात्र वास्तविकता यही हो सकती है, और है भी कि उपादान कारण से पृथक् प्रतीत न होने के कारण उसका कार्य उससे अभिन्न है, एवं अभिन्न होने से वस्तुतः असत् है। इसलिये सांख्य-दार्शनिकों का कारणात्मक अर्थात् सत् कारण से अभिन्न कार्य को सत् या वास्तविक सिद्ध करना उनका निरा भ्रम है। कार्य तो वस्तुतः असत् है, कारण का ही विवर्त—अतात्त्विक परिणाम—है, उसी की मिथ्या प्रतीति है। यह प्रतीति अनादि अविद्या के कारण होती रहती है। इस 'अविद्या' का ही दूसरा नाम 'माया' है। इसलिये विवर्तवाद मायावाद भी कहा जाता है। विवर्तवाद या मायावाद अवास्तविक परिणाम या मिथ्या जन्म का सिद्धान्त होने के कारण ही 'अजातिवाद' के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'अजाति' अर्थात् जन्म या उत्पत्ति न होने का सिद्धान्त।

पहले कह आये हैं कि सांख्य पूर्व से ही अपने कारण में विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानता है, इसके विपरीत न्याय असत् वस्तु की उत्पत्ति मानता है। सांख्य

के मत का खण्डन करते हुये न्याय का कथन है कि सत् या विद्यमान वस्तु तो उत्पन्न हो ही नहीं सकती, जैसे, आत्मा। न्याय का प्रतिवाद करते हुये सांख्य का कथन है कि असत् वस्तु तो कभी भी उत्पन्न नहीं होती, जैसे शशक या खरगोश की सींग, अथवा वन्ध्या का पुत्र। न्याय एवं सांख्य के इस पारस्परिक विवाद को लक्ष्य करके शाङ्कर वेदान्त का कथन है कि दोनों का इस प्रकार का पारस्परिक विवाद वस्तुतः अजाति-वाद को ही प्रतिष्ठित करता है।[१] क्योंकि जब न सत् उत्पन्न होता है, न असत् उत्पन्न होता है, और सदसत् तो स्वतो-विरुद्ध होने से उत्पन्न हो ही नहीं सकता, एवं इनसे भिन्न कोई अन्य पक्ष सम्भव ही नहीं है, तब यह सर्वथा निश्चित ही है कि उत्पत्ति वस्तुतः होती ही नहीं। उत्पत्ति की असम्भाव्यता अन्य प्रकार से भी विचार करने से दृढ होती है। स्वतः तो कोई वस्तु उत्पन्न होती ही नहीं, क्योंकि किसी के उत्पन्न होने का अर्थ ही है उसका पहले से स्वरूपतः असिद्ध या अनिष्पन्न होना; और जब वह वस्तु स्वरूपतः असिद्ध है तो उससे उसकी अपनी सिद्धि या उत्पत्ति कैसे हो सकती है? किसी घट से उसी घट की उत्पत्ति भला कहीं देखी जाती है? इसी प्रकार दूसरे से भी कोई वस्तु उत्पन्न होती नहीं देखी जाती, जैसे घट से पट अथवा एक पट से दूसरा पट। दोनों से उत्पन्न होने की बात तो पूर्ववत् स्वतो-विरोध के कारण असम्भव ही है।[२]

और भी कारणों से अजातिवाद ही प्रतिष्ठित होता है। जैसे, जिस सांख्य दर्शन के मत से मिट्टी आदि उपादान कारण ही घट इत्यादि कार्य के रूप में परिणत हो जाता है, उसके मत से कारण ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन का 'प्रधान' ही महत् इत्यादि कार्य रूप से उत्पन्न होता है। परन्तु यह प्रधान 'अज' अर्थात् कभी न उत्पन्न होने वाला होने के कारण 'महत् इत्यादि कार्य रूप से उत्पन्न होने वाला' कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा कथन तो स्वतो-विरुद्ध होगा। सांख्य दर्शन प्रधान को नित्य भी कहता है। अब 'प्रधान उत्पन्न होता है'— इस वाक्य का तात्पर्य यह होगा कि नित्य प्रधान से महत् इत्यादि कार्य वैसे ही फूटते या निकलते हैं, जैसे मिट्टी के पिण्ड से घड़ा फूट निकलता है। परन्तु मिट्टी का पिण्ड स्फुटनशील होने से अनित्य अर्थात् नष्ट होने वाला देखा जाता है। तब फिर प्रधान को भी नश्वर होना चाहिये। इस प्रकार 'नित्य प्रधान स्फुटनशील है'— यह कथन भी स्वतो-विरुद्ध हुआ।[३] इतना ही नहीं, कारण से अभिन्न होने पर महत्

---

१. द्रष्टव्य, माण्डूक्य-कारिकायें ४।३,४ :—भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि। अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्॥ भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते। विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥

२. द्रष्टव्य, वही, ४।२२ एवं उसका शां० भा० :—स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते। सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥

शां० भा० :—न तावत् स्वयमेवापरिनिष्पन्नत्वात् स्वतः स्वरूपात् स्वयमेव जायते, यथा घटस्तस्मादेव घटात्। नापि परतोऽन्यस्मादन्यः, यथा घटात् पटः पटात् पटान्तरम्। तथा नोभयतः, विरोधात्। यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते।

३. द्रष्टव्य, वही, ४।११ :—कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते। जायमानं कथमजं, भिन्नं नित्यं कथं च तत्॥

आदि कार्य भी प्रधान की भाँति ही अज होंगे । सांख्य मत में यह तीसरा विरुद्ध वचन होगा—'अमुक पदार्थ कार्य है और अज है' । एक बात और भी है और वह यह है कि उत्पन्न होने वाले कार्य से अभिन्न कारण नित्य और ध्रुव कैसे होगा ?[१] मुर्गी का एक भाग पक रहा हो और दूसरा अण्डा दे रहा हो—यह कभी कहीं भी हो सकता है ?

इन तथा इन्हीं प्रकार के अन्य भी (अनुक्त) कारणों से अजातिवाद की प्रतिष्ठा होती है । वस्तुत. सत् वस्तु से ही अथवा सत् वस्तु का ही जन्म होता है, असत् वस्तु से या असद् वस्तु का नहीं ।[२] यह जन्म, जैसा पूर्व विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है, तात्त्विक नहीं अपितु मायिक जन्म होता है । जैसे रज्जु आदि सद् वस्तु से सर्प इत्यादि कार्य का मायिक अर्थात् मृषा जन्म होता देखा जाता है । यह सर्प तात्त्विक या वास्तविक नहीं होता । असत् वस्तु अर्थात् वस्तु रूप से कल्पित असत् का तो जन्म कभी होता ही नहीं, न तात्त्विक और न मायिक । वन्ध्या-पुत्र, या आकाश-कुसुम, अथवा शश-शृङ्ग का न तो तात्त्विक और न मायिक ही जन्म सुना या देखा जाता है । जिसके मत से सत् का तात्त्विक ही जन्म होता है, जैसे सांख्य में अज प्रधान का महत् रूप से, उसके मत में 'अज उत्पन्न होता है'—ऐसा कथन तो स्वतो-विरोध एवं दृष्टान्ताभाव होने से किया नहीं जा सकता, अतएव 'जात (उत्पन्न) का ही जन्म होता है'—ऐसा प्रसङ्ग आयेगा ।[३] और जब जात का ही जन्म होता है, या जात से ही किसी का जन्म होता है, तब उस जात का भी किसी अन्य जात से जन्म होगा, उसका भी अन्य से । इस प्रकार अव्यवस्था का दोष उठेगा ।[४] इन सब कारणों से सत् का वास्तविक जन्म नहीं माना जा सकता । माया द्वारा ही उस सत् से समस्त प्रपञ्च या कार्य-जात उत्पन्न होता है । 'अजायमानो बहुधा विजायते' इत्यादि श्रुतियों का स्पष्टतः यही तात्पर्य है कि यह प्रपञ्च वस्तुतः अनुत्पन्न रहकर भी माया द्वारा अनेक रूप से उत्पन्न होता है । माण्डूक्यकारिका ३।२४ में भी यही बात स्पष्ट कथित है—"नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि । अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥" ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर श्रुतियों में मृत्तिका, लोह, विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) आदि दृष्टान्तों द्वारा जो सृष्टि अनेक बार अनेक प्रकार से वर्णित है, उसका एकमात्र प्रयोजन जीव एवं ब्रह्म की एकता को साधक के चित्र या मन में उतारना ही है, न कि सृष्टि को वास्तविक बताकर भेद प्रतिपादन करना । भेद तो वस्तुतः किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता ।[५]

---

१. द्रष्टव्य वही ४।१२ :—कारणाद् यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं तव । जायमानाद्धि वै कार्यात् कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥

२. द्रष्टव्य ३।२७ का शां० भा० :—यस्मात् सतो हि विद्यमानात् कारणात् मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते....अथवा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते ।

३. द्रष्टव्य माण्डूक्य का० ३।२७-२८ :—सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः । तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते । वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ।

४. द्रष्टव्य, वही ४।१३ :—अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै । जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥

५. द्रष्टव्य वही ३।१५ :—मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥

जो प्रपञ्च वस्तुतः असत् है, जिसकी प्रतीति भर होती है, उसके द्वारा प्रतीति के एकमात्र अधिष्ठान 'ब्रह्म' में अनेकत्व या भेद कैसे आ सकता है ? श्रुतियों में तो अनेकशः सृष्टि के पूर्व तथा अनन्तर एक ही सत्ता बताई गई है[1], जिसका एकमात्र तात्पर्य यह है कि यह प्रपञ्च न तो आदि में ही है और न अन्त में ही, केवल मध्य में 'है' ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु मृगतृष्णिका इत्यादि की भाँति जो आदि तथा अन्त में नहीं होता, वह मध्य में भी वितथ या असत् ही होता है, केवल अज्ञान-वश सत् प्रतीत होता है।[2] इसके विपरीत यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि मृगतृष्णिका या उसके सदृश वितथ स्वप्नकालीन जल आदि पदार्थों से पिपासा-निवृत्ति इत्यादि प्रयोजनों की सिद्धि नहीं होती परन्तु जाग्रत् अवस्था में व्यावहारिक जल आदि पदार्थों से तो स्नान, पान आदि कार्य एवं उनके द्वारा पिपासा-निवृत्ति आदि प्रयोजन सिद्ध होते हुए निरन्तर ही देखे जाते हैं, अतः जागतिक पदार्थ मिथ्या नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि जाग्रत् काल के भी पदार्थों की प्रयोजनवत्ता स्वप्नकाल में असिद्ध हो जाती है। जाग्रत् काल में खूब खा-पीकर तृप्त हुआ व्यक्ति सोते ही स्वप्न में अपने को भूख-प्यास से ठीक उसी प्रकार से पीडित एवं दिन-रात भर का भूखा-प्यासा देखता है, जैसे कि स्वप्न में खूब खा-पीकर उठा हुआ व्यक्ति अपने को भूखा-प्यासा पाता है। इससे स्पष्ट है कि स्वाप्निक पदार्थों की भाँति जाग्रत्-कालीन अथवा व्यावहारिक पदार्थों के भी असत् या वितथ (मिथ्या) होने में किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती।[3]

सूक्ष्म विचार करने पर सांख्य दर्शन के विरोधियों द्वारा उसके विरुद्ध उठाये गये आक्षेप अविचारित कथन ही लगते हैं। न्याय की इतनी बात सांख्य को अमान्य लगती है कि वह कारण से भिन्न तथा असत् कार्य की उत्पत्ति मानता है। क्या असत् से उसका यह तात्पर्य है कि कार्य शश-शृङ्ग अथवा वन्ध्या-पुत्र आदि जैसा है, अथवा यह तात्पर्य है कि वह कारण-जैसा सत् या सिद्ध नहीं है ताकि वह व्यवहार या प्रयोग में लाया जा सके। प्रथम अर्थ तो हो ही नहीं सकता, यह बात निस्सन्देह और निश्चप्रच है क्योंकि, जैसा पहले कई बार कहा जा चुका है, शश-शृङ्ग और अकाश-कुसुम वचन के विकल्प-मात्र हैं, वे जीवन की वास्तविकता तो कदापि-कथमपि नहीं हो सकते। जहाँ तक द्वितीय अर्थ की बात है, उससे तो सांख्य का भी कोई विरोध या विसंवाद नहीं है, प्रत्युत उत्पत्ति से पूर्व कार्य की 'सत्ता' का यही अर्थ उसके मत से भी है कि वह सूक्ष्म रूप से ही कारण में रहता है, स्थूल अथवा व्यक्त रूप से सिद्ध नहीं रहता ताकि उसे व्यवहार या उपयोग में लाया जा सके।

---

१. (i) द्रष्टव्य छन्दोग्य ६।२।१ :—सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (ii) ऐतरेय ५।१।१:—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्।

२. द्रष्टव्य माण्डूक्य० २।६ :—आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

३. द्रष्टव्य, माण्डूक्यकारिका २।७, तथा उसका शां० भा० :—सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते। तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः॥ सप्रयोजनता दृष्टा याऽन्नपानादीनां सा स्वप्ने विप्रतिपद्यते। जागरिते च भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तिततृट् सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोपोषितमभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते। यथा स्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तो स्थितस्तथा। तस्माद् जाग्रद्दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा। अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशंकनीयमिति।

वस्तुत: उसे इस स्थिति में लाने के लिये ही सारा प्रयास किया जाता है जिसे सामूहिक रूप से 'कारण-व्यापार' कहते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि नैयायिकों का 'असत्' शब्द 'सूक्ष्म' या 'अव्यक्त' अर्थ में ही अर्थवान् हो सकता है, 'शश-शृङ्गवत् सर्वथा असत्' अर्थ में असम्भवोक्ति अतश्च हास्यास्पद है। इसी प्रकार शाङ्कर वेदान्तियों का जो यह कथन है कि यदि कार्य से कारण अभिन्न है अर्थात् कार्य कारणात्मक है तो अवश्य ही असत् या कल्पित होगा, अत: दोनों को सत् मानने वाले सांख्य मत में आन्तरिक विरोध उत्पन्न होता है, यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि जब पूर्व में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि कार्य अपने उपादान कारण से अभिन्न होता है अर्थात् कार्य और उसके कारण में केवल अवस्था का भेद होता है, स्वरूप का नहीं, तब कारण के सत् होने से कार्य भी सत् ही होगा, न कि असत्। सत् वस्तु से अभिन्न वस्तु भला असत् कैसे होगी; जब कि सत् और असत् एक दूसरे के ठीक विपरीत या विरुद्ध हैं। दो परस्पर-विरुद्ध वस्तुओं को अभिन्न कहना किसी भी प्रकार से न्याय्य या उचित नहीं ठहरता। नवीं सांख्य-कारिका में सत्कार्यवाद के पक्ष में दिए गए पाँचवें हेतु 'कारणभावाच्च सत् कार्यम्' का यही तात्पर्य है। इसका व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में स्पष्ट लिखा है—"नहि कारणादभिन्नं कार्यं, कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद् भवेत्"। इसलिये यह कथन कि कारण और कार्य, दोनों के अभिन्न होने पर दोनों सत् नहीं हो सकते, अविचारित ही उक्ति प्रतीत होती है। इसी प्रकार की और भी अनेक अविचारित उक्तियाँ शाङ्कर वेदान्तियों के अजातिवाद के प्रतिपादन में उपलब्ध होती हैं। स्थाली-पुलाक-न्याय से उदाहरण के लिये माण्डूक्य-कारिकाओं के 'अलातशान्ति' नामक चतुर्थ प्रकरण की तीसरी एवं चौथी कारिकायें[१] ली जा सकती हैं। इनमें कहा गया है कि चूँकि एक के अनुसार सत् नहीं उत्पन्न होता और दूसरे के अनुसार असत् नहीं होता, एवं सदसत् तो स्वतो-विरोधी होने के कारण उत्पन्न होने से रहा, उत्पत्ति की अन्य कोई कोटि या प्रकार सम्भव है नहीं। अत: उत्पत्ति होती ही नहीं, यही सिद्धांत है। भला यह भी कोई युक्ति हुई कि यदि दो विपक्षी एक दूसरे को काटते हों तो जो दोनों से भिन्न पक्ष हो, वही ठीक है। क्या यह आवश्यक है कि वह ठीक ही हो ? क्या वह भी प्रथम दोनों की ही भाँति तीसरा विकल्प नहीं कहा जा सकता ? यह भी क्या आवश्यक है कि यदि दो प्रतिपक्षी एक दूसरे का खण्डन करें तो अवश्य उन दोनों के पक्ष अयथार्थ ही हों ? क्या यह बात अस्वाभाविक या असम्भव है कि उन्हीं दोनों पक्ष-प्रतिपक्ष में से कोई एक सिद्धान्त हो ? अच्छा यदि ऐसा ही है कि एक दूसरे को काटने से ही दोनों के पक्ष अपसिद्धान्त है, तब तो दोनों मिलकर जिसे काटते हों, उसे तो और भी अधिक अपसिद्धान्त होना चाहिये और जितनी बात से दोनों सहमत हों, उसे अखण्ड सिद्धान्त होना चाहिये। अजातिवादी अद्वैतियों की इस कसौटी पर उन्हीं का अजातिवाद कट जाता है, एवं विरोधियों का जातिवाद या उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थापित हो जाता है, क्योंकि उत्पत्ति के विषय में नैयायिक और सांख्यवादी, दोनों ही का ऐकमत्य है, वैमत्य है तो केवल इस विषय में कि सत् उत्पन्न होता है या असत्। दोनों ही अजातिवाद के विरोधी हैं, अत: वही अपसिद्धान्त है। जो कसौटी दूसरों के लिये रक्खी जाय, उस पर कसे जाने के लिये स्वयं

१. द्रष्टव्य, पीछे पृ० २२१ के नीचे दी गई टिप्पणी नं० १।

भी प्रस्तुत रहना चाहिये। यह बात इसके पूर्व कई बार स्पष्ट की जा चुकी हैं कि मृत्तिका इत्यादि उपादान कारण से घट इत्यादि कार्य की उत्पत्ति न्याय और सांख्य दोनों ही मानते हैं। वे दोनों ही यह भी मानते हैं कि उत्पत्ति के अनन्तर घट इत्यादि कार्य सत् हैं, असत् नहीं। केवल उत्पत्ति के पूर्व घटादि कार्य की सत्ता के विषय में दोनों में मत-भेद है। उसकी भी मीमांसा करते हुए थोड़ा ही पूर्व लिख चुके हैं कि न्याय का 'असत्' शब्द शश-शृङ्ग की सी आत्यन्तिक या त्रैकालिक असत्ता का वाचक कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो स्वयं भी उत्पत्ति के पूर्व घट आदि कार्यों का उनके उपादान कारणों में प्रागभाव ही मानता है, अत्यन्ताभाव नहीं। जिससे जिसकी उत्पत्ति शक्य हो, उसी में उसका प्रागभाव भी होता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। इसी प्रकार अनुत्पन्न घट के लिये सांख्य द्वारा 'सत्' शब्द का प्रयोग भी उस अर्थ में तो नहीं ही है जिसमें वह उत्पन्न या स्थूल घट के लिये उसका प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि सांख्य अनुत्पन्न घट के लिये 'सत्' का प्रयोग इस अर्थ में करता है कि मिट्टी और घट में शक्त और शक्य का सम्बन्ध है अर्थात् घट को उत्पन्न करने की योग्यता मिट्टी में है। इस प्रकार वस्तुतः दोनों के दृष्टिकोण भर का भेद है। सांख्य जिसे 'सत्' कहता है, न्याय उसे 'असत्' कहना पसन्द करता है। पर सत्य दोनों के ही मत से केवल इतना है कि घट को उत्पन्न करने की योग्यता मिट्टी में है।

माण्डूक्य-कारिका ४।२२[1] में सत्, असत् एवं सदसत् की उत्पत्ति के खण्डन के साथ-साथ 'स्वतः', परतः एवं उभयतः उत्पत्ति का भी खण्डन किया गया है। इसके भाष्य में शङ्कराचार्य ने 'स्वतः' और 'परतः' पदों को स्पष्ट करते हुये लिखा है[2] कि स्वतः भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उत्पन्न होने का अर्थ ही है उत्पत्ति के पूर्व वस्तु का स्वरूपतः असिद्ध होना, और जब कोई वस्तु स्वरूपतः असिद्ध है, तब उसकी उसी असिद्ध स्वरूप से सिद्धि या उत्पत्ति कैसे हो सकती है? कोई घट उसी घट से उत्पन्न होता हुआ भला कहीं भी दृष्टिगोचर होता है? इसी प्रकार दूसरी वस्तु से भी किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे घट से पट या एक पट से दूसरे पट की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। उभयतः तो उत्पत्ति होगी ही क्या, क्योंकि उभयतः अर्थात् एक साथ स्वतः भी और परतः भी उत्पत्ति विरुद्ध बात है। जैसे घट और पट से घट या पट की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। थोड़े ही विचार से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि शंकराचार्य ने साधारणतः सर्व-मान्य वास्तविक सिद्धान्त को दो नितान्त असम्भव विकल्पों के बीच द्वितीय विकल्प के रूप में रखकर तथा गलत दृष्टान्त देकर उसे भी असम्भव प्रदर्शित कर दिया है। यह बात किस प्राकृत जन से भी छिपी है कि स्वतः अर्थात् अपने से कोई वस्तु नहीं उत्पन्न होती, घट से घट या पट से पट नहीं बनता। फिर यह भी किसे अज्ञात या अविदित है कि घट और पट से घट या पट नहीं उत्पन्न होता। परन्तु परतः भी उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् मृत्तिका से घट या तन्तु आदि से पट आदि नहीं बनता, यह किसे अज्ञात नहीं है? सर्व-सामान्य तो यही जानते हैं कि मृत्तिका, तन्तु इत्यादि से ही घट, पट आदि बनते हैं क्योंकि यदि ऐसा न होता तो तत्तत् कार्य के लिये तत्तत् कारण का उपादान—ग्रहण—क्यों किया जाता? पर शङ्कराचार्य

१. स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते। सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥

२. द्रष्टव्य, पीछे पृ० २२१ के नीचे नं० २ पर उद्धृत सन्दर्भ।

को तो इस मान्यता में अनास्था उत्पन्न करनी थी, अतः उपादानोपादेय-भाव या कारण-कार्य-भाव से सम्बद्ध मृत्तिका और घट या तन्तु और पट आदि का दृष्टान्त न देकर घट और पट, या पट और पटान्तर का दृष्टान्त दिया, जिनमें परस्पर कारण-कार्य-भाव है ही नहीं। जब दृष्टान्त ही गलत है, तब परतः उत्पत्ति या सृष्टि की बात किसी की समझ में कैसे आ सकती है ?

एक बात यहाँ और ध्यान देने की है। प्रथम और तृतीय विकल्पों की असम्भाव्यता के लिये तो आचार्य ने हेतु दिये हैं जो सर्वथा अनावश्यक थे, क्योंकि प्रायेण सभी को ये स्पष्ट या ज्ञात हैं। परन्तु द्वितीय विकल्प की असम्भावना के लिये कोई भी हेतु उन्होंने नहीं दिया है। इसके अनन्तर उन्होंने मृत्तिका और घट का दृष्टान्त अवश्य उठाया है, पर उसके खण्डन में कुछ विशेष न कह कर केवल इतना कह दिया कि "सूक्ष्म परीक्षण करने पर घटादि कार्य वस्तुतः मृत्तिका आदि से पृथक् नहीं सिद्ध होते, केवल वचनतः 'मृत्तिका' और 'घट' इस प्रकार विभिन्न प्रतीत होते हैं। अर्थात् 'कार्य' कहे जाने वाले सारे ही घट, पट इत्यादि पदार्थ हैं तो वाणी के ही विकार। कहने भर को, या नाम-मात्र को वे सत्य हैं, वस्तुतः तो उन-उन विकारों के अधिष्ठान-भूत मृत्तिका इत्यादि ही सत्य हैं, जैसा कि श्रुति भी कहती है –'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"।[१] जिस परीक्षण की चर्चा भाष्यकार ने यहाँ की है, उसकी कुछ परीक्षा तो पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है, और यह दिखाया जा चुका है कि वह परीक्षा निर्दोष नहीं है। रही श्रुति की बात, सो उसका तात्पर्य सारे विकारों को अनित्य अर्थात् पारमार्थिक सत्ता से रहित कथन करना है, अन्यथा मृत्तिका का दृष्टान्त ही असिद्ध हो जायगा। मृत्तिका के घट आदि विकार कहाँ अत्यन्त तुच्छ या सर्वथा असत् हैं जो उन्हें समस्त जागतिक पदार्थों की नाममात्रात्मक सत्ता–अर्थात् असत्ता के लिए दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाय। 'जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात्' (सां० सू० ६।५२) में सांख्य-सूत्रकार ने जगत् की सत्यता का प्रतिपादन करते हुए उसका यह हेतु दिया है कि जगत् की उत्पत्ति तो प्रकृति से हुई है जो अदूषित कारण है, दूषित कारण नहीं जिससे उसका वह कार्य दूषित, मिथ्या या असत् हो जाय। इसके विपरीत स्वप्न काल के पदार्थ निद्रादि दोष से दूषित अन्तःकरण के कार्य हैं, अतः वे मिथ्या हैं। इस प्रकार स्वाप्निक सृष्टि के मिथ्यात्व के बल पर व्यावहारिक सृष्टि का मिथ्यात्व कथमपि प्रतिपादित नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों में महान् वैषम्य है। ऐसी स्थिति में शाङ्कर वेदान्तियों का 'स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात्। यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम्' ॥ [मां० का० ४।३६] आदि कथन दुस्साहस-मात्र है। तब फिर सत्कार्यवाद को वेद-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि वैदिक मार्ग के अनुयायी मनु आदि ने भी इसी को अपनाया है। 'अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा (ब्रह्म० २।२।१७) के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने स्वयं भी इसकी ओर संकेत किया है –'प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्धः'। इस प्रकार ईश्वरकृष्ण का सत्कार्यवाद शाङ्कर वेदान्त के अजातिवाद से खण्डित नहीं हो पाता।

---

१. द्रष्टव्य, मां० का० ४।२२ का शां० भा०।

पिछले सम्पूर्ण विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य दर्शन के अनुसार सारी सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रधान या प्रकृति का सत् कार्य है, उसका वास्तविक विकार या परिणाम है। इस सृष्टि के विषय में एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि यह सृष्टि क्यों होती है, इसका क्या प्रयोजन है ? सांख्यकारिका एवं सांख्यप्रवचनसूत्र, दोनों ही ग्रन्थों में सृष्टि का प्रसङ्ग उठते ही सर्व प्रथम उसका प्रयोजन बताया गया है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र के द्वितीय अध्याय में सृष्टि का सविस्तर विवेचन हुआ है। प्रथम ही सूत्र[१] में यह प्रयोजन इस प्रकार बताया गया है। स्वभाव या स्वरूप से ही मुक्त पुरुष के मोक्ष के लिये यह सृष्टि होती है। चूंकि जगत्-स्रष्ट्री प्रकृति है और पुरुष उससे भिन्न या पर है, इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि यह सृष्टि परार्थ होती है। यह एक पक्ष है जो सूत्र में दिया गया है। इसके विकल्प रूप में एक और भी पक्ष इसी सूत्र में दिया गया है। यह 'स्वार्थ' पक्ष है। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति अपना ही कोई प्रयोजन सिद्ध करने के लिये सृष्टि में प्रवृत्त होती है। प्रथम पक्ष के विषय में यह शंका होती है कि जो स्वत.-स्वभावतः मुक्त है, उसका मोक्ष कैसा एवं उसके लिये सृष्टि रूप प्रयास भी क्या ? पुरुष तो निर्गुण एवं अपरिणामी है, और दुःख परिणाम है प्रकृति के रजस् गुण का। इसलिये दु.ख वस्तुतः पुरुष में न होकर प्रकृति या उसकी सन्तति बुद्धि में होता है। ऐसी स्थिति में पुरुष के दुःख-मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु एक बात है। पुरुष में परमार्थतः या वस्तुतः दुःख अवश्य नहीं है किन्तु प्रकृति के कार्य 'बुद्धि' के सान्निध्य से उसमें स्थित दुःख का, अज्ञान या भ्रम के कारण, अपने में आरोप अथवा अध्यास कर लेने से पुरुष में दुःख की प्रतीति होती है। इस प्रकार पुरुष में दुःख के अस्तित्व, तथा उससे उसके मोक्ष की बात असंगत नहीं है। इस तथ्य का निर्देश विज्ञानभिक्षु ने अत्यन्त संक्षेप में अपने सूत्र-भाष्य में इस प्रकार किया है :—'स्वभावतो दुःखबन्धाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य प्रतिबिम्बरूपदुःखमोक्षार्थं प्रतिबिम्बसम्बन्धेन दुःखमोक्षार्थं वा प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वम्'। [सां० सू० २.१ का भाष्य] इस प्रकार प्रकृति की 'परार्थ' सृष्टि-प्रवृत्ति संगत है। फिर प्रकृति में दुःख की वास्तविक परिणति या सत्ता को लेकर 'स्वार्थ' सृष्टि-प्रवृत्ति का कथन भी कुछ अनुचित या असंगत नहीं है। इसीलिये पूर्व उद्धृत सूत्र में ये दोनों ही पक्ष गृहीत हैं।

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर 'परार्थ' और 'स्वार्थ' सृष्टि के कथन दो नहीं प्रतीत होते। दोनों पक्षों में वस्तु या वृत्तार्थ एक ही है—दुःख-बन्ध से मोक्ष। उसी को दृष्टि-भेद से चाहे पुरुष का कह लें, और चाहे प्रकृति का। वैसे इन दोनों विकल्पों में 'परार्थ' सृष्टि वाला विकल्प ही मुख्य समझा जाना चाहिये, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से दुःख रजोगुण का परिणाम होने से भले ही प्रकृति का हो, परन्तु सामान्य या व्यावहारिक दृष्टि से वह उसी का होगा जिसे उसकी अनुभूति होगी, अथवा जो उसे भोगता है; और अनुभव करना या भोक्ता बनना तो चेतन का ही धर्म है, अचेतन का नहीं। इस प्रकार जब दुःख-भोग चेतन का धर्म है, तब उससे छुटकारा या मोक्ष भी चेतन का ही धर्म होगा। सम्भवतः इसी कारण से सृष्टि का प्रयोजन बताने वाले अवशिष्ट दो अन्य सूत्रों में सृष्टि 'परार्थ' ही

१. विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य। सां० सूत्र २।१।

कही गई है, 'स्वार्थ' नहीं :– प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।। ३।५८।।; अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।।६।४०।। इनमें कहा गया है कि प्रकृति के स्वतः भोक्त्री न होने के कारण उसके द्वारा की गई सृष्टि 'परार्थ' अर्थात् पुरुष के लिये ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे ऊँट के द्वारा ढोया जाने वाला कुङ्कुम स्वामी के उपयोग के लिये होता है।

सांख्य-कारिकाओं में भी सृष्टि-प्रयोजन ५६ वीं से लेकर ६० वीं कारिका तक में कई बार और कई प्रकार से प्रतिपादित हुआ है[१]। इसी से इसकी महत्ता सर्वथा स्पष्ट है। इन कारिकाओं में कारिकाकार ने कहा है कि 'प्रकृति द्वारा प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये की गई यह सृष्टि अपने लिये की गई सी प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः अपने से भिन्न पुरुष के लिये ही की गई है। जैसे बछड़े के बढ़ने के लिये अचेतन दुग्ध स्वतः निकलता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति भी स्वतः ही प्रवृत्त होती है। जैसे स्वेच्छा की पूर्ति के लिये लोग कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है। और जैसे नर्तकी रङ्ग-शाला में उपस्थित दर्शक पुरुषों को नृत्य दिखा देने के अनन्तर फिर समक्ष नहीं आती, नृत्य से निवृत्त हो जाती है, वैसे ही प्रकृति भी पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उसके सम्बन्ध में प्रवृत्त नहीं होती। इस प्रकार गुणवती (त्रिगुणात्मिका, परोपकार इत्यादि गुणों वाली या उपकारिणी) प्रकृति विना किसी स्वार्थ या अपने प्रयोजन के ही निर्गुण (अत्रिगुणात्मक, प्रत्युपकारादि गुणों से रहित या अनुपकारी) पुरुष का प्रयोजन—उसका सारा कार्य—अनेक उपायों से सिद्ध करती है'। अन्तिम कारिका की व्याख्या करते हुये वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में भी निश्चयात्मक रूप से स्पष्ट कहा है कि प्रकृति का सृष्ट्यर्थ प्रयास 'परार्थ' अर्थात् पुरुष ही के लिये होता है, 'स्वार्थ' अर्थात् अपने लिये नहीं।[२] कारिकाओं की प्राचीन टीका के परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद[३] तथा गौडपाद-भाष्य[४] आदि से भी परार्थ सृष्टि का ही सिद्धान्त समर्थित होता है। तत्त्वकौमुदीकार ने भृत्य और स्वामी का दृष्टान्त देकर तथा परमार्थ एवं गौडपाद ने सुहृत् का दृष्टान्त देकर एक ही बात अर्थात् 'परार्थ' सृष्टि का कथन किया है। ये चारों कारिकायें सृष्टि-प्रसङ्ग के उपसंहार रूप में आई हैं, जैसा कि ५६ वीं कारिका के प्रारम्भिक पद 'इति' से भी स्पष्ट है।

किन्तु जैसा पीछे कह चुके हैं, सृष्टि-प्रसङ्ग के उपक्रम में भी सृष्टि-प्रयोजन की

---

१. इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः। प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः ।।५६।। वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।।५७।। औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः। पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ।।५८।। नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः। गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ।।६०।।

२. द्रष्टव्य, सां० का० ६० की तत्त्वकौमुदी :—यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽतएवानुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधनः, एवमियं प्रकृतिस्तपस्विनी....अनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम्।

३. द्रष्टव्य, अय्यास्वामी शास्त्री-कृत संस्कृत रूपान्तर, पृ० ८४ :—यथा कश्चित् सुहृत्कार्यं करोति, न करोति स्वकार्यम्। एवं प्रधानं परकार्यं करोति, न स्वार्थकार्यम्।

४. यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति, एवं प्रधानम्।

संक्षिप्त चर्चा हुई है। बाइसवीं कारिका से सृष्टि का वर्णन आरम्भ होता है। उसके ठीक पहले २१ वीं कारिका[1] में आगे कही जाने वाली सृष्टि का प्रयोजन एवं उस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अपेक्षित प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संयोग वर्णित है। इसमें कारिकाकार ने कहा है कि पुरुष के द्वारा प्रधान का दर्शन तथा प्रधान के द्वारा पुरुष का कैवल्य सम्पन्न होने के लिये पङ्गु और अन्ध के समान दोनों का संयोग होता है जिससे सृष्टि होती है। कारिकाकार के पूर्वोद्धृत समस्त कथनों से इस कथन में यह वैशिष्ट्य प्रतीत होता है कि जहाँ पूर्व उद्धृत कथनों में पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये प्रकृति और पुरुष का संयोग और उस संयोग के द्वारा सृष्टि कही गई है, वहाँ इस कथन में प्रकृति और पुरुष, दोनों की अर्थ-सिद्धि के लिये सृष्टि कही गई प्रतीत होती है। पंगु और अन्ध पुरुषों का दृष्टान्त इस प्रतीति को और भी पुष्ट करता प्रतीत होता है; क्योंकि यदि पैरों से ठीक पर आँखों से खराब अन्धे और आँखों से ठीक किन्तु पैरों से खराब लँगड़े, दोनों को एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा या आवश्यकता न हो तो परस्पर सहयोग अथवा संयोग की बात ही न उठे। दोनों में से किसी एक के भी पैर और आँखें दोनों ही यदि ठीक हों, तो वह दूसरे विकलाङ्ग व्यक्ति को क्यों साथ लेगा? कारिकाओं के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इस पारस्परिक स्वार्थ की बात को अपनी टीका में अत्यधिक स्पष्ट रीति से समझाया है। उन्होंने लिखा है कि "कारिका के 'प्रधानस्य' पद में कर्म में षष्ठी है। इस प्रकार 'प्रधानस्य दर्शनार्थम्' का अर्थ है—'पुरुष के द्वारा सब के मूल कारण प्रकृति का दर्शन होने के लिये'। इससे प्रकृति की भोग्यता सूचित होती है। प्रधान की यह भोग्यता भोक्ता के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः इसको अपना भोग या अनुभव कराने के लिये भोक्ता चेतन पुरुष की अपेक्षा है। इसी प्रकार कारिका के 'पुरुषस्य कैवल्यार्थम्' पदों द्वारा पुरुष की भी प्रधान-विषयक अपेक्षा कही गई है। प्रकृति के साथ संयुक्त—एकरूप—हुआ पुरुष उसके त्रिविध दुःख को अपने में स्थित समझता हुआ कैवल्य की इच्छा करता है। वह कैवल्य पुरुष को प्रकृति से अपने पृथक्त्व या भिन्नत्व का ज्ञान होने से प्राप्त होता है, और पुरुष का प्रकृति से यह स्वभेद-ज्ञान या विवेक-ज्ञान प्रकृति के विना नहीं हो सकता। इसलिये कैवल्य के लिये पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा रहती है।"[2] कैवल्य के लिये अपेक्षित सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्याति अर्थात् प्रकृति-पुरुष-विवेकज्ञान के लिये प्रकृति की अपेक्षा इसलिये कही गई है क्योंकि यह विवेक-ज्ञान बुद्धि का ही एक विशेष प्रकार का परिणाम है, जैसा कि आगे की तेइसवीं कारिका[3] में कारिकाकार स्वयं भी कहेंगे, और यह बुद्धि भी स्वयं प्रकृति का परिणाम है। इसलिये प्रकारान्तर से प्रकृति का ही परिणाम-भूत विवेक-ज्ञान उसके अभाव में सर्वथा असम्भव ही है।

---

१. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः॥

२. द्रष्टव्य का० २१ की सांख्यतत्त्वकौमुदीः—प्रधानस्येति कर्मणि षष्ठी। प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद् दर्शनं पुरुषेण, तदर्थम्। तदनेन भोग्यता प्रधानस्य दर्शिता। ततश्च भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति। पुरुषस्यापेक्षां दर्शयति—पुरुषस्य कैवल्यार्थमिति। तथा हि—भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते, तच्च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम्। न च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते।

३. अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥

इस प्रकार सृष्टि के प्रयोजन के सम्बन्ध में उसके उपक्रम एवं उपसंहार में आई हुई कारिकाओं में पारस्परिक विरोध - वस्तुतः नहीं तो आपाततः तो अवश्य ही - परिलक्षित होता है। क्योंकि जहाँ सृष्टि के उपसंहार रूप में आई हुई कारिकाओं में पुरुष के भोग और मोक्ष के लिये सृष्टि कही गई है, वहाँ उसके उपक्रम में आई हुई कारिका में प्रकृति के दर्शनार्थ एवं पुरुष के मोक्षार्थ सृष्टि कही गई है। परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह विरोध वास्तविक नहीं लगता; क्योंकि प्रकृति का पुरुष द्वारा स्व से अभिन्न रूप में दर्शन दो नहीं अपितु एक ही घटना या वृत्तान्त है जिसके प्रकृति और पुरुष दो पहलू हैं। प्रकृति की दृष्टि से उसी को प्रकृति का पुरुष द्वारा भोगा जाना तथा पुरुष की दृष्टि से उसी को पुरुष का प्रकृति को भोगना कहा जाता है। भोग वस्तुतः एक ही है जो भोग्य प्रकृति और भोक्ता पुरुष, दोनों के विना असम्भव है। इस एक ही तथ्य या घटना को भिन्न-भिन्न प्रकारों से कहा जा सकता है—प्रकृति को भोग्य बनने के लिये कोई भोक्ता चाहिये, एवं पुरुष को भोक्ता बनने के लिये कोई भोग्य चाहिये। वस्तुतः तो भोग पुरुष का ही स्वार्थ है, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा पूर्व जन्मों में किए गए, और अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ अपना तादात्म्य या ऐकरूप्य ग्रहण करने के कारण अपना समझे जाते हुये समस्त प्रारब्ध कर्मों का दुःख-त्रय रूप फल भोगते हुये ही पुरुष को उससे मुक्ति पाने की इच्छा होती है[१], अन्यथा नहीं। यदि पुरुष या जीव को प्रकृति-कृत कर्मों के फल-स्वरूप आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःख की प्राप्ति न हो, त्रिविध दुःख का भोग न हो, तब तो उसे मुक्ति या कैवल्य की कभी इच्छा ही न हो। इस प्रकार भोग मुमुक्षा में, और मुमुक्षा मोक्षार्थ प्रयास एवं अन्ततोगत्वा मोक्ष-प्राप्ति में आवश्यक कारण है। एवं भोग और मोक्ष, दोनों ही पुरुष के ही स्वार्थ हैं, प्रकृति के नहीं।

अभी पीछे कहा जा चुका है कि भोग और मोक्ष, दोनों पुरुष के ही हित में हैं। पुरुष का यही हित सम्पादित करने के लिए प्रकृति पुरुष के संयोग से सृष्टि करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुष के भोग और मोक्ष रूप द्विविध अर्थ या प्रयोजन का सम्पादन ही प्रकृति का भी प्रयोजन है। तात्पर्य यह है कि दोनों का प्रयोजन समान या एक ही है। परन्तु इसके विपरीत सांख्य-विरोधियों द्वारा यह शङ्का उठाई जाती है कि परमार्थतः तो पुरुष का कोई प्रयोजन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह स्वभावतः निर्बन्ध एवं नित्य मुक्त है। इसी प्रकार प्रकृति का भी कोई प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि वह अचेतन है और अचेतन का अपना कोई प्रयोजन हो ही नहीं सकता। अपना प्रयोजन तो चेतन का ही धर्म हुआ करता है। चेतन पुरुष के लिये भी प्रकृति का प्रयोजन सांख्य दर्शन में इसलिए असम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि वह प्रकृति को पुरुष के वशीभूत या अधीन नहीं मानता। यदि पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता या नियामक माना जाता तो यह सम्भव था कि पुरुष अपने वशीभूत या अधीन प्रकृति का अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपयोग करता, जैसा लोक में भी देखा जाता है। प्रकृति

---

१. (i) द्रष्टव्य, सां० का० :—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

(ii) द्रष्टव्य, का० २१ की पीछे दी हुई तत्त्वकौमुदी :—भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते।

स्वयं चेतन है ही नहीं कि वह पुरुष का प्रयोजन समझ कर उपकार भाव से स्वतः उसकी सिद्धि के लिए प्रवृत्त हो। ऐसी स्थिति में सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण का यह कथन निस्सार लगता है कि गुणवती-उपकारिणी प्रकृति निर्गुण-अनुपकारी पुरुष के भोग-मोक्ष के सम्पादनार्थ ही सृष्टि में प्रवृत्त होती है। बछड़े की वृद्धि और पोषण के लिये जो अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति सांख्यकारिका में उदाहरणार्थ कथित है,[१] वह कथमपि संगत नहीं है, क्योंकि दुग्ध स्वतः प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रवृत्ति के पीछे चेतन गाय की यह प्रबल इच्छा रहती है कि उसका दुग्ध बछड़े को प्राप्त होकर उसकी पुष्टि और वृद्धि करे। यह और बात है कि अपने इस भाव को प्रकट करने के लिए उसे मनुष्य की सी स्पष्ट वाणी नहीं मिली है। दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति होने पर तो उसे सर्वदा ही निकलते रहना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत वह तभी निकलता है जब गाय अपने बछड़े के पोषण के लिये उसे छोड़ती है। ग्वालों के दूध निकालते समय गायों का प्रायः दूध खींच लेना और बछड़ों के छोड़े जाने पर छोड़ना भी इसी बात का समर्थक है कि अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती। सृष्ट्यर्थ पङ्गु और अन्ध जैसा प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, कारिकाकार का यह कथन भी अयुक्त एवं असंगत है, क्योंकि इन दोनों में से प्रत्येक का अपना-अपना कोई न कोई प्रयोजन अवश्य ही होता है, भले ही दैव-योग से दोनों के प्रयोजन समान हों। फिर इनमें एक का दूसरे पर निश्चित ही नियन्त्रण या नियमन रहता है। सांख्य-कारिका न तो एक का दूसरे पर किसी प्रकार का नियन्त्रण ही मानती है, और न कभी भी कहीं पर स्पष्ट रूप से प्रकृति का अपना कोई निजी प्रयोजन ही बताती है। इस प्रकार एक सर्वथा अचेतन तत्त्व या पदार्थ द्वारा सृष्टि का प्रक्रम एवं निर्वाह सिद्धान्त में अयुक्त एवं अमान्य है, एवं व्यवहार में युक्त दृष्टान्त से शून्य है।

सांख्य-कारिका में कथित सृष्टि-प्रयोजन के विषय में उठने वाली ये विविध शङ्कायें निर्मूल या निराधार हैं, ऐसा तो यद्यपि नहीं कहा जा सकता, तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनका कोई भी समाधान या परिहार नहीं है। परमार्थतः तो पुरुष का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभावतः निर्बन्ध और नित्य-मुक्त है, यह कथन तो ठीक है। परन्तु सांख्य-कारिका पुरुष की पारमार्थिक अवस्था के लिये प्रयोजन का कथन कहाँ करती है? सृष्टि का प्रयोजन कथन करने का तात्पर्य ही यह है कि पुरुष की जीवन-गत अर्थात् बद्ध-अवस्था के लिये ही प्रयोजन की बात कही गई है और यह बात सर्वथा ठीक है; क्योंकि पुरुष की जीव-दशा या बन्धनावस्था चाहे जिस भी कारण से और जिस भी प्रकार से हो गई हो, उसको उसे सारे सम्भाव्य साधनों द्वारा दूर करके निर्बन्ध दशा अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति तो करनी ही है, और ये साधन तथा प्रयत्न शरीरधारी जीव की ही दशा में किये जा सकते हैं। बिना शरीरादि के किसी प्रकार की चेष्टा अथवा साधना असम्भव है और इन्हीं की प्राप्ति कराने के लिये तो प्रकृति का सृष्टि-व्यापार कहा गया है। जहाँ तक स्वभावतः मुक्त या निर्बन्ध पुरुष के बद्ध होने के हेतुओं या कारणों का प्रश्न है, उसका तो जैसा समाधान शाङ्कर वेदान्त आदि में प्रस्तुत किया गया है, ठीक वैसा ही

---

१. द्रष्टव्य, का०५७:—वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

सांख्य-कारिका आदि सांख्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी है। जैसा प्रस्तुत अध्याय में पहले भी कह चुके हैं, दुःखत्रय प्रकृति के रजोगुण का परिणाम या वास्तविक कार्य होने के कारण सत्य अथवा तात्त्विक होने पर भी पुरुष में असत्य ही प्रतीत होता है। इस असत्य प्रतीति का कारण प्रकृति के साथ उसका अपना तादात्म्य-ग्रहण है, जो अनादि अज्ञान या अविवेक के कारण होता है। तात्पर्य यह है कि विविध कर्म तथा उनके दुःखादि फल का भोग वस्तुतः तो हैं प्रकृति के परिणाम, पर प्रतीत दोनों की ही होती है पुरुष को। 'अविवेकाद्वा तत्सिद्धे कर्तुः फलावगमः' [१।१०६] तथा 'परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात्'[६।११] इत्यादि सां० सूत्रों में इसी बात की सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठा की गई है। इसी को १ली तथा ६२वीं कारिकाओं में भी कहा गया है। 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' में पुरुष का त्रिविध दुःख के साथ अभिघात या अभिसम्बन्ध[१] कह कर उससे मुक्ति पाने के लिये उसके निवर्तक हेतुओं की जिज्ञासा की प्रस्तावना की गई है। यह निवर्तक हेतु बताया गया है विवेकज्ञान के सतत अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वज्ञान, जिसका स्वरूप 'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्य- परिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्' [६४] इस कारिका में दिया गया है। अभ्यास के फल-स्वरूप उदीयमान यह तत्त्वज्ञान वस्तुतः आत्मा या पुरुष के तत्त्व अर्थात् स्वरूप से अभिन्न नित्य ज्ञान है। आत्मा के इसी पारमार्थिक स्वरूप को दृष्टि में रखकर उसे ६२वीं कारिका—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥—में संसरण अर्थात् जन्म-मरण रूप बन्धन एवं मोक्ष से भी परे कहा गया है। वस्तुतः इन दोनों प्रकार के वर्णनों में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति या विरोध नहीं है।

यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि सृष्ट्यर्थ प्रकृति का सारा प्रयास चेतन पुरुष के लिये ही होता है, अपने लिये नहीं। यह भी कहा जा चुका है कि 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य' इत्यादि एकमात्र सांख्य-कारिका तथा 'विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य' इत्यादि एकमात्र सांख्य-सूत्र में जो प्रकृति और पुरुष, दोनों का प्रयोजन कथित है, वह कथन का एक दूसरा प्रकार-मात्र है। वस्तुतः जो प्रयोजन पुरुष का है, उसके सम्पादन के लिये प्रकृति के प्रवृत्त होने से वही प्रयोजन प्रकृति का भी हो जाता है। इसके लिये दिया गया पङ्गु और अन्ध का दृष्टान्त सीमित अर्थ में युक्त ही है।[२] जैसे यदि किन्हीं दो व्यक्तियों, जिनमें एक लँगड़ा है और दूसरा अन्धा, का एक ही गन्तव्य है, तभी दोनों में पारस्परिक सहयोग सम्भव है। दोनों उस सहयोग से समान गन्तव्य पर पहुँच कर एक-दूसरे से विदा लेकर पृथक् हो जायँगे। परन्तु यदि दोनों का समान गन्तव्य न हुआ,

---

१. द्रष्टव्य, वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदीः—तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासाहेतुरुक्तः।

२. द्रष्टव्य, राधानाथ पूखन द्वारा अनूदित सांख्यकारिका, पृ०१०० : -The illustration of a blind man carrying a lame one is therefore quite apt and full of meaning. These two men associate for a common purpose, viz., going to a distant place, and they separate as soon as their common object is attained; so is the Purusha linked with Prakrti for a particular object (i.e. for our enjoyment) and they must part as soon as that object is attained

एक को प्रयाग से काशी और दूसरे को प्रयाग से अयोध्या जाना हुआ, तो परस्पर सहयोग का प्रश्न ही समाप्त हो जायगा। उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का भी एक प्रयोजन होने पर ही उसकी सिद्धि के लिये दोनों की प्रवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अन्तर केवल इतना है कि जहाँ दृष्टान्त में लँगड़े और अन्धे, दोनों का समान प्रयोजन होना वस्तुतः सम्भव है, वहाँ दार्ष्टान्तिक में दोनों में से किसी एक का भी वास्तविक प्रयोजन होना सम्भव या संगत नहीं है, क्योंकि सांख्य का पुरुष तो स्वरूपतः नित्य निर्बन्ध या मुक्त एवं चिद्घन होने से निष्काम अथवा निष्प्रयोजन है एवं प्रकृति भी जड होने से किसी वस्तु की प्राप्ति अथवा प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा रखने वाली नहीं कही जा सकती। परन्तु इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संयोग से जहाँ पुरुष प्रकृति के समस्त कार्यों का अपने में आरोप करके कृतिमान् या कर्ता और उन-उन कार्यों का भोक्ता प्रतीत होने लगता है, वहाँ प्रकृति भी पुरुष के चैतन्य से चेतन सी प्रतीत होने लगती है। इसी अभिप्राय से कारिकारकार ने "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोः संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥" इत्यादि २१वीं कारिका की पृष्ठभूमि में "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः" ॥ इत्यादि बीसवीं कारिका रक्खी है।

परन्तु पुरुष और प्रकृति के जिस पारस्परिक संयोग से पुरुष के कर्ता तथा प्रकृति के चेतन प्रतीत होने की बात बीसवीं कारिका में कही गई है, उसके विषय में भी प्रतिपक्षियों के द्वारा शङ्का उठाई जाती है। शङ्का यह होती है कि सृष्टि के आरम्भ के पूर्व प्रकृति सूक्ष्मतम गुणों की साम्यावस्था के रूप में रहती है, उस समय उसमें कोई वैशिष्ट्य या स्थूल भाव नहीं उत्पन्न हुआ रहता। पुरुष भी अपने शुद्ध चिन्मात्र रूप में रहता है। ऐसी स्थिति में सर्व प्रथम तो इसी बात में सन्देह है कि दोनों का संयोग होता है, दूसरे इस संयोग के स्वरूप के विषय में भी महान् सन्देह है। यह संयोग किस प्रकार का होता है, कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। कारिकाकार ने न तो विवेचन द्वारा ही इस पर कुछ प्रकाश डाला है और न इसे सर्व विदित दृष्टान्त आदि से कुछ स्पष्ट किया है। सांख्यसूत्र 'कुसुमवच्च मणिः' [२।३५] इत्यादि भी इस सम्बन्ध में कुछ विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध होते, क्योंकि लाल जपा आदि कुसुम एवं स्वच्छ स्फटिक आदि मणि भौतिक जगत् के स्थूल पदार्थ हैं एवं इनका संयोग सर्व प्रत्यक्ष अतश्च असन्दिग्ध बात है जब कि सृष्टि के आरम्भ के पूर्व के प्रकृति एवं पुरुष सूक्ष्मातिसूक्ष्म[१] पदार्थ हैं। पारस्परिक संयोग अर्थात् सान्निध्य से धवल स्फटिक पर जपा के लाल रंग तथा जपा पर स्फटिक की धवल कान्ति पड़ने से स्फटिक लाल एवं जपा कान्तिमान् या चमकदार प्रतीत होता है। परन्तु प्रकृति एवं पुरुष में स्थूलता का सर्वथा अभाव होने से दोनों के पारस्पारिक प्रतिबिम्ब, जिससे पुरुष अकर्ता होने पर भी कर्ता तथा प्रकृति जड या अचेतन होने पर भी चेतन प्रतीत होती है, की भी कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती। ऐसी स्थिति में संयोग और उससे उत्पन्न कहे

---

१. द्रष्टव्य, कठ—१।३।११ :—महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा परा गतिः।

जाने वाले पारस्परिक प्रतिबिम्ब के अभाव में पूर्व उद्धृत बीसवीं कारिका में स्थित कारिकाकार का कथन असम्भव ही सिद्ध होता है।

इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि यद्यपि यह बात स्पष्ट है कि पुरुष एवं प्रकृति का सृष्टि से पूर्व काल का संयोग उस प्रकार का तो नहीं हो सकता जिस प्रकार का सृष्टि के अवान्तर काल में दो स्थूल भौतिक पदार्थों का होता है, तथापि पुरुष के चिद्रूप एवं प्रकृति के त्रिगुण रूप भाव पदार्थ होने के कारण दोनों में किसी न किसी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संयोग या सान्निध्य की कल्पना तो की ही जा सकती है। जब ईश्वरकृष्ण आदि समस्त सांख्याचार्यों को पुरुष और प्रकृति का पृथक्-पदार्थत्व द्वैत—मान्य है, और द्वैत या द्वित्व ही सम्बन्ध-सामान्य की प्रमुख उपाधि शर्त) है, तब अपेक्षा होने पर परस्पर सान्निध्य आदि क्यों नहीं हो सकता ? यह संयोग या सान्निध्य कुछ-कुछ इस प्रकार का कहा जा सकता है, जैसा अनादि काल से बुद्धि में संस्कार रूप से अज्ञात पड़े हुये विचारों का ज्ञान होने के समय अन्तश्चेतना के साथ होता है।[1] भोगादि के लिये अपेक्षित सृष्टि के कारण-भूत इस संयोग का कारण अनादि अविद्या है, जैसा कि 'तस्य हेतुरविद्या' [२।१८], इस योग-सूत्र से स्पष्ट है। 'अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः' [६।६८] इस सांख्य-सूत्र का भी सामान्यतः यही अभिप्राय है। चूंकि इस संयोग की कारण-भूता अविद्या (अविवेक) अनादि है, इसलिये यह संयोग यद्यपि अनादि है, तथापि प्रत्येक अभिनव सृष्टि के आरम्भ में यह संयोग जैसे फिर से होता है। यह संयोग अनादि होने पर भी नित्य नहीं अपितु सान्त है। इसका कारण यह है कि प्रकृति और पुरुष के बीच यह कोई स्वाभाविक अतएव अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं है, जैसा अग्नि और उसके ऊष्मा के बीच होता है। यह संयोग स्थूल भौतिक सम्बन्ध नहीं अपितु सूक्ष्म वैचारिक सम्बन्ध है, यह तथ्य तो पीछे स्पष्ट ही किया जा चुका है। अतः इसका विच्छेद या अन्त भी वैचारिक ही होगा। इसी से सांख्य-दार्शनिकों की यह मान्यता है कि ज्यों ही साधक अपने तथा प्रकृति के वास्तविक रूपों का भेद—पार्थक्य—जान लेगा, त्यों ही इस संयोग का अन्त हो जायगा। संयोग या सम्बन्ध का अन्त होते ही पुरुष को प्रकृति-कृत समस्त कार्यों के विषय में होने वाला कर्तृत्वाभिमान, जो पूर्व अविवेक-कृत पारस्परिक सम्बन्ध के कारण होता था, नष्ट हो जायगा। कर्तृत्वाभिमान नष्ट होते ही सारे सञ्चित और क्रियमाण कर्म विवेकज ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाने के कारण फल न दे सकेंगे और साधक वास्तविक कैवल्य का अनुभव करने लगेगा।

---

१. राधानाथ फूखन ने २०-२१वीं कारिकाओं में स्थित 'संयोग' शब्द पर जो टिप्पणी लिखी है, वह इस प्रकार है :—The word 'Samyoga' which occurs in these Karikas, is not like a mere contact of one object with another. It is like a contact of the mind with matter, eg., (i) I can sing but I do not always sing. I sing when I think of singing. This is the 'Samyoga' of the mind with a song. (ii) Thoughts are always within me, but I am not aware of them. I recall a thought to my consiousness when occasion arises. This is a samyoga of the consciousness with the inanimate or dead thought stored up in Buddhi. from a long time [P. 99]

इस प्रकार ईश्वरकृष्ण द्वारा पुरुष के भोगादि प्रयोजन की सिद्धि के लिये अपेक्षित सृष्टि के लिये अपेक्षित कहा गया संयोग असम्भव या असंगत नहीं कहा जा सकता, और न ही सांख्य-सूत्र आदि ग्रन्थों में अनेकशः कथित जपा-स्फटिक आदि के दृष्टान्त ही असगत कहे जा सकते हैं। पूर्व कहा जा चुका है कि दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक शत-प्रतिशत एक से हो ही नहीं सकते। ऐसा मानने पर तो किसी भी सूक्ष्म तथ्य को समझाने या सुबोध बनाने के लिये युक्त दृष्टान्त ही न मिलेंगे। अतः किसी साम्य-विशेष को लेकर ही दृष्टान्त प्रस्तुत किये जाते हैं। श्रीयज्ञेश्वर घोष ने सांख्य मे चेतन के उपकारार्थ वर्णित अचेतन की सृष्टि-प्रवृत्ति एवं उसके लिए उसमें दिये गये दृष्टान्त[1] आदि के विषय में अपना अधोलिखित मन्तव्य प्रकट किया है :—

"For this fitness of Nature for the the service of the soul, no reasons are given. The fact is there; it is presumably an immanent taleology, a perpetual hormony in no way dependent on a conscious will. The unconscious appearance of milk in the cow for the sake of the calf furnishes a good parallel in a limited sphere."[2]

जो कुछ भी हो, इतना तो ध्रुव सत्य है कि सांख्य दर्शन के समूचे विकास में सांख्य-सिद्धान्तों का ईश्वरकृष्ण-कृत प्रतिपादन एवं व्याख्यान अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अकेले आचार्य ने इसको सुव्यवस्थित रूप देने में अपनी संक्षिप्त, सारवती एव सुप्रतिष्ठित सांख्यकारिका द्वारा जितना योग दिया है, उतना कम ही आचार्यों ने दिया होगा। इस दर्शन के विकास में कपिल, पञ्चशिख, जनक, जैगीषव्य आदि जिन पूर्ववर्ती महनीय आचार्यों ने अपने-अपने बहुमूल्य विचारों के योग दिए, उनमें से अधिकांश की कृतियाँ काल के गर्भ में अन्तर्हित हो चुकी हैं। आज उनका कोई निश्चित पता नहीं है। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' नामक कृति सांख्यविषयक अज्ञानान्धकार को दूर करने वाला परमोज्ज्वल, परम प्रकाशमान ज्ञान-दीप ही है। इस ज्ञान-दीप के उज्ज्वल प्रकाश में अनेक परवर्ती आचार्यों ने खोए हुये प्राचीन सांख्य-ज्ञान को सँजोने का सफल प्रयास किया है। इन आचार्यों का नाम्ना निर्देश पूर्व में कर चुके हैं। परन्तु यहाँ कुछ विस्तार के साथ उनका विवेचन होना है।

सांख्य-कारिकाओं के टीकाकार

पीछे ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्य-कारिकाओं के महत्त्व और मूल्य के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है। इन कारिकाओं का प्रतिपाद्य विषय कितना संक्षिप्त किन्तु सारवान् और गुरु-गम्भीर है, यह तथ्य पूर्व विवरण से पर्याप्त प्रकट हो चुका है। ऐसी वस्तु-स्थिति में यह अनुमान लगाना सर्वथा सहज और स्वाभाविक ही है कि इन पर एक नहीं अपितु कई विद्वान् आचार्यों ने टीकायें लिखी होंगी। बात भी ऐसी ही है। सांख्य-सूत्रों को उतने टीकाकार नहीं मिले जितने सांख्य-कारिकाओं को। जो मिले भी, वे पर्याप्त बाद के

---

१. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ का० ५७।

२. द्रष्टव्य, Sankhya and Modern thought, P. 55.

आचार्य हैं। सूत्र-वृत्तिकार अनिरुद्ध वाचस्पति मिश्र से पर्याप्त बाद के हैं, एवं सांख्यसूत्र-भाष्यकार विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध से पर्याप्त बाद के हैं। इन सबका विवरण अगले अध्याय में प्रस्तुत किया जायगा। जिन वाचस्पति मिश्र से पर्याप्त बाद के सांख्यसूत्र-टीकाकार हैं, वे ही सांख्य-कारिकाओं के प्राचीन टीकाकारों में सबसे अर्वाचीन हैं। यों, सांख्य दर्शन में कारिकाओं की सर्वाधिक महत्ता होने के कारण उनकी टीकायें सदैव होती रहेंगी और वस्तुतः कुछ टीकायें[१] अर्वाचीन काल में हुई भी हैं, तथापि इस विषय में जो बात अवधेय है, वह यह है कि सांख्य-कारिकाओं की अत्यधिक महत्ता के कारण ही ईश्वरकृष्ण के थोड़े ही बाद से इस पर टीकायें लिखी जाने लगीं। आज जितनी प्राचीन टीकाय इस सार-गर्भित संक्षिप्त ग्रंथ की उपलब्ध हैं, वे सब की सब ईसवी प्रथम सहस्राब्दी की समाप्ति से सैकड़ों वर्ष पूर्व की हैं और कई तो उसकी आरम्भिक शताब्दियों की ही हैं।

माठर

सांख्य-कारिकाओं की सबसे प्राचीन टीका कौन है, इस प्रश्न का उत्तर माठर-वृत्ति के समय-निर्धारण पर अवलम्बित है। माठर-वृत्ति के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। जहाँ एक कोटि के विचारकों के मत से इसका समय कनिष्क का राज्यकाल अर्थात् ईसवी प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या उससे भी पूर्व अर्थात् पूर्वार्ध होना चाहिए, वहाँ दूसरी कोटि के विचारकों के मत से इसका समय १००० ई० से भी बाद का होना चाहिए। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने 'आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स के छठें अधिवेशन में पठित अपने 'गौडपाद-भाष्य एवं माठरवृत्ति' नामक लेख में माठर-वृत्ति का यही समय निर्धारित किया है। डा० जानसन ने भी अपने Early Sankhya नामक ग्रन्थ[२] में लगभग यही बात कही है। पं० अय्यास्वामी शास्त्री ने भी माठर-वृत्ति का समय १००० ई० के अनन्तर बताया है।[३] इसका कारण स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी ने लिखा है[४] कि माठरवृत्ति बहुत प्राचीन काल में नहीं रक्खी जा सकती, अर्थात् यह परमार्थ के समय से पूर्व नहीं रक्खी जा सकती, क्योंकि इसमें ८०० ई० के शङ्कराचार्य के 'हस्तामलक-स्तोत्र' का एक उद्धरण[५] प्राप्त होता है, भागवत के भी कुछ उद्धरण[६] मिलते हैं। इसके अतिरिक्त माठरवृत्ति के रचयिता द्वारा सांख्य-सिद्धान्तों का

---

१. १७वीं शताब्दी के स्वामी नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका, १९वीं के मुडुम्ब नरसिंह स्वामी का 'सांख्यतरुवसन्तः' इत्यादि।

२. द्रष्टव्य, पृ० ११।

३. द्रष्टव्य, सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३१।

४. द्रष्टव्य, वही पृ० ३० तथा ३१।

५. द्रष्टव्य, का० ३९ की माठर-वृत्ति, पृ० ५७ :—'यथा दर्पणाभाव आभासहानौ' इत्यादि।

६. द्रष्टव्य, (i) का० २ की माठरवृत्ति, पृ० ८:—यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्। भूतहत्यां तथैवेमां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥ भागवत १।८।५२॥

(ii) का० ५१ की माठरवृत्ति, पृ० ६९:—एष आतुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया विभुः। भवसिन्धुप्लवो दृष्टो यदाचार्यानुवर्तनम् ॥ भाग० ११६।३५

किया गया व्याख्यान वेदान्ती विचारों से प्रभावित दीख पड़ता है; जैसे, उनकी मोक्ष-विषयक धारणा वही है जो अद्वैत वदान्त की है।[१] यह प्रवृत्ति परवर्ती काल के विज्ञान-भिक्षु आदि लेखकों में पाई जाती है, जो सांख्य और वेदान्त के सिद्धान्तों में सामञ्जस्य अथवा समन्वय स्थापित करने के लिए महान् प्रयास करते देखे जाते हैं। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि माठरवृत्ति १००० ई० के बाद ही लिखी गई।

अय्यास्वामी शास्त्री के अनुसार यह 'माठरवृत्ति' जैन-ग्रन्थ अनुयोगद्वार-सूत्र में उल्लिखित सांख्य-ग्रन्थ 'माठर' एवं गुणरत्नसूरि द्वारा हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय की अपनी टीका में उद्धृत 'माठर-भाष्य' से भिन्न है। वे 'माठर' और 'माठर-भाष्य' के एक ही ग्रन्थ होने की सम्भावना का सुझाव रखते हैं। उनका यह भी सुझाव है कि अपने वर्तमान रूप में उपलब्ध माठर-वृत्ति गुणरत्न को निश्चित रूप से ज्ञात थी, क्योंकि वे ३७वीं कारिका की वृत्ति [पृ० ५३] से 'हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुङ्क्ष्व कुरु च मा शङ्काम्। यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च ॥' श्लोक उद्धृत करते हैं, और उसे 'माठर-प्रान्त' नाम से बोधित करते हैं, 'माठर-भाष्य' नाम से नहीं। इससे यह बात निश्चित रूप से मानी जा सकती है कि गुणरत्न 'माठर-भाष्य' एवं 'माठर-वृत्ति' में अवश्य ही भेद करते हैं। चूँकि गुणरत्न १३५० ई० के आस-पास के थे, अतः माठरवृत्ति का समय इससे पूर्व ही होगा। पं० अय्यास्वामी का यह भी सुझाव है कि 'माठर-भाष्य' ही परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप रहा होगा और चूँकि समस्त सस्कृत-ग्रन्थ जिन्हें परमार्थ सन् ५४ ई० में अपने साथ भारत से चीन ले गए थे एवं जिनका अनुवाद उन्होंने चीनी भाषा में किया, ५०० ई० से पूर्व के ही रहे होंगे जैसा कि प्रो० तकाकुसु भी मानते हैं, तो सांख्य-ग्रन्थ के परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप ५०० से पूर्व का ही हो सकता है। अब यदि लगभग ४५० ई० के जैन-ग्रंथ 'अनुयोगद्वार-सूत्र' में उल्लिखित 'माठर' अर्थात् गुणरत्न सूरि द्वारा उल्लिखित माठर-भाष्य से चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप अभिन्न हो तो किसी भी टीका-ग्रन्थ के लोक-प्रचलित होने के लिए १०० वर्ष का समय रखने पर माठर-भाष्य का समय ३५० ई० के आस-पास रक्खा जा सकता है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के टीका-ग्रन्थ का यह समय ईश्वरकृष्ण के समय अर्थात् लगभग ३० ई० से मेल भी खायेगा। चूँकि परमार्थ ने ईश्वरकृष्ण को वसुबन्धु, जिनका समय एन्० पेरी ने लगभग ३२० ई० निर्धारित किया है, का वृद्ध सम-कालिक बताया है, अतः उनका समय ३०० ई० के आस-पास मानना उचित ही है।

इस प्रकार पं० अय्यास्वामी ने चीनी एव जापानी लेखकों के इस मत का खण्डन किया है कि सांख्य-कारिका परमार्थ द्वारा चीनी में अनूदित सस्कृत-टीका बोधिसत्त्व वसु-

---

१. द्रष्टव्य, (i) कारिका ३७ की माठरवृत्ति, पृ० ५३:—अतएवोक्तं–"अहंकारो धियं ब्रूते मैनं सुप्तं प्रबोधय। प्रबुद्धे परमानन्दे न त्वं नाहं न तज्जगत्। योऽसौ सर्वेश्वरो देवः सर्वव्यापी जगद्गुरुः। देहीति पदमुच्चार्य हा मयात्मा लघु कृतः ॥

(ii) का० ३९ की वृत्ति, पृ० ५७ :—एवं सूक्ष्मशरीरं नियतं यावत्संसारमित्यर्थः।..तस्मिश्च निवृत्ते पुरुषो मोक्षं गच्छति। उक्तञ्च —"देहे मोहाश्रये भग्ने युक्तः स परमात्मनि। कुम्भाकाश इवाकाशे लभते चैकरूपताम् ॥", "यथा दर्पणाभास आभासहानौ" इत्यादि।

बन्धु की लिखी हुई थी। उन्होंने प्रो० तकाकुसु के इस मत का भी खण्डन किया है कि विन्ध्यवास एवं वार्षगण्य से अभिन्न ईश्वरकृष्ण ने ही सांख्य-कारिका तथा उसकी सस्कृति-टीका, जिसको आगे चलकर परमार्थ ने चीनी भाषा में अनूदित किया, दोनों ही लिखी थी; क्योंकि शास्त्री जी के अनुसार सांख्य-कारिका एव उसकी टीका के चीनी अनुवाद के विषयों में पर्याप्त भेद है एवं इस कारण से वे दोनों एक ही व्यक्ति की कृति कदापि नहीं हो सकती। प्रो० तकाकुसु क मत के उत्तरार्ध—अर्थात् ईश्वरकृष्ण ही कारिका तथा टीका, दोनो के ही रचयिता रहे होगे —को षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न-कृत टीका के 'ईश्वर-कृष्णस्तु प्रतिनियताध्यवसायः श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षामति प्राह' इत्यादि सन्दर्भ के आधार पर जो डा० कीथ का समर्थन प्राप्त है, उसका भी खण्डन शास्त्री जी ने यह कहकर किया है कि इस प्रकार की एक भी पक्ति डा० कीथ चीनी अनुवाद में नही दिखा सके हैं। उन्होंने प्रो० कीथ के इस मत का भी खण्डन किया है कि अनुयोगद्वारसूत्र तथा गुणरत्न-टीका में आया हुआ 'माठर' या माठर-भाष्य सांख्य-कारिका नहीं अपितु षष्टितन्त्र की टीका होगा क्योंकि गुणरत्न ने इसे 'षष्टितन्त्रोद्धाररूपम्' कहा है। शास्त्री जी का कथन है कि 'षष्टि-तन्त्रोद्धाररूप' को 'माठर-भाष्य' के साथ अन्वित करना तो वस्तुतः ठीक नहीं है क्योंकि इनमें से प्रत्येक ग्रथ उक्त स्थल में सांख्य दर्शन क स्वतन्त्र ग्रथ के रूप में निर्दिष्ट हुआ है। किन्तु यदि प्रो० कीथ के सुझाव के अनुसार 'भाष्य' को 'षष्टितन्त्रोद्धार' के साथ लिया जाय, जो कि निस्सन्देह अधिक अच्छा पाठ होगा, तब तो 'भाष्य' के सांख्य-कारिका की टीका होने की सम्भावना और भी अधिक हो जाती है; क्योंकि अपने ही कथनानुसार ईश्वरकृष्ण ने षष्टि-तन्त्र के आख्यानों एवं पर-मत-खण्डनो के परित्याग द्वारा उसे अत्यन्त सक्षेप से कारिकाओं में रख दिया, और यदि कारिकाओं की कोई टीका षष्टितन्त्र के इन छूटे हुये अंशों को देती है, तो निस्सन्देह वह 'षष्टितन्त्रोद्धाररूप' उपाधि या विशेषण दिए जाने के योग्य है। कुछ मुख्य-मुख्य बातों में सांख्य-कारिका एवं परवर्ती सांख्य-ग्रथों से चीनी भाषा में अनूदित संस्कृत टीका की भिन्नता का भी इसके साथ अधिक मेल बैठता है। उन बातों में यह टीका षष्टितन्त्र-जैसे अधिक प्राचीन ग्रंथों का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है।[१] आगे ३९-४१ पृष्टों पर शास्त्री जी ने इन मुख्य वैशिष्टयों का विवेचन करते हुए लिखा है कि चीनी भाषा में अनूदित संस्कृत टीका में अपनाई गई सोलह विकारों की उत्पत्ति की पद्धति सांख्य-कारिका से सर्वथा भिन्न है। सांख्य-कारिका २२ तथा २५ में स्पष्ट कथित है कि ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्र अहङ्कार से निकलते हैं, तथा पाँच स्थूल भूत पाँच सूक्ष्म तन्मात्रों से निकलते हैं। किन्तु ३, ८, १०, १५, ५६, ५९ तथा ६८ वीं कारिकाओं की व्याख्या में चीनी अनूदित संस्कृत टीका समस्त सोलह विकारों को पाँच तन्मात्रों से निकला हुआ बताती है, जब कि यह २९, २५, २७ एवं ३६ वीं कारिकाओं का इस विषय में विरोध नहीं करती। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण के समय तक और कुछ समय बाद तक भी विकारों की उत्पत्ति की प्रक्रिया अनिश्चित थी, क्योंकि उनके समकालिक एवं कुछ पूर्ववर्ती तथा परवर्ती ग्रंथों में भी इसके नितान्त विभिन्न विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार एक अन्य भी महत्त्वपूर्ण विषय में चीनी में अनूदित संस्कृत टीका सांख्य के विकास के

---

[१] द्रष्टव्य, सुवर्ण सप्तति शास्त्र की भूमिका, पृ० ३८।

किसी प्राचीनतर क्रम की द्योतक है । वह विषय है सूक्ष्म शरीर का । सांख्य-कारिका इसके विषय में कोई स्पष्ट या निश्चित धारणा नहीं बन पाती । का० ३९ को २२, तथा २५ के साथ मिलाकर पढ़ने पर यह धारणा बनाई जा सकती है कि यह मह अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रिय तथा पाँच तन्मात्र, इन अठारह तत्त्वों का बना होना है । गौ पाद-भाष्य के अतिरिक्त सारी टीकायें भी यही कहती हैं । किन्तु चीनी में अनूदित संस्कृ टीका में यह महत, अहङ्कार एवं पाँच तन्मात्र, इन सात ही तत्त्वों का बना हुआ माना ग है, और इस बात का समर्थन गौडपाद-भाष्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलत इसके अतिरिक्त इसमें कुछ और भी महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है, जैसे तत्त्वज्ञान प्राप्त क के लिए छः प्रकार के 'अवलोकन' या विचार एवं आठ प्रकार के 'बुद्ध्यङ्ग' जिनकी व भी चर्चा किसी भी टीका में नहीं मिलती । इसलिए यह बात बिल्कुल ही अनुपपन्न असंगत नहीं है कि इन तथ्यों का उद्भव या आरम्भ षष्टितन्त्र-जैसे कुछ अत्यन्त प्राचं ग्रंथों से हुआ हो ।

पं० अय्यास्वामी शास्त्री के अब तक विवेचित मत का विस्तृत खण्डन पं० उदयव शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'सांख्य दर्शन का इतिहास' के 'सांख्यसप्तति के व्याख्याकार' ना सप्तम अध्याय के 'माठर' प्रसङ्ग में किया है । इसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि माठ वृत्ति का ही गुणरत्न ने माठर भाष्य के नाम से षड्दर्शनसमुच्चय की अपनी टीका उल्लेख किया है । गुणरत्न ने माठर-भाष्य और माठर-वृत्ति में भेद किया है क्यों उपलब्ध माठरवृत्ति में पृ० ५३ पर उल्लिखित 'हस पिब लल मोद नित्यम्...' इत्य श्लोक को गुणरत्न ने 'तदुक्तं माठरप्रान्ते' शब्दों के साथ प्रस्तुत किया है जिस प्रतीत होता है कि 'माठरवृत्ति' के लिए ही गुणरत्न ने 'माठरप्रान्त' शब्द का प्रय किया है, पं० अय्यास्वामी के इस मत का पं० उदयवीर शास्त्री ने इस प्रक खण्डन किया है : "गुणरत्न सूरि के इस लेख से यह बात प्रकट होती है कि उद्धृत श्लोक माठर-ग्रंथ का मूल भाग नहीं है । वह श्लोक गुणरत्न सूरि को माठ ग्रंथ के 'प्रान्त' पर लिखा हुआ उपलब्ध हुआ है । 'प्रान्त' पद का अर्थ 'हाशिया' है पत्र के लिखित भाग के चारों ओर जो रिक्त स्थान छोड दिया जाता है, वह 'प्रा कहलाता है । ग्रंथ को पढ़ने वाला व्यक्ति उन स्थानों में ऐसे सन्दर्भ लिख सकता है, उस मूल ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखते हों । प्रतीत यह होता है कि उस उद्धृत श्लोक भी माठर-ग्रंथ का अध्ययन करते समय टिप्पण रूप में किसी अध्येता ने पन्ने के 'प्रा भाग पर लिख दिया होगा । गुणरत्नसूरि ने उसको उसी रूप में देखा और उसका ठ पता देकर अपने ग्रन्थ में उसे उद्धृत किया । कालान्तर में इस विशेषता को न सम के कारण वह 'प्रान्त' का श्लोक मूल ग्रंथ का ही भाग समझा गया और आज हम उस

१. अपने इस अर्थ के समर्थन में शास्त्री जी ने नीचे यह पाद-टिप्पणी दी है—"सदानन्द रचित अद्वैतब्रह्मसिद्धि के विद्वान् सम्पादक श्रीयुत वामनशास्त्री महोदय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में हा के लिये 'प्रान्त' शब्द का प्रयोग किया है । उनका लेख है—'पुस्तकप्रान्तभागे बहुषु स्थलेषु संशं टिप्पण्यादिकं च वर्तते ।'......मानियर विलियम की डिक्शनरी में 'प्रान्त' पद का अर्थ Margi मर्जन किया गया है ।

वैसा ही समझते हैं ।× × × × × गुणरत्नसूरि द्वारा प्रयुक्त 'प्रान्त' शब्द का अर्थ समझने में आधुनिक अनेक विद्वानों ने भूल की है।"[१] अपने द्वारा प्रयुक्त 'भूल' शब्द की पाद-टिप्पणी में शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :- "सुवर्णसप्ततिशास्त्र (सांख्यकारिका और उसकी एक प्राचीन टीका के चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर) के विद्वान् सम्पादक अय्यास्वामी शास्त्री ने 'प्रान्त' पद का 'Mathara's traditional corner' अर्थ किया है [उक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० ३७ पर], जो सर्वथा निराधार है। यद्यपि आप ने आगे लिखा है कि 'माठरप्रान्त' पद का प्रयोग माठर-भाष्य [Mathara's actual commentary] के लिए नहीं हुआ है। यह कथन आपका ठीक ही है। माठर-भाष्य के लिये यह कैसे हो सकता है ? प्रान्त पर लिखा पाठ तो भाष्य का भाग होगा ही नहीं। परन्तु आप ने 'प्रान्त' पद का अर्थ Margin न समझ कर एक क्लिष्ट और निराधार कल्पना कर डाली है और उसके आधार पर सांख्य-सप्तति की वर्तमान माठर-व्याख्या के अतिरिक्त एक और माठरभाष्य का होना कल्पना कर लिया है जिसका कि कोई आधार नहीं। इस माठर-व्याख्यान को ही माठर-भाष्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ?"

आपत्ति यही हो सकती है कि उपलब्ध माठर-व्याख्यान अर्थात् 'माठरवृत्ति' में ऐसे अनेक उद्धरण हैं जो आठवीं-नवीं तथा उसके भी बाद के ही हैं जिससे यह ग्रंथ १००० ई० के बाद का ही माना जा सकता है, जब कि अय्यास्वामी के मान्यतानुसार सुवर्ण-सप्ततिशास्त्र का मूल रूप 'माठर भाष्य' ५४६ ई० में चीनी में अनूदित होने तथा ४५० ई० से पूर्व लिखे गये 'अनुयोगद्वारसूत्र' में 'माठर' नाम से उल्लिखित होने के कारण ३५० ई० के आसपास का होगा। इस आपत्ति का समाधान पं० उदयवीर जी ने इसके आधारभूत ऐसे समस्त उद्धरणों को प्रान्त-लिखित अर्थात् प्रक्षिप्त मान कर किया है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि भागवत पुराण, और हस्तामलकस्तोत्र तथा शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अन्य ग्रंथों के भी उद्धरण उपलब्ध माठरवृत्ति में प्राप्त होने तथा उसकी मोक्षादि-विषयक धारणा पर इनका थोड़ा बहुत प्रभाव परिलक्षित होने के कारण यह (माठर वृत्ति) ग्रन्थ १००० ई० के बाद का होगा, क्योंकि ये सब प्रक्षिप्त हैं। माठर-वृत्ति का समय अन्य सबल एवं सुदृढ आधारों पर बहुत प्राचीन अर्थात् ईसवी सन् का प्रारम्भ सिद्ध होता है। इन सबका विस्तृत विवेचन शास्त्री जी ने अपने ग्रंथ के ४०८ से ४२४ तथा ४४६ से ४५४ पृष्ठों में किया है। ४०८ से ४२४ पृष्ठों में शास्त्री जी ने माठरवृत्ति तथा युक्तिदीपिका के अनेक सन्दर्भों की तुलना करके यह स्थापित किया है कि युक्तिदीपिका ने माठरवृत्ति से अनेक मतों को उद्धृत किया है, कहीं-कहीं उनका अनुसरण तथा कहीं-कहीं खण्डन भी किया है। इस प्रकार युक्तिदीपिका से माठर-वृत्ति प्राचीन है। युक्तिदीपिका, जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा, अत्यन्त प्राचीन टीका है। अतः माठर-वृत्ति उससे भी प्राचीन होने के कारण बहुत ही प्राचीन टीका है। ईश्वरकृष्ण के समय के विषय में ४४६ पृष्ठ पर लिखते हुए शास्त्री जी ने माठर-वृत्ति के समय पर इस प्रकार लिखा है —"श्रीयुत डा० श्रीपादकृष्ण बेल्वलकर महोदय के लेखानुमार विन्ध्यवास का समय ईसा की तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध (२५० ई०) स्थिर किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४१९-२०।

कि अपने समय में विन्ध्यवास सांख्य और अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रकाण्ड तथा उद्भट विद्वान् था, वह सांख्य-सिद्धान्तों का अनुयायी था, उसने स्वसामयिक बौद्ध आदि विद्वानों से शास्त्रार्थ करके उनको पराजित किया और सांख्य-सिद्धान्तों की श्रेष्ठता को स्थापित किया ।...विन्ध्यवास के इस प्रबल संघर्ष और आघात के कारण प्रतीत होता है, विद्वानों में सांख्य की चर्चा ने धीरे-धीरे प्रसार पाया और सांख्य के अध्ययनाध्यापन की प्रवृत्ति में उन्नति होने के कारण समय पाकर उसके अवान्तर सम्प्रदायों में एक विशेष जागृति उत्पन्न हो गई । अनुमानतः विन्ध्यवास की मृत्यु के लगभग दो शतक अनन्तर यह अवस्था बन चुकी होगी । यह समय वह था जब कि ईश्वरकृष्ण की सांख्य-सप्तति पर 'युक्तिदीपिका' जैसी व्याख्या लिखी गई जिसमें सांख्य सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है । उस समय इनकी चर्चा का विशेष प्राबल्य होगा । इसलिए युक्तिदीपिका जैसी व्याख्या में इनका समावेश तथा विचार करना स्वाभाविक था । माठर के समय में यह सब बात न होने से प्रतीत होता है कि माठर अवश्य विन्ध्यवास से प्राचीन होगा । उसका ग्रन्थ सांख्यसप्तति की केवल व्याख्या है, जब कि युक्तिदीपिका में सांख्य के अवान्तर सम्प्रदायों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है । यह कहना तो युक्त न होगा कि माठर का समय युक्तिदीपिका से पर्याप्त अर्वाचीन क्यों न मान लिया जाय, जब कि सांख्य के अवान्तर सम्प्रदायों के विषय में पठन-पाठन-प्रणाली के पुनः नष्ट हो जाने के कारण लोग प्रायः सब कुछ भूल चुके थे, क्योंकि युक्तिदीपिकाकार ने स्वयं अनेक स्थलों पर माठर के मतों का उल्लेख किया है और कहीं-कहीं उसका खण्डन भी किया है । इसलिए विन्ध्यवास की अपेक्षा माठर का प्राचीन होना ही अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है । इस स्रोत से भी माठर का लगभग वही समय आता है जो हम इन्हीं पृष्ठों में पूर्व निश्चय कर आये हैं; अर्थात् ईसा की प्रथम शताब्दी का प्रारम्भ ।''

इसके अनन्तर इसके समर्थन में ४४७ पृष्ठ पर शास्त्री ने एक और कारण इस प्रकार दिया है :—''एक और स्रोत से भी माठर का समय ख्रीष्ट शतक के आरम्भ होने के आसपास ही सिद्ध होता है । यास्कीय निरुक्त पर दुर्गाचार्य की वृत्ति है । दुर्गाचार्य ने अपनी वृत्ति में सांख्यों का एक सन्दर्भ इस प्रकार उद्धृत किया है :—'सांख्यास्तु तमःशब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमानमिच्छन्ति । ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—तम एव खल्विदमग्र आसीत्, तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तत इति । [७।३]

यहाँ पर जो पंक्ति दुर्ग ने पारमर्ष सूत्र के नाम से उद्धृत की है, वह माठरवृत्ति में उक्त पाठ की अत्यधिक समानता के साथ अनुद्धृत रूप में ही उल्लिखित है । ७२ वीं आर्या की अवतरणिका में माठर इस प्रकार पाठ आरम्भ करता है—'तन्त्रमित्याख्यायते । तम एव खल्विदमग्र आसीत्[1] । तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभ्यवर्तत[2] प्रथमम् । तम इत्युच्यते

---

१. तुलना करें—'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' मैत्रायणी उपनिषद् ५।२; और 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे' ऋग्वेद १०।१२९।३

२. यह पाठ 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' नाम से मुद्रित चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर के आधार पर दिया गया है । देखें पृष्ठ ९८, टिप्पणी नं० १ । माठर की मुद्रित पुस्तक में 'अभिवर्तते प्रथमम्' पाठ है । [उपर्युक्त दोनों ही टिप्पणियां उदयवीर शास्त्री की अपनी हैं ।]

प्रकृतिः, पुरुषः क्षेत्रज्ञः' । माठर के लेख से प्रतीत होता है कि वह इन पंक्तियों के द्वारा 'तन्त्र' पद का व्याख्यान कर रहा है । 'तमस्' ही यह पहले था, तमस् की विद्यमानता में क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्तमान था । 'तमस्' प्रकृति कही जाती है, पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' । इन वाक्यों से माठर ने 'तन्त्र' पद का व्याख्यान किया है । इस लेख से 'तन्त्र' पद के निर्वचन का एक विशेष प्रकार ध्वनित होता है । 'तमस्' शब्द का 'तम्' और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का 'त्र' वर्ण लेकर 'तन्त्र' पद पूरा होता है तथा इससे यह अर्थ प्रकट हो जाता है कि जिसमें मुख्यतया प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विवेचन हो, वह 'तन्त्र' है । इस प्रकार और भी अनेक पदों के निर्वचन माठर ने अपनी व्याख्या में किये हैं । दुर्ग ने अपनी व्याख्या में उक्त पारमर्ष सूत्र को यह प्रकट करने के लिए उद्धृत किया है कि 'तमस्' शब्द प्रकृति अथवा प्रधान का पर्याय है । जितना सूत्र दुर्ग ने उद्धृत किया है, उसमें यद्यपि यह उल्लेख नहीं है कि 'तमस्' शब्द प्रधान-पर्याय है, परन्तु दुर्ग इस बात को अवश्य जानता है कि इस पंक्ति में 'तमस्' शब्द प्रकृति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है । यह बात माठर-वृत्ति में उक्त पंक्ति के अनन्तर ही लिखी हुई है । सांख्य शास्त्र में साधारण तौर पर 'तमस्' पद सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों में से अन्तिम गुण का ही बोधक होता है । साम्यावस्थापन्न गुणत्रय के लिए 'तमस्' पद का प्रयोग एक विशेष कथन है जिसका उल्लेख माठर अपनी व्याख्या में करता है । उसी के आधार पर दुर्ग के लेख का सामञ्जस्य हो सकता है । इससे प्रतीत होता है कि दुर्ग ने इस लेख को अवश्य देखा होगा । चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में, 'तमस्' शब्द प्रकृति का पर्याय है, इस बात का उल्लेख नहीं है । × × × दुर्ग ने जिन पंक्तियों को उद्धृत किया है, और जिस उद्देश्य से किया है, वह सांख्यकारिका की अन्यतम व्याख्या जयमंगला में भी उपलब्ध होता है । परन्तु जयमंगला दुर्ग के काल से बहुत पीछे लिखी जाने वाली व्याख्या है । ऐसी स्थिति में दुर्ग के लेख का आधार जयमंगला व्याख्या को कदापि नहीं कहा जा सकता । × × × इसके अतिरिक्त एक यह बात भी है कि दुर्गवृत्ति में उद्धृत सूत्र-पाठ की माठरवृत्ति के पाठ के साथ ही अत्यधिक समानता है । × × × इसलिए माठर और दुर्ग के पाठों का समान होना इस बात को स्पष्ट करता है कि दूसरा पहले को जानता है । दुर्ग का काल श्रीयुत डा० लक्ष्मणस्वरूप महोदय ने ख्रीष्ट प्रथम शतक[१] निश्चित किया है । माठर का समय उससे पहले होने पर ख्रीष्ट शतक के प्रारम्भ के आस-पास सम्भव हो सकता है ।"

माठर-वृत्ति के सर्वाधिक प्राचीन कारिका-टीका होने का एक और कारण पं० उदयवीर जी ने यह दिया है कि जहाँ युक्तिदीपिका जैसी अत्यन्त प्राचीन टीका में कारिकार्थ-सम्बन्धी मत-भेदों के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं एवं कुछ का खण्डन भी उपलब्ध होता है और ये सभी माठर-वृत्ति में उपलब्ध हैं, वहाँ माठर-वृत्ति में ऐसे मत-भेदों का अभाव है । इससे सिद्ध होता है कि माठर-वृत्ति उपलब्ध समस्त टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन है । यदि ऐसी बात न होती तो अन्य टीकाओं की भाँति उसमें भी अपने पूर्ववर्ती

---

१. द्रष्टव्य, निरुक्त-भाष्य-टीका, स्कन्दमहेश्वर-कृत, खीस्ट १९३४ में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, पृ० ६० पर ।

आचार्यों के मतान्तरों के उल्लेख अवश्य ही प्राप्त होते। इस तथ्य का समूची माठरवृत्ति में केवल एक अपवाद प्राप्त होता है। केवल १८ वीं कारिका के 'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्' इस प्रथम हेतु-पद के व्याख्यान में इस प्रकार का अर्थ-भेद अथवा अर्थ-विकल्प प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है :—**"अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति—जन्ममरण-नियमात्। इह कश्चित् कदाचिन्म्रियते तदैव परो जायते। यद्येकः पुरुषः स्यात् तर्हि एकस्मिन् जायमाने सर्वे जायेरन्, न चैवम्। म्रियमाणे सर्वे म्रियेरन्,न चैवम्। तस्माद् बहवः पुरुषाः।"** इस अर्थ-निर्देश से पूर्व माठर ने स्वाभिमत अर्थ इस प्रकार दिया है :—**"जन्मनियमात्। इह केचित् नीचजन्मानः, केचिन्मध्यमजन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः।... अस्ति चायं नियमः, अन्ये अधमा अन्ये उत्कृष्टाः। तस्माद् बहवः पुरुषाः। अतश्च मरण-नियमात्। मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद् बहवः पुरुषाः।"** यदि माठर सबसे प्राचीन टीकाकार हैं तो प्रश्न उठता है कि उन्होंने 'अपरे' द्वारा किसके अर्थ का कथन किया है ? इसके दो सम्भाव्य समाधान शास्त्री जी ने दिए हैं। प्रथम तो यह दिया है कि यह अर्थ माठर ने किसी आचार्य-विशेष का न देकर परम्परागत दिया है जो कारिका की रचना के अनन्तर ही प्रचलित हुई पठन-पाठन की प्रणाली में प्रचार में आ गया होगा। दूसरा समाधान शास्त्री जी ने यह दिया है और इसे उन्होंने अधिक मान्यता दी है कि यह अर्थ माठर का लिखा हुआ नहीं है प्रत्युत जयमंगला इत्यादि की रचना के अनन्तर माठर-वृत्ति के किसी प्रतिलिपि-लेखक ने हाशिये पर उक्त शब्दों का निर्देश कर दिया होगा, जो कालान्तर में अज्ञान-वश ग्रंथ के ही भाग समझ लिए गए[1]। अपने इस विचार की दृढ़ता और पुष्टि के लिए शास्त्री जी ने षड्दर्शन-समुच्चय की व्याख्या में 'हस पिब लल मोद नित्यम्' इत्यादि माठरवृत्ति-स्थित पद्य का उद्धरण करते समय टीकाकार गुणरत्न सूरि के द्वारा प्रयुक्त 'तदुक्तं माठरप्रान्ते' शब्दों का उल्लेख किया है। जैसा इसके पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है, शास्त्री जी 'प्रान्त' का अर्थ 'हाशिया' लेते हैं एवं इस श्लोक को किसी परवर्ती अध्येता द्वारा हाशिये पर लिखा गया होने के कारण प्रक्षिप्त मानते हैं। गुणरत्न सूरि के इस एक लेख से संकेत ग्रहण करके शास्त्री जी ने माठरवृत्ति के समूचे पाठ में अन्य समस्त असंगत प्रतीत होने वाले सन्दर्भों को भी प्रक्षिप्त माना है। भागवत, विष्णुपुराण, हस्तामलकस्तोत्र आदि के पूर्व निर्दिष्ट उद्धरण इन्हीं के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार 'अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति' शब्दों के द्वारा दिए गए द्वितीय अर्थ को प्रक्षिप्त कह कर निष्कर्ष रूप में एक बड़ी महत्त्व की बात शास्त्री जी ने कही है जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :-"जहाँ तक आर्याओं के अर्थ-सम्बन्धी मत-भेदों के निर्देश का विचार है, यह बात बहुत ध्यान देने की है कि माठर-वृत्ति में यह एक ही मतभेद का निर्देश क्यों है ? यदि यह माना जाय कि यह मतभेद-निर्देश जयमङ्गला आदि व्याख्यानों को देख कर माठर ने किया है, तो हम पूँछते हैं कि माठर ने अन्य मत-भेदों का भी उल्लेख क्यों नहीं किया ? जयमङ्गला आदि व्याख्याओं में निर्दिष्ट ऐसे अनेक मत-भेदों का उल्लेख हम इसी प्रकरण में कर चुके हैं, जो कि माठर-व्याख्यान के आधार

१. द्रष्टव्य, पृ० ४१८-१६।

पर किए गए हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि तत्त्वकौमुदी, जयमङ्गला, युक्ति-दीपिका आदि व्याख्याओं में जो अर्थ-सम्बन्धी मत-भेद दिए गए हैं, वे उनसे पूर्ववर्ती व्याख्या-ग्रन्थ के ही आधार पर हैं, जिस आधार के क्रम को हम अभी तक स्पष्ट करते आ रहे हैं। पर माठर-वृत्ति में इस प्रकार का एक भी निर्देश नहीं कहा जा सकता, अतएव उपलभ्यमान सब टीकाओं की अपेक्षा उसकी प्राचीनता निर्बाध है''।[१]

पूर्ववर्ती व्याख्या-ग्रन्थों के जिस काल-क्रम को पूर्व से स्पष्ट करते आने की बात उपर्युक्त सन्दर्भ में पं० उदयवीर जी ने की है, वह उसी के थोड़ा पूर्व (पृ० ४०८ पर) पूर्व किए गए विस्तृत विवेचन के निष्कर्ष रूप में इस प्रकार निर्दिष्ट है :—'पिछले पृष्ठों में हमने काल-क्रम की दृष्टि से व्याख्याओं का क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया है :— सांख्यतत्त्वकौमुदी एक निश्चायक केन्द्र है। इसका काल सर्वसम्मति से निर्णीत है। उसने स्वयं भी अपने काल का निर्देश कर दिया है। 'जयमंगला' सांख्यतत्त्वकौमुदी से प्राचीन है। 'युक्तिदीपिका' जयमंगला से प्राचीन है। इसका उपपादन किया जा चुका है। 'माठर-वृत्ति' युक्तिदीपिका से भी प्राचीन है।" वाचस्पतिमिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी, जयमंगला, गौडपाद-भाष्य तथा युक्तिदीपिका के समयों का यथाक्रम विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायगा। प्रस्तुत स्थल में युक्तिदीपिका से माठर-वृत्ति की प्राचीनता के उस हेतु का निरूपण प्रसङ्ग-प्राप्त है जिसका उल्लेख शास्त्री जी के पूर्व-उद्धृत सन्दर्भ में हुआ है— युक्तिदीपिका में अनेक स्थलों पर ऐसे मतों का स्मरण अथवा खण्डन, जो माठर-वृत्ति में प्राप्त होते हैं।

(१) ३२ वीं आर्या की व्याख्या करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने **'तदाहरणधारण-प्रकाशकरम्'** पद की पहले यह स्वाभिमत व्याख्या की है :—**'तत्राहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति विषयार्जनसमर्थत्वात्, धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति विषयसन्निधाने सति श्रोत्रा-दिवृत्तेस्तद्रूपापत्तेः, प्रकाशमन्तःकरणं करोति निश्चयसामर्थ्यात्'**। इसके आगे 'अपर आह' शब्दों के साथ जिस अन्य मत का युक्तिदीपिकाकार ने निर्देश किया है, वह इसी स्थल पर माठर-वृत्ति में उपलब्ध है। युक्तिदीपिका की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—**'आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहङ्कारश्च, प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्च'**। माठरवृत्ति का लेख इस प्रकार है :—**'तत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम् धारकमभिमानलक्षणम् प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्'**। यद्यपि दोनों में थोड़ा भेद है और वह यह है कि जहाँ युक्ति-दीपिका-कृत अपर-मतोपन्यास में कर्मेन्द्रियाँ केवल 'आहरण', मन एवं अहङ्कार केवल 'धारण', एवं ज्ञानेन्द्रियाँ तथा बुद्धि प्रकाशन करती हैं, वहाँ माठरवृत्ति के अनुसार आह-रण इन्द्रियसामान्य—कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा उभयविध मन-का कार्य है, धारण केवल अभिमान का, एवं प्रकाशन केवल बुद्धि का कार्य है।

पं० उदयवीर जी ने अपने ग्रन्थ के पृ० ४०९ पर जो उद्धरण माठर की व्याख्या से दे रक्खा है, वह मुद्रित माठर-वृत्ति के सन्दर्भ से मेल नहीं खाता। साथ ही उसमें अर्थ की भी असंगति स्पष्ट है, क्योंकि जब इन्द्रिय-सामान्य को 'आहारक' कह दिया गया, तब अभि-मान अर्थात् अहंकार के साथ मन को भी 'धारक' कैसे कहा जा सकता है? इसी से

१. द्रष्टव्य, पृ० ४२१।

मुद्रित माठर-वृत्ति में 'धारकमभिमानलक्षणम्' इतना ही पाठ है। स्वयं शास्त्री जी के भी अनुसार 'माठरवृत्ति' का अन्य कोई संस्करण उपलब्ध है नहीं, सुवर्णसप्ततिशास्त्र में तो 'आहरणधारणप्रकाशकरम्' की कोई व्याख्या दी ही नहीं गई है। ऐसी स्थिति में यह बात स्पष्ट नहीं होती कि शास्त्री जी ने माठर के नाम पर दिये गए सन्दर्भ को कहाँ से लिया ? मुद्रित माठरवृत्ति के पाठ से इस सन्दर्भ का मेल नहीं है, उससे यह भिन्न है, इतनी ही बात नहीं है। इसके अतिरिक्त माठर के नाम पर शास्त्री जी के द्वारा उद्धृत इस सन्दर्भ का युक्तिदीपिका के सन्दर्भ के साथ भी मेल नहीं है। ऐसी स्थिति में शास्त्री जी का यह कथन कि युक्तिदीपिका में दिया गया 'अपर मत' माठर का है और माठरवृत्ति से लिया गया है, ठीक नहीं है। पर इतनी बात अवश्य सत्य है कि युक्तिदीपिका में उल्लिखित यह 'अपर मत' माठर के कथन के अधिक समीप है, साथ ही इसी रूप में यह मत गौडपाद-भाष्य, जयमंगला, सुवर्ण-सप्ततिशास्त्र, तत्त्वकौमुदी इत्यादि अन्य किसी भी कारिका-टीका में उपलब्ध नहीं है। साथ ही आगे नं० २ से ४ तक उद्धृत युक्तिदीपिका से उद्धृत मत माठरवृत्ति में ज्यों के त्यों प्राप्त होते हैं, केवल शब्दों का भेद है। इससे शास्त्री जी की यह मान्यता कि युक्तिदीपिका में माठरवृत्ति के कई मतों के उल्लेख, अनुसरण अथवा खण्डन से माठर-वृत्ति युक्तिदीपिका से प्राचीन सिद्ध होती है, खण्डित नहीं होती। तथापि इसकी सर्वाधिक प्राचीनता तो सन्दिग्ध हो ही जाती है, क्योंकि इसके विरुद्ध उठने वाली इस सम्भावना का कथमपि निरास नहीं हो पाता कि युक्तिदीपिका के प्रस्तुत स्थल का 'अपरमत' हो न हो, किसी ऐसी प्राचीन टीका से लिया गया हो जो इस समय उपलब्ध न हो। ऐसी भी कल्पना करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि शायद युक्तिदीपिकाकार ने माठर के ही मत को थोड़े परिवर्तन के साथ उद्धृत किया हो। अनवधान से ऐसा हो गया हो, इसकी भी सम्भावना कम ही है। जो भी हो, शास्त्री जी का इस प्रकार किसी प्राचीनतम आचार्य के नाम पर कल्पित पाठ देना उचित नहीं लगता।

(२) ३८ वीं कारिका के 'तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः' अंश का '**तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी।... तेनैकैकस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा।**' इत्यादि व्याख्यान करके युक्तिदीपिकाकार ने जो '**ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्—एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशात् एकोत्तरा विशेषाः सृज्यन्ते इति, तत् प्रतिषिद्धं भवति; किन्तर्हि अन्तरेणापि तन्मात्रानुप्रवेशमेकोत्तरेभ्यो भूतेभ्य एकोत्तराणां भूतविशेषाणामुत्पत्तिः**' ऐसा लिखा है, वह माठर के '**शब्दादिभ्यः पञ्चमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते**' इत्यादि लेख को ही लक्ष्य करके। स्पष्ट रूप से युक्तिदीपिकाकार ने माठर के ही मत का खण्डन उपर्युक्त पंक्तियों में किया है। २२ वीं आर्या के 'पञ्चभ्यःपञ्च भूतानि' पदों की व्याख्या करते हुए भी माठर ने अपना उपर्युक्त ही मत प्रकट किया है :—"**तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथ्वीपर्यन्तानि**

महाभूतानीति सृष्टिक्रमः ।'[1] युक्तिदीपिकाकार द्वारा इस मत का खण्डन किये जाने से स्पष्ट है कि माठर उससे प्राचीन है ।

(३) ३९ वीं कारिका के 'प्रभूत' पद का युक्तिदीपिकाकार ने 'प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च' इत्यादि स्वाभिमत अर्थ करके आगे जो 'केचित्तु प्रभूतग्रहणेन बाह्यानामेव विशेषाणां ग्रहणमिच्छन्ति, तेषामुद्भिज्जस्वेदजयोरग्रहणम्' अर्थ दिया है, वह माठर-वृत्ति में निम्नलिखित शब्दों में उपलब्ध है :—'सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैः । प्र इत्युपसर्गः । एवं सूक्ष्मा मातापितृजा भूतानि चेत्यर्थः । तानि च पृथिव्यादीनि' । स्पष्ट है कि 'प्रभूत' पद के माठरवृत्ति-कृत 'पृथिव्यादि' अर्थ का ही युक्तिदीपिका में 'बाह्य विशेष' के द्वारा उद्धरण करके उसके प्रति अरुचि प्रकट की गई है । इससे सिद्ध होता है कि माठरवृत्ति युक्तिदीपिका से प्राचीन है ।

(४) ४८ वीं कारिका के 'दशविधो महामोहः' पदों का युक्तिदीपिकाकार ने 'दशविधो महामोहः—मातृपितृपुत्रभ्रातृस्वसृपत्नीदुहितृगुरुमित्रोपकारिलक्षणे दशविधे कुटुम्बे योऽय ममेत्यभिनिवेशः' इस प्रकार का अभिनव अर्थ करके 'दृष्टानुश्रविकेषु वा शब्दादिष्वित्यपरे' शब्दों के द्वारा पूर्वागत भिन्न अर्थ देकर उस के प्रति अपना वैमत्य या वैरस्य प्रकट किया है, जो माठरवृत्ति में इन शब्दों में सविस्तर वर्णित है :—'महामोहस्य दशविधो भेदः । देवानां शब्दादयः पञ्चतन्मात्राख्या विषया अविशेषाः केवलानन्दरूपा निरुपाधिदुग्धवच्छान्तादिसञ्जातसुखादिविरहिता ये भवन्ति स्वर्गप्राप्तौ । एवं मनुष्याणां भौतिकशरीरतया सुखदुःखमोहसम्पन्नाः शान्तघोरमूढा भवन्तीत्येष दशविधो 'महामोहः' । माठरवृत्ति में वर्णित देवताओं के तन्मात्र नामक अविशेष या सूक्ष्म विषय तथा मनुष्यों के विशेष या स्थूल विषय ही युक्तिदीपिका में 'आनुश्रविक' एवं 'दृष्ट' शब्दों द्वारा उल्लिखित हुए हैं । इससे स्पष्ट होता है कि युक्तिदीपिका में वर्णित यह अर्थ-विकल्प सम्भवतः माठरवृत्ति का ही है ।

(५) युक्तिदीपिका में पृ० ३ पर 'अवयवों' का निर्देश[1] करके उसके विरुद्ध 'आह—अवयवानभिधानमनुपदेशात्' [2] इत्यादि शब्दों द्वारा शंका उठाई है जिसका तात्पर्य यह है कि मूल कारिकाओं में प्रमाणों का उल्लेख होने के कारण वे भले ही उपपादनीय हैं, परन्तु अनुमान प्रमाण के अवयवों का उनमें कहीं भी निर्देश न होने के कारण उनका यहाँ उपपादन असंगत है । इसका समाधान इन शब्दों में दिया गया है :—**यद्यपि सूत्रकारेणावयवोपदेशो न कृतस्तथापि भाष्यकारात् केचिदेषां संग्रहं चक्रुः, ते च नः प्रमाणम्, तस्माद्युक्तमवयवोपपत्तिरिति'** । युक्तिदीपिकाकार के 'भाष्यकारात्' तथा 'केचित्' पदों से किनका ग्रहण किया गया है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । इस सम्बन्ध में पं० उदयवीर शास्त्री का अपने ग्रन्थ के ४११ पृष्ठ पर यह लेख द्रष्टव्य है :—"कारिकाओं के व्याख्यानों का पर्यालोचन करने पर निश्चय होता है कि युक्तिदीपिकाकार के इस लेख का आधार

---

१. अवयवा पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च । तत्र जिज्ञासादयो व्याख्याङ्ग, प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनाङ्गम् । तानुत्तरत्र वक्ष्यामः ।

२. आह—अवयवानभिधानमनुपदेशात् । न हि यथा प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्युपदिष्टानि तथावयवा उपदिष्टाः । तस्मादवयवोपपत्तिरित्येतदसत् ।

माठर व्याख्याकार ही हो सकता है। ५ वीं आर्या की माठर-व्याख्या में ही अवयवों का संग्रह किया गया है। अन्य किसी भी व्याख्यान में ऐसा लेख उपलब्ध नहीं होता। इन आधारों पर युक्तिदीपिका की अपेक्षा माठर-वृत्ति की प्राचीनता निश्चित होती है।" नीचे पाद-टिप्पणी में माठर-व्याख्या का जो प्रासङ्गिक अंश शास्त्री जी ने उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है :—" ...ऽवयवमनुमानम्। पञ्चावयवमित्यपरे। तदाह—अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः। एवं पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थमनुमानम्।"

यद्यपि शास्त्री जी के उपर्युक्त लेख में यह स्पष्ट रूप से कथित नहीं है कि 'भाष्यकारात्' अथवा 'केचित्' पदों में से किसके द्वारा माठर का परामर्श किया गया है, तथापि 'भाष्यकारात्' से ही वे माठर का ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। यदि 'भाष्यकार' से युक्तिदीपिकाकार का तात्पर्य माठर से है, तो भाष्यकार माठर की व्याख्या से अवयवों का संग्रह करने वाले 'केचित्' कौन से व्याख्याकार है? स्वयं शास्त्री जी के एतद्विषयक साक्ष्य के आधार पर माठर को छोड़कर अन्य किसी भी व्याख्याकार ने इनका संग्रह नहीं किया है। यह तो कहने की बात ही नहीं कि 'केचित्' पद से गृहीत होने वाले व्याख्याकार युक्तिदीपिकाकार से पहले के होने चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर तो उनका उ लेख ही असम्भव था। ऐसी स्थिति में या तो यह माना जाय कि माठर और युक्तिदीपिकाकार के बीच ऐसा कोई व्याख्याकार हुआ था जिसकी व्याख्या में अनुमान के अवयवों का विवरण रहा हो और वह व्याख्या वर्तमान काल में उपलब्ध न हो, या फिर 'केचित्' से माठर का ग्रहण किया जाय और भाष्यकार कोई और व्यक्ति माठर से पूर्ववर्ती रहे हों। द्वितीय विकल्प के अनुसार भी माठर युक्तिदीपिकाकार से तो प्राचीन ही होंगे, हाँ उनसे भी प्राचीन किसी टीकाकार, जिसकी टीका 'भाष्य' नाम से ज्ञात रही हो, की सम्भावना होने से वे सर्वाधिक प्राचीन टीकाकार नहीं ठहरेंगे।

युक्तिदीपिकाकार से माठर के प्राचीन होने का एक बहुत ही निश्चयात्मक कारण शास्त्री जी ने दिया है जो इस प्रकार है:—माठर के अनुसार २६ वीं कारिका में ज्ञानेन्द्रियों का अभिधान उनकी उत्पत्ति के क्रम का अनुसरण करता है। तदनुसार 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' पाठ माठर का है। परन्तु २८ वीं कारिका में उनके विषयों का अभिधान उसी क्रम से न होकर 'रूपादिषु पञ्चानाम्' इत्यादि ही है, जैसा कि 'मात्रशब्दोऽविशेषार्थः, यथा भिक्षामात्रं लभ्यते नान्यो विशेषः। तथा चक्षुः' इत्यादि माठर-कृत व्याख्या से स्पष्ट है। युक्तिदीपिका में २६ वीं कारिका में 'कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि'[1] तथा २८ वीं कारिका में 'रूपादिषु पञ्चानाम्' इत्यादि पाठ गृहीत है, यद्यपि 'रूपादिषु पञ्चानाम्' पाठ युक्तिदीपिकाकार को अभीष्ट नहीं प्रतीत होता क्योंकि इसकी उन्होंने इन शब्दों में आलोचना की है :—'तत्र करणनिर्देशे श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राक् पाठात् तद्विषयनिर्देशातिलङ्घने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा शब्दादिषु पंचानामित्येव पठितव्यं,

१. कर्णौ त्वक् चक्षुषी च रसनं च नासिका च कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाः।....एतैः शब्दैराख्या येषां तानीमानि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि।—का० २६ की युक्तिदीपिका।

प्राक्तनस्तु प्रमादपाठः ।' जयमङ्गला-धृत पाठ क्रमशः 'चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननासिकाख्यानि'[१] तथा 'शब्दादिषु पञ्चानाम्'[२] इत्यादि है, यद्यपि २६ वीं कारिका का 'चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननासिकाख्यानि' पाठ जयमङ्गलाकार को अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इसका विग्रह करने के अनन्तर ही इसमें स्थित अक्रम की ओर उन्होंने इन शब्दों में निर्देश किया है :—'शब्दवशादत्राक्रमः कृतः । क्रमस्तु श्रोत्रत्वक्चक्षुरिति' । इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'शब्द' अर्थात् पूर्वगत पाठ के कारण ही हमने भी यहाँ क्रम-विपर्यय कर दिया, वस्तुतः तो 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' यही क्रम है ।

२८ वीं कारिका के 'रूपादिषु पञ्चानाम्' पाठ की युक्तिदीपिकाकार-कृत उपर्युक्त आलोचना पर अपने विचार प्रकट करते हुये पं० उदयवीर शास्त्री ने इस प्रकार लिखा है :—"युक्तिदीपिकाकार के इस विवेचन के अनुसार उक्त पाठों के सामञ्जस्य के लिये दो ही बात हो सकती थी । (क)—या तो २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ किया जाय, (ख) अथवा २६ वीं आर्या में इन्द्रियों के निर्देश में 'चक्षुः' को प्रथम स्थान दिया जाय । हम भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में इन दोनों ही बातों को पाते हैं । गौडपाद और वाचस्पति-मिश्र की व्याख्याओं के आधार-भूत जो मूल आर्याओं के पुस्तक थे, उनमें २६ वीं आर्या के पाठ में अन्तर कर दिया गया था; अर्थात् वहाँ इन्द्रियों के निर्देश में 'चक्षुः' का पाठ पहले कर दिया गया और इस प्रकार २८ वीं आर्या के 'रूपादिषु' पाठ के साथ सामञ्जस्य किया गया । जयमङ्गलाकार के पास जो मूल आर्याओं का पाठ था, उसमें भी २६ वीं आर्या में 'चक्षुः' का प्रथम निर्देश था, परन्तु व्याख्याकार ने उनके अनुसार व्याख्या कर देने पर भी उसकी अयुक्तता को समझ कर यह स्पष्ट कर दिया कि इन्द्रिय-निर्देश में 'श्रोत्र' का ही प्रथम पाठ होना चाहिये, क्योंकि यह क्रम उत्पत्ति-क्रम के आधार पर होने से सकारण है, इसमें विपर्यय किया जाना असंगत होगा । इसलिये जयमङ्गलाकार ने २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ मानकर ही व्याख्या की है । मालूम होता है, वाचस्पति मिश्र और गौडपाद ने ३६ वीं आर्या में इन्द्रियों के क्रम निर्देश के लिये उनके उत्पत्ति-क्रम की ओर ध्यान नहीं दिया ।

इससे एक यह परिणाम निकलता है कि युक्तिदीपिकाकर के समय २६ वीं आर्या के पाठ में कोई भेद नहीं था । वह माठर के पाठ के अनुसार एक निश्चित पाठ था । युक्तिदीपिका के उक्त विवेचन के प्रभाव से ही २६ वीं आर्या के पाठ में अन्तर पड़ा । यदि युक्तिदीपिकाकार के समय भी ऐसा होता, तब उसको उक्त विवेचन की आवश्यकता ही न पड़ती, उसका इतना व्याख्यान सर्वथा अनर्थक होता । इसलिये गौडपाद का समय भी युक्तिदीपिकाकर से अर्वाचीन ही प्रतात होता है । दूसरा परिणाम उक्त विवेचन से यह निकलता है कि युक्तिदीपिकाकार ने जिन पाठों के आधार पर पूर्वोक्त विवेचन किया है, वे पाठ माठर-वृत्ति के आधार पर ही उपस्थित किए जा सकते हैं; क्योंकि पाठ-गत वह

१. द्विविधमिन्द्रियम् । तत्र चक्षुर्येन दृश्यते, श्रोत्रं येन श्रूयते, त्वग् यया स्पृश्यते । रसनं येन रस्यते, नासिका यया घ्रायते । ता आख्या येषामिन्द्रियाणामिति शब्दप्रधानो निर्देशः । तानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्रसननासिकाख्यानि पञ्च ।

२. शब्दादिषु इत्यादि । आदिशब्देन शब्द (?) स्पर्शरूपरसगन्धाः ।

असामञ्जस्य, जिसकी आलोचना युक्तिदीपिकाकार ने की है, माठर के अभिमत पाठों में ही सम्भव हो सकता है। उसने २६ वीं आर्या में 'श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिका' ही इन्द्रियों का क्रम दिया है, और २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ माना है। इसलिये युक्तिदीपिकाकार ने जिस प्राक्तन पाठ को प्रमाद-पाठ कहा है, वह माठराभित पाठ ही हो सकता है; क्योंकि जयमङ्गला ने युक्तिदीपिका की इस पाठ-सम्बन्धी चोट से प्रभावित होकर २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' पाठ को ही स्वीकार किया है, और गौडपाद एवं वाचस्पति मिश्र ने २६ वीं आर्या में इन्द्रिय-निर्देश के समय 'चक्षुः' को प्रथम स्थान दे दिया है। युक्तिदीपिकाकार के प्रहार से प्रभावित होकर ही पश्चाद्वर्ती व्याख्याकारों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार उक्त पाठों में यह विपर्यय किया है। केवल माठर का पाठ ऐसा है जिस पर इस प्रहार का प्रभाव नहीं है, प्रत्युत वह इस प्रहार का लक्ष्य है। इसलिये माठर युक्तिदीपिकाकार से पर्याप्त प्राचीन होना चाहिये"।[१]

शास्त्री जी के उपर्युक्त मत के विरुद्ध पं० हरदत्त शर्मा का एतद्विषयक मत यह है कि "यद्यपि माठर-वृत्ति में मूल कारिका के प्रतीक रूप में उद्धृत न किये जाने से ऐसा कहा जा सकता है कि कारिका-गत पाठ का वृत्ति-गत पाठ भी होना आवश्यक नहीं है, तथापि वृत्ति-गत 'श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणीत्युच्यन्ते, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् बुध्यन्त इति बुद्धीन्द्रियाणि' इत्यादि व्याख्यान से कारिका-गत क्रम के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। परन्तु जब ऐसा पाठ न किसी संस्करण में मिलता है और न हस्तलिखित प्रति में, तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि जयमङ्गला के 'शब्दवशादत्राक्रमः कृतः' पाठ को देखने के अनन्तर ही माठर के द्वारा उक्त पाठ स्वीकार किया गया?"[२]

इसका खण्डन करते हुये शास्त्री जी ने अपने ग्रन्थ के पृ० ४१५ पर इस प्रकार लिखा है:—"इस सम्बन्ध में हम प्रथम ही उल्लेख कर चुके हैं कि जब श्रीयुत शर्मा महोदय ने अपना लेख लिखा था, उस समय तक सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका नामक व्याख्या प्रकाशित न हो पाई थी। अब उसके आधार पर बहुत सी बातें प्रकाश में आ गई हैं। १५ वीं आर्या की जयमङ्गला व्याख्या का 'अन्यैरन्यथा व्याख्यायते' वाला मत युक्तिदीपिका में मिल जाने से, जयमङ्गला की अपेक्षा उसका प्राचीन होना निश्चित है। २८ वीं आर्या पर इन पाठों की तुलना करके युक्तिदीपिकाकार ने जो समालोचना की है, वह जयमङ्गलाभिमत पाठ मानने पर सम्भव नहीं हो सकती। उसकी सम्भावना माठराभिमत पाठों पर ही आधारित है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि जयमङ्गला को देखकर माठर ने इस पाठ को स्वीकार किया?" आगे पृष्ठ ४१६ पर भी इसी सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—"अब थोड़ी देर के लिये शर्मा जी के कथनानुसार मान लीजिये कि जयमङ्गला को देखकर माठर ने २६ वीं आर्या का पाठ स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में यह एक बड़ी विचित्र बात है कि २८ वीं आर्या का पाठ माठर ने जयमङ्गला के अनुसार ही 'शब्दादिषु' क्यों नहीं स्वीकार किया? यदि माठर जयमङ्गला के पाठ को स्वीकार

१ द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४१३-१४।

२. द्रष्टव्य, आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स के पञ्चम अधिवेशन (सन् १९२८ ई०) के पृष्ठ १०३४-३५।

करने में इतना तीक्ष्णदृष्टि होता तो वह २८ वीं आर्या के पाठ को भी अवश्य उसी के अनुसार रखता। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये यह निश्चित परिणाम निकलता है कि २६ वीं आर्या का मौलिक पाठ माठरानुसारी ही है, जो कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के क्रम पर आधारित है। माठर के समय यहाँ और किसी पाठ की सम्भावना या कल्पना ही नहीं की जा सकती। उस समय उक्त एक ही पाठ निश्चित था। २६ वीं आर्या के इस पाठ के निश्चित माने जाने पर २८ वीं आर्या में 'रूपादिषु' पाठ का असामञ्जस्य युक्तिदीपिकाकार को सूझा, और उसने इसकी आलोचना की, तथा 'रूपादिषु' पाठ को प्रमाद-पाठ कहकर उसकी जगह 'शब्दादिषु' पाठ को संगत बताया। इस आलोचना के अनन्तर ही इन कारिकाओं के पाठों में अन्तर डाला गया। जयमङ्गलाकार ने युक्तिदीपिका के अभिमत पाठ को ही स्वीकार किया है। इन सब संस्करणों और इनकी हस्तलिखित प्रतियों में २६ वीं आर्या का माठराभिमत पाठ उपलब्ध होने के कारण यह भी कैसे कहा जा सकता है कि यह पाठ किसी संस्करण अथवा हस्तलिखित प्रति में नहीं है? इसलिए इन पाठों और इनके विवरणों के आधार पर जो परिणाम हमने निकाले हैं, वे युक्तियुक्त हैं, और इसीलिए सांख्यसप्तति के उपलभ्यमान व्याख्या-ग्रन्थों में माठर का स्थान सर्व-प्रथम है।"

इस प्रकार अद्यावधि अनुष्ठित समस्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि पं० उदयवीर शास्त्री के अनुसार उपलब्ध माठरवृत्ति ही सांख्यकारिका की सबसे प्राचीन टीका है, एवं उसी के लिए गुणरत्न सूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय की स्व-कृत टीका में 'माठर-भाष्य'[1] पद का प्रयोग किया है जब कि 'माठर-प्रान्त' पद का प्रयोग गुणरत्न ने हाशिये पर किसी परवर्ती अध्येता अथवा अध्येताओं द्वारा लिखी गई और कालान्तर में अज्ञान-वश माठर-भाष्य (माठरवृत्ति) का ही अंश समझी जाने के कारण उसी में अविभाज्य रूप से सम्मिलित हो गई टिप्पणियों के लिए किया है। यही माठरभाष्य या माठरवृत्ति परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप है। अपनी इन मान्यताओं का विरोध करने वाली पं० अय्यास्वामी की मान्यताओं का पं० उदयवीर जी ने प्रबल विरोध किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पं० अय्यास्वामी शास्त्री गुणरत्न के 'माठरप्रान्त' पद को माठरवृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ मानते हैं जो उनके अनुसार १००० ई० से पूर्व की रचना नहीं कही जा सकती, तथा 'माठरभाष्य' कोई बहुत प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थ था जो 'अनुयोग-द्वार-सूत्र' आदि जैन-ग्रन्थों में उल्लिखित पाया जाता है। सम्भवतः यही परमार्थ-कृत चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत ग्रंथ रहा होगा।[2] भूमिका के पृ० ३६ पर शास्त्री जी ने लिखा है कि चूँकि सांख्यकारिका २२ तथा २५ में अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों के उत्पन्न होने का वर्णन है जब कि ३, ८, १०, १५, ५६, ५६ तथा ६८ कारिकाओं की व्याख्या के चीनी अनुवाद में अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चतन्मात्रों से पाँच महाभूतों के साथ ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति का वर्णन है, यद्यपि २२, २५, २७ तथा ३६ कारिकाओं की व्याख्या के चीनी अनुवाद में कारिकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्त भी निरू-

१. द्रष्टव्य, रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता का सन् १६०५ ई० का संस्करण, पृ० १०६।

२. द्रष्टव्य, अय्यास्वामी-कृत सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३७, ३८ और ४२।

पित है, अतः यह तथ्य उस व्याख्या में अवश्य होना चाहिए जिसका परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। चूंकि माठरवृत्ति में यह तथ्य नहीं मिलता, अतः उसे चीनी अनुवाद का मूल नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार पृ० ४० पर शास्त्री जी ने लिखा है कि सूक्ष्म शरीर की कल्पना में भी चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप सांख्य के विकास के किसी प्राचीनतर सोपान का प्रतिनिधित्व करता है। उनका कथन है कि यद्यपि सांख्य-कारिकाओं में सूक्ष्म शरीर की स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती, तथापि २२, २४, २५ के साथ ३९ वीं कारिका पढ़ने से यह धारणा बनाई जा सकती है कि सूक्ष्म शरीर महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रिय—इन १८ तत्त्वों का बना होता है, जबकि इसके विपरीत चीनी अनुवाद के मूल व्याख्यान में इसको महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र—इन सात ही तत्त्वों का बना हुआ बताया गया है। यह तथ्य गौडपाद-भाष्य को छोड़ कर अन्य किसी कारिका-टीका में नहीं प्राप्त होता, जिससे यह धारणा दृढ होती है कि चीनी अनुवाद का मूल इस विषय में भी प्राचीनतर सामग्री प्रस्तुत करता है। माठरवृत्ति में इस तथ्य के प्राप्त न होने से, उसे चीनी अनुवाद का मूल कथमपि नहीं माना जा सकता।

पं० उदयवीर ने पं० अय्यास्वामी के इन दोनों ही कथनों का खण्डन अपने ग्रन्थ के पृ० ४६९-७१ पर किया है। प्रथम के खण्डन का सारांश इस प्रकार है:—ईश्वरकृष्ण ने पदार्थों के प्रादुर्भाव तथा उनके क्रम की एक ही निश्चित रीति को स्वीकार किया है, और यह भी ईश्वरकृष्ण के लेख के अनुसार निश्चित है कि वही रीति षष्टितन्त्र में भी स्वीकृत की गई है। पञ्चाधिकरण के अतिरिक्त अन्य सभी उपलब्ध सांख्याचार्यों के लेखों में इन्द्रियों को आहङ्कारिक ही माना गया है, भौतिक नहीं। इसके विपरीत अन्य अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय, जैसे न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, शाङ्कर वेदान्त आदि इन्द्रियों को भौतिक ही मानते हैं। सांख्याचार्य पञ्चाधिकरण की भी यही मान्यता है। यह मान्यता ईश्वरकृष्ण के आगे-पीछे ही नहीं बल्कि आज भी वैसी ही है। ऐसी स्थिति में यह बात क्यों नहीं कही जा सकती कि परमार्थ ने ही अनुवाद के समय बौद्ध विचारों से प्रभावित होकर इस प्रकार के उल्लेख कर दिए हों। अथवा यह भी सम्भव है कि सांख्याचार्यों में इन्द्रियों को आहङ्कारिक न मान कर भौतिक मानने वाले पञ्चाधिकरण के एतद्विषयक विचारों से प्रभावित होकर चीनी अनुवाद में कहीं-कहीं ऐसा लिख दिया हो। परन्तु इसके लिए भी पं० उदयवीर जी का सर्वथा आग्रह नहीं है। उनका अभिप्राय केवल इतना है कि चीनी अनुवाद में उल्लिखित इन अर्थों का आधार उसका मूल ग्रंथ ही हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। महाभारत आदि ग्रंथों मे इस सम्बन्ध के अन्य विचारों का भी उल्लेख है। वह आज भी उसी तरह है, जैसे ईश्वरकृष्ण के काल में, अथवा कुछ पहले या पीछे था। आज भी कोई भी विद्वान् उन विचारों का उसी तरह उल्लेख कर सकता है। इसका यह तो अभिप्राय नहीं है कि उस समय तक विद्वानों का इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं था और अब कुछ निश्चयात्मक ज्ञान हो गया है। ऐसी स्थिति में यह कहना ही युक्ति-संगत है कि चीनी अनुवाद के वे विचार, जो ईश्वरकृष्ण के अनुकूल नहीं हैं, अनुवादक की अपनी भावनाओं के आधार पर ही इसमें स्थान पा गए हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे उसके मूल व्याख्यान में भी हों, जबकि और भी अनेक

विचार चीनी अनुवाद में ऐसे हैं जिनको निश्चित ही मूल व्याख्यान का अंश नहीं कहा जा सकता[1]।

द्वितीय कथन के खण्डन का सारांश इस प्रकार है :—श्रीयुत शास्त्री महोदय ने ४० वीं आर्या के चीनी अनुवाद की एक पंक्ति के आधार पर ऐसा लिखा है। परन्तु उसी आर्या की व्याख्या में आगे, तथा कारिका १०, ४१, ४२ और ६७ के चीनी अनुवाद में स्पष्ट ही सूक्ष्म शरीर के १८ तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। ४० वीं आर्या के चीनी अनुवाद की प्रारंभिक पंक्तियों में जहाँ सात तत्त्वों का उल्लेख है, वहाँ यही प्रतीत होता है कि आदि और अन्त के तत्त्वों की ही गणना का उल्लेख किया है। अन्य लेखों के सामञ्जस्य के आधार पर यह भी सम्भावना की जा सकती है कि यहाँ चीनी अनुवाद में कुछ पाठ खण्डित हो गया हो। इसी आर्या के चीनी अनुवाद की ५८ पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति[2] के आधार पर, पहली पंक्तियों में 'एतानि सप्त' इन पदों के आगे 'इन्द्रियाणि चैकादश' इस पाठ की संभावना की जा सकती है, जो संभवतः अनुवाद में खण्डित हो गया हो, अथवा प्रथम लिखते समय ही रह गया हो। जो कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है कि चीनी अनुवाद के सम्बन्ध में यह मत प्रकट नहीं किया जा सकता कि यह ग्रन्थ सूक्ष्म शरीर में सात ही तत्त्व मानता है। यही बात गौडपाद भाष्य के सम्बन्ध में है। ४२ वीं आर्या के गौडपाद-भाष्य में स्पष्ट ही सूक्ष्म शरीर में १८-तत्त्व माने गए हैं। ऐसी स्थिति में यह कल्पना करना कि कोई ऐसी प्राचीन व्याख्या कारिकाओं की होगी जिसमें सूक्ष्म शरीर के सात ही तत्त्वों का उल्लेख होगा, सर्वथा निराधार है। इसलिए इस आधार पर भी माठर-वृत्ति को चीनी अनुवाद का मूल मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती।

इन तर्कों के अतिरिक्त, पं० उदयवीर ने माठरवृत्ति और चीनी अनुवाद की अत्यधिक समीपता के दो स्थल दिखाए हैं जिनके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि चीनी अनुवाद का मूल माठरवृत्ति ही है। वे स्थल ये हैं :—(१) माठरवृत्ति में १८ वीं आर्या के 'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च' इस हेतु-पद का व्याख्यान नहीं है। निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि व्याख्याकार ने इस पद का व्याख्यान ही नहीं किया या किसी समय में यह व्याख्यान खण्डित हो गया। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि चीनी अनुवाद में भी इस हेतु-पद का व्याख्यान नहीं है। अब यदि इस बात को स्वीकार किया जाय कि माठर ने चीनी अनुवाद के मूल का अनुकरण किया है तो निश्चित ही किसी ग्रन्थ का अनुकरण करने वाले लेखक के सम्बन्ध में यह नहीं माना जा सकता कि यदि किसी पद का अर्थ प्रथम ग्रंथ में नहीं है तो अनुकर्ता भी उसे छोड़ दे। वस्तुतः अनुकरण करते हुए भी वह एक अपनी रचना कर रहा है, वह स्वयं भी उसका अर्थ कर सकता है। परन्तु

१. द्रष्टव्य, सुवर्णसप्ततिशास्त्र, पृ० ४६ पर 'यथोक्तं गाथायाम्' शब्दों के साथ उद्धृत दो पद्य :—'युगावसानसमये भविष्यति यथा जनः। कुदृष्ट्याचारतो बुद्धधर्मसंघापवादकः ॥ विकरिष्यति दुष्टः सन् पितृज्ञातिसुहृज्जनान्। चतस्रो दुर्गतीर्गत्वा नयिष्यति परानिह' ॥ इसके अष्ट सिद्धियों के नामान्तरों के व्याख्यान भी परमार्थ के अपने जान पड़ते हैं। अय्यास्वामी शास्त्री स्वयं भी यही मानते हैं। द्रष्टव्य, सुवर्ण०, पृ० ७८ की टिप्पणी ४।

२. तत् सूक्ष्मशरीरमेकादशेन्द्रियसंयुक्तं...।

प्रतिलिपि करने वाले के लिए यह सर्वथा सम्भव और युक्त है, क्योंकि वह नई रचना नहीं कर रहा है। इसी तरह अनुवाद में भी यह बात सम्भव है। अनुवादक मूल ग्रंथ का ही अनुवाद करेगा। यदि किन्हीं पदों का व्याख्यान मूल ग्रन्थ में नहीं है तो वह भी उसको उसी तरह छोड़ देगा, क्योंकि वह तो अनुवादक है। यह एक बहुत ही स्वाभाविक बात है कि माठरवृत्ति में उत्तर हेतु-पद का व्याख्यान नहीं है और इसीलिए चीनी में उसका अनुवाद भी नहीं हुआ। यह समानता निश्चय करती है कि यह अनुवाद माठरवृत्ति का ही है।

(२) ११वीं आर्या की व्याख्या में छठें हेतु का व्याख्यान करते हुए कमलशील[1] ने प्रधान और व्यक्त, दोनों को इकट्ठा ही प्रसवधर्मी कहा है, और उसी क्रम से उदाहरण दिया है। अर्थात् प्रधान से बुद्धि की उत्पत्ति होती है और बुद्धि से अहंकार की। चीनी अनुवाद में इस उदाहरण में विपर्यय है। अर्थात् पहले व्यक्त का उदाहरण दिया है— बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार से तन्मात्रा आदि। इसके अनन्तर लिखा है कि प्रधान महत् को उत्पन्न करता है। चीनी अनुवाद का यह क्रम माठरवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है, यद्यपि अपने लेख से उसका असामञ्जस्य हो जाता है। इससे स्थिर होता है कि ऐसी समानतायें केवल अनुकरण में सम्भव नहीं हो सकतीं, अनुवाद में अवश्य इनकी सम्भावना हो सकती है।

इस प्रकार महान् उपक्रम द्वारा पं० उदयवीर जी ने पं० अय्यास्वामी के इस मत का खण्डन किया है कि चीनी अनुवाद और माठरवृत्ति, दोनों का ही मूल स्रोत कोई एक ही प्राचीन व्याख्या-ग्रंथ रहा है। उनकी दृढ मान्यता है कि माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल रूप है। परन्तु पं० उदयवीर जी के तर्क सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। माठर-वृत्ति और चीनी अनुवाद की अनेक असमानताओं के लिए तो वे यह कहते हैं कि परमार्थ ने या तो बौद्ध प्रभाव के कारण या अपनी भावनाओं के आधार पर ही उन्हें अपने चीनी अनुवाद में स्थान दे दिया है, किन्तु दोनों की गिनी-चुनी कुल दो समानताओं के लिये वे उसी अनुवाद की शरण लेते हुए कहते हैं कि 'ऐसी समानतायें केवल अनुकरण में सम्भव नहीं हो सकतीं, अनुवाद में अवश्य इनकी सम्भावना हो सकती है'।[2] एक ही अनुवादक के लिए एक ओर तो मूल एवं अनुवाद की पारस्परिक असमानताओं का कारण देने के समय मूल से स्वतन्त्र होने का सिद्धान्त प्रतिपादित करना, एवं दूसरी ओर दोनों की पारस्परिक समानताओं का कारण बताने के समय मूल से सर्वथा आबद्ध रहने का सिद्धान्त निकाल देना वदतोव्याघात-दोष से अपने वचनों या कथनों को दूषित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त शास्त्री जी की कई स्थापनायें सम्भावनाओं पर आश्रित हैं, ऐसी सम्भावनायें जो सदा सम्भावनायें रहती हुई भी निश्चायक प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक तथ्य या तत्त्व नहीं कही जा सकतीं। अतः पूर्ण निश्चय के साथ यह कहना कठिन ही प्रतीत होता है कि माठरवृत्ति ही चीनी अनुवाद का मूल

१. द्रष्टव्य, तत्वसंग्रह, श्लोक ७ (पृ० १७ पर)।

२. द्रष्टव्य, पृ० ४६८, प्रथम पैरा की अन्तिम पंक्ति।

संस्कृत-ग्रंथ था। माठर-वृत्ति तथा चीनी अनुवाद में इतनी अधिक विषमतायें हैं कि दोनों को एक-दूसरे का मूल एवं अनुवाद कहना दुस्साहस ही प्रतीत होता है। परन्तु इससे माठर के सर्वाधिक प्राचीन टीकाकार होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उनके 'माठर' ग्रंथ का तो अनुयोगद्वारसूत्र में भी उल्लेख है। केवल माठरभाष्य और माठरवृत्ति के एक ही ग्रंथ होने के विषय में निश्चय नहीं हो पाता जिससे माठर-वृत्ति का समय अनिश्चित रह जाता है।

माठर-वृत्ति एवं चीनी अनुवाद की पारस्परिक असमानताओं के कारणों की मीमांसा करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रंथ के ४५६ पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है :—

(१) "चीनी अनुवाद दो बार रूपान्तर हो चुका है। एक बार संस्कृत से चीनी भाषा में, पुनः चीनी भाषा से संस्कृत में। यह निश्चित बात है कि चीनी से संस्कृत में हुआ अनुवाद मूल संस्कृत रूप के साथ सर्वथा मिल नहीं सकता। उसमें अनेक प्रकार के भेदों का हो जाना संभव और स्वाभाविक है।

(२) उधर चीनी अनुवाद में भी लगभग १५०० वर्ष के लम्बे काल में परिवर्तनों का होना सर्वथा सम्भव है, और पाठों के कुछ परिवर्तन होना तो साधारण बात है।

(३) इधर मूल संस्कृत रूप में भी इतने लम्बे काल में परिवर्तनों और न्यूनाधिकताओं का होना अत्यन्त सम्भव है।

(४) अनुवाद करते समय भी मूल और अनुवाद में कुछ भेद तथा न्यूनाधिकतायें सम्भव हो सकती हैं। अनुवादक मूल ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने के लिए अनेक बार कुछ अधिक कथन कर देता है। अथवा किसी अंश की, अपने विचारों से प्रभावित होकर, उपेक्षा भी कर देता है।

यद्यपि शास्त्री जी के उपर्युक्त कथन में पर्याप्त सत्य है, तथापि इससे दोनों ग्रन्थों की पारस्परिक असमानताओं का निश्चयात्मक एवं सन्तोषजनक समाधान नहीं होता, और माठरवृत्ति के ही चीनी अनुवाद के मूल होने की सम्भावना के साथ इस बात की भी सम्भावना रह जाती है कि शायद चीनी अनुवाद का मूल जैन-ग्रंथों में उल्लिखित पुराना माठरभाष्य ही रहा हो, और माठरवृत्ति उसी का परवर्ती यत्र-तत्र परिवर्तित संस्करण हो जिसके कारण चीनी अनुवाद की अनेक बाते उसमें उपलब्ध होती हैं। यदि यह बात सत्य हो, तब तो भागवत, विष्णुपुराण आदि के पूर्व-प्रदर्शित उद्धरण प्रक्षिप्त न होकर माठरवृत्ति के स्वकीय अंश ही होंगे, एवं 'माठरप्रान्त' माठरवृत्ति के लिए ही प्रयुक्त हुआ माना जायगा, जो सर्वथा युक्त ही होगा क्योंकि तब तो माठरवृत्ति मौलिक 'माठर-भाष्य' से अभिन्न न होकर उसी का न्यूनाधिक अंश में परिवर्तित रूप होगी। चीनी अनुवाद का मूल होने के कारण माठर का मौलिक ग्रन्थ—चाहे वह आजकल उपलब्ध माठर-वृत्ति रहा हो अथवा अनुपलब्ध माठरभाष्य रहा हो—३०० ई० से पूर्व का रहा होगा और अनुयोगद्वारसूत्र में उल्लिखित होने के कारण शायद उससे भी पूर्व का।

युक्तिदीपिकाकार

पीछे माठर के प्रकरण में सविस्तर प्रतिपादित किया जा चुका है कि युक्तिदीपिका में उनके अनेक मतों का उल्लेख, अनुकरण एवं खण्डन मिलता है। एवं युक्तिदीपिका के भी मतों का उल्लेख 'जयमंगला' टीका में है, यह अभी स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकार युक्तिदीपिकाकार जयमंगलाकार से प्राचीन तथा माठर से अर्वाचीन थे, यह बात स्पष्ट है। ३८ वीं कारिका के 'तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः' अंश का जो व्याख्यान[१] युक्तिदीपिकाकार ने किया है, उससे पंच महाभूतों की उत्पत्ति के विषय में उनकी यही मान्यता प्रकट होती है कि एक-एक तन्मात्र से एक-एक स्थूल या महाभूत की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् होती है। इसके विपरीत माठर के परस्परानुप्रवेश द्वारा मिश्रित तन्मात्रों से महाभूतों की उत्पत्ति के सिद्धान्त को युक्तिदीपिकाकार ने अगली ही पंक्तियों में 'अन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्' कह कर काटा है। वे पंक्तियाँ ये हैं :—"ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्—एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशात् एकोत्तरा विशेषा सृज्यन्त इति, तत् प्रतिषिद्धं भवति। किन्तर्हि अन्तरेणापि तन्मात्रानुप्रवेशमेकोत्तरेभ्यो भूतेभ्य एकोत्तराणां भूतविशेषाणामुत्पत्तिः। तत्र शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्, शब्दस्पर्शगुणात् स्पर्शतन्मात्रात् द्विगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणात् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणात् रसतन्मात्राच्चतुर्गुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणात् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवी"। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ माठर के मत से शब्दतन्मात्रानुप्रविष्ट स्पर्शतन्मात्र से वायु, शब्दस्पर्शतन्मात्रानुप्रविष्ट रूपतन्मात्र से तेज, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रानुप्रविष्ट रसतन्मात्र से जल एवं शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रानुप्रविष्ट गन्धतन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न होती है, वहाँ युक्तिदीपिकाकार के मत से शब्द तन्मात्र से आकाश, स्पर्श तन्मात्र से वायु, रूप तन्मात्र से तेज, रस तन्मात्र से जल, एवं गन्ध तन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न होती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनके मत से स्पर्श तन्मात्र शब्द और स्पर्श गुणों वाला, रूप तन्मात्र शब्द, स्पर्श एवं रूप गुणों वाला, रस तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप एवं रसगुणों वाला, तथा गन्ध तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध गुणों वाला होता है।

इसी प्रकार ३२ वीं कारिका के व्याख्यान में युक्तिदीपिकाकार ने अपना यह मत प्रकट किया है कि विषयों का 'आहरण' कार्य कर्मेन्द्रियाँ ही करती हैं क्योंकि विषयों के अर्जन या प्राप्ति का सामर्थ्य उन्हीं में होता है, 'धारण' कार्य ज्ञानेन्द्रियाँ ही करती हैं क्योंकि विषयों की सन्निधि या प्राप्ति होने पर उनका आकार धारण करने अर्थात् उन्हीं के आकार की हो जाने का स्वभाव और सामर्थ्य उन्हीं में होता है, विषय का 'प्रकाशन' कार्य अन्तःकरणों—मन, अहंकार और बुद्धि—का ही होता है क्योंकि निश्चय करने का सामर्थ्य उन्हीं में होता है। इससे भिन्न मत को युक्तिदीपिकाकार ने 'अपर आह' शब्दों के द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—"आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहङ्कारश्च, प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्च।" पं० उदयवीर जी ने इसे माठर का मत कहा है किन्तु, जैसा माठर के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, माठर-वृत्ति में उपलब्ध

१. तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात् तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी।. तेनैकैकस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा।—पृ० १४१

माठर के मत से यह मत भिन्न है। इसमें इन्द्रिय-मात्र का कार्य 'आहरण', अभिमान का कार्य 'धारण' तथा बुद्धि का कार्य 'प्रकाशन' बताया गया है[१]। युक्तिदीपिकाकार द्वारा उद्धृत इस 'अपर मत' के अत्यन्त समीप मत जयमङ्गलाकार का है जिसमें केवल इतना भेद है कि बुद्धि को 'प्रकाशन' कार्य करने वाली इन्द्रियों के साथ न रख कर 'धारण' कार्य करने वाले मन और अहंकार के साथ रख दिया गया है[२]। चीनी अनुवाद में इस विषय पर कोई प्रकाश ही नहीं डाला गया है। गौडपाद-भाष्य में पूर्वोक्त सभी से भिन्न मत इन शब्दों में प्रतिपादित है: —"तत्राहरणं धारण च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि"। स्पष्ट है कि इस मत में त्रिविध अन्तःकरण का कोई कार्य ही नहीं बताया गया है, जबकि मूल कारिका में समस्त त्रयोदश करणों के कार्यों को आहरण, धारण एवं प्रकाशन, इन तीन ही कोटियों में अन्तर्भूत कर दिया गया है। तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र का एतद्विषयक मत सवा सोलह आने जायमंगलाकार का ही है। वास्तव में वाचस्पति मिश्र अपने अनेक विचारों के लिए जयमंगलाकार के ऋणी हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

इसी प्रकार ३९ वीं कारिका के 'प्रभूत' पद का अर्थ युक्तिदीपिकाकार ने उद्भिज्ज और स्वेदज किया है[३], जो सर्वथा नवीन है। माठरवृत्ति में उपलब्ध 'बाह्य विशेष' अर्थात् स्थूल भूत, इस अर्थ को युक्तिदीपिकाकार ने 'केचित्तु प्रभूतग्रहणेन बाह्यानामेव विशेषाणां ग्रहणमिच्छन्ति, तेषामुद्भिज्जस्वदजयोरग्रहणम्' इत्यादि शब्दों में उद्धृत करते हुए उसमें यह दोष दिखाया है कि इस मत में स्वदेज एवं उद्भिज्ज जीवों के शरीरों का कारिकोक्त सूक्ष्म, मातापितृज एवं प्रभूत (महाभूत) में से किसी में भी ग्रहण या अन्तर्भाव नहीं हो पाता [और चौथी कोई कोटि तो कारिका में कथित है ही नहीं, फिर उद्भिज्जों एवं स्वदजों के शरीर किसके अन्तर्गत आयेंगे ?] किन्तु गौडपादभाष्य, जयमङ्गला, तत्त्व-कौमुदी आदि सभी टीकाओं में प्रथम ही अर्थ मिलता है, युक्तिदीपिकाकार के अभिनव अर्थ की सभी ने उपेक्षा ही की है।

इसी प्रकार ४८ वीं कारिका के 'दशविधो महामोहः' शब्दों को समझाते हुए भी युक्तिदीपिकाकार ने एक सर्वथा नवीन अर्थ प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है: —"दशविधो महामोह:—मातृपितृपुत्रभ्रातृस्वसृपत्नीदुहितृगुरुमित्रोपकारिलक्षणे दशविधे कुटुम्बे योऽयं ममेत्यभिनिवेशः।" इसके बाद 'दृष्टानुश्रविकेषु वा शब्दादिष्वित्यपरे' शब्दों में दूसरों का मत दिया है जो सर्व-प्रसिद्ध है। यह मत माठरवृत्ति में सविस्तर प्रतिपादित है, जैसा कि पीछे माठर-प्रसंग में उद्धृत सन्दर्भ से स्पष्ट है। इन्हीं कारणों से युक्तिदीपिकाकार को

---

१. द्रष्टव्य, माठरवृत्ति, पृ० ४९ :—तत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम्, धारकमभिमानलक्षणम्, प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्।

२. द्रष्टव्य, जयमंगला, पृ० ३९:—तत्र कर्मेन्द्रियाण्याहरणं कुर्वन्ति, बुद्ध्यहंकारमनांसि धारणम्, बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशमिति।

३. द्रष्टव्य, पृ० १४३ :—प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च।

माठर से परवर्ती मानना पड़ता है। गौडपाद-भाष्य[1], जयमङ्गला[2] एवं तत्त्वकौमुदी[3] में माठर का ही अर्थ अनुसृत हुआ है। इनमें भी तत्त्वकौमुदी के तो शब्द तक प्रायेण जयमङ्गला के ही हैं। इस प्रकार भी तत्त्वकौमुदीकार से जयमङ्गलाकार प्राचीन सिद्ध होते हैं।

युक्तिदीपिका में विरुद्ध मत के रूप में उल्लिखित माठर के विचारों का अब तक विवेचन किया गया। पर ऐसे स्थल अनेक हैं जहाँ युक्तिदीपिकाकार ने माठर के मतों का उपयोग किया है और अपने विचारों के लिए वे माठर के ऋणी हैं। जैसे ४३वीं कारिका की व्याख्या में माठर ने सांसिद्धिक, प्राकृतिक एवं वैकृत, ये तीनों ही भाव माने हैं। युक्तिदीपिकाकार ने भी माठर का अनुसरण करते हुए तीन ही भाव माने हैं, यद्यपि जयमङ्गलाकार ने मूल के 'प्राकृतिक' पद को 'सांसिद्धिक' पद का विशेषण मान कर दो ही भाव माने हैं, एवं उन्हीं का अनुसरण करते हुए तत्त्वकौमुदीकार ने भी दो ही भाव माने हैं। माठरवृत्ति के "त्रिविधा भावाश्चिन्त्यन्ते······सांसिद्धिकाः······प्राकृतिकाः····· वैकृतिकाः····· एवमेते त्रिधा भावा व्याख्याता यैरधिवासितं महदादिलिङ्गं संसरति" तथा युक्तिदीपिका के "यथा चैते त्रिविधा एवेति······सांसिद्धिकः प्राकृतं···वैकृतास्तु···। एते भावा व्याख्याताः।" इत्यादि शब्दों से यह बात सुस्पष्ट है।

अभी तक माठर के विभिन्न मतों के युक्तिदीपिका में स्थित उल्लेखों, अनुसरणों एवं खण्डनों का संक्षिप्त विवेचन करके यह स्पष्ट किया गया कि युक्तिदीपिकाकार माठर से अर्वाचीन है। अब संक्षेप में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि यह जयमंगला से प्राचीन है। इसको सिद्ध करने वाला सर्वप्रथम तथ्य तो यही है कि जिस प्रकार से १५ वीं कारिका में स्थित 'कारणकार्यविभागात्' हेतु के माठर-कृत अर्थ का निर्देश करके उसके औचित्य के विषय में शङ्का उठा कर उसका समाधान युक्तिदीपिकाकार ने किया है, उसी प्रकार से जयमंगलाकार ने भी प्रथम माठर-कृत अर्थ को ही देकर उसके विरुद्ध शंका उठाई है और उसका वही समाधान दिया है जो युक्तिदीपिकाकार ने दिया है। यद्यपि दोनों व्याख्याकारों की शंकायें विभिन्न प्रकार की हैं, फिर भी समाधान दोनों का ही एक-सा है। तुलना के लिए तीनों के सम्बद्ध सन्दर्भ क्रमशः उद्धृत किए जा रहे हैं :—

(१) कारणकार्यविभागात्। करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यं, तयोर्विभागस्तस्मात्। तद्यथा मृत्पिण्डः कारणं, घटः कार्यम्। स एव हि मधूदकपयःप्रभृतीनां धारणे समर्थो, न तु मृत्पिण्डः। एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्विभागः। अन्यद् व्यक्तं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रि-

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ३२ :—दशविधो महामोहः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येत एव शब्दादयः पञ्च विषयाः। एवमेतेषु दशसु महामोह इति।

२. द्रष्टव्य, पृ० ५१ :—'दशविधो महामोहः' इति। सुखानुशयो रागो महामोह इत्युच्यते। स च दिव्यादिव्यविषयेषु वर्तमानो दशविधो भवति। तत्र सूक्ष्मास्तन्मात्रलक्षणाः पञ्च, सुखैकस्वभावत्वाद् दिव्याः। स्थूलाः पृथिव्यादयः पञ्च, सुखदुःखमोहात्मकत्वाददिव्याः।

३. द्रष्टव्य, पृ० १८४ :—दशविधो महामोह इति। शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु राग आसक्तिर्महामोह इति, स च दशविधविषयत्वाद्दशविधः।

यमहाभूतपर्यन्तं तच्च कार्यम्, अन्यच्च अव्यक्तं प्रधानं विपरीतं कारणमिति। तस्मादस्ति प्रधानम्।—माठर० पृ० २६।

(२) कारणं च कार्यं च कारणकार्ये, तयोर्विभागः कारणकार्यविभागः। इदं कारणमिदं कार्यमिति बुद्ध्या द्विधावस्थापनं विभागो यः स कारणकार्यविभागः। तदवस्थितभागपूर्वकं दृष्टम्। तद्यथा शयनासनरथचरणादिः। अस्ति चायं व्यक्तस्य कारणकार्यविभागस्तस्मादिदमप्यवस्थितभावपूर्वकम्, योऽसाववस्थितभावस्तदव्यक्तम्।

आह—तदनुपलब्धेरयुक्तम्। न हि शयनादीनां कारणकार्यविभागः कश्चिदुपलभ्यते। तस्मादयुक्तमेतत्। उच्यते—न, कार्यकारणयोरुपकारकोपकार्यपरत्वात्। कारणं कार्यमिति [न] निर्वर्त्यनिर्वर्तकभावोऽभिप्रेतः, किन्तह्यु'पकारकोपकार्यभावः। स चास्ति शयनादीनां व्यक्तस्य च। अतो न प्रमादाभिधानमेतत्।—युक्तिदीपिका, पृ० ७९।

(३) 'कारणकार्यविभागात्' इति।...यत उत्पद्यते तत् कारणं, यच्चोत्पद्यते तत् कार्यम्। यथा मृत्पिण्डघटयोर्जन्यजनकत्वेन पृथगर्थक्रियाकरणाच्च विभागो दृष्टः। अन्यथा घटस्योदकाहरणक्रिया या न सा मृत्पिण्डस्य, या मृत्पिण्डस्य न सा घटस्य। एवं व्यक्तस्य महदादेः कार्यत्वात् पृथगर्थक्रियाकरणाच्च विभागः। तस्मादस्य कारणेन भवितव्यम्। तच्चाव्यक्तात् किमन्यत् स्यादिति। अस्मिन् व्याख्याने 'कार्यतस्तदुपलब्धेर्महदादि तच्च कार्यम्' इत्यनेनैव सिद्धत्वादन्यैरन्यथा व्याख्यायते। यदुपकरोति तत् कारणम्, यदुपक्रियते तत्कार्यं, तयोर्विभागात् उपकार्योपकारकभावादित्यर्थः।—जयमंगला, पृ० २१-२२।

इन सन्दर्भों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट है कि 'कारणकार्यविभागात्' हेतु-पद का जो अर्थ माठर ने किया है, पहले वही अर्थ युक्तिदीपिकाकार तथा जयमंगलाकार ने भी किया है। इसके बाद दोनों ने ही इस अर्थ में दोष की उद्भावना की है। युक्तिदीपिकाकार के द्वारा प्रदर्शित दोष का तात्पर्य यह है कि सांख्य में कारण और कार्य के अभिन्न होने के कारण दोनों का परस्पर विभाग नहीं किया जा सकता। इस लिए उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं है। जयमङ्गलाकार के द्वारा प्रदर्शित दोष का तात्पर्य यह है कि उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ करने पर अर्थ की पुनरुक्ति होती है क्योंकि यह अर्थ तो 'कार्यतस्तदुपलब्धेर्महदादि तच्च कार्यम्' इस आठवीं कारिका के आधार पर ही सिद्ध हो जाता है। इसीलिए अन्य आचार्यों द्वारा इस हेतु-पद का अन्य ही प्रकार से व्याख्यान किया जाता है। वह अन्य प्रकार जयमङ्गला की अगली ही पंक्तियों में दिया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि 'कारणकार्यविभागात्' हेतु-पद का अर्थ 'उपकार्योपकारकभावात्' होना चाहिए। उक्त हेतु-पद का यही अर्थ युक्तिदीपिका में दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि जयमङ्गलाकार ने 'अन्यैः' पद के प्रयोग से युक्तिदीपिकाकार का, तथा 'अन्यथा व्याख्यायते' पदों से उन्हीं के व्याख्यान-प्रकार का ग्रहण किया है। इससे यह निश्चित परिणाम निकलता है कि युक्तिदीपिका टीका जयमंगला से प्राचीन है।

'कारणकार्यविभागात्' हेतु-पद के ठीक बाद के 'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' हेतु-पद का भी जयमङ्गलाकार-कृत अर्थ युक्तिदीपिकाकार के अर्थ के साथ बड़ा मेल रखता है। लगता है कि युक्तिदीपिका के सूत्रवत् संक्षिप्त एवं सारवान् वाक्यों का ही जयमङ्गला में विस्तार किया गया है। तुलनार्थ दोनों के सन्दर्भ यहाँ क्रमशः दिए जा रहे हैं :—

(१) इह यद्विश्वरूपं तस्य अविभागो दृष्टः । तद्यथा सलिलादीनां जलभूमी, विश्वरूपाश्च महदादयस्तस्मादेषामप्यविभागेन भवितव्यम् योऽसावविभागस्तदव्यक्तम् ।— युक्तिदीपिका, पृ० ८१ ।

(२) 'अविभागाद्–वैश्वरूपस्य' । न विद्यते विभागोऽस्येत्यविभागः, अविभक्तादित्यर्थः । तस्माद्वैश्वरूप्यस्योपलब्धेरिति शेषः । इह लोकेऽविभक्तादेकस्मादिक्षुद्रव्याद् रसफाणितगुडखण्डशर्करादिवैश्वरूप्यं नानात्वं दृश्यते । तथैकस्माद् दुग्धाद् दधिमस्तुनवनीतघृतादिवैश्वरूप्यमुपलभ्यते । एवमाध्यात्मिकानां बाह्यानां च वैश्वरूप्यम् । तस्मादेषामविभक्तेनैकेन भवितव्यम् ।'—जयमङ्गला, पृ० २२

यद्यपि जयमङ्गला के शब्द १६ वीं कारिका के 'परिणामतः सलिलवत्' अंश की माठरवृत्ति[1] से ही गृहीत प्रतीत होते हैं, तथापि १५ वीं कारिका के 'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' अंश का युक्तिदीपिका-प्रतिपादित अर्थ ही जयमङ्गलाकार को अभिप्रेत था, अन्यथा इसके माठर-कृत अर्थ को जयमङ्गलाकार 'अन्यस्त्वाह' इत्यादि शब्दों के द्वारा क्यों उद्धृत करते ? 'अन्यः', 'अपरः' आदि पदों के द्वारा स्वाभिप्रेत नहीं अपितु अनभिप्रेत अर्थ का ही उल्लेख या निर्देश किया जाता है। 'अन्यस्त्वाह' इत्यादि शब्दों के द्वारा जयमंगलाकार ने माठर का ही मत अर्थतः उद्धृत किया है, इसके निश्चय के लिए नीचे दोनों के सन्दर्भ उद्धृत किए जा रहे हैं :—

(१) अविभागाद्वैश्वरूपस्य । न विभागोऽविभागः । विश्वरूपस्य भावो वैश्वरूप्यं बहुरूपमित्यर्थ, तस्य । त्रैलोक्यं पञ्चसु महाभूतेष्वविभागं गच्छति, पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति, पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, सा च प्रधाने । इत्थं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रधानेऽविभक्ताः । प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्राखिलमिति प्रधानम् । ततो हि सृष्टौ सदेवाविर्भवति । न ह्यसत उत्पत्तिर्न च सतोऽभावः । — माठ॰वृत्ति, पृ॰ २७ ।

(२) अन्यस्त्वाह—'अविभागे (? अविभागो) वैश्वरूप्यस्य' इति । अविभागो लयः, वैश्वरूप्यं जगत् नानारूपत्वात् । प्रलयकाले वैश्वरूप्यं क्व लीयते स्थित्युत्पत्तिप्रलयाज्जगत इति । न चेश्वरे लयनं सम्भवति, तस्य निर्गुणत्वेनाभ्युपगमात् । तस्मादन्यथानुपपत्त्यास्ति तदेकमिति । तथा चाहुः—'प्रधानादानुपूर्व्येण सृष्टिर्लोकस्य संसरः । प्र...... प्रातिलोम्येन पुनस्तत्रैव सञ्चरः ॥' इति ।—जयमङ्गला, पृ० २२-२३

स्पष्ट है कि माठर-कृत व्याख्यान में 'अविभाग' पद को नञ्तत्पुरुष मान कर उसका विग्रह 'न विभागोऽविभागः' किया गया है जिससे उसको 'लय' अर्थ का बोधक मान कर स्थूल जगत् से लेकर महत् तत्त्व पर्यन्त समस्त विकारों या कार्यों का अपने-अपने साक्षात् कारणों में लय दिखाते हुए प्रधान में उस परम्परा की विश्रान्ति मानी गई है, उसका पर्यवसान या अन्त दिखाया गया है। इस प्रकार समस्त कार्यों के मूल कारण रूप में प्रधान की सत्ता सिद्ध की गई है। जयमंगला में भी 'अन्य' पद के द्वारा आरोपित व्याख्यान के

१...यथा च इक्षुरसो रसिकाषण्डमत्सरिकाशर्कराफाणितगुडभावेन परिणमति, यथा वा क्षीरं द्रप्स्यदधिमस्तुनवनीतघृतारिष्टकिलाटकूर्चिकादिभावेन परिणमति, एवमेवाव्यक्तमाध्यात्मिकेन बुद्ध्यहंकारतन्मात्रेन्द्रियभतभावेन परिणमति, आधिदैविकेन शीतोष्णवातवर्षादिभावेन परिणमति ।—माठर० पृ० २८ ।

अन्तर्गत 'अविभाग' का 'लय' अर्थ ही किया गया है, एवं विश्वरूप अर्थात् विविध जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होने के कारण 'प्रलय-काल में उसका लय कहाँ होता है'. यह प्रश्न उठा कर ईश्वरवादियों के मत से निर्गुण ईश्वर में होने वाले लय का खण्डन करके प्रधान में ही लय बताया गया है, और समर्थन में एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है जिसमें यह तथ्य कथित है कि समस्त सृष्टि प्रधान से क्रमशः निकल कर अन्त में फिर उसी में 'सञ्चर' अर्थात् लय को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'अन्यस्त्वाह' के द्वारा उपस्थापित अर्थ माठर का ही है। केवल निर्गुण होने के कारण ईश्वर में त्रिगुणात्मक समस्त जगत् के लय की असम्भावना का कथन जयमङ्गलाकार ने या तो स्वतः किया है या फिर किसी अन्य व्याख्याकार से लेकर जोड़ दिया है। अभी इसके पूर्व कहा जा चुका है कि 'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' हेतु-पद का जयमङ्गला-कृत अर्थ युक्तिदीपिका-कृत अर्थ से बड़ा मेल खाता है। यद्यपि जयमङ्गलाकार की भांति युक्तिदीपिकाकार ने 'अविभाग' पद का 'न विद्यते विभागोऽस्येत्यविभागः' इस प्रकार बहुव्रीहि के रूप में स्पष्ट अर्थ नहीं किया है, तथापि उनकी 'योऽसावविभागस्तदव्यक्तम्' पंक्ति से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि वे 'अविभाग' पद को बहुव्रीहि समास ही मानते हैं, अन्यथा वे 'अविभागः' और 'अव्यक्तम्' पदों को समानाधिकरण न करके 'अविभागोऽव्यक्ते' इत्यादि लिखते। इसी प्रकार निर्गुण ईश्वर में त्रिगुणात्मक जगत् के लय के जयमङ्गला-कृत खण्डन के मूल स्रोत की खोज करने से यह बात स्पष्ट होती है कि इसे भी जयमङ्गलाकार ने युक्तिदीपिका से ग्रहण किया है। युक्तिदीपिकाकार ने इसी प्रसङ्ग में अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ८२ से ८६ तक परमाणु, पुरुष, ईश्वर, कर्म, दैव, स्वभाव, काल, यदृच्छा और अभाव, इन नौ कारणों का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। उसमें उन्होंने यह दिखाया है कि ये जगत् के उपादान कारण नहीं हो सकते और इसीलिए इन सब में जगत् का लय भी सम्भव नहीं है। प्रतीत होता है कि जयमङ्गलाकार ने इसी आधार पर उपलक्षण रूप से केवल ईश्वर में लय की असम्भावना का निर्देश कर दिया है।

इस प्रकार पिछले विवेचन से स्पष्ट सिद्ध है कि जयमङ्गलाकार युक्तिदीपिकाकार के ऋणी हैं जिसका तात्पर्य यह हुआ कि युक्तिदीपिकाकार जयमङ्गलाकार से प्राचीन हैं। इस प्रकार वे माठर और जयमङ्गलाकार के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी कहे जा सकते हैं। बिना पिष्टपेषण किए ही पूर्व विवेचन के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन को युक्तिदीपिकाकार का योग-दान अत्यन्त मूल्यवान् एवं महत्त्वपूर्ण है। माठर-कृत व्याख्यान या विवेचन से सांख्य के सर्वाधिक मूल्यवान् ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका के मतों या सिद्धान्तों, एवं उन्हें सिद्ध करने के लिए दिए गए हेतुओं इत्यादि में जो दोष या त्रुटियाँ दीख पड़ती थीं, अथवा उनके सत् व्याख्यान के विरुद्ध जो शङ्कायें उठती थीं, उनका यावच्छक्य परिहार करके उन-उन व्याख्यानों एवं सिद्धान्तों की निर्दोषता प्रतिपादित की। साथ ही जहाँ-कहीं भी माठर का व्याख्यान या प्रतिपादन असत् या सदोष दीख पड़ा, उसका खण्डन करके युक्तियुक्त व्याख्यान प्रस्तुत किया। पर इससे भी बहुत बढ़ कर जो बहुमूल्य कार्य युक्तिदीपिकाकार ने किया, वह यह कि भारत के प्राचीनतम दर्शन-शास्त्र 'सांख्य' के विविध विकास की अनेक टूटी कड़ियों को अपने

व्याख्या-ग्रन्थ में पुनः प्रस्तुत किया। वार्षगण्य, सांख्याचार्य पतञ्जलि, पौरिक, पञ्चाधिकरण, विन्ध्यवासी इत्यादि अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के विस्मृत मतों को पुनः प्रकाश में लाकर युक्तिदीपिकाकार ने जो महान् कार्य किया, उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। वे सब सिद्धान्त इन-इन आचार्यों के प्रकरणों में साकल्येन दिए गए हैं, एवं उनका विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। अतः यहाँ उनका पिष्ट-पेषण नहीं किया जा रहा है।

'युक्तिदीपिका' का इतना महत्त्व होने पर भी उसके रचयिता का नाम तक ज्ञात नहीं है, यह बड़े ही दुःख की बात है। युक्तिदीपिका का एकमात्र संस्करण कलकत्ता-संस्कृत-ग्रंथमाला के २३वें पुष्प के रूप में सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ था। इसकी पुष्पिका[1] में इसे वाचस्पतिमिश्र की कृति कहा गया है। परन्तु ग्रन्थ के सम्पादक ने इसके आगे प्रश्नवाची चिह्न (?) लगा दिया है। 'मुखबन्ध' में भी इसे अनुचित ठहराया है :— 'पुष्पिकातश्च कृतिरियं वाचस्पतिमिश्राणामित्युपलभ्यते । नैतत् समीचीनं प्रतिभाति। युक्तिस्तु प्रकाशयिष्यमाणे उपोद्घाते एव प्रदर्शयिष्यते'। ग्रन्थ के किसी भी भाग में कोई भी ऐसा स्पष्ट लेख नही मिलता जिसके आधार रचयिता-विषयक सन्देह दूर हो सके। पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा ही जा सकता है कि प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र इसके रचयिता नहीं हो सकते । सांख्यकारिकाओं पर वाचस्पति मिश्र की प्रसिद्ध टीका 'तत्त्वकौमुदी' नाम से सर्व-विदित है। इसके उपसंहारात्मक श्लोक[2] से तो इसका वाचस्पति मिश्र की कृति होना स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्तः-साक्ष्यों के आधार पर भी इसका वाचस्पतिमिश्र-कृत होना सुस्पष्ट है। उदाहरण के लिए एकाध उद्धरण ही पर्याप्त होंगे। नवम कारिका के 'असदकरणात्' हेतु-पद का व्याख्यान प्रस्तुत करने के प्रसंग में ही अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन करते हुए **"अभावात् भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पादप्रसंग इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः प्रतिपादितम्"** लिखा है। यह सर्वविदित बात है कि न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका के रचयिता प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र ही हैं। इसी प्रकार १७वीं कारिका के 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' हेतु-पद का व्याख्यान करते हुए भी **"दृष्टान्तदृष्टसर्वधर्मानुरोधेन त्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग इत्युपपादितं न्यायवार्तिकटीकायामस्माभि"** लिखा है। इससे सिद्ध है कि **तत्त्वकौमुदी** प्रसिद्ध वाचस्पतिमिश्र की सांख्यकारिका-टीका है। ऐसी स्थिति में एक ग्रन्थ पर एक टीका लिख देने के अनन्तर फिर उसी ग्रन्थ पर उसी व्यक्ति के द्वारा दूसरी टीका लिखे जाने का कोई विशेष प्रयोजन या कारण नहीं दिखाई पड़ता। एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही ग्रन्थ पर छोटी-बड़ी दो टीकायें लिखी जा सकती हैं, जैसे मधुसूदन सरस्वती-कृत **अद्वैतसिद्धि** की गौडब्रह्मानन्द-रचित **लघुचन्द्रिका** एवं **गुरुचन्द्रिका** टीकायें। परन्तु प्रस्तुत स्थल में ऐसा मानना असम्भव है क्योकि दोनों एक-दूसरे की लघु-गुरु रूप नहीं अपितु परस्पर पर्याप्त भिन्न है। इसके अतिरिक्त पूर्व विवेचन से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि जयमङ्गला में युक्तिदीपिका उद्धृत हुई है, और आगे यह बात स्पष्ट की जायगी कि वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी में जयमङ्गला की पंक्तियाँ भी उद्धृत हैं एवं अन्यथा

१. सम्पूर्णा (?) कृतिरियं श्रीवाचस्पतिमिश्राणाम्।

२. मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा। श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिस्तात्तत्त्वकौमदी ॥

भी उसका खूब उपयोग हुआ है। अतः स्पष्ट है कि शताब्दियों पूर्व रचित युक्तिदीपिका वाचस्पति मिश्र की रचना नहीं हो सकती।

जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी में प्रत्यक्ष-लक्षण के प्रसङ्ग में ईश्वरकृष्ण की पञ्चम सांख्यकारिका के 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' अंश का उल्लेख किया है, एवं उसमें अतिव्याप्ति दोष की शङ्का करके अगली पंक्तियों में उसके 'राजा' नामक किसी टीकाकार द्वारा किया गया समाधान भी दिया है। वहाँ का सम्पूर्ण सन्दर्भ इस प्रकार है :—

"ईश्वरकृष्णस्तु प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमिति प्रत्यक्षलक्षणमवोचत्। तदपि न मनोज्ञम्। अनुमानादिज्ञानानामपि विषयाध्यवसायस्वभावत्वेनातिव्याप्तेः। यत्तु राजा व्याख्यातवान् प्रतिराभिमुख्ये वर्तते, तेनाभिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षम्' इति, तदप्यनुमानादावस्त्येव। घटोऽयमितिवदग्निमान् पर्वत इत्याभिमुख्येनैव प्रतीतेः।" सांख्यकारिका की समस्त उपलब्ध टीकाओं में युक्तिदीपिका में ही 'प्रति' का आभिमुख्य अर्थ दिया गया है, जैसा कि इसके विद्वान् सम्पादक श्री पुलिनविहारी चक्रवर्ती ने भी पृ० ४२ की पाद-टिप्पणी संख्या २ में स्पष्ट लिखा है। युक्तिदीपिका का सम्बद्ध सन्दर्भ इस प्रकार है :—
'.. किं प्रतिग्रहणेन? उच्यते—प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थम्। विषयाध्यवसायो दृष्टमितीयत्युच्यमाने विषयमात्रे सम्प्रत्ययः स्यात्। प्रतिना तु आभिमुख्यं द्योत्यते। तेन सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्युपलभ्यते'।

न्यायमञ्जरी और युक्तिदीपिका के सन्दर्भों की पारस्परिक तुलना से यह बात प्रकट होती है कि जयन्तभट्ट ने सांख्यसप्तति की जिस व्याख्या से उपर्युक्त अर्थ को उद्धृत किया है, वह युक्तिदीपिका ही हो सकती है। इस व्याख्या के रचयिता का नाम न्यायमञ्जरीकार ने 'राजा' लिखा है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि न्यायमञ्जरी में उल्लिखित यह 'राजा' कौन हो सकता है? तत्त्वसमाससूत्र की 'कापिलसूत्रविवरण' नामक अपनी टीका में माधव परिव्राजक ने 'भोजराजवार्तिकेऽप्युक्तम्' शब्दों के साथ युक्तिदीपिका के प्रारम्भिक पन्द्रह श्लोकों में से दशम पूरा तथा एकादश का प्रथमार्ध उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि माधव परिव्राजक के मत से युक्तिदीपिका का कर्त्ता भोजराज था। वाचस्पति मिश्र ने भी ७२ वीं कारिका की स्व-कृत तत्त्वकौमुदी में युक्तिदीपिका के दशम से लेकर द्वादश तक तीन श्लोक 'तथा च राजवर्तिकम्' शब्दों के साथ उद्धृत करके यह कथन किया है कि इन श्लोकों में कथित सांख्य शास्त्र के समस्त साठ पदार्थों का प्रस्तुत 'सांख्यकारिका' में प्रतिपादन होने के कारण यह ग्रन्थ 'शास्त्र' ही है, 'प्रकरण' नहीं[1]। सम्भव है, वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी में इन श्लोकों के लिए 'राजवार्तिक' पद का प्रयोग देख कर उन्होंने इन्हें भोजराज का समझ लिया हो, क्योंकि राजाओं में विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता एवं उनके ग्रन्थों के रचयिता के रूप में सर्वाधिक प्रसिद्धि भोजराज की ही रही है और आज भी है। डा० कीथ ने भी अपने 'हिस्ट्री आव् संस्कृत लिट्रेचर'

१. तथा च राजवार्तिकम्—'प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता। पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च॥ शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः॥ करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा स्मृतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः'॥ इति। सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणमपितु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम्।

के पृ० ४८६ पर यही विचार प्रकट किया है कि तत्त्वकौमुदी में जिस राज-वार्तिक को उद्धृत किया गया है, वह धारापति भोज की रचना है, अथवा कही जा सकती है। इसका दूसरा नाम रणरंगमल्ल भी है। इसका काल १०१८ से १०६० ई० है। यह वही रणरंगमल्ल अथवा भोज है जिसने योगसूत्रवृत्ति और सरस्वती-कण्ठाभरण आदि ग्रन्थ लिखे हैं। परन्तु यह कथन स्पष्ट ही भ्रममूलक है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र से सैकड़ों वर्ष बाद होने वाले भोजराज उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखित युक्तिदीपिका के रचयिता कैसे हो सकते हैं? युक्तिदीपिका को वाचस्पति मिश्र द्वारा उल्लिखित 'राज-वार्तिक' न भी मानने पर यह कथन भ्रम-मूलक ही प्रतीत होता है, क्योंकि तब भी वाचस्पतिमिश्र के द्वारा उसके उद्धृत किए जाने की असम्भाव्यमानता तो पूर्ववत् बनी ही रहेगी। कोई भी ग्रंथ अपनी रचना से सैकड़ों वर्ष पूर्व भला कैसे उद्धृत हो सकता है?

इसके अतिरिक्त जयन्तभट्ट के द्वारा 'यत्तु राजा व्याख्यातवान्' इत्यादि शब्दों के साथ उद्धृत 'प्रतिराभिमुख्ये वर्तते' इत्यादि अर्थ के पञ्चम सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका में प्राप्त हो जाने तथा अन्य किसी टीका में न प्राप्त होने के कारण, युक्तिदीपिका का किसी 'राजा' द्वारा रचित होना सर्वथा निश्चित एवं असन्दिग्ध है। रहा इसके 'वार्तिक' कहे जाने का रहस्य, इसका उद्घाटन करते हुए पं० उदयवीर जी ने अपने ग्रन्थ के पृ० ४०२ पर इस प्रकार लिखा है—"इसके आधार के लिए हम विद्वानों का ध्यान युक्ति-दीपिकाकार की इस नवीन उद्भावना की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जो उसने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र कारिकाओं को 'सूत्र' पद से व्यवहार करके प्रकट की है। ग्रन्थ के द्वितीय-तृतीय पृष्ठ पर इसका बलपूर्वक विवेचन किया गया है। पृष्ठ दो पर ग्रन्थकार लिखता है—आह—अथ सूत्रमिति कस्मात्? उच्यते—सूचनात् सूत्रम्। सूचयति तांस्तानर्थविशेषानिति सूत्रम्। तद्यथा 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' (का० १६), 'भेदानां परिमाणात्; (का० १५) इति। इसी प्रकार पृ० ११, पं० ४-५ पर प्रसंग-वश पुनः यह लेख है—तथा चोत्तरसूत्रेण प्रतिषेत्स्यत्याचार्यः—'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः'। इन लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार कारिकाओं को 'सूत्र' पद से व्यवहृत करता है, यद्यपि सांख्यसप्तति के सर्व प्रथम और युक्तिदीपिका से अति प्राचीन व्याख्याकार माठर ने सर्वत्र इन कारिकाओं को आर्या छन्द में होने के कारण 'आर्या' पद से ही व्यवहृत किया है। युक्तिदीपिका के पश्चाद्भावी व्याख्याकारों में से भी किसी ने इन कारिकाओं के लिए 'सूत्र' पद का प्रयोग नहीं किया। वस्तुतः ग्रंथकार की यह एक अपनी नई कल्पना है। सम्भव है, इसी नवीनता के आधार पर तात्कालिक विनोदप्रिय विद्वानों ने सूत्रार्थ को उस रूप में विशद करने वाले इस ग्रन्थ का नाम 'वार्तिक' रख दिया हो, और उस समय इसी नाम से यह ग्रंथ प्रसिद्ध हो गया हो। 'वार्तिक' का लक्षण प्राचीन आचार्य इस प्रकार करते आते हैं—'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः'...यह लक्षण युक्तिदीपिका में पूर्ण रूप से घटता है। सांख्यसप्तति की उपलभ्य-मान अन्य सब व्याख्याओं से इसमें यह विलक्षणता है।...इस प्रकार वार्तिक नाम से इसकी प्रसिद्धि, तथा इसकी रचना के साथ 'राजा' का सम्बन्ध होने के कारण, इसका 'राजवार्तिक' नाम व्यवहार में आता रहा होगा, यद्यपि ग्रन्थकार ने इसका नाम 'युक्ति-

दीपिका' ही रक्खा है।" इससे युक्तिदीपिका के ही 'राजवार्तिक' नाम से भी प्रसिद्ध होने की बात सम्भाव्य ही नहीं अपितु युक्त भी प्रतीत होती है। यद्यपि इस बात की भी यत्किञ्चित् सम्भावना है कि 'राजवार्तिक' नामक कोई और ग्रन्थ रहा हो जो युक्तिदीपिकाकार से बाद तथा वाचस्पतिमिश्र से पूर्व रचा गया हो, जिसमें युक्तिदीपिका के दशम से द्वादश तक के तीनों श्लोक उद्धृत रहे हों और उससे वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्व-कौमुदी में इन श्लोकों को उद्धृत किया हो, तथापि इसके लिए कोई प्रामाणिक आधार न मिलने से इसे मान्य नहीं कहा जा सकता। इसे मान्यता देने पर भी माधव परिव्राजक और डा० कीथ का कथन असंगत ही रहेगा।

पिछले विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि जयमङ्गलाकार से युक्तिदीपिकाकार पूर्ववर्ती हैं। जयमङ्गलाकार भी तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्ती हैं, यह तथ्य अगले प्रसंग से विशेषतः स्पष्ट होगा। वाचस्पतिमिश्र का समय, जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा, ईसवी नवम शताब्दी का पूर्वार्ध है। अतः युक्तिदीपिकाकार का समय सातवीं शताब्दी से बाद का नहीं हो सकता। फिर चूंकि युक्तिदीपिका में कुमारिल के श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक, भर्तृहरि के वाक्यपदीय, तथा उद्योतकर के न्यायवार्तिक आदि अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथों से एक भी उद्धरण नहीं प्राप्त होता, जब कि शबर, दिङ्नाग और विशेष रूप से वसुबन्धु के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि युक्तिदीपिकाकार का समय ईसवीय पञ्चम शताब्दी के प्रारम्भ के आस-पास रहा होगा।

युक्तिदीपिका की महत्ता के सम्बन्ध में पहले भी लिखा जा चुका है। इसके प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में प्राचीन सांख्य एवं यत्र-तत्र अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के भी ऐसे आचार्यों के विचार एवं मत उद्धृत हैं जिनमें से अनेक तो नितान्त अज्ञात थे और कुछ यद्यपि नितान्त अज्ञात तो नहीं तथापि नाम-मात्र से ही ज्ञात थे। सांख्य के अनेक आधारभूत एवं मौलिक सिद्धांतों के सबंध में उसके इन प्राचीन आचार्यों के प्रायः आश्चर्यजनक मत-वैषम्य या भेद दिखाई पड़ते हैं। 'युक्तिदीपिका के प्रकाशित होने के पूर्व यह सोचना कल्पनातीत ही था कि ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं में सांख्य दर्शन के एक सम्प्रदाय-विशेष के ही विचारों या सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ इसमें पौरिक नामक एक प्राचीन सांख्याचार्य का यह मत उल्लिखित है कि एक प्रकृति नहीं अपितु अनेक प्रकृतियाँ होती हैं। जितने पुरुष, उतनी ही प्रकृतियाँ होती हैं, प्रत्येक पुरुष की एक प्रकृति होती है जो उससे सम्बद्ध हुआ करती है। गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की अपनी टीका में इसे मौलिक्य सांख्यों का मत कहा है। युक्तिदीपिकाकार ने इस मत का सोपपत्ति खण्डन किया है। ५६ वीं कारिका के 'प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम् स्वार्थ इव परार्थ आरम्भ' के विरुद्ध पक्ष के रूप में पौरिक का मत इस प्रकार रक्खा गया है :—"यदुक्तं प्रतिपुरुष-विमोक्षार्थमयमारम्भ इति, तदयुक्तमाचार्यविप्रतिपत्तेः। प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषाञ्च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिरिति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते। तत् कथमप्रतिषिध्यैका प्रकृतिरभ्युपगम्यत इति ?" इसका खण्डन युक्तिदीपिकाकार ने इस प्रकार किया है :—"न, प्रमाणाभावात्। न तावत् प्रत्यक्षत एव तच्छक्यं निश्चेतुं, प्रधानानामतीन्द्रियत्वात्, लिङ्गं चासन्दिग्धं नास्ति,

आप्ताश्च नो नाभिदधुरतो मन्यामहे नैतदेवमिति। किञ्च, एकेनार्थपरिसमाप्तेः। अपरिमितत्वादेतदेकं प्रधानमलं सर्वपुरुषशरीरोत्पादनाय। तस्मादन्यपरिकल्पनानर्थक्यम्।"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति की अनेकता में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द में से एक भी प्रमाण की प्राप्ति न होने, तथा एक ही प्रकृति के अपरिमित होने के कारण उसमें समस्त पुरुषों के शरीरादि को उत्पन्न करने की सामर्थ्य होने से अन्य अनेक प्रकृतियों की कल्पना व्यर्थ है, अतः अनेक प्रकृति का सिद्धान्त असत् है।

इसी प्रकार किसी सांख्याचार्य पतञ्जलि का यह मत उद्धृत है कि अहङ्कार कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार आचार्य पञ्चाधिकरण के कई नितान्त मौलिक विचार इसमें उद्धृत हैं[2]। प्रपञ्चसार की अपनी टीका में पद्मपादाचार्य ने इस आचार्य का उल्लेख किया है पर उससे यह बात ज्ञात नहीं होती कि ये सांख्य दर्शन के विश्रुत प्राचीन आचार्य थे। आचार्य वृषगण एवं उनके अनुयायी वार्षगण्य आदि के अनेक मतों का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है।[3] इन उद्धरणों के अभाव में सांख्य के इस अत्यन्त प्रसिद्ध अवान्तर सम्प्रदाय के विषय में दार्शनिक जगत् को शायद ही कुछ विशेष जानकारी हो पाती। इसी प्रकार सांख्य के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य विन्ध्यवास (अथवा विन्ध्यवासी) के भी अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की चर्चा इस ग्रन्थ में हुई है।[4] वैसे कुमारिल के श्लोकवार्तिक से यह ज्ञात होता है कि विन्ध्यवास सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे, परन्तु उनके इस अविश्वास के कारणों का ज्ञान दार्शनिक जगत् को युक्तिदीपिका से ही हुआ। इसके प्रकाशन के पूर्व उसे उनका कोई ज्ञान नहीं था, ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के अत्यधिक लोक-प्रचलित होने से उसी का लिङ्गशरीर-विषयक मत सांख्य दर्शन का एकमात्र सर्वमान्य सिद्धान्त समझा जाता था। इस प्रकार युक्तिदीपिका में कारिकाओं के व्याख्यान के बीच-बीच में सांख्य के प्राचीनतम आचार्यों के मतों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है जिससे हम सांख्य दर्शन के विविध विकास की लम्बी धारा के साक्षात्कार में समर्थ होते हैं। सांख्य दर्शन के विकास की लम्बी शृङ्खला की अनेक टूटी कड़ियों को जोड़ने एवं अनुपस्थित कड़ियों को उपस्थित करने में युक्तिदीपिकाकार की महती साधना छिपी हुई है। उनकी इस अमूल्य देन के लिये उनके प्रति पर्याप्त आभार-प्रदर्शन कदापि-कथमपि नहीं किया जा सकता।

आचार्य गौडपाद

ईश्वरकृष्ण के तीसरे प्राचीन टीकाकार आचार्य गौडपाद हैं। एकमात्र इन्हीं की टीका 'भाष्य' नाम से विज्ञात है। गौडपाद-कृत यह भाष्य माठरवृत्ति से बहुत मिलता-जुलता है। इसी कारण से पं० उदयवीर शास्त्री का मत है कि यह भाष्य माठरवृत्ति का छायामात्र

---

१. द्रष्टव्य, पृ० १६६।

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्याय ५, पञ्चाधिकरण-प्रसङ्ग।

३. द्रष्टव्य, उसी का वार्षगण्य-प्रसंग।

४. द्रष्टव्य, उसी का विन्ध्यवास-प्रकरण।

है। पं० तनुसुखराम शर्मा[1] तथा डा० बेल्वल्कर[2] भी इसी मत के हैं। इन दोनों ग्रन्थों में केवल इतना अन्तर है कि भाष्य वृत्ति की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है। इसमें वृत्ति के अधिकांश तो अवश्य छोड़ दिये गये हैं परन्तु नवीन अंश अपेक्षाकृत बहुत कम ही जोड़े गये हैं। विभिन्न विवादास्पद विषयों पर यत्र-तत्र कुछ मत भेद भी दिखाई पड़ता है। पं० उदयवीर जी ने भाष्य को शङ्कराचार्य के परम गुरु गौडपाद से भिन्न किसी गौडपाद की रचना मानने के तीन कारणों में से एक कारण इसे भी माना है। उनका कथन है कि 'माण्डूक्यकारिका जैसे मौलिक तथा परिमार्जित ग्रन्थ का लेखक दूसरे व्याख्या-ग्रन्थ का आश्रय लेकर, उसी में साधारण न्यूनाधिकता करके अपने भाष्य की रचना करता, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। उसकी रचना में अवश्य नवीनता होती'।[3] जो अन्य दो कारण अपनी इस मान्यता के लिये शास्त्री जी ने दिये हैं, वे इस प्रकार है :—"दादा गुरु गौडपाद की एक रचना प्रसिद्ध माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिका हैं। इसकी रचना-शैली और अर्थ-प्रतिपादन-क्रम इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि सांख्य-सप्तति का भाष्यकार यह गौडपाद नहीं हो सकता। इन दोनों ग्रन्थों की रचना आदि में महान् अन्तर है। दादा गुरु ने माण्डूक्यकारिकाओं में अपने वेदान्त-सम्बन्धी विशेष विचारों का उल्लेख किया है। वह उन विचारों का प्रवर्तक है। उसके प्रशिष्य आदि शङ्कराचार्य ने केवल उन विचारों अथवा सिद्धान्तों को और अधिक पुष्ट कर प्रचार-मात्र किया है। इस प्रकार अपने विशेष विचार तथा सिद्धान्तों का संस्थापक एक आचार्य अपने से सर्वथा विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ पर व्याख्या लिखता, यह सम्भव नहीं कहा जा सकता; वह भी इस भाष्य जैसी व्याख्या, जो दूसरे का अनुकरण-मात्र है।"[4] शास्त्री जी के कथन का तात्पर्य यह है कि चूंकि गौडपाद-भाष्य की शैली, उसका प्रतिपाद्य विषय आदि प्रसिद्ध गौडपाद की गुरु-गम्भीर एवं संक्षिप्त शैली, तथा गुरुतर-गम्भीरतर दार्शनिक विवेचन से पर्याप्त भिन्न है, अतएव उसे माण्डूक्य-कारिकाओं के प्रसिद्ध रचयिता गौडपाद की कृति नहीं माना जा सकता। वैसे शास्त्री जी का मत सत्य हो सकता है, पर उनका तर्क अकाट्य अथवा निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। यों, गौडपाद-भाष्य की भी व्याख्या-शैली इतनी संक्षेपात्मक है कि यह ग्रन्थ गौडपाद-कृत हो सकता है। जहाँ तक इसके तथा शङ्कराचार्य के परम गुरु प्रसिद्ध गौडपाद के विचारों एवं सिद्धान्तों के वैषम्य का प्रश्न है, उसका समाधान यह हो सकता है कि अनेक प्राचीन आचार्यों ने स्वमत से भिन्न मत का प्रतिपादन करने वाले प्रथित ग्रन्थों की भी टीकायें की हैं। उसमें कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। वाचस्पति मिश्र शाङ्कर वेदान्त के 'भामती-प्रस्थान' के संस्थापक आचार्य हैं। परन्तु उन्होंने सांख्यकारिका पर 'तत्त्वकौमुदी' तथा योगसूत्र-भाष्य पर 'तत्त्ववैशारदी' नामक प्रसिद्ध टीकायें लिखी हैं, एवं

---

१. द्रष्टव्य, चौखम्बा संस्करण (बनारस १६२२) की माठरवृत्ति की भूमिका।

२. द्रष्टव्य, भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ में प्रकाशित डा० बेल्वल्कर का लेख।

३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४०५।

४. द्रष्टव्य, वही पृ० ४०५।

उनमें तत्तत् शास्त्र के अनुसार स्वमत-विरोधी अनेक मतों का प्रतिपादन किया है।[1] फिर भी कोई भी विद्वान् इन टीका-ग्रन्थों के वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित होने में सन्देह नहीं करता।

जो कुछ भी सत्य हो, इतनी बात तो निश्चित ही प्रतीत होती है कि गौडपाद-भाष्य माठरवृत्ति का अनुसरण करने के कारण उसके बाद की रचना है। दोनों में साम्य के अनेक स्थलों के होने पर भी यहाँ दो-चार वे ही विशिष्ट स्थल दिखाये जाते हैं जिनका पारस्परिक साम्य एक के दूसरे के समक्ष रहे विना असम्भव है :—

(१) 'सामान्यतोदृष्टम्—पुष्पिताम्रदर्शनात् अन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति।' का०—५ की माठरवृत्ति, पृ० १३।

'सामान्यतोदृष्टम्...तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति'।—का० ५ का गौडपाद—भाष्य, पृ० ५।

(२) 'व्यक्तं तु प्रत्यक्षणैव साधितम् इति तदर्थे न प्रयत्नः'।—का० ६ की माठरवृत्ति, पृ० १४।

'व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्।'—का० ६ का गौड०, पृ० ६।

(३) 'यथा लोके पुत्रः पितुः सदृशो विसदृशः स्यात् यदि रूपेण तदा न गुणैः यदा गुणैस्तदा न रूपेणेति यावत्। तांश्च हेतूनुपरिष्टाद्वक्ष्यामः।'—का० ८ की माठर०, पृ० १६।

'यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इव पुत्रो भवत्यतुल्यश्च। यैन हेतुना तुल्यमतुल्यं तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः।'—का० ८ का गौड०, पृ० ७।

(४) 'उपादानग्रहणात्—इह लोके यो येनार्थी स तदुपादनग्रहणं करोति...तद्यथा दध्यर्थी क्षीरस्योपादनं कुरुते। यदि चासत् कार्यं स्यात्तदा दध्यर्थी उदकस्याप्युपादानं कुर्यात्...। सर्वसम्भवाभावात्। इह लोके यद् यस्मिन् विद्यते तस्मादेव तदुत्पद्यते। यथा तिलेभ्यस्तैलं दध्नो घृतम्। यदि चासत् कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वतः सम्भवेत्ततश्च तृणपां-

---

१. (i) प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम्।—नवीं सांख्यकारिका की तत्त्वकौ०, पृ० ६६।

(ii) अत्र च सुखदुखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकानि एव निमित्तानि कल्पयन्ति, तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद् यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति..स्वामिनं प्रति तस्या सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति..ताः प्रति तस्या दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति..तं प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्। अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः।—१३ वीं सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी, पृ० १०३-१०४।

[इसका विरोधी स्व-मत ब्रह्मसूत्र २।२।१ की भामती टीका में इस प्रकार दिया है : - यदि पुनः एत एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। न हि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेष्वपि कुङ्कुमपंकः सुखो भवेत्। न ह्यसौ कदाचिदकुकुमपंक इति। एवं कंटकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। न ह्यसौ कांश्चित् प्रत्येव कंटक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो, न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्।]

सुबालुकादिभ्यो रजतसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादयो जायेरन् ।......कारणभावाच्च । कार्यं सदेव स्यात् । इहलोके यल्लक्षणं कारणं तल्लक्षणं कार्यं स्यात् । यथा कोद्रवेभ्यः कोद्रवा व्रीहिभ्यो व्रीहयः स्युः । यदि चासत् कार्यं स्यात् तदा कोद्रवेभ्यः शालीनामपि निष्पत्तिः स्यात् ।—का० ६ की माठर०, पृ० १७ ।

'उपादानग्रहणात् । उपादानं कारणं, तस्य ग्रहणात् । इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति, दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य । तस्मात् सत् कार्यम् । इतश्च, सर्वसम्भवाभावात् । सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथा सुवर्णस्य रजतादौ तृणपांसुसिक-तासु । तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत् कार्यम् ।...इतश्च, कारणभावाच्च सत् कार्यम् । कारणं यल्लक्षणं तल्लक्षणमेव कार्यमपि । यथा यवेभ्यो यवा व्रीहिभ्यो व्रीहयः । यदासत् कार्यं स्यात् ततः तदा कोद्रवेभ्यः शालयः स्युर्न च सन्तीति, तस्मात् सत् कार्यम्' ।—का० ६ का गौड०, पृ० ७-८ ।

(५) 'सक्रियम् । यस्मात् संसरणकाले महदादि कार्यं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति तस्मात् सक्रियम् ।'—का० १० की माठर०, पृ० १६ ।

'सक्रियम् । संसारकाले संसरति, त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मं शरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम् ।'—का० १० का गौड०, पृ० ८ ।

(६) सावयवमिति । अवयन्तीत्यवयवा यथा पिण्डस्य हस्तपादाद्याः । शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाद्यवयवसम्पन्नं व्यक्तम् ।'—का० १० की माठर०, पृ० १६ ।

'तथा सावयवम् । अवयवा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तैः सह ।'—का० १० का गौड०, पृ० ८ ।

(७) 'अविवेकि व्यक्तम् । अमी गुणा, इदं व्यक्तमिति विवेक्तुं न पार्यते । तथा प्रधानमपि इदं प्रधानम्, अमी गुणा इति न शक्यते पृथक् कर्तुम् ।'—का० ११ की माठर०, पृ० २० ।

'अविवेकि व्यक्तम् । न विवेकोऽस्यास्तीति । इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति, अयं गौरयमश्व इति यथा । ये गुणास्तद् व्यक्तं, यद् व्यक्तं ते च गुणा इति ।'—का० ११ का गौड०, पृ० ६ ।

(८) 'तत् यथा व्यक्ताद्विसदृशं प्रधानं तथा प्रधानसधर्मा पुरुषः । तथा हि अहेतु-मान्नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिङ्गो निरवयवः स्वतन्त्रः ।'—का० ११ की माठर०, पृ० २० ।

'अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तम्, तथा च पुमानप्येकः' ।[१] का० ११ का गौड०, पृ० १० ।

(९) 'ज्ञानं द्विविधं – बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यं —वीणापणवगन्धर्वचित्र-कथागणितव्याकरणशास्त्राणि । आभ्यन्तरं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणम् ।'—का० २३ की माठर०, पृ० ४० ।

'ज्ञानं......तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र बाह्यं नाम वेदाः शिक्षाकल्प-

१. इसके विपरीत चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर में 'पुरुषाणामनेकत्वान्न प्रधानसारूप्यम्' ऐसा लेख है । इसी प्रकार जयमंगला में भी 'अनेकं व्यक्तम्, एकमव्यक्तम् । पुरुषोऽनेको बहुत्वात्' इत्यादि लेख है । तत्त्वकौमुदी में भी 'अहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यम्' ऐसा लेख है ।

व्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्यौतिषाख्यषडङ्गसहिताः, पुराणानि, न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति। आभ्यन्तरं प्रकृतिपुरुषज्ञानम्।'—का० २३ का गौड०, पृ० १९।

(१०) तद्वद्विनाविशेषैस्तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गमिति। अविशेषा इति तन्मात्राणि स्वाभाविकक्षीरजलवत् शान्तघोरमूढत्वरहितत्वात्। तैरारब्धं सूक्ष्मशरीरम्। तेन सूक्ष्मशरीरेण सर्गादिप्रारब्धेन विना निराश्रयं त्रयोदशकरणाख्यं लिङ्गं न तिष्ठति।'—का० ४१ की माठर०, पृ० ५८।

'विनाविशेषैरविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति'।—का० ४१ का गौड०, पृ० २८।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रायः समस्त व्याख्यान में ही और विशेषतः विवादास्पद पदों के व्याख्यान में गौडपाद भाष्य माठरवृत्ति का ही अनुसरण करता है। इससे यह बात सुसिद्ध है कि गौडपाद का समय माठर से बाद का है। इसके पूर्व शब्दादि से आकाशादि भूतों की उत्पत्ति के विषय में माठर के 'परस्परानुप्रवेश' सिद्धान्त एवं युक्तिदीपिकाकार द्वारा उसके खण्डन की चर्चा की जा चुकी है। गौडपाद ने इस स्थल में युक्तिदीपिकाकार का ही अनुसरण किया है, माठर का नहीं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है :—'तेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते, एते स्मृता विशेषाः। गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम् इत्येवमुत्पन्नानि एतानि महाभूतानि'।[१] इससे सिद्ध है कि गौडपाद युक्तिदीपिकाकार से बाद के हैं। युक्तिदीपिकाकार का समय इसके पूर्व ईसवी पञ्चम शतक सिद्ध किया जा चुका है, अतः गौडपाद का समय उसके बाद ही हो सकता है।

स्वयं गौडपाद-भाष्य भी कई स्थलों में जयमङ्गला के लेखों का मूल स्रोत प्रतीत होता है, क्योंकि उन स्थलों का जयमङ्गला-स्थित प्रतिपादन न तो माठरवृत्ति में ही उपलब्ध होता है और न युक्तिदीपिका में ही। एकाध उदाहरण से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। कारिका २३ के 'ऐश्वर्यम्' पद का जयमङ्गला-कृत व्याख्यान गौडपाद-भाष्यानुसारी ही हो सकता है, क्योंकि न तो वह माठरवृत्ति में और न ही युक्तिदीपिका में उपलब्ध होता है। तुलना के लिए चारों के उद्धरण क्रमशः दिए जा रहे हैं :—

(१) 'ऐश्वर्यमीश्वरभावेनेत्यष्टविधम्। अणिमा लघिमा गरिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वमिति'।—माठर०।

(२) ऐश्वर्यमप्रतीघातलक्षणम्, यत् पुनरष्टविधमणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वमिति।—युक्ति०।

(३) ऐश्वर्यमीश्वरभावः, तच्चाष्टगुणम्—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चेति। अणोर्भावोऽणिमा, सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति। महिमा, महान् भूत्वा विचरतीति। लघिमा, मृणालीतूलावयवादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति। प्राप्तिरभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति। प्राकाम्यं, कामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति। ईशित्वं, प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। वशित्वं, सर्वं वशीभवति। 'यत्रकामावसायित्वं, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। गौडपाद०।

१. द्रष्टव्य, का० ३८ का गौडपाद-भाष्य, पृ० २७।

(४) ऐश्वर्यमष्टगुणम्—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं, यत्रकामावशालित्वं[1] चेति । तत्राणिमाणुत्वम्, येन गुणेन सूक्ष्मो भूत्वा विचरति । कार्ये कारणोपचारादणिमेत्युच्यते । लघिमा लघुत्वम्, येन वायुवल्लघुतरो भवति । महिमा महत्त्वम्, येन भुवनेषु धर्मादिप्राप्तिः, येन गुणेनेषितस्य प्रापणम् । प्राकाम्यं प्रचुरकामता येनैकमनेकं प्राकाम्यतेऽनेकं चैकम् । ईशित्वं प्रभुता, (येन स्थावरादीनि भूतानि सन्देश-कारीणि भवन्ति । वशित्वं वशिता) येन स्वतन्त्रश्चरति । यत्रकामावशायित्वं (कामेनेच्छ-यावशेतुं शीलं यस्य स यत्रकामावशायी । तस्य भावः यत्रकामावशायित्वम्) । अनेकार्थ-वाद्धातूनां 'शी' तिष्ठतौ वर्तते । येन गुणेन दिव्यन्तरिक्षे भूमौ वावस्थायित्वमित्यर्थः ।—जयमङ्गला ।

इन उद्धरणों की तुलना से ज्ञात होता है कि माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका में ऐश्वर्य के भेदों की नाम-गणना एक प्रकार की है, तथा गौडपाद-भाष्य और जयमङ्गला में दूसरे प्रकार की । बाद वाले दोनों में 'गरिमा' को भेदों में गिनाया ही नहीं गया है, जब कि प्रथम दोनों में उसे गिनाया गया है । ऐसा होने पर भी भेदों की संख्या चारों ही में एक सी है सभी ने 'ऐश्वर्य' के आठ भेद कहे हैं । माठर एवं युक्तिदीपिकाकार के व्याख्यान से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि किस एक भेद का अन्तर्भाव होगा और किसमें ? वाचस्पतिमिश्र ने भी इन्हीं आचार्यों की भाँति 'गरिमा' की गणना भेदों में की है । उनके व्याख्यान[2] से ऐसा प्रतीत होता है कि 'कामावसायित्व' का अन्तर्भाव 'वशित्व' के अन्तर्गत [अथवा 'ईशित्व' के अन्तर्गत, जैसा कि तत्त्वकौमुदी की 'किरणावली' टीका में किया गया है] होना चाहिए । इस प्रकार स्पष्ट है कि इन टीकाकारों के अनुसार यदि कोई भेद छोड़ा जा सकता है तो वह प्रथम तो 'कामावसायित्व' ही है या फिर वह 'वशित्व' अथवा 'ईशित्व' है, 'गरिमा' तो कदापि नहीं। किन्तु गौडपाद-भाष्य तथा जयमङ्गला में तो 'गरिमा' को ही छोड़ दिया गया है । ऐसी स्थिति में यदि इनके अनुसार 'कामावसायित्व' का 'वशित्व' अथवा 'ईशित्व' में अन्तर्भाव माना जाय तो आठ के स्थान में सात ही भेद रह जायँगे, जब कि दोनों ही आठ भेद मानते हैं। सम्भवतः इसीलिए दोनों ने ही 'कामाव-सायित्व' का सामान्य से थोड़ा भिन्न अर्थ किया है जिससे इसका अन्तर्भाव शेष किसी में भी नहीं हो सकता । गौडपाद का 'यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचर-तीति' व्याख्यान 'अवसायित्व' के शाब्दिक अर्थ से सम्बद्ध नहीं प्रतीत होता, सम्भवतः

१. सम्पादक पं० हरदत्तशर्मा ने नीचे यह टिप्पणी दी है :—'यत्रकामावसायित्वमिति पठनीयम्' । परन्तु जयमंगला के अपने व्याख्यान के अनुसार तो 'यत्रकामावशायित्वम्' ही समीचीन पाठ है । निश्चित ही शर्मा जी ने परम्परागत पाठ का अनुसरण करते हुए ही 'यत्रकामावसायित्वम्' पाठ का प्रस्ताव किया है । जयमंगला के शब्दों पर दृष्टि डालने की आवश्यकता ही न समझी । यह आलोचना तभी संगत होगी, जब कि 'यत्रकामावसायित्वम्' में 'श' के स्थान में 'स' को मुद्रण या छापे की अशुद्धि न माना जाय । अन्यथा तो पादटिप्पणी का पाठ जयमंगलानुसार ही माना जायगा ।

२. द्रष्टव्य, का० २३ की तत्त्वकौमुदी, पृ० १३८:—वशित्वम्, यतो भूतभौतिकं वशीभवत्यवश्यम् । ईशित्वम्, यतो भूतभौतिकानां प्रभवस्थितिलयानामीष्टे । यच्च कामावसायित्वं सा सत्यसङ्कल्पता, येन यथास्य संकल्पो भवति भूतेषु, तथैव भूतानि भवन्ति। अन्येषां मनुष्याणां निश्चयाः निश्चेतव्यमनुविधीयन्ते, योगिनस्तु निश्चेतव्याः पदार्था निश्चयम् ।

इसी कारण से जयमङ्गलाकार ने परम्परागत 'अवसायित्व' पाठ के स्थान में 'अवशायित्व' पाठ मान कर उसे 'शी' धातु से निष्पन्न माना है, और 'शी' का भी अर्थ शयन नहीं अपितु स्थिति लिया है ताकि उन्हें अभिमत गौडपाद-कृत अर्थ का इस शब्द से साक्षात् अर्थात् अभिधा द्वारा ग्रहण किया जा सके। स्पष्ट है कि जयमङ्गलाकार को 'कामावसायित्व' के स्थान में 'कामावशायित्व' पाठ की सूझ इस शब्द के गौडपाद-कृत अर्थ से ही मिली जिससे यह पाठ-परिवर्तन सम्पन्न करके जयमङ्गलाकार ने गौडपाद-भाष्यानुसारी स्व-कृत अर्थ को सकारण या साधार बना दिया है। इससे सिद्ध है कि इस स्थल में जयमंगलाकार के लेख का स्रोत गौडपाद के अतिरिक्त अन्य किसी का लेख नहीं हो सकता।

४१ वीं कारिका के 'तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्' इस द्वितीयार्ध के व्याख्यान में भी जयमंगलाकार गौडपाद के भाष्य का ही साक्षात् उपयोग करते प्रतीत होते हैं। यद्यपि माठर के व्याख्यान में भी 'अविशेषा इति तन्मात्राणि... त्रयोदशकरणाख्यं लिङ्गं न तिष्ठति' इत्यादि लेख उपलब्ध है, तथापि जयमङ्गलाकार का 'अविशेषास्तन्मात्राणि, लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमिह गृह्यते' इत्यादि व्याख्यान गौडपाद के 'विनाविशेषैरविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति.. लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः' इत्यादि व्याख्यान पर साक्षात् आधारित प्रतीत होता है। इन कारणों से स्पष्ट है कि गौडपाद जयमङ्गलाकार से पहले के हैं। अगले प्रसंग में सविस्तर दिखाया जायगा कि वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्त्वकौमुदी टीका में जयमंगला का प्रर्याप्त उपयोग किया है, अतः उनसे जयमंगलाकार प्राचीन हैं। वाचस्पति मिश्र ने अपने 'न्यायसूची निबन्ध' को वि० सं० ८९८ अर्थात् ८४१ ई० में समाप्त किया था, अतः वे ७५० से ८५० के बीच रक्खे जा सकते हैं। उनसे पूर्ववर्ती जयमङ्गलाकार का समय ७०० ई० के आसपास माना जा सकता है। अतः गौडपाद का समय इससे पूर्व ६५० ई० के आसपास होना चाहिए[१]।

पहले कहा जा चुका है कि पं० उदयवीर शास्त्री गौडपाद-भाष्य के माठर-वृत्ति के छाया-मात्र होने के कारण, उसके रचयिता गौडपाद को प्रसिद्ध माण्डूक्य-कारिकाओं के रचयिता गौडपाद से भिन्न मानते हैं। यह बात अवश्य सत्य है कि गौडपाद-भाष्य में माठर की व्याख्या का बहुत अधिक उपयोग हुआ है, यहाँ तक कि माठरोक्त जो तथ्य सांख्य दर्शन में अद्भुत या असंगत भी प्रतीत होता है, उसे भी गौडपाद ने अपने भाष्य में अपनाया है, और केवल गौडपाद ने ही। जैसे ११वीं कारिका के 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' अंश की व्याख्या में माठर ने 'अहेतुमान् नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिङ्गो निरवयवः स्वतन्त्र इति' तथा २२ वीं कारिका के 'प्रकृतेः' पद की व्याख्या में 'प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तं बहुधात्मकं मायेति पर्यायाः' ऐसा लिखा है, उसी प्रकार गौडपाद ने भी इन्हीं कारिकाओं के इन्हीं अंशों के व्याख्यान में क्रमशः 'अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः', तथा

---

१ पं० उदयवीर जी ने ये समय क्रमशः ६५० ई० तथा ५५० ई० के आस-पास माने हैं—द्रष्टव्य पृ०३७३ तथा ४०६।

'प्रकृतिः प्रधानं ब्रह्म अव्यक्तं बहुधानकं[१] (बहुधात्मकं—माठर) मायेति पर्यायाः' लिखा है। माठर और गौडपाद को छोड़ कर अन्य किसी भी आचार्य ने सांख्य के पुरुष को एक नहीं माना है। इसी प्रकार सांख्य की प्रकृति के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग भी शायद इन्हीं दोनों आचार्यों ने किया है जो कि कठ-स्थित 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' इत्यादि मन्त्र के 'अव्यक्त' पद की शंकराचार्य-कृत 'महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं...अव्यक्तं, सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपं सतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्तमव्याकृताकाशादिनामवाच्यम्' इत्यादि व्याख्या का स्मरण करता है। इसी प्रकार ४४ वीं कारिका के 'ज्ञानेन चापवर्गः' अंश के माठर-कृत 'यत् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं तेन ज्ञानेन तत् सूक्ष्मशरीरं निवर्तते, परमात्माऽपवर्गं प्राप्नोति मोक्षं गच्छतीत्यर्थः' इत्यादि व्याख्यान पर ही गौडपाद का 'ज्ञानेन चापवर्गः, अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं, तेन निमित्तेनापवर्गो मोक्षः, ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्तते, परमात्मा उच्यते'[२] (? मुच्यते) इत्यादि व्याख्यान आधारित है। इन सन्दर्भों में 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त किसी ने भी 'परमात्मा' का 'मोक्ष-प्राप्ति' के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। इन आचार्यों के ऐसा लिखने का यह तात्पर्य तो नहीं है कि मुक्ति प्राप्त करने वाला आत्मा या पुरुष वस्तुतः परमात्मा या ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं ? यदि ऐसा हो, तब तो प्रधान के 'ब्रह्म' और 'अव्यक्त' पर्यायों की भाँति आत्मा या साधारण पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ पुरुष-विशेष का वाचक 'परमात्मा' शब्द भी माठर-वृत्ति और गौडपाद-भाष्य पर वेदान्ती प्रभाव का ही परिचायक होगा। तब फिर इस कारण से भी गौडपाद-भाष्य के रचयिता गौडपाद को पं० उदयवीर शास्त्री की मान्यता के विरुद्ध माण्डूक्य-कारिकाओं के रचयिता अद्वैतवादी गौडपाद से अभिन्न मानना अधिक स्वाभाविक और युक्त होगा। श्री राधानाथ पूखन, वेदान्तवाचस्पति ने भी सांख्यकारिका-भाष्य के रचयिता गौडपाद को माण्डूक्य-कारिकाओं के रचयिता अद्वैती गौडपाद से अभिन्न माना है। सांख्यकारिकाओं की अपनी व्याख्या[३] की भूमिका के पृष्ठ ४२ पर उन्होंने इस प्रकार लिखा है :—

"Gaudapada, the uncompromising monist, at once identified Puman with Brahman and Purusha with the Seer, the Jivatman, and explained that according to the Sankhya, there is no distinction between the Jivatman and the Paramatman (ब्रह्मन्)

इसी प्रकार माठरवृत्ति को भी शास्त्री जी की मान्यता के विरुद्ध अनुयोगद्वारसूत्र

---

१. बहुधानकं बहु धानं (धारणार्थकधाधातोर्ल्युटि भावे) धारणं यस्मिन् तत् बहुधानकम्।

२. स्पष्ट है कि 'उच्यते' अशुद्ध पाठ है क्योंकि अपवर्ग के प्रस्तुत प्रसंग में इसका कोई अर्थ नहीं निकलता। 'मुच्यते' पाठ ठीक लगता है, क्योंकि 'अपवर्ग' एवं उसके व्याख्यान 'मोक्ष' के साथ इसी पद की संगति बैठती है, 'उच्यते' की नहीं।

३. यह व्याख्या अँग्रेजी में है। इसका प्रथम संस्करण अक्टूबर, सन् १९६० ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका भारतीय दर्शनों, विशेषतः सांख्य एवं वेदान्त, के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करती है। विचारों की नवीनता एवं मौलिकता इसकी महती विशेषता है, यद्यपि लेखक की मान्यताओं को स्वीकार कर सकना प्रायः बड़ा कठिन है।

तथा गुणरत्न-कृत षड्दर्शनसमुच्चय-टीका में उल्लिखित अत्यन्त प्राचीन माठर-भाष्य का परवर्ती—गौडपाद-भाष्य से भी परवर्ती— परिवर्तित संस्करण, जिसमें हस्तामलकस्तोत्र, भागवत, विष्णुपुराण आदि के उद्धरण प्राप्त होते हैं, मानना ही अधिक स्वाभाविक एवं संगत होगा। पीछे माठर-प्रसंग में भी कह ही आये हैं कि वर्तमान माठरवृत्ति एवं चीनी अनुवाद के अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' नाम से पुनर्घटित संस्कृत रूपान्तर में इतना अधिक भेद है कि उदयवीर शास्त्री के तदर्थ अनेक कारण देने पर भी माठरवृत्ति को चीनी अनुवाद का मूल ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत पं० अय्यास्वामी शास्त्री के इस मत को ही अधिक मान्यता देनी पड़ेगी कि चीनी अनुवाद का मूल ग्रन्थ प्राचीन आचार्य माठर द्वारा रचित (किन्तु इस समय में अनुपलब्ध) 'माठर-भाष्य' था। इसी प्राचीन भाष्य का अर्वाचीन या परवर्ती परिवर्तित संस्करण 'माठरवृत्ति' नाम से हुआ जिसमें यत्र-तत्र वेदान्ती विचारों का समावेश हो जाने पर भी मूल के मुख्य विषयों के ज्यों का त्यों सुरक्षित रहने के कारण ही दोनों—माठरवृत्ति तथा चीनी अनुवाद —में आत्यन्तिक साम्य परिलक्षित होता है। प्रसिद्ध अद्वैती एवं मायावादी आचार्य गौडपाद से बाद की रचना होने के कारण माठरवृत्ति में उनके सांख्यकारिका-भाष्य का अनुसरण एवं वेदान्ती प्रभाव का दर्शन होना सर्वथा स्वाभाविक होगा। माठर-वृत्ति की अपेक्षा गौडपाद-भाष्य की संक्षिप्तता इस अनुमान की और भी अधिक पुष्टि करती है।

जयमङ्गलाकार

पिछले प्रसङ्ग में यह दिखलाया जा चुका है कि जयमङ्गलाकार गौडपाद से अर्वाचीन हैं। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम यह दिखलाया जायगा कि जयमङ्गलाकार वाचस्पति मिश्र से प्राचीन हैं। वाचस्पति मिश्र ने अपनी कारिका-टीका 'तत्त्वकौमुदी' में जयमंगला का कई स्थल में उपयोग किया है। यह उपयोग प्रायः तो अनुसरण-रूप ही है पर एकाध स्थल में आलोचना अथवा दूषण रूप भी। जयमंगला के व्याख्यान की आलोचना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल ५१वीं सांख्यकारिका के व्याख्यान में है जिसमें वाचस्पति मिश्र ने ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति तथा दान, इन पाँच सिद्धियों के स्व-कृत व्याख्यान के बाद 'अन्ये व्याचक्षते' शब्दों के साथ जयमंगला के व्याख्यान को प्रायेण उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किया है। 'अन्ये' पद के प्रयोग से इस व्याख्यान के प्रति वाचस्पति मिश्र की अरुचि अथवा अस्वारस्य स्पष्ट है। यद्यपि यह व्याख्यान माठर-वृत्ति, युक्तिदीपिका तथा गौडपाद-भाष्य में भी उपलब्ध होता है, तथापि जिस शब्द-साम्य एवं पदानुपूर्वी के साथ यह जयमंगला में प्राप्त होता है, उसके साथ अन्य तीनों टीकाओं में नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि वाचस्पति मिश्र के इस लेख का आधार या स्रोत जयमंगला-कृत व्याख्यान ही है। तुलना के लिये दोनों के सन्दर्भ यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :—

'जन्मान्तरसंस्कृतधियो यस्य बन्धमोक्षकारणमुत्प्रेक्षमाणस्य प्रधानपुरुषान्तरज्ञानमुत्पद्यते तस्य सिद्धिरूहहेतुका प्रथमा······। यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दहेतुका द्वितीया······। यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन सांख्यशास्त्रं शब्दतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते, तस्य अध्ययनहेतुका। अध्ययनेन हि तत्परिज्ञानात्।

एषा तृतीया······ । × × × सुहृत्प्राप्तिरिति । योऽधिगततत्त्वः (? त्त्वं) सुहृदं प्राप्य ज्ञान-मधिगच्छति, तस्य सुहृत्पूर्विका । मित्रं हि स्नेहात् ज्ञानं प्रकाशयति । इयं सप्तमी······ । दानं च सिद्धिहेतुः । दानेन ह्याराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति । इयमष्टमी········ ।' ५१वीं का० की जयमंगला, पृ० ५५ ।

'अन्ये व्याचक्षते । विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात् तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत्, सा सिद्धिरूहः यस्य सांख्यशास्त्र पाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, सा सिद्धिः शब्दः, शब्दपाठानन्तरं भावात् । यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन सांख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चा-धीत्य ज्ञानमुत्पद्यते, साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम् । सुहृत्प्राप्तिरिति । यस्याधिगत-तत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते, सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः । दानं च सिद्धिहेतुः, धनादिदानेनाराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति ।'— तत्त्वकौमुदी, पृ० १६४ ।

इन दोनों सन्दर्भों के वाक्यों, पदानुक्रमों एवं अर्थों में इतनी अधिक समानता है कि एक के दूसरे पर आधारित होने की बात में तनिक भी सन्देह नहीं होता । वाचस्पति मिश्र द्वारा उपसंहार के रूप में लिखे गए 'अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन नः सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति,' इस वाक्य से भी स्पष्ट है कि जयमंगला-कृत व्याख्यान को कम से कम वाचस्पति मिश्र तो युक्त या संगत नहीं ही मानते । 'परदोषोद्भावन' तथा 'सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानाम्' पदों से सुस्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र की दृष्टि से जयमंगला-कृत व्याख्यान समीचीन न होने के कारण अपसिद्धान्त —दूषित सिद्धान्त—है । हाँ, इतनी बात अवश्य सत्य है कि अपने द्वारा प्रतिपादित अर्थ की गम्भीरता तथा जयमंगला में प्रतिपादित अर्थ की उत्तानता (उथलापन) के स्फुट एवं स्पष्ट होने के कारण वाचस्पति मिश्र ने उसकी ओर संकेत भर कर दिया है, स्पष्ट शब्दों द्वारा उसका खण्डन नहीं किया । ऐसा करने का एक कारण यह भी रहा होगा कि जय-मंगला-कृत अर्थ माठर, युक्तिदीपिकाकार तथा गौडपाद, सभी प्राचीन टीकाकारों द्वारा स्वीकृत तथा समर्थित है । उनके प्रति समस्त विद्वज्जगत् का तथा अपना भी सम्मान-भाव होने के कारण आचार्य ने उसका स्वयं खण्डन न करके उसे सहृदय सूरियों के लिए छोड़ दिया ।

इस सम्बन्ध में पं० उदयवीर शास्त्री का "इस लेख से स्पष्ट है कि वाचस्पतिमिश्र को स्वयं जयमंगला के विरुद्ध लिखने का साहस नहीं हुआ । मिश्र जैसा उद्‌भट लेखक जो परमत-प्रत्याख्यान के समय 'नैयायिकतनय' आदि पदों का भी उल्लेख करने में संकोच नहीं करता, जयमंगला के विरुद्ध लेखनी नहीं उठा सका, इसका कोई विशेष कारण ही हो सकता है । सम्भव है, अन्य अज्ञात कारणों के अतिरिक्त उस समय अध्ययनाध्यापन-प्रणाली में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार होना, और विद्वानों के हृदय में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा का होना भी ऐसे कारण हों, जिनसे प्रभावित हो कर वाचस्पतिमिश्र को उक्त मार्ग अनुसरण करना पड़ा हो । ऐसे समय में, जब कि यातायात के सुलभ साधनों का अभाव था······ जयमंगला जैसे परमार्थ-विषम-सम्बन्धी ग्रन्थ के प्रचार के लिये पर्याप्त समय अपेक्षित होना चाहिये । हमारा अनुमान यह है कि लगभग दो सौ वर्ष का ऐसा समय अवश्य माना जाना चाहिये, जब कि इस ग्रन्थ के लिखे जाने के बाद शनैः शनैः वाचस्पति मिश्र के समय तक

इसका पठनपाठन-प्रणाली में पर्याप्त प्रचार हो चुका होगा।" इत्यादि लेख कुछ अतिरञ्जित प्रतीत होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, माठर, युक्तिदीपिकाकार तथा गौडपाद आदि सभी प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकारों में उपलब्ध अर्थ के ही जयमंगला द्वारा अनुसृत या गृहीत होने के कारण उन सभी के प्रति—केवल जयमंगलाकार के प्रति ही नहीं—सम्मान-भाव प्रदर्शित करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने उसका शब्दों द्वारा स्पष्ट खण्डन न करके केवल उसका संकेत कर दिया है। और यह एकमात्र क्या सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भी कारण नहीं प्रतीत होता। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण तो उपर्युक्त स्वकृत गम्भीर अर्थ की अपेक्षा जयमंगला-कृत अर्थ का उत्तान होना ही प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पं० उदयवीर जी को जयमंगलाकार का समय वाचस्पति मिश्र से २०० वर्ष पूर्व अर्थात् ईसवी सप्तम शतक के मध्य (६५० ई०) तक या उसके भी पूर्व सिद्ध करना था, इसीलिये उन्होंने वाचस्पति मिश्र के समय में जयमंगला के अत्यधिक प्रचार तथा उसके प्रति तात्कालिक विद्वानों के हृदय में सम्मान-भाव होने की अतिरंजित कल्पना की है। यह कल्पना उन्हें इस कारण से और भी अधिक अनुकूल पड़ी होगी कि वे जयमंगला से प्राचीन गौडपाद-भाष्य के रचयिता गौडपाद को माण्डूक्य-कारिकाओं के प्रसिद्ध रचयिता एवं शङ्कराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य, जिनका समय शङ्कराचार्य के ७८८ से ८१२ ई० तक माने जाने के कारण अधिक से अधिक ६५० ई० तक पीछे ठेला जा सकता है, से भिन्न मानते हैं और जयमंगलाकार का समय अद्वैती गौडपाद का ही समय (६५० ई०) अथवा उससे भी कुछ पूर्व ही सिद्ध हो जाने पर उनसे पर्याप्त प्राचीन सांख्यकारिका-भाष्यकार गौडपाद सहज ही माण्डूक्यकारिकाकार गौडपाद से भिन्न सिद्ध हो जाते हैं। जो भी हो, जयमंगलाकार के समय को वाचस्पति मिश्र से २०० वर्ष पूर्व रखने के लिए हमारे पास कोई सबल प्रमाण या आधार नहीं है। अतः जैसा पिछले प्रकरण में भी कहा जा चुका है, उनका समय ७०० ई० से बाद ही होगा, पूर्व नहीं।

पूर्वोक्त प्रसंग के अतिरिक्त कई ऐसे स्थल हैं, जहाँ वाचस्पतिमिश्र जयमंगला के व्याख्यान का स्पष्ट ही अनुसरण और उपयोग करते प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ विशिष्ट स्थलों का ही यहाँ दिग्दर्शन कराया जा रहा है :—

(१) १३वीं कारिका के 'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्' अंश में सत्त्व गुण के लघुत्व (हल्कापन) और प्रकाशकत्व धर्मों का कथन किया गया है। किन्तु माठर की व्याख्या से प्रतीत होता है कि उन्होंने इन दोनों के अतिरिक्त 'इष्टत्व' को भी उसका धर्म माना है। उनका लेख इस प्रकार है :—'अत्र यत् पूर्वस्यामार्यायामभिहितं सत्त्वलक्षणं तल्लघुत्व प्रकाशकलक्षणं च।.........इष्टं च स्वरूपसाधनहेतुत्वात्।' माठर के लेख का तात्पर्य यह है कि पूर्व आर्या में जो सत्त्व रूप 'गुण' वर्णित है, वह प्रस्तुत कारिका में लघु और प्रकाशक कहा गया है। वह इष्ट भी है क्योंकि वह स्वरूप-साधन का हेतु है। सत्त्व का उद्रेक होने पर ही आत्म-स्वरूप का ज्ञान होने की संभावना होती है। चूंकि रजस् और तमस् के उद्रेक में यह स्थिति संभव नहीं हो सकती, इसीलिये वे 'इष्ट' नहीं हो सकते। बाद के किसी भी टीकाकार ने 'इष्ट' शब्द का यह अर्थ नहीं किया। युक्तिदीपिकाकार ने

इसे क्रिया-पद माना और जयमंगलाकार ने इसके साथ 'सांख्याचार्य' पद की योजना करके इसके क्रिया होने को स्पष्ट कर दिया :—'इष्टं सांख्याचार्याणां सत्त्वं लघुस्वभावं प्रकाशं च।' अर्थात् सांख्याचार्यों को सत्त्व का लघु एवं प्रकाशक होना अभीष्ट या अभिमत है। गौडपाद ने इस पद का कोई अर्थ न देकर यों ही छोड़ दिया है। वाचस्पति मिश्र ने भी जयमंगला का अनुसरण करते हुये 'सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः' इत्यादि लिखा है।

(२) 'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्। शब्दतन्मात्रप्रतिसंहितात् स्पर्शतन्मात्रात् द्विगुणो वायुः। ताभ्यां प्रतिसंहिताद्रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः। तैः प्रतिसंहिताद्रसतन्मात्रात् चतुर्गुणा आपः। चतुर्भिः प्रतिसंहिताद् गन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवीति।' का० २२ की जयमंगला, पृ० ३०।

'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, शब्दस्पर्श-रूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्ध-तन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इत्यर्थः।'—का० २२ की तत्त्व०, पृ० १३२।

जयमंगलाकार का उपर्युक्त अर्थ माठर के तन्मात्रानुप्रवेश-सिद्धान्त का अनुसरण करता है। यद्यपि युक्तिदीपिकाकार ने माठर के इस सिद्धान्त को ३८वीं कारिका का व्याख्यान करते हुए काटा है, और जयमंगलाकार युक्तिदीपिकाकार से अर्वाचीन हैं, तथापि इस प्रसंग में उन्होंने माठर का ही मत स्वीकार किया है और वाचस्पति मिश्र ने तो इसे प्रायः जयमङ्गला के ही शब्दों में अपना लिया है। केवल जयमंगला के 'एकगुणम्' इत्यादि शब्दों के स्थान में वाचस्पति मिश्र ने 'शब्दगुणम्' इत्यादि, तथा जयमंगला के 'प्रतिसंहितात्' के स्थान में उसी का पर्याय 'सहितात्' शब्द रख दिया है।

(३) 'पूर्वोत्पन्नमित्यादि। प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमुत्पादितत्वात् पूर्वोत्पन्नम्। असक्तमप्याह। तन्न क्वचिद् विहन्यते, पर्वतमपि भित्त्वा गच्छति।'—का० ४० की जयमंगला, पृ० ४५।

'पूर्वोत्पन्नमिति। पूर्वोत्पन्नं प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्। असक्तमव्याहतं शिलामप्यनुप्रविशति।'—का० ४० की तत्त्वकौमुदी, पृ० १७२।

(४) ५१ वीं कारिका के उपसंहारात्मक अंश 'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' की व्याख्या करते हुये पूर्व कारिकाओं में निर्दिष्ट पचास प्रत्ययसर्ग [बुद्धि-भेद] के साथ दश मौलिक अर्थों का भी निर्देश 'तथा च संग्रहकारः' शब्दों के साथ उद्धृत एक उपजाति छन्द के द्वारा किया है और फिर इनके मौलिक आधार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—'एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं चेति प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्यत्वमकर्तृत्वं चेति पुरुषमधि-कृत्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभयमधिकृत्य। स्थितिः मूल (? स्थूल) सूक्ष्ममधिकृत्य।' वाचस्पतिमिश्र ने भी अन्त की ७२ वीं कारिका की व्याख्या में इन दश मौलिक अर्थों का निर्देश तीन अनुष्टुप् छन्दों में करने के अनन्तर इनके मौलिक आधार को जयमंगलाकार के ही शब्दों में स्पष्ट किया है :—'एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं च प्रधानमधिकृत्योक्तम्। अन्य-

त्वमकर्तृत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य । अस्तित्वं वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य । वृत्तिः स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य ।' दोनों सन्दर्भों की तुलना करने से स्पष्ट होता है कि ये शब्दशः एक ही हैं, केवल जयमंगला के 'स्थितिमूंलसूक्ष्मम्' के स्थान में तत्त्वकौमुदी में 'वृत्तिः स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्मम्' पाठ है।[1] 'वृत्ति' उद्धृत श्लोक का मौलिक शब्द है जिसका अर्थ वाचस्पतिमिश्र ने 'स्थिति' किया है। हाँ, जयमंगला के 'मूलसूक्ष्मम्' के स्थान में तत्त्वकौमुदी का 'स्थूलसूक्ष्मम्' पाठ अवश्य ही विशिष्ट एवं अधिक सार्थक है। हो न हो, वाचस्पति मिश्र को जयमंगला में 'स्थूलसूक्ष्मम्' ही पाठ मिला हो, अथवा उन्हें भी पं० हरदत्त शर्मा के द्वारा सम्पादित जयमंगला में रक्खा गया 'मूलसूक्ष्मम्' ही पाठ मिला हो और उसे बहुत सार्थक या उपयुक्त न समझकर उन्होंने अपने ग्रन्थ में संशोधित करके 'स्थूलसूक्ष्मम्' पाठ रक्खा हो। जो कुछ भी सत्य हो, इतना निश्चित है कि इतने भेद से इस निष्कर्ष में कोई विघ्न नहीं उपस्थित होता कि वाचस्पति मिश्र के लेख का आधार जयमंगला का उपर्युक्त सन्दर्भ ही है।

पूर्व विवेचन के आधार पर यह तथ्य सुसिद्ध है कि जयमंगला के रचयिता तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र से प्राचीन हैं । हाँ, यह तथ्य अवश्य ही सन्दिग्ध है कि इस प्राचीनता की अवधि कितनी है। जैसा थोड़ा ही पहले कहा जा चुका है, पं० उदयवीर शास्त्री का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता कि इन दोनों आचार्यों का कालिक व्यवधान दो सौ वर्षों से भी अधिक का रहा होगा। माण्डूक्य-कारिकाओं एवं सांख्यकारिका-भाष्य, दोनों के रचयिता गौडपादों के एक ही होने, उनके ७८८ से ८१२ ई० के बीच स्वीकृत भाष्यकार शङ्कराचार्य के परम-गुरु होने, तथा उनसे जयमंगलाकार के अर्वाचीन सिद्ध होने के कारण, जयमंगलाकार का समय ७०० ई० से पूर्व का नहीं ज्ञात होता। ऐसी स्थिति में ८४१ ई० में 'न्यायसूचीनिबन्ध' को पूर्ण करने वाले वाचस्पति मिश्र से जयमंगलाकार के समय का व्यवधान प्रायेण एक शताब्दी का प्रतीत होता है। २०० वर्षों से भी अधिक समय का व्यवधान माने जाने के पक्ष में शास्त्री जी ने जो एक यह तर्क या हेतु प्रस्तुत किया है कि इसके रचयिता शङ्कर दाक्षिणात्य और उनके आलोचक वाचस्पति मिश्र मिथिला-निवासी थे, अतः दक्षिण प्रदेश में प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तर भारत में इतने अधिक प्रचार के लिये अवश्य पर्याप्त समय की अपेक्षा हो सकती है और वह भी सांख्य जैसे आध्यात्मिक एवं अप्रचारित-विषयक ग्रन्थ के लिये[2], यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। दक्षिण में लिखे गये ग्रन्थ के उत्तर में प्रचारित होने के लिये दो सौ वर्षों का समय अपेक्षित है, इसमें विनिगमक हेतु क्या है? क्या वह समय उससे कम अथवा अधिक भी नहीं हो सकता? वाचस्पति मिश्र के न्यायशास्त्र के गुरु त्रिलोचन दाक्षिणात्य थे उन्होंने उन्हीं के द्वार से उत्तर

---

१. पं० उदयवीर शास्त्री का उभयत्र 'स्थितिः स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य' पाठ रखना किस आधार पर है, कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि दोनों पाठों का भेद नगण्य समझ कर ऐसा कर लिया, तब तो यह अनुचित किया। पर यदि किन्हीं पाण्डुलिपियों के आधार पर ऐसा किया, तो उसका उद्धरण उन्हें देना चाहिए था।

२ द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३७३।

भारत में उस समय नष्टप्राय किन्तु दक्षिण में बहुत कुछ जीवित न्याय-विद्या प्राप्त की थी। क्या यह भी सम्भव नहीं हो सकता कि समस्त दर्शनों के जिज्ञासु वाचस्पति मिश्र ने दक्षिण में सुप्रचलित जयमंगला के विषय में अपने न्याय-गुरु त्रिलोचन से सुनकर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की हो और अन्ततः उन्हीं के माध्यम से उसे देखने का भी सौभाग्य प्राप्त किया हो। सुप्रसिद्ध सांख्यकारिकाओं पर व्याख्या लिखने का भाव पहले से ही मन में प्रबल रूप से विद्यमान रहने पर तो यह सम्भावना वास्तविकता की कोटि पर पहुँचती प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में सौ क्या, पचीस-पचास वर्ष के अन्दर भी यदि किसी विख्यात एवं प्रचलित ग्रन्थ को दक्षिण भारत से उत्तर भारत में पहुँच जाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है? कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी रचना के प्रायः सौ ही वर्ष के अन्तर्गत जयमंगला के वाचस्पति मिश्र के हाथों लग जाने की पूर्ण परिस्थिति उपस्थित थी, इस बात में प्राचीन साहित्यिक परम्परा का भी प्रामाण्य प्राप्त है। ऐसी स्थिति में शास्त्री जी द्वारा वाचस्पति मिश्र से जयमंगलाकार का दो सौ वर्ष पूर्व रक्खा जाना समीचीन नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार वे ७०० ई० के बाद ही रक्खे जा सकते हैं, पूर्व नहीं।

परन्तु पं० हरदत्त शर्मा जयमंगलाकार को वाचस्पति मिश्र से पूर्व का मानते हुये भी ७०० ईसवी से पचीस-पचास वर्ष बाद का नहीं, लगभग तीन सौ वर्ष बाद अर्थात् लगभग १००० ई० या उससे कुछ पूर्व का मानते हैं। उनके मत से वाचस्पति मिश्र का समय लगभग ११०० ई० सिद्ध होता है[१]। 'अपने इस मत के निर्धारण में शर्मा जी ने प्रो० मैकडानल की दुहाई दी है, स्वयं किसी भी प्रकार का तर्क या हेतु नहीं दिया है। स्वयं प्रो० मैकडानल ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार का कथन-मात्र करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है।[२] अतः प्रो० मैकडानल तथा प्रो० शर्मा के कथनों से कुछ भी हस्तगत नहीं होता। अगले प्रकरण में वाचस्पति मिश्र के समय पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गौतम के न्यायसूत्रों का 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम से जो सम्पादन वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' की समाप्ति पर किया है, उसके उपसंहारात्मक **'न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे । श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे'**, इस श्लोक में उसका समय ८६८ संवत्सर दिया है जो अन्य कई कारणों से विक्रमाब्द सिद्ध होने से ८४१ ई० होता है। इस प्रकार उनका समय प्रायेण ईसवी नवम शताब्दी के पूर्वार्ध तक ही सीमित प्रतीत होता है। फिर शर्मा जी इस श्लोक की उपेक्षा करके किस आधार पर वाचस्पति मिश्र का समय लगभग ११०० ई० मानते हैं, कुछ स्पष्ट नहीं होता। हाँ, शर्मा जी को अपना लेख प्रस्तुत करने में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा

---

१. द्रष्टव्य, Proceedings of the Fifth Indian Oriental Conference Lahore, १९२८ ई०, पृ० १०३८।

२. द्रष्टव्य, मैकडानल-कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३९३।—"There are two excellent commentaries on the Sankhya-Karika, the one composed about 700 A. D. by Gaudapada, and the other soon after 1100 A. D. by Vacaspati Mishra."

पं० गोपीनाथ कविराज के लेखों का आधार अवश्य प्राप्त था। गुलेरी जी ने कामन्दक-कृत नीतिसार की जयमंगला टीका के रचयिता शङ्करार्य को ही वात्स्यायन-कृत कामसूत्र की जयमंगला टीका का भी रचयिता सिद्ध कर रक्खा था[1]; तथा कविराज जी ने गुलेरी जी की इस स्थापना को सत्य मानते हुये सांख्यकारिका की जयमंगला व्याख्या के प्रो० शर्मा द्वारा सम्पादित संस्करण की भूमिका में इसी शङ्करार्य को सांख्यकारिका की जय-मंगला टीका का भी रचयिता सिद्ध कर रक्खा था[2]। इस प्रकार तीनों ही जयमंगलाओं का एक ही रचयिता सिद्ध होने, तथा कुछ अन्य कारणों[3] से वात्स्यायन-कृत कामसूत्र की टीका जयमंगला के ईसवी १००० या उसके भी बाद की रचना सिद्ध होने से सांख्यकारिका की टीका जयमंगला भी स्वतः ही उसी समय की रचना सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार जब जयमंगला १००० ई० या उसके भी बाद की रचना सिद्ध हो गई, तब अपनी सांख्य-तत्त्वकौमुदी में उसका उल्लेख करने वाले वाचस्पति मिश्र स्पष्ट ही ११०० ई० के आस-पास के ठहरेंगे।

अब जहाँ तक गुलेरी जी तथा कविराज जी के मतों की सत्यता का प्रश्न है, वह अवश्य ही विचारणीय है। गुलेरी जी ने इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १९१३ ई० के पृ० २०२-३ पर प्रकाशित अपने लेख में इस बात को सिद्ध किया है कि कामन्दक-कृत नीतिसार की जयमंगला टीका का रचयिता शङ्करार्य[4] ही वात्स्यायन-कृत कामसूत्र की जयमंगला टीका का भी रचयिता है। इसके दो-तीन मुख्य कारण गुलेरी जी ने दिये हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :—(१) दोनों ग्रन्थों के प्रारम्भिक नमस्कार-श्लोकों की समानता। ये श्लोक इस प्रकार हैं :—"(i) कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः तस्माद् विधास्ये जयमंगलाख्यां तत्पञ्जिकां सर्वविदं प्रणम्य ॥" (ii) "वात्स्यायनीयं किल कामसूत्रं प्रस्तावितं कैश्चिदिहान्यथैव। तस्माद्विधास्ये जयमंगलाख्यां टीकामहं सर्वविदं प्रणम्य ॥" दोनों श्लोक एक-से हैं, विशेषतः दोनों के उत्तरार्ध तो बिलकुल एक हैं, केवल प्रथम के 'तत्पञ्जिकां' के स्थान में द्वितीय में 'टीकामहं' शब्द प्रयुक्त है।

(२) कामन्दक-कृत नीतिसार १।५८ श्लोक[5] तथा वात्स्यायन-कृत कामसूत्र १।२।४४[6] की व्याख्याओं की नितान्त समानता। ये इस प्रकार हैं :—(ii) तत्र दण्डको नाम भोजवंशमुख्यः। तन्निमित्तप्रसिद्धनामा दाण्डक्यो नाम। स च मृगयां गतस्तृषितो भृग्वाश्रमं प्रविश्य तत्कन्यां रूपयौवनवतीमेकाकिनीं दृष्ट्वा जातरागस्तां स्यन्दनमारोप्य स्वपुरमाजगाम। भृगुरपि समित्कुशादीनादाय वनादागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं ज्ञात्वा जातक्रोधस्तं शशाप 'सप्तभिरहोभिः पांसुवृष्ट्या सबन्धुराष्ट्रो विपद्यताम्' इति। स तयाक्रान्त-

१. द्रष्टव्य, १९१३ ई० की इण्डियन ऐण्टीक्वरी, पृ० २०२-३।

२. द्रष्टव्य, १९२६ ई० में कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में डा० नरेन्द्रनाथ ला द्वारा प्रकाशित सांख्यकारिका-टीका जयमंगला की भूमिका, पृ० ६।

३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३७५-८४।

४. द्रष्टव्य, कामन्दकीय नीतिसार की जयमंगला टीका की पुष्पिका :—"इति शंकरार्यकृतायां कामन्दकीयनीतिसारपञ्जिकायां जयमंगलायां....नाम....सर्गः।'

५. दाण्डक्यो नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः। लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्हर्षतोऽसुरः ॥

६. यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।

स्तथैव ननाश।" (ii) दाण्डक्य इति संज्ञा। भोज इति भोजवंशजः। अभिमन्यमानोऽभि-गच्छन्। स हि मृगयां गतो भार्गवकन्यामाश्रमपदे दृष्ट्वा जातरागो रथमारोप्य जहार। ततो भार्गवः समित्कुशानादायागत्य तामपश्यन्नभिध्याय च यथावृत्तं राजानमभिशशाप। ततोऽसौ सबन्धुराष्ट्रः पांसुवर्षेणावष्टब्धो ननाश। तत्स्थानमद्यापि दण्डकारण्यमिति गीयते।"

(३) दोनों टीकाओं का 'जयमंगला', यह एक ही नाम होना भी दोनों के रचयिताओं के एक ही होने की सूचना देता है, जैसे कालिदास के ग्रन्थों पर मल्लिनाथसूरि-कृत 'सञ्जीवनी' टीका।

कविराज जी ने गुलेरी जी के इस मत के आधार पर कामन्दकीय-नीतिसार तथा वात्स्यायन-कामसूत्र, दोनों की जयमंगला टीकाओं का रचयिता शङ्करार्य को ही मानकर सांख्यकारिका की टीका जयमंगला का भी रचयिता उसी को माना है। इस मान्यता का कारण कविराज जी ने यह दिया है कि तीनों ही टीकाओं के नाम एक हैं, तीनों के प्रारम्भिक नमस्कार-श्लोकों में एक ही देवता अर्थात् बुद्ध को नमस्कार किया गया है, तथा तीनों एक ही शैली में लिखी गई हैं। जब इनमें से प्रथम दो शङ्करार्य द्वारा लिखी गई विदित हैं तथा तीसरी शङ्कराचार्य के नाम से प्रचलित है अथवा उनके द्वारा लिखी गई वर्णित है, तब इससे यही धारणा दृढ होती है कि तीसरी भी शङ्करार्य की ही लिखी हुई है और उसके शङ्कराचार्य द्वारा लिखी जाने का वर्णन दोनों नामों के पारस्परिक संकर, जिस पर इसकी पुष्पिका आधारित है, के कारण हुआ है। अन्य किसी भी आधार पर बुद्ध को किया गया नमस्कार दुर्बोध अथवा समझ के बाहर है।[१] इसके शङ्कराचार्य-कृत होने का खण्डन कविराज जी ने भूमिका के पृ० ८ पर भी इस प्रकार किया है :—"पुष्पिका में प्रस्तुत टीका को शङ्कराचार्य-कृत कहा गया है, जिसमें उन्हें परमहंस परिव्राजकाचार्य तथा गोविन्द-भगवत्पाद का शिष्य कहा गया है। परन्तु मैं पुष्पिका को प्रक्षिप्त मानने तथा प्रस्तुत टीका को शङ्कराचार्य-कृत न मानने के पक्ष में हूँ। शङ्कराचार्य की गद्य-कृतियों की शैली से परिचित व्यक्ति के लिये इस टीका को उनकी रचना मानना कठिन ही है। जयमंगला की प्रमादपूर्ण एवं स्खलनशील शैली में, शङ्कराचार्य की शैली में समान और अनिवार्य रूप से विद्यमान गम्भीरता, स्वच्छता (प्रसन्नता), संक्षिप्तता, पाण्डित्य एवं स्पष्टता आदि गुणों के समान अथवा अनुरूप कुछ भी नहीं मिलता। इसके मङ्गल-श्लोक, जिसमें 'लोकोत्तरवादी मुनि' को नमस्कार किया गया है, से स्पष्ट है कि जयमंगला का लेखक बौद्ध था। 'लोकोत्तरवाद' पद बौद्धों का है, तथा श्लोक में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द बुद्ध के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।"[२]

कामन्दकीय-नीतिसार की जयमंगला तथा वात्स्यायन-कामसूत्र की जयमंगला के शङ्करार्य नामक एक ही व्यक्ति की रचना होने के सम्बन्ध में गुलेरी जी द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रथम दो हेतुओं का खण्डन करते हुये पं० उदयवीर शास्त्री ने लिखा है कि "लेखों की इस प्रकार की समानता एक लेखक द्वारा दूसरे लेखक का अनुकरण करने पर भी सम्भव हो सकती है। यह लेखक की एकता का असन्दिग्ध हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस

१. द्रष्टव्य, कविराज जी की भूमिका, पृ० ६।
२. द्रष्टव्य, उसी का पृ० ८।

प्रकार के समान लेख भिन्नकर्तृक ग्रन्थों में भी प्रायः मिल जाते हैं, और इसका कारण एक लेखक के द्वारा दूसरे लेखक का अनुकरण करना ही कहा जा सकता है। इसके उदाहरण के लिये वात्स्यायन-कामसूत्र के प्रस्तुत सूत्र को ही ले लीजिये। अक्षरशः यही सूत्र कौटलीय अर्थशास्त्र १।६ में उपलब्ध है। सूत्र है—"यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्या-मभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।' क्या इन दोनों ग्रन्थों के इन सूत्रों की अक्षरशः समान आनुपूर्वी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन दोनों ग्रन्थों का रचयिता एक ही है? हमारे विचार से यह कथन उपहासास्पद-मात्र होगा। इससे यह अनुमान अवश्य संभव हो सकता है कि एक लेखक ने दूसरे का अनुकरण किया हो। इसके अतिरिक्त एक और बात है। दाण्डक्य भोज की घटना एक ऐतिहासिक वस्तु है। इसका वर्णन कोई भी व्यक्ति समान रूप से ही कर सकता है। घटना के एक होने पर उसके वर्णन के शब्दों में कदाचित् समानता होना सम्भव है। × × × × इसके अतिरिक्त वात्स्यायन-कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला के किसी भी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में ग्रन्थकार का नाम 'शङ्करार्य' उपलब्ध नहीं होता। चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से जयमंगला के जो दो प्रकाशन हुये हैं, उनमें से एक में ग्रन्थ कर्ता का नाम 'जयमंगल' और दूसरे में 'यशोधर' मुद्रित हुआ है।......पं० दुर्गाप्रसाद जी द्वारा सम्पादित बम्बई संस्करण में भी, 'यशोधर' का ही नाम है। इससे यही अनुमान होता है कि चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ का प्रथम संस्करण जिन हस्तलेखों के आधार पर मुद्रित हुआ है, उनमें ग्रन्थकर्ता का नाम 'जयमंगल' निर्दिष्ट होगा, अथवा सम्पादक या प्रकाशक महोदयों ने टीका के 'जयमंगला' नाम से उसके रच-यिता 'जयमंगल' की कल्पना की होगी। अनन्तर बम्बई संस्करण के आधार पर चौखम्बा के द्वितीय संस्करण में 'जयमंगल' के स्थान पर 'यशोधर' मुद्रित किया गया। पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय (पञ्जाब पब्लिक लायब्रेरी) लाहौर में कामसूत्र की व्याख्या जय-मंगला का जो एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ[1] सुरक्षित है, उसमें भी 'यशोधर' का ही नाम है। शङ्करार्य का नाम किसी भी प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।'[2]

इसी प्रकार कविराज जी के मत का खण्डन करते हुये शास्त्री जी ने लिखा है कि (१) "सांख्यसप्तति-व्याख्या जयमंगला की अन्तिम पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम केवल 'शङ्कर' निर्देश किया गया है, 'शंकरार्य' नहीं। (२) कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की सम्पूर्ण पुष्पिकाओं में ग्रन्थकार का नाम 'शङ्करार्य' ही निर्दिष्ट किया गया है, 'शङ्कर' नाम का उल्लेख कहीं नहीं है। वात्स्यायन-कामसूत्र की व्याख्या जयमंगला में न 'शङ्कर' है, न 'शङ्करार्य है। (३) सांख्यसप्तति-व्याख्या जयमंगला की पुष्पिका में प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता शङ्कर के गुरु 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री गोविन्दभगवत्पूज्यपाद' का नाम उल्लिखित है। परन्तु कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला की किसी भी पुष्पिका में उस ग्रन्थ के रचयिता शङ्करार्य के गुरु का नाम उल्लिखित नहीं मिलता। (४) कामन्दकीय नीतिसार की व्याख्या जयमंगला के नमस्कार-श्लोक के साथ सांख्यसप्तति-

१. यह ग्रन्थ पञ्जाब पब्लिक लायब्रेरी, लाहौर में 'अ ४३५' संख्या पर निहित है।

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३६७-३६८।

व्याख्या जयमंगला के नमस्कार-श्लोक की न आर्थिक समानता है, और न इन दोनों श्लोकों का रचना-क्रम (Style) ही एक-सा है। दोनों श्लोकों की तुलना के लिये उनको हम यहाँ फिर उद्धृत कर देते हैं—'कामन्दकीये किल नीतिशास्त्रे प्रायेण नास्मिन् सुगमाः पदार्थाः। तस्माद्विधास्ये जयमंगलाख्यां तत्पञ्चिकां सर्वविदं प्रणम्य ॥' (कामन्दकीय नीतिसार-व्याख्या जयमंगला) 'अधिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्। क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमंगला नाम ॥' (सांख्यसप्तति-व्याख्या जय०)

श्लोकों पर दृष्टिपात करते हीं इनकी असमानता स्पष्ट हो जाती है। दोनों श्लोकों के पूर्वार्ध में न शाब्दिक समानता है, न आर्थिक; उत्तरार्ध में केवल 'जयमंगला' यह पद मिलता है, जो ग्रन्थ का नाम है और श्लोक में निर्दिष्ट किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। पहला श्लोक इन्द्रवज्रा छन्द और दूसरा आर्या छन्द में है। जिस देवता अथवा ऋषि को नमस्कार किया गया है, उसको प्रथम श्लोक में 'सर्ववित्' शब्द से स्मरण किया गया है, और द्वितीय श्लोक में 'अधिगततत्त्वालोक, लोकोत्तरवादी, मुनि' इन पदों से स्मरण किया गया है। यदि इन पदों के आर्थिक स्वारस्य पर गम्भीरता पूर्वक ध्यान दिया जाय, तब हम इस बात को स्पष्ट ही भाँप सकेंगे कि प्रथम श्लोक में किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है, जब कि द्वितीय श्लोक के प्रत्येक पद से यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि यह नमस्कार किसी व्यक्ति-विशेष को किया गया है; यह अलग प्रश्न है कि वह व्यक्ति कपिल हो अथवा बुद्ध। 'सर्ववित्' अथवा 'सर्वज्ञ' पद का प्रयोग मुख्य रूप में ब्रह्म या परमेश्वर के लिये ही होता है। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः (मुण्डक १।१।१६), 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः' (श्वेताश्व ६।१६), 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (योगसूत्र १।२५), 'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता' (सांख्यसूत्र ३।५६) इत्यादि।......ऐसी स्थिति में इन प्रस्तुत श्लोकों में से पहला श्लोक किसी व्यक्ति-विशेष की ओर निर्देश नहीं करता, जब कि दूसरे श्लोक में यह भावना सर्वथा स्पष्ट है। इसलिये इन दोनों श्लोकों की आर्थिक या रचना-क्रम-सम्बन्धी किसी तरह की भी समानता का कथन करना असंगत ही कहा जायगा। × × × × × (५) इसके अतिरिक्त वात्स्यायन-कामसूत्र की जयमंगला नामक टीका में उदयनाचार्य का एक उद्धरण इस प्रकार उपलब्ध होता है—'तथा चोक्तं पुरोदयनाचार्यैः—आरोपे सति निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः इति।'[१] उदयन का समय १०४१ विक्रमी तथा ९०६ शकाब्द [९८४ ई० सन्] माना जाता है, और षड्दर्शन-व्याख्याकर वाचस्पति मिश्र का समय ८९८ विक्रमी [८४१ ई० सन्] है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में जयमंगला व्याख्या को 'अन्ये व्याचक्षते' कहकर ५१ वीं आर्या पर उद्धृत किया है। × × × × अब जब हम देखते हैं कि वात्स्यायन-कामसूत्र की टीका में

१. इस आशय का लेख उदयन-कृत न्यायकुसुमाञ्जलि में इस प्रकार मिलता है :—"सिद्धे व्यवहारे निमित्तानुसरणात्। न च स्वेच्छाकल्पितेन निमित्तेन लोकव्यवहारनियमनम्।" [चतुर्थ स्तबक, पृ० ४. वर्धमान-कृत-व्याख्या-सहित संस्करण] ऊपर का उद्धरण पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय में [अ ४३५ संख्या पर] सुरक्षित जयमंगला टीका की हस्तलिखित प्रति के आधार पर दिया गया है।

यह टिप्पणी पं० उदयवीर शास्त्री की अपनी है।

दशम शतक के अन्तिम भाग में होने वाले उदयनाचार्य को स्मरण किया गया है, तब हम निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि सप्तम शतक में होने वाला व्यक्ति किसी तरह भी वात्स्यायन कामसूत्र की टीका जयमंगला का रचयिता नहीं कहा जा सकता। इसलिये श्रीयुत कविराज गोपीनाथ का यह कथन कि कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायन-कामसूत्र, तथा सांख्यसप्तति, इन तीनों ग्रन्थों की जयमंगला नामक व्याख्याओं का रचयिता एक ही व्यक्ति है, सर्वथा असंगत है।"[१]

शास्त्री जी के इस समस्त लेख से यह बात स्पष्ट है कि उनके मत से कामन्दकीय नीतिसार की 'जयमंगला' टीका का रचयिता शङ्करार्य न तो वात्स्यायन-कामसूत्र की जयमंगला' टीका और सांख्य-कारिका की ही 'जयमंगला' टीका का रचयिता है। उनके मत से कामसूत्र की टीका के रचयिता यशोधर, तथा सांख्यकारिका की टीका के रचयिता प्रसिद्ध शङ्कराचार्य से भिन्न कोई शङ्कर थे जिनके गुरु का भी संयोग-वश वही नाम था जो शङ्कराचार्य के गुरु का था। अपनी प्रथम मान्यता को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :--"श्रीयुत गुलेरी महोदय ने श्री पं० दुर्गाप्रसाद जी-सम्पादित बम्बई संस्करण के आधार पर वात्स्यायन-कामसूत्र की जयमंगला टीका से एक पुष्पिका इस प्रकार निर्दिष्ट की है—'इति श्रीवात्स्यायनीयकामसूत्रटीकायां जयमंगलाभिधानायां विदग्धाङ्गना-विरहकातरेण गुरुदत्तेन्द्रपदाभिधानेन यशोधरेणैकत्रकृतसूत्रभाष्यायां...अधिकरणे...अध्यायः।' इस पुष्पिका के आधार पर श्रीयुत गुलेरी महोदय के इस परिणाम से भी हम सहमत नहीं हो सके कि यशोधर जयमंगला टीका का रचयिता नहीं है, प्रत्युत जहाँ-तहाँ बिखरे हुये मूल सूत्र और व्याख्या के खण्डित भागों का संगृहीता-मात्र है। यह संभव है कि यशोधर कामशास्त्र से अपरिचित होने के कारण विदग्धांगना से लाञ्छित होकर कामशास्त्र में पारंगत होने की ओर प्रवृत्त हुआ हो। उस समय व्याख्या-सहित कामसूत्र का कोई भी पूर्ण ग्रन्थ उसे एक जगह न मिल सका हो, तथा इस मूल और प्राचीन भाष्यों के जो भाग जहाँ-कहीं से भी मिल सके हों, उसने घोर परिश्रम करके उन्हें संग्रह किया हो, एवं क्रमानुसार व्यवस्थित करके उन दोनों [सूत्र और भाष्य] को एकत्रित कर दिया हो।......
'एकत्रकृतसूत्रभाष्यायां' यह पद 'टीकायां' का विशेषण है। यह टीका के स्वरूप का बोधक है, अर्थात् वह टीका ऐसी है कि उसमें सूत्र और भाष्यों को एकत्र किया गया है। अब यदि एकत्र किये जाने से पहले ही जयमंगला टीका की स्थिति मानी जाय तो 'टीका' और 'भाष्य' इन पृथक् दो पदों का निर्देश असंगत प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि यशोधर ने जिस चीज का संग्रह किया, यदि वह संग्रह किए जाने से पहले भी जयमंगला टीका ही थी तोएक ही पंक्ति में एक स्थान पर उसके लिए 'टीका' पद का प्रयोग और दूसरे स्थान पर उसी के लिए 'भाष्य' पद का प्रयोग संगत प्रतीत नहीं होता। दोनों स्थानों पर एक ही 'टीका' पद का प्रयोग क्यों नहीं किया गया? इसका कोई विशेष कारण होना चाहिए। ×
× × ×

विजयनगरम् में सुरक्षित जयमंगला की हस्तलिखित प्रति से एक पुष्पिका श्रीयुत

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास. पृ० ३७०-७३।

गुलेरी महोदय ने इस प्रकार उद्धृत की है—'इति सप्तमेऽधिकरणे तृतीयोऽध्यायः । आदितः षट्त्रिंशः । समाप्तं च कामसूत्रटीकायां जयमंगलाख्यायाम् औपनिषदिकं नाम सप्तममधिकरणम्' । यह पुष्पिका यशोधर के नाम वाली लम्बी पुष्पिका से भिन्न है । पर हमारा कहना है कि 'शंकरार्य' का नाम तो इसमें भी नहीं है । हम इस बात को निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि विजयनगरम् के हस्त-लिखित ग्रन्थ की किसी भी पुष्पिका में यशोधर का नाम है या नहीं ? और गुलेरी महोदय ने भी वहाँ से और किसी पुष्पिका को उद्धृत नहीं किया । परन्तु यहाँ लाहौर के पञ्चनद सार्वजनिक पुस्तकालय [पंजाब पब्लिक लायब्रेरी] में 'अ ४३५' नम्बर पर जो जयमंगला का हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित है, उसमें लगभग पाँच-छः पुष्पिका हमारी दृष्टि में ऐसी आईं जिनमें यशोधर का नाम है, और जो पं० दुर्गाप्रसाद जी के बम्बई संस्करण की पुष्पिका से अक्षरशः मिलती हैं । इस हस्तलिखित प्रति में भी हमको 'शङ्करार्य' के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिला ।

यह भी सम्भव है कि जिस विदग्धाङ्गना के विरह से यशोधर कातर था, कदाचित् उसी के नाम पर उसने अपनी इस टीका का नाम 'जयमङ्गला' रक्खा हो । साहित्य में ग्रन्थों के इस प्रकार के नाम और भी देखे जाते हैं । ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य पर वाचस्पतिमिश्र-कृत टीका का 'भामती' नाम भी एक इसी प्रकार की घटना के निमित्त रक्खा गया बताया जाता है" ।[१]

इसी प्रकार अपनी दूसरी मान्यता को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी ने इस प्रकार लिखा है :—"इस (जयमंगला) व्याख्या के रचयिता का नाम शङ्कर है । श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय ने इस ग्रन्थ की समाप्ति पर जो पुष्पिका दी है, वह इस प्रकार है – 'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण श्रीशंकरभगवता कृता सांख्यसप्ततिटीका समाप्ता ।' यहाँ शङ्कर के साथ 'भगवत्' पद का प्रयोग व्याख्याकार की प्रतिष्ठा के विचार से ही किया गया प्रतीत होता है । यह नाम का अंश नहीं है । इसलिए व्याख्याकार का नाम केवल 'शङ्कर' समझना चाहिए । श्रीयुत शर्मा जी ने ग्रंथ के आवरण-पृष्ठ पर 'श्रीशङ्कराचार्यविरचिता जयमङ्गला नाम सांख्यसप्ततिटीका' ऐसा उल्लेख किया है । शङ्कर के साथ 'आचार्य' पद जोड़ देने से यह सन्देह हो जाता है कि कदाचित् यह शङ्कर प्रस्थान-त्रयी का भाष्यकार आदि शङ्कराचार्य ही तो नहीं है ? उस समय यह सन्देह और दृढ़ हो जाता है जब हम इसके गुरु का नाम गोविन्द पाते हैं । प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार और जयमंगला व्याख्याकार, दोनों ही के गुरुओं का नाम गोविन्द है तथा दोनों स्थलों पर गोविन्द के साथ 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' ये विरुद लगे हुए हैं । वस्तुतः यह एक आकस्मिक घटना है कि प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार शङ्कर और सांख्यसप्तति के व्याख्याकार शङ्कर, इन दोनों ही के गुरुओं का नाम 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपाद' है । गुरुओं का भी नाम-साम्य होने पर ये दोनों शङ्कर एक नहीं कहे जा सकते । इनकी लेख-शैली से परिचित कोई भी विद्वान् इनकी विभिन्नता को स्पष्ट प्रतीत कर सकता है । सांख्यसप्तति की अन्तिम पुष्पिका (Colophon) के आधार

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३७९-८२ ।

पर जयमंगला व्याख्या की भूमिका में श्रीयुत कविराज गोपीनाथ जी एम्० ए० महोदय ने 'परमहंस परिव्राजकाचार्य' विरुदों को शङ्कर के साथ सम्बद्ध लिखा है।[1] श्रीयुत कविराज जी का यह लेख भ्रमपूर्ण है, क्योंकि पुष्पिका में ये विरुद केवल गोविन्द के साथ सम्बद्ध हैं। 'श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्येण' यह समस्त पद पृथक् है, और 'श्रीशङ्करभगवता' यह पृथक् है। पूर्व पद के 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' इस अंश का शङ्कर के साथ सम्बन्ध कथन करना सर्वथा असंगत है। फिर इस नाम के साथ 'आचार्य' जोड़ कर श्रीयुत हरदत्त शर्मा एम्० ए० महोदय ने आवरण-पृष्ठ पर 'शङ्कराचार्यविरचिता जयमङ्गला' किस आधार पर लिखा है, हम नहीं समझ सके। इस प्रकार के लेख से पाठकों को भ्रम हो सकता है, सम्भवतः इसी भ्रम के आधार पर श्रीयुत कविराज जी ने इस पुष्पिका को प्रक्षिप्त बता दिया है[2]। इसको प्रक्षिप्त उसी स्थिति में कहा जा सकता है जब किन्हीं प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाय कि इस पुष्पिका में प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार शङ्कर को ही जयमङ्गला का रचयिता लिखा गया है। पर यह तो अभी तक भी सिद्ध नहीं है। केवल नाम-साम्य से किन्हीं व्यक्तियों का अभिन्न होना नहीं कहा जा सकता। इसलिए प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार शङ्कर से जयमंगला-व्याख्याकार शङ्कर सर्वथा भिन्न है। पुष्पिका का स्वरूप इन दोनों के अभिन्न समझे जाने का निश्चायक नहीं है। इसलिए पुष्पिका को प्रक्षिप्त कहना भी असंगत है।"[3]

यह बात सत्य है कि कविराज जी का 'परमहंसपरिव्राजकाचार्य' विरुद को शङ्कर के साथ जोड़ना भ्रमपूर्ण एवं असंगत है। यह भी सत्य है कि पुष्पिका में आए हुए शङ्कर को प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार आदि शङ्कराचार्य से अभिन्न नहीं कहा गया है, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि पुष्पिका में शङ्कर के साथ 'भगवत्' पद तथा उनके लिए 'श्रीगोविन्द-भगवत्पूज्यपादशिष्य' पद के प्रयोग से सर्वसामान्य के मन में यह भाव सर्वथा दृढ हो जाता है कि पुष्पिका में श्रीगोविन्दभगवत्पाद के प्रसिद्ध शिष्य एवं प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार आदि शङ्कराचार्य को ही जयमङ्गला का रचयिता कहा गया है, क्योंकि ऐसे किसी दूसरे शङ्कर की सत्ता में कोई प्रमाण देश की साहित्यिक या ऐतिहासिक परम्परा में प्राप्त नहीं है। और चूंकि सांख्यकारिका की जयमंगला टीका को उसकी पुष्पिका में ऐसे ही शङ्कर की कृति कहा गया है,—जो कविराज जी एवं स्वयं पं० उदयवीर शास्त्री के भी अनुसार कथमपि सम्भव नहीं है,—अतः कविराज जी का इस पुष्पिका को प्रक्षिप्त कहना सर्वथा असंगत नहीं कहा जा सकता। जब यह निश्चित है कि सांख्यकारिका की जयमंगला टीका प्रस्थान-त्रयी के भाष्यकार आद्य शङ्कराचार्य की कृति नहीं हो सकती, तब इन दो के अतिरिक्त तीसरी कोई गति तो सम्भव ही नहीं है कि या तो उसे आदि शङ्कर से भिन्न

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ८:—The prescnt Commentary is attributed to शंकराचार्य in the colophon where he is, as elsewhere in his works, described as परमहंसपरिव्राजकाचार्य and a disciple of गोविन्दभगवत्पाद।

२. द्रष्टव्य, वही पृ० ८:—But Iam incclined to suspect that the colophon is an interpolation and that the work is not by शंकराचार्य।

३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३६४-६५।

किसी शंकर की कृति माना जाय जिसके भी गुरु का नाम संयोग-वश 'गोविन्दभगवत्पाद' ही रहा हो जैसा पं० उदयवीर शास्त्री मानते हैं, या फिर उसकी पुष्पिका को प्रक्षिप्त माना जाय एवं उसे अन्य आधारों पर किसी अन्य की कृति माना जाय जैसा कि कविराज जी मानते हैं। यह अलग बात है कि इन दोनों में से कोई एक ही बात सही होगी। कविराज जी का कथन है कि तीनों ही जयमङ्गला टीकाओं का कर्ता शङ्करार्य नामक एक ही व्यक्ति है जो तीनों ही टीकाओं में समान रूप से भगवान बुद्ध को प्रणाम करने के कारण बौद्ध सिद्ध होता है, इसके विरुद्ध दो ऐसे आक्षेप दिखाए जा चुके हैं जिनका कोई समाधान नहीं दिखाई पड़ता। एक आक्षेप तो यह है कि वात्स्यायन-कामसूत्र की जयमंगला टीका का कर्ता यशोधर है, शंकरार्य नहीं; और दूसरा यह है कि जब इस कामसूत्र-टीका जयमंगला में ईसवी दशम शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य का मत उद्धृत होने से इसके कर्ता यशोधर का समय दशम का अन्तिम पाद तथा एकादश शताब्दी का प्रथम पाद ही हो सकता है, तब वह वाचस्पति मिश्र से निस्सन्देह पूर्व लिखी जाने वाली सांख्यकारिका की जयमङ्गला टीका का रचयिता कैसे हो सकता है ? ऐसी स्थिति में तो यही मानना उचित प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य से भिन्न किसी शङ्कर ने इसकी रचना की। इसके मङ्गलाचरण के 'लोकोत्तरवादी मुनि' पदों से भगवान् बुद्ध का भी ग्रहण हो सकता है और भगवान् कपिल का भी, इनसे अनिवार्यतः भगवान् बुद्ध का ही ग्रहण होता हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसा पं० उदयवीर जी का मत है। इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि यदि कविराज जी की यह बात मान भी ली जाय कि इन पदों से बुद्ध का ही ग्रहण होता है, तो भी प्रस्तुत निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि कविराज जी ने तो कामन्दकीय नीतिसार तथा वात्स्यायन-कामसूत्र, दोनों की जयमङ्गला टीकाओं के मङ्गल-श्लोकों में आये हुये 'सर्वविद्' शब्द को 'सुगत' आदि शब्दों की भाँति भगवान् बुद्ध के लिये प्रयुक्त हुआ मानकर, उसके आधार पर तीनों का कर्ता एक ही व्यक्ति को सिद्ध किया परन्तु अब जब यह बात अन्य आधारों पर गलत सिद्ध होती है और तीनों के कर्ता पृथक्-पृथक् सिद्ध होते हैं, तब सांख्यकारिका की जयमङ्गला का कर्ता शङ्कर चाहे बौद्ध रहा हो या अन्य कोई, कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु पं० उदयवीर शास्त्री का यह कथन सन्दिग्ध प्रतीत होता है कि इस शङ्कर के गुरु का नाम भी दैव-संयोग से शङ्कराचार्य के गुरु का ही नाम अर्थात् गोविन्दभगवत्पाद था। सांख्यकारिका की जयमङ्गला की पुष्पिका के अतिरिक्त अन्य कोई आधार इस कथन का नहीं प्रतीत होता। रचयिता का 'शङ्कर' नाम होने पर नाम-साम्य के कारण उसका प्रसिद्ध शङ्कराचार्य के साथ सङ्कर होने से उसके गुरु को शङ्कराचार्य के गुरु का ही नाम दे दिया जाना कोई अस्वाभाविक या अघटनीय घटना नहीं प्रतीत होती। अब रही कामन्दकीय-नीतिसार तथा वात्स्यायन-कामसूत्र की टीकाओं के मङ्गल-श्लोकों की अनुरूपता एवं उनमें एक ही बुद्ध को नमस्कार किये जाने की बात, इसका कारण दोनों के रचयिताओं के भिन्न सिद्ध होने पर एक का दूसरे के द्वारा अनुकरण किया जाना ही प्रतीत होता है। अवश्य यशोधर ने शङ्करार्य का अनुकरण किया होगा, ऐसी सम्भावना ज्ञात होती है।

वाचस्पति मिश्र

पिछले प्रसङ्गों में यह बात अनेकशः कही जा चुकी है कि सांख्यकारिका के प्राचीन टीकाकारों में वाचस्पति मिश्र सबसे अर्वाचीन हैं। अभी पीछे ही जयमङ्गलाकार के प्रसंग में कह आये हैं कि वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका 'तत्त्वकौमुदी' में जयमङ्गला से कई बातें ली हैं एवं उससे वे पर्याप्त प्रभावित हैं, अतः उसके रचयिता से वे निस्सन्देह अर्वाचीन हैं। वहाँ यह भी कह चुके हैं कि न्यायशास्त्र के नष्टप्राय सम्प्रदाय के उद्धार के लिये वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' नाम से गौतम के मूल न्यायसूत्रों का जो सम्पादन किया है, उसके एक उपसंहारात्मक श्लोक[१] में उसका समय ८९८ संवत्सर दिया गया है जो विक्रमाब्द माने जाने पर ८४१ ई० होता है। इससे वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी नवम शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है। यद्यपि वाचस्पति मिश्र द्वारा उल्लिखित ८९८ वत्सर के विक्रम संवत् माने जाने के विषय में बड़ा विवाद रहा है जो आज भी समाप्त नहीं हुआ है, एवं हरप्रसाद शास्त्री, विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने इसे शक संवत् ही माना है, तथापि इसे विक्रम संवत् ही मानना उचित प्रतीत होता है। डा० गंगानाथ झा ने इसे विक्रम संवत् ही माना है।[२] पं० उदयवीर शास्त्री[३] एवं महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र[४] का भी वही विचार है। डा० कीथ[५] तथा प्रो० वुड्ज[६] ने भी वाचस्पति मिश्र के 'वत्सर' पद का अर्थ 'विक्रम संवत्' ही किया है। पं० उदयवीर जी ने भट्टाचार्य महोदय के मत का वर्णन एवं खण्डन अपने ग्रन्थ के पृ० ३५४ से ३५४ तक बड़े विस्तार के साथ किया है। द्विवेदी जी का भी पृ० ३५८ पर खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र के 'वत्सर' का 'विक्रम संवत्' अर्थ करने वालों के मुख्य हेतु इस प्रकार हैं :—

न्यायवार्तिक की वाचस्पति-कृत 'तात्पर्यटीका' पर उदयनाचार्य ने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' व्याख्या लिखी है। इसी उदयनाचार्य ने अपने लघुकाय ग्रन्थ 'लक्षणावली' का रचना-काल उसके अन्त में एक श्लोक में दिया है जो इस प्रकार है :—'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्'॥ इससे स्पष्ट है कि उदयन ने शक संवत् ९०६ अर्थात् ई० सन् ९८४ में 'लक्षणावली' को समाप्त किया। यदि वाचस्पति के पूर्व उद्धृत श्लोक में स्थित 'वत्सर' का अर्थ 'शक संवत्' लिया जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वाचस्पति मिश्र ने शक संवत् ८९८ अर्थात् ईसवी सन् ९७६ में अपनी तात्पर्य-

---

१. न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

२. द्रष्टव्य, पूना ओरिएण्टल सीरीज में संख्या ५९ पर प्रकाशित Gautama's Nyayasutras, by Dr. Ganganatha Jha का पृ० १७।

३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३४०-४१।

४. द्रष्टव्य, डा० मिश्र कृत History of Indian Philosophy, भाग २, पृ० १०४ तथा १०७।

५. द्रष्टव्य, कीथ-रचित History of Sanskrit Literature, पृ० ४४७, ४८३ तथा ४९०; तथा Indian Logic and atomism, पृ० २९-३०।

६. द्रष्टव्य, J. H. Woods द्वारा रचित योगसूत्र-व्यासभाष्य के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका।

टीका समाप्त की। अब यदि तात्पर्य-परिशुद्धि की समाप्ति का संवत् लक्षणावली के संवत् से पूर्व न मान कर वही मानें, तो भी वाचस्पति-कृत तात्पर्य टीका तथा उदयन-कृत तात्पर्य-परिशुद्धि के रचना कालों में केवल आठ वर्षों का अन्तर रह जायगा। उदयनाचार्य जैसे उत्कृष्ट एवं अप्रतिम विद्वान् का अपने से केवल आठ वर्ष पूर्व लिखी गई टीका की टीका लिखना युक्त अथवा स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। जिस उदयन की अपने विषय में **'वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः। उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा, न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः॥'** ऐसी सार्थक गर्वोक्ति है, वे अपने से केवल ८ वर्ष पूर्व लिखी गई अप्रसिद्ध तात्पर्यटीका की टीका करेंगे, ऐसा मानना समीचीन नहीं कहा जा सकता। फिर तात्पर्य-परिशुद्धि के प्रारम्भ में भगवती सरस्वती की प्रार्थना करते समय उदयन ने आचार्य वाचस्पति मिश्र के प्रति जिस आत्यन्तिक सम्मान-भाव को प्रकट किया है, उससे भी यह बात सिद्ध होती है कि तात्पर्य-परिशुद्धि लिखने के समय वाचस्पति मिश्र न्याय-जगत् में एक उद्भट एवं गुरु-गम्भीर विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे, जो कि आठ वर्षों की अत्यल्प अवधि में असम्भव है। इससे सिद्ध है कि 'वत्सर' का 'विक्रम संवत्' ही अर्थ लेना सर्वथा समीचीन है। ऐसा करने पर तात्पर्यटीका एवं तात्पर्य-परिशुद्धि के रचना-कालों में १४३ वर्षों का अन्तर होगा जो उदयन के 'मातः सरस्वति पुनः पुनरेष नत्वा बद्धाञ्जलिः किमपि विज्ञपयाम्यवेहि। वाक्चेतसोर्मम तथा भव सावधाना वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते'॥ [तात्पर्यपरिशुद्धि, प्रथम श्लोक] इस श्लोक में आचार्य वाचस्पतिमिश्र के प्रति प्रकट किये गये आदरातिशय के योग्य प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये अपेक्षित या पर्याप्त प्रतीत होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना ही सर्वथा समञ्जस है।

परन्तु इसके विपरीत प्रो० मैकडानल बिना कोई हेतु दिये ही वाचस्पति का समय ई० एकादश शताब्दी मानते हैं,[1] ऐसा पहले कहा जा चुका है। बाथ महोदय ने भी वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी एकादश शताब्दी का अन्त माना है। यह मत इस विचार पर आधारित प्रतीत होता है कि वाचस्पति मिश्र ने ७२ वीं सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी में जिस 'राजवार्तिक' नामक ग्रन्थ से दो पद्य उद्धृत किये हैं, वह धाराधिपति भोजराज की रचना है। इसने १०१८ से १०६० ई० तक राज्य किया। अतः वाचस्पति का समय इसके बाद ही अर्थात् ईसवी एकादश शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा उसके कुछ और भी बाद तक होना चाहिये। प्रो० पाठक ने धर्मकीर्ति और शङ्कराचार्य से सम्बद्ध अपने एक लेख[2] में लिखा है कि बोधारण्य के शिष्य भारती ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अपने संस्करण[3] में 'राजवार्तिक' पद से पहले 'भोज' पद भी अन्तिम टिप्पणी में मुद्रित किया है। इसलिये

१. द्रष्टव्य, प्रो० मैकडानल-कृत History of Sanrkrit Literature, पृ० ३६३।

२. द्रष्टव्य, जरनल आव् द रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई का वाल्यूम १८, नं० ४८, पृ० ८६; इसी के नं० ४६ के पृ० २३५ पर दी गई तालिका।

३. बनारस जैन प्रभाकर प्रेस, १८८६ ई०, पृ० १८२।

प्रतीत होता है कि यह राजवार्तिक भोजराज का ही है। इससे दो पद्य उद्धृत करने के कारण वाचस्पति मिश्र को भोजराज से पीछे होना चाहिये। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी दशम शताब्दी के बाद ही हो सकता है।

इसका खण्डन करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के पृ०३५६ पर इस प्रकार लिखा है :–"परन्तु अन्य सभी हस्तलिखित प्रतियों में 'राजवार्तिक' के साथ 'भोज' पद का उल्लेख नहीं है। इसलिये यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि रणरंगमल्लापर-नामक भोजराज व्यक्ति का 'राजवार्तिक' ग्रन्थ से कोई सम्बन्ध था। इसलिये इस ग्रन्थ की तिथि के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। वस्तुतः प्रस्तुत भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भिक पञ्चम श्लोक में अपने रचित ग्रन्थों का जो निर्देश किया है, उसमें 'राजवार्तिक' का उल्लेख नहीं है। इसलिये वाचस्पति के द्वारा उद्धृत 'राजवार्तिक' ग्रन्थ का उक्त भोजराज के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मौलिक भ्रम है। इसलिये इस उद्धरण के आधार पर वाचस्पति का समय उक्त भोजराज के काल के पश्चात्, खीस्ट दशम शतक के अनन्तर, सिद्ध नहीं किया जा सकता।"

इसी की पुष्टि करते हुये शास्त्री जी ने पृ० ३५९ पर एक ऐतिहासिक प्रमाण इन शब्दों में दिया है –"प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में एक श्लोक इस प्रकार है –"नैवाश्रावि गुरोर्मतं न विदितं कौमारिलं दर्शनं, तत्त्वज्ञानमहो न शालिकगिरां वाचस्पतेः का कथा।" [अङ्क २, श्लोक ३] इसमें वाचस्पति का उल्लेख है। यह भी इससे प्रतीत होता है कि श्लोक की रचना के समय दार्शनिक आचार्यों में यह प्रतिष्ठित समझा जाता था। प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक का रचना-काल खीस्ट १०५५ के लगभग है। हम इसी ग्रन्थ के षष्ठ प्रकरण में अनिरुद्ध-काल के प्रसंग में इस बात का उल्लेख कर आये हैं। महोबा के चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के सम्मुख इस नाटक का अभिनय, उसकी एक विजय के उपलक्ष्य में, किया गया था। इस बात का उल्लेख स्वयं इस नाटक की प्रारम्भिक भूमिका में विद्यमान है। राजा कीर्तिवर्मा का राज्य-काल शिला-लेखों के आधार पर १०५१-१०९८ ईसवी सन् निश्चित है। ऐसी स्थिति में वाचस्पति का समय खीस्ट एकादश शतक का अन्त कैसे माना जा सकता है ? अवश्य ही इस नाटक की रचना से पर्याप्त पूर्व वाचस्पति का समय होना चाहिये प्रभाकर और कुमारिल की कोटि में तभी उसकी गणना समञ्जस हो सकती है।"

वाचस्पति के काल के विचार के प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य की अपनी टीका 'भामती' का उपसंहार करते हुये वाचस्पति मिश्र ने दो श्लोकों में लिखा है कि यह ग्रन्थ मैंने कीर्तिमान्, वदान्य, शास्त्रज्ञ एवं महनीय महाराज नृग के राज्यकाल में लिखा है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :—नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेप-मात्रेण चकार कीर्तिम्। कार्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥ नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति। तस्मिन्महं पे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः।" डा० गङ्गानाथ झा ने द्वितीय श्लोक की अन्तिम पंक्ति में स्थित 'नृग' शब्द को व्यक्ति-विशेष का नाम न मान कर 'नरवाहन' [अर्थात् शिबिकाओं में पुरुषों के

कन्धों पर चलने वाला—'नृभिर्गच्छतीति'] अर्थ का वाचक माना है। उनके मत से मिथिला प्रदेश में स्थित सिमरौनगढ़ के शिलालेख के अनुसार शक संवत् १०१९ अर्थात् ई० सन् १०९७ में इसका निर्माण कराने वाले महाराज नान्यदेव से कुछ सदी पूर्व मिथिला प्रदेश पर नैपाल के राजाओं का आधिपत्य था, जो उसके पहाड़ी होने के कारण 'डाँडियों' या शिबिकाओं में पुरुषों के कन्धों पर ही चलते थे और इस कारण 'नरवाहन' कहे जाते थे। ऐसे ही किसी प्रतापी राजा के मिथिला पर राज्य करने के समय वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'भामती' लिखी थी। भामती के उपसंहारात्मक श्लोक में प्रयुक्त 'नृग' पद उक्त राजा की नरवाहनता को स्पष्ट करता है जिससे निश्चय होता है कि वाचस्पति के समय में मिथिला पर नैपाल के किरात राजाओं का अधिपत्य था।

डा० झा के मत को अयुक्त ठहराते हुए पं० उदयवीर का कथन है कि 'यद्यपि श्रीयुत झा महोदय ने अपने विवरण में वाचस्पति का समय ८४१ ई० सन् अर्थात् ८९८ विक्रमी संवत ही स्वीकार किया है, शक संवत् नहीं। परन्तु इस प्रसंग में जो साधन आप ने उपस्थित किये हैं, वे सर्वथा अपर्याप्त हैं। क्योंकि इतिहास और ताम्रपत्रों के आधार पर यह बात स्पष्ट होती है कि खीस्ट नवम शतक के प्रारम्भ से ही मिथिला पर नैपाली राजाओं का प्रभुत्व नहीं था, प्रत्युत मिथिला पर पालवंश के राजाओं का आधिपत्य था। खीस्ट ८१० से ८४९ तक पालवंश का एक बहुत ही पराक्रमी और यशस्वी राजा देवपाल[1] नामक था, यह बड़ा दानी और धार्मिक मनोवृत्ति का था। वाचस्पति ने भामती के अन्त में जिस राजा का उल्लेख किया है, वह देवपाल-सदृश प्रतापी और विद्वान् राजा ही सम्भव हो सकता है। हमारे विचार से वाचस्पति के उक्त पद में 'नृग' शब्द नरवाहनता का द्योतक नहीं है। प्रत्युत भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध 'नृग' नामक राजा की समानता देव-पाल में दिखलाने के लिये ही इस शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है'।[2] इसके बाद शास्त्री जी ने अमलानन्द के भामती-कल्पतरु की इस स्थल की पंक्तियों[3] से अपने इस विचार का समर्थन करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त शास्त्री जी ने ऐसे प्राचीन उल्लेख भी दिए हैं जिनमें समुद्रगुप्त (३३०-३७५), यशोधरवर्मन् (५३२ ई० सन् के लगभग), गोपाल (७५० ई० के लगभग) नृपतियों की पृथु, सगर, मनु, भरत, मान्धाता आदि नरेशों के साथ समानता की गई है। परन्तु इस सब के बाद भी शास्त्री जी अपनी बात सिद्ध करने में असफल ही हैं। भामती के उक्त श्लोक में वाचस्पति का स्पष्ट एवं असन्दिग्ध कथन है कि श्रीमान् महाराज नृग के काल में मैंने यह (भामती) निबन्ध पूर्ण किया। इसमें नृग के साथ स्वाश्रय-दाता नृपति के साम्य का कथन तो क्या, उस कथन की गन्ध भी नहीं है। 'नृग' का नाम्ना उल्लेख-मात्र हो, ऐसा भी नहीं है अपितु उक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति तथा उसके भी पूर्ववर्ती समूचे श्लोक में उसकी कीर्ति, दानशीलता, शास्त्र ज्ञान, उत्कृष्ट चरित आदि का सम्यक् वर्णन भी है। उक्त श्लोक में स्पष्ट कथित है कि जिसके चरित का अनुकरण अन्य नृपति करना चाहते हैं किन्तु करने में समर्थ नहीं होते, उस महनीय-कीर्ति

१. द्रष्टव्य History of Bengal Vol. I, श्री आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, पृ० ९६-१५२।

२. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३४२।

३. तथाविधः सार्थोयस्य प्रकृतत्वेन वर्तते स नृगस्तथेत्यपरः नृत इति राज्ञ आख्या।

महर्षि श्रीमान् नृग के राज्य-काल में मैने यह 'भामती' निबन्ध रचा है। इसमें कहाँ कहा गया है कि नृग-सदृश अमुक राजा के राज्य-काल में यह निबन्ध लिखा है? ऐसी स्थिति में शास्त्री जी का 'नृग' शब्द को पालव राजा देवपाल के लिये प्रयुक्त मानना अप्रमाणिक और अनर्गल ही सिद्ध होता है। फिर समुद्रगुप्त, यशोधरवर्मन् आदि नृपतियों की पृथु, सगर, मान्धाता आदि प्राचीन नृपतियों के साथ समानता या तुलना का कथन करने वाले श्लोकों का उल्लेख सर्वथा अनपेक्षित एवं अनुपयोगी है।

भारतीय दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने अपने अभिनव प्रकाशित ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी' के भाग २ में डा० झा के पूर्वोक्त मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'नेपाल के कुछ अभिलेखों एवं मिथिला में अद्यावधि प्रचलित परम्पराओं के आधार पर यह माना जा सकता है कि मिथिला पर शासन करने के लिये कर्नाटक से आए हुए नृपति नान्यदेव के पूर्व ईसवी नवीं शताब्दी में सम्भवतः नृग नामक नृपति ने उस पर शासन किया, एवं मुजफ्फरपुर जिले में स्थित सिमरौनगढ़ को अपनी राजधानी बनाया। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह बात इस तथ्य से भी समर्थित होती है कि वाचस्पति के विद्यागुरु त्रिलोचन कर्नाटक से ही आये थे और सम्भवतः महाराज नृग के प्रभुत्व के अन्तर्गत रहे भी थे। इन नृग ने भी, हो न हो, महाराज नान्यदेव से पूर्व कर्नाटक से मिथिला आकार उसके सिमरौनगढ़ स्थान में एक राज्य की स्थापना की हो'।[१] डा० झा एवं डा० मिश्र के मतों में भी कुछ भेद है, वे एक नहीं है। जहाँ डा० झा के मत से 'नृग' मिथिला के नेपाली राजाओं में से किसी प्रतापी राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है, एवं उसकी नरवाहनता की द्योतक उपाधि है, वहां डा० मिश्र के मत से यह सम्भवतः कर्नाटक से आकर मिथला प्रदेश में अपना राज्य स्थापित करने वाले किसी प्रतापी राजा का नाम था, एवं उसी के साथ आए हुए त्रिलोचन वाचस्पति के विद्या-गुरु थे। डा० मिश्र का मत आपाततः रमणीय होने पर भी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि महाराज नृग के कर्नाटक से मिथिला आकार राज्य स्थापित करने की सम्भावना होने पर भी उसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि नृग वाली समस्या सुलझ जाती तो उससे वाचस्पति के ईसवी नवम शताब्दी के पूर्वार्ध में रक्खे जाने के विषय पर विशेष प्रकाश पड़ सकता था। पर दुर्भाग्य-वश ऐसे ऐतिहासिक तथ्य अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सके हैं जिनके आधार पर नृग के सम्बन्ध में कुछ नई जानकारी हो सके। अस्तु, यहाँ इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा कि नृग के काल को छोड़ कर भी अन्य उपलब्ध तथ्यों के आधार पर वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी नवम शताब्दी का पूर्वार्ध तथा उसके कुछ आगे-पीछे का समय ज्ञात होता है।

प्रायः सभी मूर्धन्य विद्वानों का इस बात में सर्वथा ऐकमत्य है कि समस्त भारतीय दर्शनों में जैसी अप्रतिहत या अनवरुद्ध गति वाचस्पति मिश्र की थी, वैसी अन्य किसी भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन आचार्य की नहीं थी। उन्होंने समस्त दर्शनों के मूर्धन्य ग्रन्थों पर साधिकार प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं। न्यायशास्त्र में न्यायकणिका, न्यायवार्तिक-तात्पर्य

१. द्रष्टव्य, उक्त ग्रन्थ का पृ० १०३

टीका एवं न्यायसूचीनिबन्ध आदि, सांख्य में सांख्य-तत्त्वकौमुदी, योग में योग-तत्त्ववैशारदी, वेदान्त में ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, तत्त्वबिन्दु एवं भामती इत्यादि निबन्ध रच कर वाचस्पति मिश्र ने अपना 'वाचस्पति'—'वाचः पतिरिति' – नाम सार्थक कर दिया है। इसी से उन्हें 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' उपाधि से विभूषित करने में समस्त भारतीय विद्वानों का सर्वथा ऐकमत्य रहा है। ऐसा होने पर भी इनकी शैली प्रधानतया एक नैयायिक की है जो बिना लिङ्ग और व्याप्ति के एक पग भी आगे नहीं बढ़ती। इनके सभी ग्रन्थ इसी शैली में लिखे जाने के कारण सर्व-सामान्य के लिए दुर्बोध एवं दुरूह हो गये हैं। इनकी सांख्यकारिका में भी इनका यह वैशिष्ट्य पर्याप्त अंश में उपलब्ध है। सच तो यह है कि युक्तिदीपिका को छोड़ कर सांख्यकारिकाओं की अन्य कोई भी टीका सांख्यतत्त्वकौमुदी के समान पाण्डित्यपूर्ण तथा गम्भीर नहीं है। अन्तिम कारिका की टीका में वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका को षष्टितन्त्र के समस्त विषयों का प्रतिपादक होने के कारण 'शास्त्र' कहा है, और किसी 'शास्त्र' का जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिए, इनकी तत्त्वकौमुदी में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। इस प्रकार गम्भीर शास्त्रीय विवेचन तथा नैयायिक शैली, दोनों ही के कारण सांख्यतत्त्वकौमुदी दर्शनशास्त्र का एक टकसाली ग्रन्थ बन गया है। वाचस्पतिमिश्र का इसके अतिरिक्त एक दूसरा वैशिष्ट्य भी उनकी तत्त्वकौमुदी में परिलक्षित होता है। वह यह है कि अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी वाचस्पति मिश्र ने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान करना प्रारम्भ किया है, उस समय उसी के रहस्यों का उद्घाटन एवं उसकी समस्याओं या गुत्थियों का समाधान करने की यावच्छक्य चेष्टा की है। इतर शास्त्रों की विरोधी एवं बेमेल बातों को उठा कर वे प्रसक्त अथवा प्रस्तुत शास्त्र-विशेष में अनास्था या अश्रद्धा नहीं उत्पन्न करते। विवेचनार्थ प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों एवं उसकी मान्यताओं की हीनता प्रकट करने के स्थान में वे यथासम्भव उसके समर्थक हेतुओं एवं तर्कों को ही ढूँढ़-ढूँढ़ कर प्रस्तुत करते हैं। उनकी यह विशेषता पाठकों के हृदय को उनके प्रति श्रद्धा से आवर्जित कर देती है।

उदाहरणार्थ, सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली नवम कारिका के व्याख्यान में जहाँ शाङ्कर वेदान्त के मायावाद का प्रसङ्ग आया है, वहाँ स्वकीय सिद्धान्त का मोह छोड़ कर 'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम्' ऐसा लिख कर उसका ही खण्डन किया है, ताकि सांख्य के अध्येता की सत्कार्यवाद में श्रद्धा हो सके। इसी प्रकार अठारहवीं कारिका में पुरुष का बहुत्व या अनेकत्व सिद्ध करने के लिए कारिकाकार ईश्वरकृष्ण द्वारा जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, वे कम से कम बाह्य अथवा ऊपरी दृष्टि से तो सदोष हैं ही; क्योंकि वस्तुतः कभी भी जन्म, मरण आदि न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' इत्यादि हेतुओं के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है ? पृथक्-पृथक् जन्म, मरण एवं करण (इन्द्रिय इत्यादि) की प्राप्ति तो व्यावहारिक जीवन की घटना है, उसके आधार पर व्यवहारतः 'पुरुष' की अनेकता भले ही सिद्ध हो जाय परन्तु परमार्थतः या वस्तुतः अनेकता कैसे सिद्ध हो सकती है। वाचस्पति के अपने मत (शांकर वेदान्त) में 'पुरुष' परमार्थतः एक माना भी जाता है। ऐसी स्थिति में 'पुरुष' की पारमार्थिक अनेकता मानने वाले सांख्य दर्शन का वाचस्पति द्वारा खण्डन स्वाभाविक

प्रतीत होता है । किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, प्रत्युत इन हेतुओं को सम्भाव्यमान ढंग से उपस्थित करके सांख्य दर्शन के पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त को सुदृढ़ आधारों पर प्रतिष्ठित किया । इतना ही नहीं, उन्होंने वेदान्त के औपाधिक पुरुष-भेद का भी संक्षेप में खण्डन करके यह बात स्पष्ट कर दी है कि सांख्य और शांकर वेदान्त के एतत्सम्बन्धी मत एक ही नहीं हैं । वेदान्त में आत्मा या पुरुष व्यवहारतः ही अनेक है, परमार्थतः तो वह एक ही है । इसके विपरीत सांख्य में उसकी पारमार्थिक अनेकता ही प्रतिपादित हुई है, ऐसी दृढ़ धारणा होती है । इस सम्बन्ध में १८वीं कारिका की तत्त्वकौमुदी की ये प्रारम्भिक पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं :—'**निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्यापरिणामित्वात् । तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात् । करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश । तेषां जननमरणकरणानां प्रतिनियमो व्यवस्था । सा खल्वियं सर्वशरीरेषु एकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते । × × × न च एकस्यापि पुरुषस्य देहोपधानभेदाद् व्यवस्था इति युक्तम्, पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न हि पाणौ वृक्णे जाते वा स्तनादौ महत्यवयवे युवतिर्मृता जाता वा भवतीति ।**' इन पंक्तियों में आचार्य मिश्र ने यह बात स्पष्ट की है कि यद्यपि जन्म-मरण 'पुरुष' या 'आत्मा' के धर्म नहीं हैं, तथापि जिनके भी ये धर्म हैं, 'पुरुष' के सम्बन्ध या सान्निध्य के कारण ही उनमें सम्भव होते हैं । अर्थात् जन्म-मरण आदि घटनायें पुरुष के धर्म न होने पर भी होती हैं उसी के कारण । अतः यदि अनेक या पृथक्-पृथक् शरीरों या पिण्डों के सम्बन्ध से ये घटनायें होती देखी जाती हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पृथक्-पृथक् पुरुषों के सम्बन्ध से ही उनमें घटनायें पृथक्-पृथक् होती हैं । इस प्रकार आचार्य ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि पुरुषों के पार्थक्य, भेद या बहुत्व की सिद्धि के लिये जन्म, मृत्यु आदि का पृथक्-पृथक् पिण्डों में, तथा पुरुष के कारण होना ही अपेक्षित है, पुरुष में होना अर्थात् उसका धर्म होना अपेक्षित नहीं । यद्यपि तत्त्वकौमुदी के पूर्वोद्धृत सन्दर्भ की प्राथमिक पंक्तियाँ जयमंगला की 'देहेन्द्रियादेरधिष्ठानस्योत्पत्तिविनाशौ, तद्योगात् पुरुषस्य जननमरणेऽपि व्यवस्थाप्येते । स्वतः पुरुषस्य ते न सम्भवतः । कुतः ? नित्यत्वात् ।'[1] इत्यादि पंक्तियों की ही प्रकारान्तर से व्याख्या हैं, तथापि इससे वाचस्पति मिश्र के लेख का मूल्य कम नहीं किया जा सकता । यों, जयमंगला से भी पूर्व युक्तिदीपिका[2] में प्रायेण यही अर्थ प्रकट किया गया है, तथापि इसे प्रभावोत्पादक एवं स्पष्ट ढंग से पहली बार वाचस्पति मिश्र ने ही कहा है और इसी कारण से ईश्वरकृष्ण के पुरुषबहुत्व-विषयक हेतुओं को न्याय्य एवं सत् सिद्ध करने का श्रेय वाचस्पति मिश्र को ही है ।

पूर्व विवेचन से वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी का महत्त्व और मूल्य सहज ही आँका जा सकता है । सांख्यकारिकाओं के इसी तरह के अन्य अनेक सन्दिग्ध स्थलों में

---

१. द्रष्टव्य का० १८ की जयमंगला, पृ० २६ ।

२. द्रष्टव्य का० १८ की युक्तिदीपिका, पृ० ६८ :—जन्मेति महदादेः सूक्ष्मशरीराश्रितस्य लिङ्गस्य यथासंस्कारं बाह्येन शरीरेण सम्बन्धः । मरणमितिपूर्वकृतस्य कर्मणः फलभोगपरिसमाप्तेः, साम्प्रतस्य च फलभोगस्य प्रत्युपस्थाने लिङ्गस्य पूर्वशरीरत्यागः ।

वाचस्पति मिश्र ने अपनी पैनी दृष्टि एवं विवेचनात्मक सूक्ष्म बुद्धि से युक्त एवं हृदयावर्जक समाधान प्रस्तुत किये हैं। इसका एकाध और उदाहरण देना अप्रासङ्गिक न होगा। इसी अध्याय के आरम्भ में सांख्याचार्यों के सत्कार्यवाद के ईश्वरकृष्ण-कृत प्रतिपादन की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। इस सिद्धान्त के समर्थन में ईश्वरकृष्ण ने पाँच हेतु दिये हैं जिनमें से अन्तिम अर्थात् पाँचवा है 'कारणभावात्'। इसका अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने एक-दूसरे से कुछ भिन्न किया है। इनमें सर्वोत्तम अर्थ वाचस्पति मिश्र का ही है, क्योंकि यही सबसे सहज एवं स्वाभाविक है। उन्होंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—'कारण-भावात् कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। नहि कारणाद्भिन्नं कार्यं, कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद् भवेत्?' अर्थात् कार्य इसलिये भी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है कि वह कारण-स्वरूप होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता और कारण तो सत् होता ही है। तब उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे होगा? यह हेतु सर्व-सामान्य के लिए सुबोध नहीं है, क्योंकि इसमें जो कार्य की कारणात्मकता या कारणरूपता कथित है, वह स्पष्ट नहीं है। सांख्यकारिका में तो इसके साधक हेतु दिये नहीं गये हैं, अन्य टीकाओं में भी इनका अभाव है क्योंकि उनमें तो 'कारणभावात्' हेतु का अर्थ ही कुछ भिन्न दिया गया है जो बहुत सीधा और स्वाभाविक नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने कार्य की कारणात्मकता के पाँच व्यतिरेकी हेतु दिये हैं जिनसे उनकी मौलिकता का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है। इसके मूल स्रोत का ढूँढ़ने पर भी कुछ पता न चल सका। यह प्रतिपादन आचार्य मिश्र का अपना ही ज्ञात होता है। इसी प्रकार अन्य स्थल भी तत्त्वकौमुदी में वर्तमान हैं।

यही कारण है कि जितनी अधिक टीकायें वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी पर लिखी गई हैं, उतनी सांख्यकारिकाओं की अन्य किसी भी टीका पर नहीं। सच तो यह है कि सांख्यकारिकाओं की तत्त्वकौमुदी टीका को छोड़कर अन्य किसी भी टीका की कोई टीका देखने में नहीं आती, किन्तु तत्त्वकौमुदी पर तो आधे दर्जन से कम टीकायें नहीं हैं। इनमें पण्डितसम्राट् वंशीधर मिश्र की **सांख्यतत्त्वदिवाकर**, स्वामी बालराम उदासीन की **विद्वत्तोषिणी**, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य की **किरणावली**, शिवनारायण शास्त्री की **सारबोधिनी**, तथा पं० हरीराम शुक्ल की **सुषमा** अधिक प्रसिद्ध हैं। अंग्रेजी भाषा में डा० गङ्गानाथ झा का अनुवाद तथा टिप्पणी बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी भाषा में भी इसकी दो एक व्याख्यायें हैं जिनमें प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक की '**प्रभा**' व्याख्या सुविदित एवं सुप्रचलित है। इसकी इस महती टीका-सम्पत्ति से भी इसके महान् महत्त्व एवं मूल्य का अन्दाज या अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

परन्तु इसके विपरीत हमारे विद्या-गुरु पूज्य महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने अपने 'सांख्य-योग दर्शन' नामक ग्रन्थ में वाचस्पति मिश्र की प्रस्तुत टीका को विद्वत्तापूर्ण मानते हुये भी सांख्य दर्शन के रहस्यों के उद्घाटन में असफल कहा है। अपने ग्रन्थ के पृ० १५ पर उनका लेख इस प्रकार है :—"तत्त्वकौमुदी—वाचस्पति मिश्र (प्रथम, वृद्ध) ने यह विस्तृत टीका लिखी है। इनका यह पाँचवाँ ग्रन्थ है। दसवीं सदी के मध्यकाल ८४१ ई० में वाचस्पति मिश्र मिथिला में उत्पन्न हुये थे। वास्तव में वे एक बहुत बड़े विद्वान् थे। ये '**द्वादशदर्शन टीकाकार**' कहलाते हैं। इनकी तत्त्वकौमुदी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। सर्वाङ्गपूर्ण

होने के कारण विद्वानों ने इसे सांख्य शास्त्र का एक प्रधान प्रकरण ग्रन्थ ही मान लिया है। परन्तु खेद है कि वाचस्पति मिश्र ने इस व्याख्या को न्याय-भूमि की दृष्टि से लिखा है। इन्होंने सांख्य के तत्त्वों को व्यावहारिक या लौकिक जगत् के तत्त्वों के समान ही मानकर न्यायदर्शन की प्रक्रिया के अनुसार सांख्य के बौद्धिक (अर्थात् बुद्धितत्त्व से निकले हुये) तत्त्वों का विचार किया। अतएव सांख्यदर्शन के रहस्य को प्रतिपादन करने में यह टीका सफल नहीं है।'' इन पंक्तियों में एक बड़ी बात कही गई है। पर उसके समर्थक तथ्यों की कुछ भी चर्चा नहीं की गई है। ऐसी स्थिति में इस पर कुछ कह सकना कठिन है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि तत्त्वकौमुदी के न्याय शैली में लिखी जाने का जहाँ एक कारण वाचस्पति मिश्र का प्रकाण्ड नैयायिक होना है, वहाँ दूसरा कारण सांख्य-दर्शन के तत्त्वों की सिद्धि का युक्ति-सापेक्ष्य अथवा उपपत्ति-सापेक्ष्य होना भी है। यह तथ्य प्रस्तुत ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठों में अनेकशः प्रतिपादित हो चुका है। ऐसी स्थिति में केवल न्याय-शैली में लिखी जाने के कारण तत्त्वकौमुदी का सफल टीका न होना कुछ समझ में नहीं आता। इसके विपरीत पूर्व विवेचन के प्रकाश में तो यही कह सकते हैं कि यह टीका मूल के अनेक रहस्यों के उद्घाटन में समर्थन हुई है।

नारायण तीर्थ

सांख्यकारिकाओं के अन्यतम टीकाकार नारायण तीर्थ भी हैं जिनकी 'चन्द्रिका' व्याख्या सुबोध होने के कारण पर्याप्त प्रचलित है। यह तत्त्वकौमुदी की अपेक्षा संक्षिप्त है। यद्यपि यह अर्वाचीन टीका है, तथापि इसमें सांख्य के साथ वेदान्त का सम्मिश्रण प्रायः नहीं मिलता, जैसा कि माठर-वृत्ति तथा मुडुम्ब नरसिंह स्वामी की सांख्यतरुवसन्त टीका में मिलता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि मुख्यतः वेदान्ती विचार-धारा के पोषक होने के कारण नारायण स्वामी ने सांख्य के उन सिद्धांतों के प्रतिपादन में, जिनकी वेदान्त के सिद्धांतों के साथ एकरूपता अथवा एकता है, यत्र-तत्र वेदान्त का प्रमाण अवश्य दिया है। जैसे, ६२ वीं कारिका के व्याख्यान में पुरुष के वस्तुतः असंग होने के कारण उसके बन्धमोक्ष-राहित्य का कथन करते हुये 'न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥' इस प्रसिद्ध माण्डूक्य-कारिका को इसके समर्थन में उद्धृत किया है एवं इसे 'श्रुति' कहा है। ४५ वीं कारिका के 'वैराग्यात् प्रकृतिलयः' अंश की व्याख्या में नारारण तीर्थ ने ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इति श्रुत्या पुरुषज्ञस्यैव मोक्षकथनेन अन्यस्य मोक्षाभावकथनाज् ज्ञानरहितस्य विरक्तस्यापि न मोक्ष इत्याशयवानाह वैराग्यादिति।'' लिखकर केवल ज्ञान से मोक्ष होने के विषय में सांख्य और वेदान्त का यथार्थ ही समन्वय किया है। इसी प्रकार ६३ वीं कारिका में स्थित 'एकरूपेण' पद का ''एकेन रूपेण ज्ञानेन मोचयति संसारान्निवर्तयति, एतेन वैराग्योपरत्याद्यभावेऽपि ज्ञानं मोक्षस्य कारणं भवत्येवेति ज्ञापितम्'' इत्यादि व्याख्यान करके इसके समर्थन में स्वामी विद्यारण्य-कृत पञ्चदशी से 'पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा। मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति'[1] —इस श्लोक को ''उक्तं च वेदान्तेषु''

---

१. द्रष्टव्य, पञ्चदशी का चित्रदीपप्रकरण नामक षष्ठ अध्याय, श्लोक २८४।

इत्यादि शब्दों के साथ उद्धृत किया है। किन्तु इसी कारिका के 'पुरुषार्थम्' पद को 'स्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षम्' ही कहा है, स्वरूप में माठरवृत्ति इत्यादि की भांति चित् के साथ आनन्द का समन्वय करके उसे वेदान्ती मोक्ष के रंग में नहीं रंग दिया है। तात्पर्य यह है कि सामान्य बातों में सांख्यचन्द्रिका सांख्य को वेदान्ती रंग में रंग कर भी—यदि ऐसा कहना ठीक हो तो—मौलिक बातों या सिद्धान्तों में दोनों का सम्मिश्रण नहीं करती। हां, सेश्वर सांख्य को नारायण तीर्थ अवश्य ही वेदान्त से प्रायेण अभिन्न मानते हैं, जैसा कि तृतीय सांख्यकारिका के 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' अंश के व्याख्यान के उपसंहार से स्पष्ट है, जो इस प्रकार है :—"सेश्वरसांख्यनये तु पुरुषपदेनैवेश्वरस्यापि ग्रहणं, मायापदेन चेश्वरसङ्कल्प एवोच्यते जीवादृष्टं वा, अविद्याशब्देन च जीवभ्रम एवोच्यते, नान्यत्। अतो न तदकथनकृता न्यूनतेति संक्षेपः।'

वेदान्त से भी बढ़कर योगशास्त्र के प्रमाण इसमें उद्धृत हैं। ५५ वीं कारिका के 'तस्माद् दुःखं स्वभावेन' अंश की व्याख्या करते हुये नारायण तीर्थ ने विवेकी के लिये सृष्टि-मात्र की दुःखमयता के समर्थन में योगसूत्र १।१५ 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः', ५६ वीं कारिका के 'प्रतिपुरुष' पद की व्याख्या करते हुये उसके समर्थन में योगसूत्र २।२१-२२ 'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा, कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्', तथा ६४ वीं कारिका की व्याख्या करते हुये तत्त्वसाक्षात्कार के लिए तत्त्वाभ्यास अर्थात् पुरुष-स्वरूप-चिन्तन रूप निदिध्यासन की अनिवार्यता के समर्थन में योगसूत्र १।४८-४९ 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' उद्धृत किये हैं। योगशास्त्र के अन्य उद्धरण भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। इतनी संख्या में इन उद्धरणों के प्राप्त होने का कारण यह प्रतीत होता है कि सांख्य और योग समान तन्त्र हैं, दोनों के अनेक मूलभूत सिद्धान्त एक ही हैं। स्वयं नारायण तीर्थ ने भी ५६वीं तथा ६४वीं कारिकाओं की व्याख्या में उद्धृत योगसूत्रों को क्रमशः **'आह चैवं समानतन्त्रे भगवान् पतञ्जलिः'** तथा **'यथाह समानतन्त्रे भगवान् पतञ्जलिः'** इन शब्दों के साथ उद्धृत किया है। दोनों सम्प्रदायों की समानतन्त्रता मौलिक अथवा आधारभूत सिद्धान्तों में तो है ही, सम्भवतः उन सिद्धान्तों या तथ्यों के साक्षात्कारार्थ अपेक्षित यौगिक क्रियाओं के विषय में भी है क्योंकि सांख्य का भी व्यावहारिक पक्ष अष्टाङ्ग योग ही ज्ञात होता है।

नारायणतीर्थ ने अपनी सांख्यचन्द्रिका में विवादास्पद विषयों के सम्बन्ध में तत्त्वकौमुदी का ही प्रायेण अनुसरण किया है। अन्यत्र भी उसका न्यूनाधिक रूप में उपयोग किया है। नवीं कारिका के 'कारणभावाच्च' इस पञ्चम और अन्तिम हेतु का अर्थ प्राचीन टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया था। वाचस्पति मिश्र ने इसका बड़ा सीधा और स्वाभाविक अर्थ—'कारणभावाच्च, कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। नहि कारणाद् भिन्नं कार्यं कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत्?'—किया है। नारायणतीर्थ ने भी भिन्न शब्दों में यही अर्थ किया है, जो इस प्रकार है – 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदित्यादिश्रुतेरुत्पत्तेः प्रागपि कार्यकारणाभेदश्रवणेन कार्यस्य कारणात्मकत्वादपि सत् कार्यम्, असत्त्वे हि सदसतोरभेदानुपपत्तेरित्यर्थः।' आगे की १०वीं कारिका में व्यक्त को 'सक्रिय'

तथा अव्यक्त को तद्विपरीत अर्थात् अक्रिय कहा गया है। परन्तु अव्यक्त या प्रकृति तो अक्रिय न होकर नित्य परिणाम रूप क्रिया से युक्त रहती है। तब फिर 'सक्रिय' का क्या विशिष्ट अर्थ किया जाय ताकि अव्यक्त के सम्बन्ध में 'अक्रिय' विशेषण लागू हो सके। वाचस्पति मिश्र ने इसका 'परिस्पन्दवत्' अर्थ करके इसे समझाते हुए 'तथाहि, बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति देहान्तरं चोपाददते इति तेषां परिस्पन्दः' इत्यादि लिखा है। नारायणतीर्थ ने भी इसी अर्थ को 'सक्रियं प्रवेशादिक्रियावत्, बुद्ध्यादयो ह्येकं देहं त्यक्त्वा देहान्तरं प्रविशन्ति' इत्यादि शब्दों द्वारा प्रकट किया है। अव्यक्त में देहत्याग-प्रवेश रूप क्रिया न होने से उसको 'अक्रिय' कहना युक्त ही है। इसी प्रकार २२वीं कारिका के व्याख्यान में पञ्च तन्मात्रों से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति में 'परस्परानुप्रवेश' तथा 'अननुप्रवेश' के सिद्धान्तों की चर्चा पूर्व की जा चुकी है और यह दिखाया जा चुका है कि माठर, जयमंगलाकार तथा वाचस्पति ने 'परस्परानुप्रवेश', एवं युक्तिदीपिकाकार तथा गौडपाद ने 'अननुप्रवेश' का सिद्धान्त माना है। नारायण ने इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र का ही अनुसरण किया है।[1] ४१वीं कारिका के व्याख्यान में भी दो पक्ष हैं। एक के अनुसार इसमें बुद्ध्यादि लिङ्ग के आधार रूप सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता का प्रतिपादन है, और दूसरे के अनुसार लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर के आधाररूप से स्थूल शरीर की आवश्यता का। वाचस्पति मिश्र ने प्रथम पक्ष अपनाया है। तदनुसार नारायणतीर्थ ने भी प्रथम ही पक्ष का ग्रहण किया है, यद्यपि द्वितीय का भी बिना खण्डन के ही संक्षिप्त उल्लेख उन्होने कर दिया है, जो इस प्रकार है—'केचित्तु स्थूलशरीरावश्यकत्वाभिप्रायकमिदमिति वर्णयन्ति। तथा हि—लिङ्गं समुदायात्मकं लिङ्गशरीरं विशेषैः स्थूलदेहैर्विना निराश्रयं सन्न तिष्ठति किन्तु स्थूलशरीरमाश्रित्यैव तिष्ठति, अतो न लिङ्गशरीरेण स्थूलशरीरस्यान्यथा सिद्धिरितिभावः।' इसी प्रकार ५७वीं कारिका के व्याख्यान में नारायणतीर्थ-कृत ईश्वर-खण्डन में वाचस्पति-कृत खण्डन की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है।

परन्तु नारायण तीर्थ ने कहीं-कहीं सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग का भी अनुसरण किया है। एकाध उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। छठीं कारिका के 'सामान्यतस्तु दृष्टात्' पद का अर्थ विवादास्पद है। इसकी पर्याप्त चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है। वाचस्पतिमिश्र ने इसका अर्थ 'सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः, चितिच्छायापत्तेर्बुद्धेरध्यवसायात्' इत्यादि किया है। किन्तु इसके विपरीत नारायण तीर्थ ने इसका अर्थ 'सामान्यत इति षष्ठ्यन्तात् तसिः, तथा चेन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्यापेक्षितस्यानपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेव सिद्धिः, तेन पृथिव्यादीनां प्रत्यक्षादेव सिद्धिरिति भावः,' किया है। दशम कारिका के 'अनेकम्' पद की नारायण-कृत व्याख्या बड़ी परिष्कृत है एवं नव्य न्याय की परिष्कार-शैली में लिखी जाने के कारण बड़ी उपयुक्त तथा अनूठी है—

'अनेकं प्रतिपुरुषं भेदात् सजातीयभेदवत्। तत्त्वं चात्र स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरणतत्त्वविभाजकोपाधिमत्त्वम्, याति चेदं महदादिषु महदादिप्रतियोगिकान्योन्याभावेन महदन्तरादौ महत्त्वादेः समानाधिकरणत्वात्; प्रकृतौ तु न याति प्रकृत्यन्योन्या-

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यचन्द्रिका (बनारस संस्कृत सिरीज, सं० ९ पर प्रकाशित) पृ० २५।

भावस्य प्रकृतावसत्त्वात्, पुरुषे सत्त्वेऽपि तत्र प्रकृतित्वाभावात्। पुरुषेऽतिव्याप्तिवारणाय तु त्रिगुणत्वे सतीति विशेषणीयम्। अथवानेकत्वं सर्गभेदेन भिन्नत्वम्, सर्गद्वयसाधारण्याभाववदिति यावत्, तेन नान्यत्रातिव्याप्तिः।' इसी प्रकार अन्यत्र भी नारायणतीर्थ ने स्वतन्त्र ढंग से अनेक व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं, जिससे उनकी व्याख्या की उपयोगिता सहज ही समझी जा सकती है।

नारायणतीर्थ भी प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र की भाँति अनेक शास्त्रों के ज्ञाता प्रतीत होते हैं सांख्यचन्द्रिका के अतिरिक्त उनकी योगचन्द्रिका, योगसूत्रवृत्ति [गूढार्थद्योतनिका], योगचन्द्रिका, भक्तिचन्द्रिका [शाण्डिल्यसूत्रव्याख्या], भक्त्यधिकरणमाला, तत्त्वचन्द्रिका [सांख्यतत्त्वकौमुदी-व्याख्या], न्यायकुसुमाञ्जलि-व्याख्या, सिद्धान्तबिन्दु-महद्व्याख्या, तथा वेदान्तसूत्र-टीका 'विभावना' प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इसी से स्पष्ट प्रकट है कि समस्त दर्शनों पर साधिकार ग्रन्थ-रचना करने वाले नारायण तीर्थ सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र की ही भाँति बड़े विद्वान् एवं व्युत्पन्न संन्यासी थे। सरस्वती-भवन-ग्रन्थमाला की संख्या ६ पर प्रकाशित भक्तिचन्द्रिका, भाग १ के प्राक्कथन में पं० गोपीनाथ कविराज ने इनके सम्बन्ध में इसी प्रकार के भाव प्रकट किये हैं।[1] प्रसङ्गतः कविराज जी ने यह भी उल्लेख किया है कि इन्होंने महान् मधुसूदन सरस्वती के 'भगवद्भक्तिरसायन' का खूब उपयोग अपनी 'भक्तिचन्द्रिका' में किया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका समर्थन करने वाले अनेक तथ्यों में से केवल एक का ही उद्धरण यहाँ किया जा रहा है। भक्तिचन्द्रिका, भाग १ के पृ० २८ पर भक्ति की एकादश भूमिकाओं का नाम-निर्देश भक्तिरसायन के ही एतद्विषयक तीन श्लोकों का उद्धरण करके किया गया है, और इस उद्धरण को 'भूमयस्तूपवर्णिता वृद्धैः' शब्दों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ये श्लोक अपने पूर्ववर्ती ज्ञान-वयो-वृद्ध मधुसूदन सरस्वती के भक्तिरसायन से ही नारायणतीर्थ ने उद्धृत किए हैं। भाग २ के पृ० १६८ तथा २२० इत्यादि भी द्रष्टव्य है। इससे नारायणतीर्थ का मधुसूदन सरस्वती से परवर्तित्व तो निर्विवाद सत्य है। मधुसूदन सरस्वती का समय प्रमाणों के आधार पर ईसा की १६वीं शताब्दी सिद्ध होता है। अतः नारायणतीर्थ का समय १६वीं के बाद प्रतीत होता है। इसी प्रकार संस्कार-कौस्तुभ आदि के रचयिता अनन्तदेव द्वितीय के द्वारा अपने 'भक्ति-निर्णय' में नारायणतीर्थ द्वारा 'भक्तिचन्द्रिका' में प्रदर्शित विविध भक्ति-

---

१. द्रष्टव्य, प्राक्कथन, पृ० १-२ :—The Bhakticandrika, by Narayana Tirtha, is an addition, and a valuable addition, to this list. The interest of this Commentary is derived from the fact that it is an elborate interpretation on the sutras embodying many of the current views of the Bhakti Schools, and that it is the work of a scholar, who, apart from his versatile productions, was one of the foremost Sannyasins of his time at Banaras. In this last respect, he bears a close affinity to the great Madhusudana Sarasvati, of whose Bhagavad-bhakti-rasayana he seems to have made a liberal use.

बोधक ऋचाओं के तद्रूप में गृहीत होने से, नारायणतीर्थ का अनन्तदेव द्वितीय से पूर्ववर्तित्व भी सिद्ध है। नारायणतीर्थ के शिष्य ब्रह्मानन्द का भी अनन्तदेव द्वितीय से पूर्ववर्तित्व सर्वमान्य है। इन अनन्तदेव द्वितीय के आश्रयदाता बाजबहादुर चन्द्रदेव के एक दानपत्र के आधार पर उनका समय विक्रम संवत् १७३० अर्थात् ईसवी सन् १७८७ सिद्ध होने से, अनन्तदेव द्वितीय का भी वही समय सिद्ध होता है। इस प्रकार नारायणतीर्थ का समय ईसवी अठारहवीं शताब्दी से पूर्व सिद्ध होता है। फलतः इनका समय ईसवी १७ वीं शताब्दी में होना चाहिए।

मुडुम्ब नरसिंह स्वामी

इनके द्वारा रचित टीका का नाम 'सांख्यतरुवसन्त' है। पं० एस्० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री ने स्व-सम्पादित सांख्यकारिका की भूमिका में प्रसंगतः इसका उल्लेख किया है। उसमें शास्त्री जी ने इसका सांख्य और वेदान्त के समन्वयार्थ परवर्ती काल में लिखे गये ग्रन्थों के उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है[१]। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ कुछ ही समय पूर्व लिखा गया है तथा इसमें वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ सांख्य के सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। इससे अधिक इस टीका-ग्रंथ के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दुर्भाग्य-वश यह मुद्रित या हस्तलिखित, किसी भी रूप में उपलब्ध न हो सका।

हरिहरानन्द आरण्यक

ये ई० १९वीं शताब्दी के अन्तिम पाद तथा वर्तमान २० वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के प्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य विद्वान् साधक हुए हैं। अभी कुछ वर्षों पूर्व ही इनका देहावसान हुआ है। महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने अपने 'सांख्ययोग-दर्शन' नामक ग्रन्थ में सांख्यकारिका की टीकाओं में संख्या ५ पर इनकी व्याख्या का नाम 'सरल सांख्ययोग' दे रक्खा है। इसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार दिया है—'२० वीं सदी के हुगली (बंगाल) के प्रसिद्ध सांख्याचार्य हरिहरानन्द आरण्यक ने बँगला भाषा में यह व्याख्या लिखी है।'[२] यह टीका भी देखने को नहीं मिली। अतः इतनी ही सूचना देकर सन्तोष करना पड़ रहा है। यों, इनके दो अन्य ग्रन्थ भी हैं जो अधिक प्रसिद्ध हैं—एक तो सांख्यतत्त्वालोक, और दूसरा योग-भाष्य पर टीका-ग्रन्थ है जिसका नाम 'भास्वती' है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज में चार टीकाओं के साथ प्रकाशित योगभाष्य के संस्करण में एक टीका यह भी है। योग के तत्त्वों का सरल-सुबोध भाषा में उद्घाटन करने वाली यह टीका अमूल्य है। इसमें सांख्य-योग के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। इस कारण से महामहोपाध्याय कविराज

१. द्रष्टव्य, पृ० ४ की पाद-टिप्पणी, संख्या १ :—Vijnana Bhikshu's attempt to reconcile the Vedanta with the Sankhya is well known. The author of सांख्यतरुवसन्तः (मुडम्बनरसिंहस्वामिन्), following the lead of Bhikshu, says at the close of the commentary on III verse "अतो वेदान्तार्थस्य निष्कर्षकं कपिलमतं, न तु किञ्चिद्विरोधि।"

जी इसके अत्यधिक प्रशंसक हैं। सांख्यतत्त्वालोक का विवरण यथावसर आगे दिया जायगा। यहाँ केवल इतना ही वक्तव्य है कि इसकी भूमिका में कविराज जी ने आरण्यक जी के विषय में १-१-१९३६ को जो शब्द लिखे थे, उनसे इन अर्वाचीन सांख्ययोगाचार्य की कृतियों का मूल्य समझा जा सकता है। वे शब्द ये हैं :—"The saintly author, who is well known to the world of Indian philosophical scholarship for his masterly annotations on Vyasa's Commentary on Patanjali's Yogasutras—a work which may be described as a veritable monument of industry, erudition and philosophical innsight, and is the result of years of deep meditation in an ascetic life dovoted to a pursuit of knowledge—and for other valuable contributions to Sankhya-Yoga philosophy, is living now in almost absolute seclusion in the Santhal Parganas (Kapila Matha, Madhupur E. I. Ry.). He has cut himself off entirely from the outside world except for short interviews with advanced enquirers on the spiritual path, for whom his helpful suggestions are always available".

ये अद्यावधि सांख्यकारिका के अन्तिम व्याख्याकार कहे जा सकते हैं। इनके पूर्व अन्य व्याख्याकार भी हुए होंगे, परन्तु उनकी कृतियों के प्रकाशित न होने अथच अज्ञात होने के कारण, उनका यहाँ विवरण नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। तथापि ज्ञात आचार्यों एवं उनकी कृतियों का यावच्छक्य विस्तृत विवरण पूर्व पृष्ठों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इतने ही विवरण के साथ प्रस्तुत प्रकरण या प्रसङ्ग को समाप्त समझना चाहिए। अगले अध्याय में सांख्य-सूत्रों के टीकाकारों एव सांख्य पर स्वतन्त्र रूप से कुछ फुटकर लिखने वाले लेखकों का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

— —

सप्तम अध्याय

सांख्य-सूत्रों के व्याख्याकार

चतुर्थ अध्याय में षडध्यायी सांख्यप्रवचनसूत्र तथा संक्षिप्त तत्त्वसमाससूत्र की सविस्तर चर्चा की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में इनके व्याख्याकारों की चर्चा प्रसङ्ग-प्राप्त है। इनमें सांख्यप्रवचनसूत्र की उपलब्ध व्याख्यायें तत्त्वसमाससूत्र की उपलब्ध व्याख्याओं से पूर्ववर्ती हैं, यद्यपि उनकी अपेक्षा संख्या में कम हैं। सांख्यप्रवचनसूत्र की प्राचीनतम उपलब्ध टीका अनिरुद्ध-कृत वृत्ति है। इसी 'वृत्ति' का अनुसरण करते हुये महादेव वेदान्ती ने अपनी 'वृत्तिसार' नामक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का नाम ही इस बात का द्योतक है कि यह किसी 'वृत्ति' का सार है। महादेव ने अपनी व्याख्या के आरम्भ एवं प्रथम अध्याय के अन्त में लिखे गए श्लोकों में भी इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि यह 'वृत्ति' अनिरुद्ध-कृत सांख्यसूत्र-वृत्ति ही है। वे श्लोक क्रमशः इस प्रकार हैं :—

'दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम्।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्याविर्महादेवः।
अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता।
इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता॥
परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः।
कृता सन्दर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः॥

इन दोनों व्याख्याओं के अतिरिक्त इन सूत्रों का विज्ञानभिक्षु-कृत भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध व्याख्या-ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध वैयाकरण नागेशभट्ट की एक व्याख्या है जो पूर्व व्याख्याताओं का ही प्रायेण अनुसरण करने के कारण वैशिष्ट्य-शून्य है। इसके अतिरिक्त किसी रामभद्रयति के शिष्य की लिखी हुई एक अप्रकाशित टीका की चर्चा पं० उदयवीर शास्त्री ने की है।[1] तत्त्वसमाससूत्र की पाँच व्याख्यायें उपलब्ध हैं। इनमें 'क्रमदीपिका' नामक तत्त्वसमाससूत्र-वृत्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। इसके कर्ता ने अपना नाम आदि गुप्त ही रक्खा है। यह व्याख्या पर्याप्त संक्षिप्त है किन्तु इससे भी संक्षिप्त दो व्याख्यायें हैं। एक का नाम 'सर्वोपकारिणी' और दूसरी का 'सांख्यसूत्र-विवरण' है। इन व्याख्याओं के रचयिताओं के नाम भी अज्ञात ही हैं। क्रमदीपिका से अपेक्षाकृत विस्तृत दो व्याख्यायें और भी हैं। एक तो प्रसिद्ध विज्ञान-भिक्षु के शिष्य भावागणेश की 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' व्याख्या है, तथा दूसरी इष्टिकापुर (इटावा) निवासी, कान्यकुब्जब्राह्मण-कुलोत्पन्न षिमानन्द नामक किसी व्यक्ति की 'सांख्यतत्त्वविवेचन' व्याख्या है। इसका यह नाम रचयिता द्वारा ग्रन्थ के आदि या अन्त में नहीं दिया गया है, अपितु चौखम्बा संस्कृत सिरीज में सं० २४६ पर उपर्युक्त समस्त ग्रन्थों के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ की पुष्पिका में दिया गया है। इनका विवेचन इसी

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० २८२, पंक्ति १-३ तथा इसकी पाद-टिप्पणी संख्या १।

अध्याय में आगे किया जायगा। अभी सांख्य-प्रवचन-सूत्रों के वृत्तिकार अनिरुद्ध एवं भाष्यकार विज्ञानभिक्षु के काल, सिद्धान्त, आदि के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

अनिरुद्ध

अभी पीछे कहा जा चुका है कि वेदान्ती महादेव ने सांख्य-षडध्यायी की अपनी टीका 'वृत्तिसार' के आरम्भ तथा मध्य में भी इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अनिरुद्ध-वृत्ति का अध्ययन करके एवं उसके सांख्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को समझ करके ही अपनी 'वृत्तिसार' व्याख्या की रचना की है। इससे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि अनिरुद्ध वेदान्ती महादेव से प्राचीन हैं। यद्यपि सांख्य-षडध्यायी के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने वेदान्ती महादेव की भाँति अपने भाष्य में कहीं भी अनिरुद्ध का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनके भाष्य का सम्यग् आलोडन करने से इस बात का निश्चय हो जाता है कि अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु से भी पर्याप्त प्राचीन है। डा० रिचर्ड गार्बे ने विज्ञानभिक्षु-कृत सांख्यप्रवचन-भाष्य से ऐसे स्थलों की सूची दी है जिनके आधार पर विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस सूची में आठ स्थलों का उल्लेख है जिनमें से चार में सूत्रों के पाठ-भेदों का उल्लेख है, तीन में 'कश्चित्' या 'यत्तु' इत्यादि पदों के द्वारा अनिरुद्ध के विचारों या मतों का उल्लेखपूर्वक खण्डन है, तथा शेष एक स्थल में सूत्र-भेद का कथन है। पाठ-भेदों का उल्लेख १।१८, १।१६१, ५।८२ तथा ६।५० सूत्रों से सम्बन्ध रखता है। भाष्य के ये स्थल इस प्रकार हैं—प्रकृतिनिबन्धना चेदिति पाठे, अक्ष-सम्बन्धात् साक्षित्वमिति पाठे, इतरवियोगवदिति पाठे, जडव्यावृत्ताविति पाठे। उपर्युक्त सूत्रों के ये पाठ अनिरुद्ध द्वारा स्वीकृत पाठ ही हैं। 'कश्चित्' या 'यत्तु' के द्वारा अनिरुद्ध के विचारों का खण्डन[1] विज्ञानभिक्षु ने १।१६, २।४६ तथा ५।१०० सूत्रों के भाष्य में किया है, और ये विचार अथवा सिद्धान्त इन्हीं सूत्रों की अनिरुद्ध-वृत्ति[2] में उपलब्ध हैं। सूत्र-भेद का

---

१. (i) कश्चित्तु प्रकृतिपुरुषयोः संयोगाङ्गीकारे पुरुषस्य परिणामसंगौ प्रसज्येयाताम्। अतोऽत्राविवेक एव योगशब्दार्थो न तु संयोग इति। तन्न, तद्योगोऽप्यविवेकादिति सूत्रेणाविवेकस्य योगहेतुताया एव सूत्रकारेण वक्ष्यमाणत्वात्। स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगस्तस्य हेतुरविद्येति सूत्राभ्यां पातञ्जलेऽपि संयोगहेतुत्वस्यैवाविद्याया उक्तत्वाच्च।—सां० सू० १।१६ का भिक्षु-भाष्य।

(ii) यत्तु कश्चिदविवेकी वदति बुद्धिप्रतिबिम्बितपुरुषस्य कर्मेति। तन्न, योगभाष्येऽस्मदुक्तप्रकारस्यैवोक्तत्वेनान्यप्रकारस्याप्रामाणिकत्वात्, प्रतिबिम्बस्यावस्तुत्वेन कर्माद्यसम्भवाच्च। अन्यथा प्रतिबिम्बस्य कर्मतद्भोगाद्यङ्गीकारे बिम्बत्वाभिमतपुरुषकल्पनावैयर्थ्यस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वादिति।—सां० सू० २।४६ का भिक्षु-भाष्य।

(iii) कश्चित्तु तादात्म्यसम्बन्धेनात्र समवायस्यन्यथासिद्धिमाह। तन्न, शब्दमात्रभेदात्। तादात्म्यं ह्यत्र नात्यन्तं वक्तव्यं, गुणवियोगेऽपि गुणिसत्त्वात् वैशिष्ट्याप्रत्ययाच्च। किन्तु भेदाभेदबुद्धिनियामकः सम्बन्धविशेष एवागत्या वक्तव्यः। तथा च तस्य समवाय इति वा तादात्म्यमिति वा नाममात्रं भिन्नम्। सम्बन्धिद्वयातिरिक्तः सम्बन्धस्तु सिद्ध एवेति। यदि च तादात्म्यं स्वरूपमेवोच्यते तदास्माभिरपि तदेवोक्तमिति शब्दमात्रभेद इति।—सां० सू० ५।१०० का भिक्षु-भाष्य।

२. (i) तद्योगः बन्धयोगः। तद्योगादृते प्रकृतियोगादृते। अविवेकं विना नात्मनः कदापि बन्धः, किन्त्वविवेकाद्बन्ध इत्यभिप्रायः।—सां० सू० १।१६ की अनिरुद्ध-वृत्ति।

उल्लेख विज्ञानभिक्षु ने ५।१२१ सूत्र के भाष्य में किया है, जो उनके अनुसार इस प्रकार है :—'न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ।' इसके भाष्य की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—'न बाह्यबुद्धिनियम इत्यंशस्य पृथक्सूत्रत्वेऽपि सूत्रद्वयमेकीकृत्येत्थमेव व्याख्येयं, सूत्रभेदस्तु दैर्घ्यभयादिति बोध्यम् ।' इसका अर्थ यह है कि यदि 'न बाह्यबुद्धिनियमः' अंश को पृथक् सूत्र भी माना जाय तो भी इसे तथा 'वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत्' सूत्र को इकट्ठा करके इनका इसी प्रकार व्याख्यान करना चाहिये; सूत्र-भेद अर्थात् पृथक्सूत्रता तो केवल दीर्घता के भय से है, ऐसा समझना चाहिये। अब विज्ञानभिक्षु का ५।१२१ सूत्र उनके द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त प्रकार से अनिरुद्ध का ५।१२१ तथा ५।१२२ सूत्र है। इसी कारण से विज्ञान-भिक्षु के अनुसार पाँचवें अध्याय में कुल १२६ तथा अनिरुद्ध के अनुसार १३० सूत्र हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्थल सांख्यप्रवचनभाष्य में हैं जिनसे अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा प्राचीन आचार्य ठहरते हैं। पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ के २८३-८६ पृष्ठों पर इन स्थलों का निर्देश किया है। वे स्थल ये हैं :—

(१) सां० सू० १।६१ पर भाष्य करते हुये विज्ञान-भिक्षु ने इस प्रकार लिखा है—'एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः।' सांख्यों की अनियत-पदार्थवादिता का कथन अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में छः-सात स्थलों पर किया है—'किञ्चा-नियतपदार्थवादित्वादस्माकम्' (सां० सू० १।४५ पर), 'नास्माकं सिद्धान्तक्षतिः, अनियत-पदार्थवादित्वात्' (१।५६ पर), 'अनियतपदार्थवादित्वात्सांख्यानाम्' (५।८५ पर), 'अनियतः पदार्थो यतः' (५।१०७ पर), 'अनियत्वात् पदार्थानाम्' (५।१०८ पर), 'अनियतत्वात् पदार्थस्य' (६।३८ पर)। अनिरुद्ध का इतनी बार एक अर्थ का कथन करना इस सम्बन्ध में उसके विचारों की दृढता प्रदर्शित करता है। यद्यपि ५।१०७ की अपनी व्याख्या में महादेव वेदान्ती ने भी 'अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः' लिखा है, तथापि उनका यह लेख अनिरुद्ध के व्याख्यान, जिसका उन्होंने प्रायः अनुसरण किया है, के आधार पर ही लिखा गया प्रतीत होता है। अतः विज्ञानभिक्षु ने अपना ऊपर उद्धृत लेख अनिरुद्ध के द्वारा अनेकशः उल्लिखित अनियतपदार्थवाद को ही दृष्टि में रखकर लिखा होगा। कई बार कथन करने से प्रकट हुई अनिरुद्ध की एतद्विषयक विचार-दृढता के कारण ही उसके विरोधी विज्ञानभिक्षु ने 'इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः' जैसे कटु शब्दों का प्रयोग किया होगा, ऐसा मानना स्वा-भाविक एवं उचित प्रतीत होता है। महादेव वेदान्ती के एकाध बार के कथन को काटने के

(ii) बुद्धिप्रतिबिम्बितपुरुषकर्मार्जितत्वात् पुरुषार्थमभिचेष्टा प्रवर्तनं बुद्ध्यादीनाम्। यथा लोके येनार्जितो भृत्यस्तत्कर्म करोति।—सां० सू० २।४६ की अनिरुद्ध-वृत्ति।

(iii) उभयत्रापि तादात्म्येनैवोपपत्तेः, अन्यथा सामानाधिकरण्यं न स्यादिति।—सां० सू० ५।१०० की अनिरुद्ध-वृत्ति।

लिये विज्ञान-भिक्षु ऐसे कटु शब्दों का प्रयोग कदापि न करते, और वह भी तब जब कि वह कथन दूसरे के अनुसरण-मात्र से किया गया है।

(२) सां० सू० १।९९ पर भाष्य करते हुए विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार लिखा है:— "कश्चित्तु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छादिभिर्ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यानुभवादन्यस्य ज्ञानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह। तदात्माज्ञानमूलकत्वादुपेक्षणीयम्। एवं हि बुद्धेरेव ज्ञातृत्वे 'चिदवसानो भोगः' इत्यागामिसूत्रद्वयविरोधः पुरुषे प्रमाणाभावश्च, पुरुषलिङ्गस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात्।" इस सन्दर्भ में जिस विचार-धारा को पूर्व पक्ष के रूप में उपन्यस्त करके विज्ञानभिक्षु ने उसका खण्डन किया है, वह अर्थतः ज्यों का त्यों १।९९ की अनिरुद्ध-वृत्ति में प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है:—"अन्तःकरणस्य बुद्धौ पुरुषच्छायापत्त्या तच्चैतन्येनोज्ज्वलितस्य चेतनत्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम्। लोहवदिति यथाकर्षको लोहो निष्क्रियोऽपि सन्निधिमात्रेणाकर्षति।" इस सन्दर्भ का अर्थ यह है कि अन्तः-करणों में मुख्य 'बुद्धि' में पुरुष की छाया पड़ने से उस के चैतन्य से प्रकाशित वह अन्तःकरण चैतन्य का अभिमान करने से उसी प्रकार अधिष्ठाता [भोक्ता] बन जाता है, जैसे चुम्बक स्वतः निष्क्रिय होकर भी सन्निधि-मात्र से वस्तुओं का आकर्षण करता है। इसी भाव को विज्ञानभिक्षु ने पूर्वपक्षी की ओर से इस रूप में प्रकट किया है कि बुद्धि में चेतन की छाया पड़ने से वही सब अर्थों की ज्ञाता—भोक्ता—हो जाती है। इच्छा आदि धर्मों का ज्ञान के साथ सामानाधिकरण्य सर्वानुभूत तथ्य होने से एक के ज्ञान से दूसरे की प्रवृत्ति मानना सर्वथा अनुचित है। अतः बुद्धि में प्रवृत्ति होने से समस्त वस्तुओं का ज्ञान भी उसी में मानना उचित है। स्पष्ट है कि विज्ञान भिक्षु द्वारा 'कश्चित्' पद से जिसके मत का उपन्यास किया गया है, वह अनिरुद्ध के अतिरिक्त और कोई नहीं है। अनिरुद्ध ने अपना यह विचार सां० सू० १।९९ ही नहीं अपितु उसके पूर्व के तीन सूत्रों (९६-९८) की वृत्ति में भी इस प्रकार प्रकट किया है:—"........तत्सन्निधानात्प्रकृतिप्रतिबिम्बितत्वादात्मनः प्रकृतेः कर्तृत्वं भोक्तृत्वमधिष्ठातृत्वमात्मनोऽभिमन्यते। तस्माच्चेतनोऽधिष्ठातेति भ्रान्तिरिति ॥९६॥ वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न त्वात्मा जीवः। आहारादिविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्तृत्वमात्मनोऽपरिणामित्वात् ॥९७॥ तात्त्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशः, तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः" ॥९८॥

(३) इसी प्रकार सां०सू० २।३२ के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने फिर एक मत का 'कश्चित्' पद के द्वारा निर्देश करके खण्डन किया है, जो इस प्रकार है:—'कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यं च भवति सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह, तन्न। योगभाष्ये व्यासदेवैर्विशिष्टज्ञानस्याप्यैन्द्रियकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्। इन्द्रियैर्विशिष्टज्ञाने बाधकाभावाच्च"। जिस श्लोक का ऊपर उद्धृत अर्थ विज्ञानभिक्षु ने पूर्वपक्षी को अभिप्रेत बताया है, उसे उन्होंने उपर्युक्त पंक्तियों के ठीक पूर्व उद्धृत करके पहले उसका स्वाभिमत अर्थ किया है। वह कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक का यह श्लोकार्ध है:—'परं पुनस्तथा वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिस्तथा'। इसका विज्ञानभिक्षु-कृत अर्थ उन्हीं केशब्दों में इस प्रकार है— 'परमुत्तरकालीनं च पुनर्वस्तुधर्मैर्द्रव्यरूपधर्मैस्तथा जात्यादिभिर्ज्ञानं सविकल्पकं तथालोचनाख्यं

भवतीत्यर्थः ।' अर्थात् केवल निर्विकल्पक ही नहीं अपितु उसके अनन्तर उत्पन्न होने वाला, द्रव्य जाति आदि विकल्पों या धर्मों का सविकल्पक ज्ञान भी 'आलोचन' [=इन्द्रिय-जन्य या प्रत्यक्ष ज्ञान] कहा जाता है। इसके विपरीत इसका पूर्वपक्षी-कृत अर्थ यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही इन्द्रिय-जन्य होने से 'आलोचन' होता है, सविकल्पक तो केवल मन से उत्पन्न होने के कारण 'आलोचन' नहीं होता। विज्ञानभिक्षु के 'कश्चित्' पद से परामृष्ट व्यक्ति निस्सन्देह अनिरुद्ध ही हैं क्योंकि उन्होंने ही सां० सू० १।८६ की स्व-लिखित वृत्ति में श्लोकवार्तिक के उपर्युक्त श्लोकार्ध को उद्धृत किया है और उद्धृत करने से पूर्व उसका यही अर्थ भी किया है। अनिरुद्ध की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—"सविकल्पकमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम् ।............अदुष्टसाक्षात्कारिप्रमाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम् । तदुभयं निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । किन्तु सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते । अत एवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति विशेषसंज्ञा ।......तथा च—संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते । संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा ।। ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया । बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता" ।। अनिरुद्ध की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे निर्विकल्पक और सविकल्पक, दोनों को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कथन है कि सादृश्य से संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर स्मृति के द्वारा वस्तु-विशेष के नाम, जाति इत्यादि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसी से उसका विशेष नाम 'सविकल्पक' है। स्पष्ट है कि अनिरुद्ध सविकल्पक ज्ञान को स्मृति-जन्य मानते हैं, और चूँकि स्मृति मनोमात्र-जन्य होती है, इसलिये उनके मत से सविकल्पक की मनोमात्रजन्यता सुस्पष्ट है। इससे सिद्ध है कि विज्ञानभिक्षु के 'कश्चित्' पद से अनिरुद्ध ही अभिप्रेत हैं।

परन्तु इसके विपरीत श्री बालराम उदासीन तथा डा० रिचर्ड गार्बे इस मत के हैं कि सां० सू० २।३२ के स्वकीय भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने २७वीं सांख्यकारिका की स्वकृत 'तत्त्वकौमुदी' व्याख्या में वाचस्पति मिश्र द्वारा उद्धृत श्लोकवार्तिक के उपर्युक्त श्लोक के अर्थ का खण्डन किया है। पर यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र ने उक्त श्लोक को उद्धृत कर के भी उसका अर्थ नहीं किया है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रदर्शित पूर्वपक्ष के अन्त में उनके द्वारा प्रयुक्त 'इति श्लोकार्थमाह' पद निरर्थक एवं असंगत हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त एक बात और है। विज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य में उक्त मत के प्रत्याख्यान के अनन्तर 'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे' इत्यादि लिखा है, जो वाचस्पति के विषय में कदापि संगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाचस्पति ने सांख्यसूत्रों का तो कोई व्याख्यान किया ही नहीं। ये शब्द तो वाचस्पति के विषय में तभी संगत होते जब कि उन्होंने सां० सू० २।३२ का व्याख्यान किया होता। डा० रिचर्ड गार्बे ने स्व-सम्पादित अनिरुद्धवृत्ति के उपान्त्य पृष्ठ[१] पर इस असंगति का समाधान 'स एव' के स्थान में 'सम एव' पाठ मान कर किया है। उन्होंने लिखा है कि स्वर्गीय डा० भगवान् लाल इन्द्र द्वारा

१. डा० गार्बे द्वारा सम्पादित ग्रन्थ के विभिन्न भागों का क्रम इस प्रकार है—सर्व प्रथम भूमिका, उसके बाद सूत्र तथा उसकी वृत्ति, एवं अन्त में अनुवाद। उपर्युक्त पृष्ठ-संख्या ग्रन्थ के संस्कृत भाग की है जो अनुवाद के पूर्व दिया गया है।

भिक्षु-भाष्य की जो हस्तलिखित प्रति मुझे प्राप्त हुई है, उसमें यही (सम एव) पाठ उपलब्ध है जिसका अर्थ यह है कि समान व्याख्याता ने प्रस्तुत सूत्र (२।३२) का ऐसा ही अर्थ किया है। वह समान व्याख्याता अनिरुद्ध हो सकता है। इस लिये 'कश्चित्' पद से वाचस्पति मिश्र का ग्रहण करने पर भी अगले वाक्य के साथ इसकी कोई असंगति नहीं होती।

गार्बे महोदय का उपर्युक्त समाधान ठीक नहीं है क्योंकि हस्तलिखित प्रति के जिस पाठ के अधार पर उन्होंने यह समाधान दिया है, वह सर्वथा असंगत है। यदि 'कश्चित्' इत्यादि से आरम्भ होने वाले पूर्व वाक्य के साथ प्रस्तुत वाक्य का सम्बन्ध न होगा तो इसके 'एव' एवं 'अपि' शब्द सर्वथा निरर्थक या व्यर्थ हो जायँगे। 'एव' पद का तात्पर्य यह है कि पूर्व वाक्य के 'कश्चित्' पद से जिसका परामर्श होता है, उसी का प्रस्तुत वाक्य के 'स' पद से भी। ऐसी स्थिति में 'स' के स्थान में 'सम' पाठ नितान्त असंगत है। यदि इसके विपरीत 'सम' पाठ ठीक माना जाय तो 'एव' पद व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'अपि' का अभिप्राय यह है कि जिसने श्लोकवार्तिक के उल्लिखित श्लोक का एक विशिष्ट अर्थ किया, उसी ने प्रस्तुत सूत्र २।३२ का भी तदनुकूल अर्थ किया। इस प्रकार 'एव' तथा 'अपि', दोनों ही पदों के प्रयोग से यह बात सुसिद्ध है कि श्लोकवार्तिक से उद्धृत श्लोक तथा सां० सू० २।३२ का अर्थ करने वाला एक ही व्यक्ति है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति वाचस्पति न होकर अनिरुद्ध ही हो सकता है, यह बात सुनिश्चित है। अतः इस आधार पर भी अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु से प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं।

'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे' के बाद विज्ञानभिक्षु ने उस सूत्रार्थ का निर्देश इस प्रकार किया है :—'बाह्येन्द्रियमारभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिरुत्सर्गतः क्रमेण भवति। कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेष्वेकदैव वृत्तिर्भवतीत्यर्थ इति, तदप्यसत्।' अनिरुद्ध ने सां० सू० २।३२ की स्वकीय वृत्ति में इसका यही अर्थ किया है, पदानुक्रम अवश्य भिन्न है। इसी कारण से विज्ञानभिक्षु ने अपने सन्दर्भ के अन्त में 'इत्यर्थ इति' ऐसा लिखा है। दोनों सन्दर्भों की अर्थ-विषयक एकता के लिए सां० सू० २।३२ की अनिरुद्ध-वृत्ति का यह सन्दर्भ द्रष्टव्य है :—'क्रमशश्च मन्दालोके चौरं दृष्ट्वेन्द्रियेण वस्तु विचारयति, ततः चौरोऽयमिति मनसा सङ्कल्पयति, ततो धनं गृह्णातीत्यहङ्कारेणाभिमन्यते, ततः चौरं गृह्णामीति बुद्ध्याध्यवस्यति। अक्रमशश्च, रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटित्यपसरति। तत्र चतुर्णामेकदा वृत्तिः।' दोनों सन्दर्भों की तुलना से स्पष्ट है कि विज्ञान-भिक्षु ने अनिरुद्ध-कृत अर्थ को ही संक्षेप में अपने शब्दों में रख दिया है, अन्तिम पंक्ति के तो कुछ शब्द भी अनिरुद्ध के सन्दर्भ से गृहीत हैं। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि विज्ञान भिक्षु ने इस प्रसङ्ग में अनिरुद्ध-कृत सूत्रार्थ का ही प्रत्याख्यान अथवा खण्डन किया है। तब फिर विज्ञानभिक्षु से अनिरुद्ध के प्राचीन होने का यह चौथा आधार हुआ।

इस प्रकार यद्यपि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा अनिरुद्ध की प्राचीनता सिद्ध होती है, तथापि इससे उनके निश्चित काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अतः इसके लिए अन्य

आधार ढूंढ़ने पड़ेंगे। डा० गार्बे ने सांख्यसूत्रों की अनिरुद्ध-वृत्ति की अपनी भूमिका[1] में लिखा है कि सां० सू० १।३४ की अनिरुद्ध-वृत्ति की आरम्भिक पंक्तियाँ[2] सायण-रचित[3] **सर्वदर्शनसंग्रह** के बौद्ध दर्शन वाले अध्याय के एक भाग-विशेष का सार-मात्र हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—'न चायमसिद्धो हेतुः अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य...तच्चार्थक्रिया-कारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्'। इससे स्पष्ट है कि अनिरुद्ध सायण के बाद के हैं, और चूंकि सायण की स्थिति ईसवी १४ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में निश्चित है, अतः अनिरुद्ध का समय ईसवीय चौदहवीं शताब्द के बाद ही होना चाहिए। दूसरी ओर अनिरुद्ध ई० सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विज्ञानभिक्षु[4] से पूर्ववर्ती सिद्ध किए जा चुके हैं। इसलिए अनिरुद्ध को ईसवीय पन्द्रहवीं शताब्दी में रक्खा जा सकता है।

डा० गार्बे ने इसकी पुष्टि में आगे लिखा है कि सां० सू० २।३२ की वृत्ति में अनिरुद्ध द्वारा प्रयुक्त 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्' पदावली के आधार पर अनिरुद्ध के इस समय के विषय में और अधिक निश्चयात्मकता प्राप्त होती है। साहित्यदर्पण १।४।५ में भी यह पदावली प्राप्त होती है। 'व्यतिभेद' शब्द संस्कृत-शब्दकोष के अत्यन्त विरल प्रयुक्त होने वाले शब्दों में से है क्योंकि इसके अतिरिक्त केवल न्यायसूत्र ४।२।१८ में इसका एक और प्रयोग है, पर वहाँ यह शब्द भिन्न अर्थ में है। इसलिए मेरे मत से दोनों में से एक स्थल में 'उत्पलपत्रव्यतिभेदवत्' प्रयोग दूसरे का अनुवाद है। मैं यह कल्पना नहीं कर सकता कि साहित्यदर्पणकार ने अनिरुद्ध जैसे अप्रसिद्ध दार्शनिक लेखक का अनुकरण किया होगा। इसके विपरीत मुझे यही मानना युक्त लगता है कि अनिरुद्ध ने ही साहित्यदर्पणकार का अनुकरण किया है, और यदि यह मानना ठीक हो कि अनिरुद्ध पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रायः मध्य में लिखे गए साहित्य-दर्पण के बाद हुए, तो उनका समय १५०० ई० निर्धारित किया जा सकता है।[5]

डा० गार्बे के इस समस्त मत का खण्डन करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के २६० से २६२ पृष्ठों पर अपना यह विचार प्रकट किया है कि अनिरुद्ध का 'सत्त्व-मर्थक्रियाकारित्वं तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्' लेख सायण के 'न चायमसिद्धो हेतुः अर्थ-क्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य...तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्' इत्यादि लेख के आधार पर लिखा गया नहीं माना जा सकता, क्योंकि कोई भी विद्वान् इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता कि सर्वप्रथम सायण ने ही इन पंक्तियों को इस रूप में लिखा है। दार्शनिक साहित्य के विद्वान् इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि उक्त वाक्य-समूह बौद्ध दर्शन में अर्थ के प्रतिपादन का साधारण प्रकार है। जो भी विद्वान् बौद्ध दर्शन का

१. द्रष्टव्य, पृ० ८।

२. सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं, तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्।

३. वस्तुतः 'सर्वदर्शनसंग्रह' सायण के बड़े भाई माधव (संन्यासावस्था का नाम स्वामी विद्यारण्य) की रचना है।

४. एफ० ई० हाल द्वारा सम्पादित सांख्यसार की भूमिका, के पृ० ३७ के अनुसार।

५. द्रष्टव्य, अनिरुद्धवृत्ति की डा० गार्बे द्वारा लिखित भूमिका (Preface) के पृ० ८ तथा ६।

विवेचन करेगा, वह इस पदावली को भूल नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यह क्यों न माना जाय कि दोनों के लेखों का आधार उनसे प्राचीन कोई अन्य स्रोत है? वाचस्पति मिश्र ने न्यायसूत्र ३।२।१७ के वार्तिक की अपनी तात्पर्यटीका में 'सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वं... अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमिति तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्' इत्यादि लिखा है। इसके अतिरिक्त सिद्धसेनदिवाकर-कृत 'सन्मतितर्क' की अभयदेवसूरि-कृत व्याख्या में भी उक्त पदावली इस रूप में प्राप्त होती है :—घटादिः पदार्थोऽर्थक्रियाकारी क्रमाक्रमाभ्यां प्रत्यक्ष-सिद्धः ...अतो यत्र सत्त्वं तत्र क्रमाक्रमप्रतीतावपि क्षणिकत्वप्रतीतिरेव'। स्पष्ट ही अनिरुद्ध एव वाचस्पति के लेखों में अत्यधिक साम्य है। यों, यह साम्य आकस्मिक भी हो सकता है। फिर भी इन निर्देशों से यह परिणाम अवश्य निकलता है कि अनिरुद्ध के लेख को सायण के लेख का सार अथवा अनुकरण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि जहाँ सायण के संग्रहकार होने के कारण उसके लेख में दूसरों के भावों और पदों का आ जाना स्वाभाविक है, वहाँ अनिरुद्ध के विषय में ऐसी बात नहीं है। हाँ, खण्डन-मण्डन के लिए वे अवश्य ही अन्य ग्रन्थों को उद्धृत कर सकते हैं पर अनिरुद्ध की १।३४ सूत्र की व्याख्या-पंक्तियों में ऐसी कोई भी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में अनिरुद्ध के इस लेख को सायण के उक्त लेख का सार नहीं कहा जा सकता। अतः सायण को अनिरुद्ध के काल-निर्णय के लिए पूर्व प्रतीक नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार अनिरुद्ध के 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्' पदावली के साहित्यदर्पण से उधार ली जाने की डा० गार्बे की कल्पना भी निराधार है। यह हो सकता है कि 'व्यतिभेद' शब्द का प्रयोग कम होता हो, परन्तु इस बात का पद के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं है। 'आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः' इस न्यायसूत्र ४।२।१८ में आये हुये 'व्यतिभेद' पद को डा० गार्बे ने भिन्नार्थक माना है, परन्तु उस भिन्न अर्थ को उन्होंने बताया नहीं। वस्तुतः इसका अर्थ वही है जो अनिरुद्ध-वृत्ति एवं साहित्यदर्पण के पूर्वोक्त स्थलों में है। इसका अर्थ 'भेदना' या 'छेदना' है। उक्त न्यायसूत्र का अर्थ यह है कि आकाश परमाणु के भीतर-बाहर समाविष्ट या व्याप्त होने के कारण उसे भेद डालता है जिससे वह सावयव होगा एवं इस कारण से अनित्य होगा। 'उत्पलपत्रशत' के साथ प्रयुक्त होने पर समस्त पद का अर्थ 'कमल के सैकड़ों पत्तों का (एक साथ) भेदन' होता है जिसका तात्पर्य 'शीघ्रवृत्तिता' होगा। अनिरुद्ध-वृत्ति एवं साहित्य-दर्पण, दोनों में ही यह पद 'उत्पलपत्रशत' के साथ प्रयुक्त होने के कारण इसी अर्थ का द्योतन करता है। प्रथम में इन्द्रियों की शीघ्रवृत्तिता तथा द्वितीय में रसादि-ध्वनि की असंलक्ष्यता प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त डा० गार्बे का यह कथन भी निराधार है कि उपर्युक्त दोनों स्थलों के अतिरिक्त केवल न्यायसूत्र ४।२।१८ में ही इसका और प्रयोग मिलता है, क्योंकि सिद्धसेनदिवाकर-कृत 'सन्मतितर्क' की अभय-देवसूरि-कृत व्याख्या में यह शब्द दो स्थलो में प्रयुक्त हुआ है। ये स्थल इस प्रकार हैं :— (i) 'अतएव अवग्रहादिज्ञानानां कालभेदानुपलक्षणेऽपि क्रमोऽभ्युपगन्तव्यः उत्पलपत्रशतव्यति-भेद इव'। (ii) 'न चोत्पलपत्रशतव्यतिभेदवदाशुवृत्तेः क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमानः'।* अभयदेवसूरि निस्सन्देह साहित्यदर्पणकार से पहले होने वाले आचार्य हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि साहित्यदर्पण का यह प्रयोग ही अनिरुद्ध के उक्त लेख का

मौलिक आधार है। वस्तुत: यह पदावली लोकोक्ति के रूप में दार्शनिक साहित्य में प्रयुक्त होती रही है। सम्भवतः अनिरुद्ध एवं विश्वनाथ, दोनों ने ही इसे किसी अन्य पूर्ववर्ती स्रोत से ग्रहण किया। ऐसी स्थिति में साहित्यदर्पणकार भी अनिरुद्ध के काल-निर्णय के लिये पूर्व प्रतीक नहीं हो सकते। इस प्रकार अनिरुद्ध को १४वीं शताब्दी के सायण एवं विश्वनाथ के बाद १५वीं शताब्दी का मानना अयुक्त है।

पं० उदयवीर शास्त्री का उपर्युक्त विचार सर्वथा युक्त एवं संगत प्रतीत होता है। तब फिर प्रश्न यह है कि अनिरुद्ध के समय का निर्णय करने के लिये क्या आधार लिया जाय? अभी पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध से परवर्ती हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान भिक्षु के काल का ही सर्व प्रथम निर्णय होना चाहिये। सांख्यसार की भूमिका के पृ० ३७ की पादटिप्पणी में श्री एफ० ई० हाल ने, सांख्यसूत्रवृत्ति की भूमिका के पृ० ८ पर डा० गार्बे ने, इण्डियन लिट्रेचर (जर्मन संस्करण) के पृ० ४५७ पर प्रो० विण्टरनिट्ज़ ने, तथा हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलासफी, भाग १ के २१२ तथा २२१ पृष्ठों पर डा० एस० एन० दासगुप्त ने विज्ञानभिक्षु का समय ईसवी सोलहवीं शताब्दी का मध्य माना है। डा० कीथ ने भी अपने 'सांख्य सिस्टम' नामक ग्रन्थ में इनका समय ईसवीय सोलहवीं शताब्दी का मध्य ही माना है।[1] श्री पी० के० गोडे ने भी विज्ञानभिक्षु का यही समय सिद्ध किया है। यह बात सर्वविदित है कि विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश थे जिन्होंने तत्त्वसमास-सूत्रों की 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' नामक टीका रची है। भावागणेश ने ग्रन्थ के आरम्भ में विज्ञानभिक्षु को गुरु बताकर नमस्कार किया है। आगे भी कई स्थलों में बड़े आदर और गर्व के साथ उनका उल्लेख किया है। पी० के० गोडे के मतानुसार इन्हीं भावा गणेश का उल्लेख बनारस के एक निर्णय-पत्र में पाया गया है, जो शक संवत् १५०५ अर्थात् १५८३ ई० सन् में लिखा गया। उसमें कई विद्वानों के हस्ताक्षर हैं, जो उस समय अपने अपने ब्राह्मणवर्ग के मुखिया थे। उनमें सर्व प्रथम भावागणेश का नाम है। वहाँ का लेख इस प्रकार है :—

"तत्र सम्मतिः, भावये गणेशदीक्षित चिपोलणे।"

गोडे महोदय के विचार से निर्णय-पत्र के भावये गणेश दीक्षित तथा विज्ञानभिक्षु के प्रसिद्ध शिष्य भावागणेश, दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इस प्रकार भावागणेश का समय ईसवी सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में उनके गुरु विज्ञानभिक्षु का समय ई० सोलहवीं शताब्दी का मध्य होना चाहिये।

किन्तु इन सब आधुनिक विद्वानों के मत के विपरीत पं० उदयवीर शास्त्री का मत है कि विज्ञानभिक्षु का समय ई० १६वीं शताब्दी के मध्य से पर्याप्त पूर्व रहा होगा। उनका कथन है कि तर्क भाषा की 'तत्त्वप्रबोधिनी' टीका के हस्तलिखित ग्रन्थ का विवरण देते हुये बर्नेल ने लिखा है कि इस ग्रन्थ के रचयिता गणेश दीक्षित हैं, जिन्होंने ग्रन्थारम्भ में एक

---

१. द्रष्टव्य, पृ० १४ :—..."in the commentary of Vijnana Bhiksu on the Sankhya-Sutra, and in his Sankhya-Sara, written about the mlddle of the sixtenth century A. D."

श्लोक द्वारा अपनी माता 'उमा' एवं अपने पिता 'गोविन्द दीक्षित' को नमस्कार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि ये गणेश दीक्षित भावागणेश से भिन्न व्यक्ति हैं, क्योंकि एक तो भावागणेश ने अपना नाम अपने 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' एवं 'योगानुशासनवृत्ति' ग्रन्थों में भावागणेश ही दिया है, गणेश दीक्षित नहीं, और दूसरे भावागणेश ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' की अपनी टीका 'चिच्चन्द्रिका' के प्रथम श्लोक में अपने पिता का नाम 'विश्वनाथ' तथा माता का नाम 'भवानी' दिया है। यह बात किसी तरह भी सम्भव नहीं मानी जा सकती कि एक ही व्यक्ति एक स्थान में अपने माता-पिता का नाम कुछ लिखे और दूसरे स्थान पर कुछ और। इससे स्पष्ट है कि श्री गोडे की यह सम्भवना सर्वथा निराधार है कि भावा विश्वनाथ को गोविन्द दीक्षित तथा उमा को भवानी समझ लिया जाय।

डा० पी० के० गोडे ने तर्कभाषा की टीका 'तत्त्वप्रबोधिनी' के रचयिता गणेश दीक्षित, जिनके पिता का नाम गोविन्द और माता का नाम उमा था, और विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश दीक्षित, जिनके पिता का नाम विश्वनाथ दीक्षित तथा माता का नाम भवानी था, को एक ही व्यक्ति मानने की सम्भावना प्रकट की है।[1] इस मान्यता से निर्णय-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले 'भावये गणेश दीक्षित' को गोडे महोदय विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावागणेश ही मानते हैं, और चूँकि निर्णय-पत्र लिखे जाने का समय शक-संवत् १५०५ है जो कि ईसवी सन् १५८३ हुआ, अतः भावागणेश दीक्षित का समय उनके अनुसार ईसवी १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हुआ जिससे उनके गुरु विज्ञानभिक्षु का भी समय प्रायेण वही हुआ। डा० गोडे के इस मत का सविस्तर खण्डन पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'सांख्य दर्शन का इतिहास' में किया है।[2] उसका सारांश इस प्रकार है :—भावागणेश ने अपने माता-पिता का नाम प्रबोधचन्द्रोदय की अपनी टीका चिच्चन्द्रिका के प्रथम श्लोक में भवानी और विश्वनाथ दिया है जो निर्णय-पत्र के भावये गणेश दीक्षित के माता-पिता उमा और गोविन्द से भिन्न हैं। विभिन्न नामों के व्यक्ति यदि एक ही होने लगेंगे तो बड़ी अव्यवस्था या गड़बड़ी हो जायगी।

फिर वाराणसी के निर्णय-पत्र में नीचे जो सर्वप्रथम हस्ताक्षर है, वह है 'भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे'। परन्तु प्रबोधचन्द्रोदय की टीका 'चिच्चन्द्रिका' के प्रथम श्लोक में उसके कर्ता ने अपने जिस उपनाम का उल्लेख किया है, वह है 'भावा'। यह बात अस्वाभाविक एवं असम्भव प्रतीत होती है कि जो व्यक्ति अपने किसी ग्रन्थ के आरम्भ में अपना उपनाम 'भावा' लिखे वही किसी अन्य स्थल में हस्ताक्षर करते समय 'भावये' लिखे। इतना ही नहीं अपितु अपने नाम के आगे 'दीक्षित' पद और जोड़ ले। इससे यही निश्चय दृढ होता है कि वाराणसी के निर्णय-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाला पुरुष विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश से भिन्न कोई व्यक्ति हैं। इसलिए इस निर्णय-पत्र की तिथि के आधार पर भावागणेश एवं उनके गुरु विज्ञानभिक्षु का समय निर्धारित करना अयुक्त है।

---

१. द्रष्टव्य, अड्यार लायब्रेरी बुलेटिन, वाल्यूम ७, भाग १, पृ० २० (फरवरी १९४४ अंक)।
२. द्रष्टव्य, पृ० २९३ से लेकर २९८ तक।

आगे 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' के रचयिता सदानन्द यति, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती अन्य प्रसिद्ध आचार्यों के साथ विज्ञानभिक्षु के मत को भी खण्डनार्थ उद्धृत किया है, विक्रम संवत् १५३५ अर्थात् ई० सन् १४७८ में प्रादुर्भूत वल्लभाचार्य का पूर्ववर्ती मानते हुए पं० उदयवीर जी ने लिखा है कि शाङ्करवेदान्त-विरोधी रामानुजाचार्य एवं मध्वाचार्य का अपने ग्रन्थ में खण्डन करने, किन्तु वल्लभाचार्य का खण्डन न करने के कारण अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार सदानन्दयति अवश्य ही प्रथम दोनों के परवर्ती तथा वल्लभाचार्य के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। वल्लभाचार्य ने अपने मत की स्थापना १५०० ई० के आस-पास की होगी, अतः सदानन्द का समय वल्लभाचार्य के अधिक से अधिक समीप लाने पर भी खीष्ट पञ्चदश शतक का मध्य (१४२० से १४६० तक के लगभग) मानना पड़ता है। सदानन्दयति के अन्यतम ग्रन्थ वेदान्तसार के सम्बन्ध में लिखते हुए डा० कीथ ने भी सदानन्द का यही काल स्वीकार किया है।[१] इस प्रकार जब विज्ञान भिक्षु का अपने ग्रन्थ, अद्वैतब्रह्मसिद्धि' में खण्डन[२] करने वाले सदानन्द ई० १५ वीं शताब्दी के मध्य के हैं, तब विज्ञानभिक्षु का समय निस्सन्देह ई० १४ वीं शताब्दी का मध्य आता है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु को सायण का समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती आचार्य ही कहा जा सकता है, पश्चाद्वर्ती कदापि नहीं।

शास्त्री जी के मत का खण्डन डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य ने अपने 'एक अध्ययन—आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' शीर्षक डी० फिल्० शोध प्रबन्ध के प्रथम पटल के प्रथम अध्याय, पृ० २७ से ३३ तक किया है, तथा आगे अध्यायान्त तक उनके समय के निर्णायक तथ्यों का विवरण देते हुए उन्हें १६ वीं ईसवी शताब्दी में रक्खा है। यह खण्डन इस प्रकार है :—

"सदानन्द यति का समय निश्चित करने में शास्त्री जी ने दो प्रमाण दिए हैं। पहला प्रमाण यह है कि वे वल्लभ से पूर्ववर्ती हैं क्योंकि उन्होंने अद्वैतब्रह्मसिद्धि में वल्लभ और निम्बार्क का खण्डन नहीं किया, और दूसरा प्रमाण यह है कि प्रो० ए० बी० कीथ ने सदानन्द यति के अन्यतम ग्रन्थ वेदान्तसार का समय १५०० ई० के कुछ पूर्व निश्चित किया है। इनमें से पहला तर्क अद्वैतब्रह्मसिद्धि की भूमिका लिखते समय वामनशास्त्री इस्लामपुरकर

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य सिस्टम, पृ ११६ :—The classical example is to be found in the Vedantasara of सदानन्द, a work written before A. D. 1500......

२. द्रष्टव्य, अद्वैतब्रह्मसिद्धि (कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वि० संस्करण), पृ० २७ :—'यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त पृ० २६० पर भी सदानन्द ने सां० सू० १।८७ के भाष्य से विज्ञानभिक्षु-कृत कुछ श्लोकों को भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार हैं :—'प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव नः। प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥ प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते। साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं वक्ष्यते स्वयम्॥ अतः स्यात् कारणाभावाद् वृत्तेः साक्ष्येव चेतनः।' उपक्रमणिकाभाष्य के "अक्षपादप्रणीते च....यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति न्यायात्" इत्यादि सन्दर्भ को भी सदानन्द ने सांख्यभाष्यकृत् का कह कर स्वकीय ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

के द्वारा पहले ही दिया गया था। इस तर्क में कोई जान नहीं है। सदानन्द यति ने अनेक प्रकार के वेदान्तशाखावलम्बियों में से केवल उन्हीं पर मुद्‌गर-प्रहार किया है जिन्होंने शङ्कर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' 'सङ्कर' 'वेदान्तिब्रुव' 'आधुनिकवेदान्ती' आदि अपशब्दों से अभिहित किया है, जैसे रामानुज, मध्व और विज्ञानभिक्षु। अद्वैतब्रह्मसिद्धि में निर्देश विद्यारण्य, वेदान्तमुक्तावलीकार तथा वेदान्तकौमुदीकार का भी है, किन्तु वे सब शङ्करानुयायी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। सदानन्द यति के लिए वल्लभ और निम्बार्क न शङ्करानुयायी थे, और न ही उन्होंने कहीं भी अपने भाष्यों में शङ्कर के लिए एक भी अपशब्द का प्रयोग किया। उन लोगों ने शङ्कर के मत को पूर्व पक्ष के रूप में उठाकर सबल शब्दों में उसका खण्डन भी अपने भाष्यों में कहीं नहीं किया। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि इस निर्दोषता के कारण सदानन्द यति के मुद्‌गर-प्रहार के शिकार न बने हों। अतः इस बल पर सदानन्द यति को वल्लभ का पूर्ववर्ती मानना ठीक नहीं है। रहा शास्त्री जी का दूसरा तर्क, वह तो भ्रान्ति की चोटी का नमूना है। सभी संस्कृत-इतिहास-वेत्ता इस बात को जानते हैं कि सदानन्दयति कश्मीर-निवासी थे। उन्होंने वेदान्तसार की रचना नहीं की[१]। वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द व्यास थे जो रावलपिण्डी के निकट कुन्त्रील नामक ग्राम में पैदा हुए थे और बाद में काशी में रहने लगे थे,[२] जिनके गुरु का नाम अद्वयानन्द[३] था। अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि के रचयिता सदानन्द यति के गुरु ब्रह्मानन्द सरस्वती थे। दोनों व्यक्तियों को एक समझ कर उन्होंने भ्रान्ति की हद कर दी है। अतः यह निर्विवाद है कि वेदान्तसार के आधार पर सदानन्द यति का समय निश्चित करना बिलकुल व्यर्थ है।"[४]

सदानन्द यति ब्रह्मानन्द सरस्वती के शिष्य थे, जैसा कि उनके ग्रंथ अद्वैतब्रह्मसिद्धि के अन्त में दी गई पुष्पिका[५] से स्पष्ट है। इन्हीं ब्रह्मानन्द की मधुसूदन सरस्वती के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' की गुरुचन्द्रिका और लघुचन्द्रिका नामक दो टीकायें—विस्तृत एवं संक्षिप्त—उपलब्ध हैं। मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्रायः सर्वमान्य है। अतः उनके टीकाकार स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती एवं उनके शिष्य काश्मीरक सदानन्द यति का समय ई० १७ वीं शताब्दी ही होगा, उससे पूर्व कथमपि नहीं। इसके विपरीत वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द १५०० ई० के पूर्व के हैं, जैसा कि वेदान्तसार की 'सुबोधिनी' टीका के रचयिता नृसिंह सरस्वती के द्वारा दिए गए (अपनी टीका के) रचना-काल

---

१. द्रष्टव्य, प्रो० हिरियन्ना द्वारा सम्पादित वेदान्तसार, पृ० १७।

२. द्रष्टव्य, लक्ष्मण शास्त्री द्राविड द्वारा प्रकाशित अद्वैतसिद्धिसार की भूमिका, पृ० १३-१५।

३. द्रष्टव्य, वेदान्तसार, मंगलाचरण-श्लोक।

४. द्रष्टव्य, डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव का 'आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' शीर्षक शोध-प्रबन्ध, पृ० ३१-३२।

५. "इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीब्रह्मानन्दसरस्वतीश्रीपादशिष्यकाश्मीरकश्रीसदानन्दयतिविरचितायामद्वैतब्रह्मसिद्धौ....।"—एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल संस्करण।

से स्पष्ट है। यह समय शक संवत् १५१० अर्थात् १५८८ ई० है।[1] इससे वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द १५०० ई० के पूर्व के ही होने चाहिए। डा० कीथ भी सदानन्द का यही समय मानते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों को एक मानना, तथा विज्ञानभिक्षु को 'यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्' इत्यादि स्वकीय ग्रन्थ-सन्दर्भ में अपनी आलोचना का विषय बनाने के कारण सदानन्द से पूर्ववर्ती मान कर ई० १५वीं शताब्दी में रखना बड़ी भारी भूल है। यह सत्य है कि विज्ञानभिक्षु को सदानन्द ने अपनी कटु आलोचना का विषय बनाया है, और यह भी सत्य है कि सदानन्द ई० १५ वीं शताब्दी के हैं। तथापि यह बात सर्वथा असत्य है कि विज्ञानभिक्षु १५ वीं से पूर्व ई० १४ वीं शताब्दी के हैं, क्योंकि १५ वीं शताब्दी के सदानन्द, एवं विज्ञानभिक्षु की कटु आलोचना करने वाले सदानन्द, दोनों भिन्न व्यक्ति हैं। वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द से विज्ञानभिक्षु के पूर्ववर्ती होने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत परवर्ती होने का प्रमाण है, और वह यह है कि भिक्षु ने योगसूत्र २।१६ के व्याख्यान में सूक्ष्मशरीर-विषयक सांख्य-सूत्र 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' का उल्लेख करते हुए उसके 'एकम्' पद का 'समष्टि' अर्थ करके व्यष्टि-समष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध को 'पितापुत्रवद्' कार्यकारणात्मक कहा है और वेदान्तसार में सदानन्द द्वारा प्रतिपादित 'वनवृक्षवत्' व्यष्टिसमष्टि-भाव का खण्डन भी किया है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का वेदान्तसार-कार सदानन्द से परवर्ती होना निश्चित है। इसके साथ ही भिक्षु-कृत 'सांख्यसार' की एक पाण्डुलिपि[2] का समय वि० संवत् १६८० अर्थात् ई० सन् १६२३ दिए होने के कारण, विज्ञानभिक्षु १६०० ई० से पूर्व ही रहे होंगे। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का समय ई० १५०० और १६०० के बीच अर्थात् ईसवीय १६ वीं शताब्दी में स्थिर होता है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु के काल के आधार पर अनिरुद्ध को ११वीं या १२वीं शताब्दी ई० का नहीं माना जा सकता।

महादेव वेदान्ती

सांख्यसूत्रों के तीसरे टीकाकार महादेव वेदान्ती हैं। जैसा पहले भी निवेदित किया जा चुका है, महादेव ने अनिरुद्ध-वृत्ति को अपनी टीका का आधार बनाया है एवं तदनुसार उसका नाम 'वृत्तिसार' रक्खा है। यह टीका प्रायेण अनिरुद्ध की वृत्ति का ही संक्षेप करके उसे सार रूप में देती है। महादेव ने अपनी टीका के आरम्भिक[3] एवं प्रथम अध्याय के उपसंहारात्मक[4] श्लोकों में इस बात को स्पष्ट स्वीकार भी किया है। उन्होंने अपनी टीका की सार्थकता 'परवाक्य'—दूसरे से ग्रहण किए गए वाक्यों—का अर्थ स्पष्ट करने एवं पाठों को संशोधन करने में मानी है। 'पर' से महादेव का तात्पर्य स्पष्टतः अनिरुद्ध से है, यह तो

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी टीका का उपसंहार-श्लोक :—जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः, सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके। प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यां तिथौ, प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम् ॥

२. द्रष्टव्य, कैटलाग आव् संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, भाग ४, सीरियल नं० १८२३।

३. दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम्। विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः ॥

४. अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता। इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता ॥ परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः। कृता सन्दर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः ॥

उन्हीं के 'दृष्टाऽनिरुद्धवृत्तिम्' कथन से स्पष्ट है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि अपनी 'वृत्तिसार' टीका के लेखन में वे सबसे अधिक अथवा प्रधान रूप से अनिरुद्ध के ही ऋणी हैं। औरों का भी थोड़ा-बहुत ऋण हो सकता है पर वह इतना नहीं जो शब्दों द्वारा स्वीकार करने योग्य हो। डा० गार्बे के अनुसार सांख्यसूत्रों के प्रथम दो अध्यायों की महादेव-कृत टीका विज्ञानभिक्षु के भाष्य की प्रतिलिपि-मात्र है। इसके विपरीत पं० उदयवीर शास्त्री इसे डा० गार्बे का महादेव के ऊपर एक महान् आक्षेप बताते हैं। उनके मत से विज्ञानभिक्षु न केवल अनिरुद्ध अपितु उनका अनुसरण करने वाले महादेव वेदान्ती से भी परवर्ती हैं। अपनी इस मान्यता के निम्नलिखित कारण शास्त्री जी ने दिए हैं[1] :—

(अ) महादेव ने स्पष्ट ही अनिरुद्ध का उल्लेख किया है और उसकी वृत्ति को देखकर व्याख्या लिखने का निर्देश किया है। यदि सचमुच ही उसने विज्ञानभिक्षु के भाष्य की प्रतिलिपि की होती, तो वह विज्ञानभिक्षु का ही नाम लिखने में क्यों संकोच करता? छिपाने की भावना उस समय संगत हो सकती थी, जब कि वह किसी के भी नाम का उल्लेख न करता। विज्ञानभिक्षु के अतिरिक्त अनिरुद्ध का नाम लिख देने से तो कोई भी लाभ नहीं होता। किसी का भी नाम लिखे, वह अनुकरणकर्त्ता तो कहलाएगा ही।

(आ) प्रथम अध्याय के दो उपसंहार-श्लोकों में से द्वितीय में उसने अपनी रचना के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि दूसरे के वाक्यों को लिखते हुए मैंने उनके अर्थों का ही विभावन अर्थात् प्रकाशन या खुलासा किया है, और पाठ का संशोधन किया है, इसलिए मेरा परिश्रम व्यर्थ न समझना चाहिए। महादेव के इस लेख से यह स्पष्ट है कि वह दूसरे की सर्वथा प्रतिलिपि नहीं कर रहा है, प्रत्युत पूर्व-प्रतिपादित अर्थों को स्पष्ट करने के लिए ही उसका प्रयत्न है। उसका स्वयं निर्दिष्ट यह वर्णन तभी संगत हो सकता है, जब हम यह मानते हैं कि उसने अनिरुद्ध-निर्दिष्ट अर्थों का ही स्पष्टीकरण किया है। अन्यथा महादेव की रचना को यदि विज्ञान-भाष्य की प्रतिलिपि माना जाय, तब उसकी कोई भी प्रतिज्ञा सत्य नहीं कही जा सकती क्योंकि प्रतिलिपि में न अर्थ का विभावन है और न सन्दर्भ का संशोधन। इसलिए यह मान लेना अत्यन्त कठिन है कि महादेव ने विज्ञान-भाष्य की प्रतिलिपि की है।

(इ) ग्रन्थ की आन्तरिक साक्षी भी इस बात को प्रमाणित करती है कि महादेव ने विज्ञान का अनुकरण नहीं किया। षडध्यायी १।६१ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है— "एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः।" अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों पर सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहा है। अनिरुद्ध के समान महादेव ने भी इस वाद को स्वीकार किया है। षडध्यायी ५।१०७ सूत्र पर महादेव लिखता है— "अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः।" इससे स्पष्ट होता है कि महादेव के द्वारा विज्ञान-भाष्य की प्रतिलिपि करना तो दूर की बात है, यदि उसने विज्ञान-भाष्य को देखा भी होता तो, या तो वह इस वाद को अस्वीकार कर देता जिसको विज्ञानभिक्षु ने मूर्खों का प्रलाप कहा है, अथवा यदि स्वीकार करता तो विज्ञान के लेख पर कुछ न कुछ आलोचना अवश्य

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३१४-१६।

लिखता। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि महादेव ने विज्ञानभिक्षु के भाष्य को नहीं देखा। इसलिए महादेव का 'वृत्तिसार' निश्चित ही विज्ञानभिक्षु से पूर्व की रचना है, और इसीलिए यह कहा जा सकता है कि विज्ञानभिक्षु ने ही इन वृत्तियों का आधार लेकर अपने भाष्य को विशद रूप में लिखा है।

(ई) ग्रन्थ की एक और आन्तरिक साक्षी भी इस बात का प्रमाण है कि महादेव विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा पूर्ववर्ती व्याख्याकार है। षडध्यायी के ३।६ सूत्र पर विज्ञानभिक्षु लिखता है :—"एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भाव। ......एतान्येव सप्तदश लिङ्गं मन्तव्यं, न तु सप्तदश एकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्।" विज्ञानभिक्षु ने अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके लिङ्ग शरीर के घटक अवयवों की संख्या सत्रह ही मानी है। सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद को 'सप्तदश च एकं च' इस समाहार द्वन्द्व के आधार पर एक पद मान कर, लिङ्ग शरीर के घटक अवयवों की जिन व्याख्याकारों ने अठारह संख्या मानी है, उनका विज्ञानभिक्षु ने खण्डन किया है। हम देखते हैं कि अनिरुद्ध के समान महादेव ने भी सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद में समाहार द्वन्द्व मान कर लिङ्ग शरीर के अठारह अवयवों का ही उल्लेख किया है। महादेव का लेख इस प्रकार है :—"सप्तदश च एकं चेति समाहारद्वन्द्वः। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति सूक्ष्मं लिङ्गमिति चोच्यते।" इससे भी स्पष्ट परिणाम निकलता है कि महादेव ने विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थ को नहीं देखा। यदि वह विज्ञान का अनुकरण करता तो उसके समान ही लिङ्ग शरीर के अवयवों की सत्रह संख्या मानता, जैसा कि विज्ञानभिक्षु के पश्चाद्वर्त्ती अन्य व्याख्याकारों ने उसका अनुकरण किया है।......यदि महादेव विज्ञानभिक्षु के मत को स्वीकार न करता, तो अपने से विरुद्ध उसके व्याख्यान के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करता, जैसे विज्ञानभिक्षु ने अपने विरुद्ध व्याख्यान की की है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है कि विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा महादेव पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार है।

शास्त्री जी के द्वारा दिए गए ये उपर्युक्त कारण स्वतन्त्र रूप से विज्ञानभिक्षु से महादेव वेदान्ती की पूर्ववर्तिता नहीं सिद्ध कर सकते। हाँ, पूर्ववर्तिता सिद्ध करने वाले किसी निश्चायक प्रमाण अथवा हेतु के सहायक अथवा समर्थक हेतु अवश्य हो सकते हैं। परन्तु शास्त्री के चार हेतुओं में से एक भी ऐसा नहीं है जो स्वतन्त्र रूप से महादेव का विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्तित्व सिद्ध करने में समर्थ हो। इसके विपरीत कम से कम एक ऐसा निश्चायक प्रमाण, है जो स्वतन्त्र रूप से महादेव का विज्ञानभिक्षु से परवर्तित्व सिद्ध करता है। वह प्रमाण है महादेववेदान्ति-कृत विष्णुसहस्रनाम-टीका के पुष्पिका-श्लोक जिनमें ग्रन्थकार ने अपने तथा अपने गुरु के नाम के साथ इस ग्रन्थ के रचना-काल का भी उल्लेख किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :—"श्रीमत्स्वयम्प्रकाशाङ्घ्रिलब्धवेदान्तसम्पदः। महादेवोऽकरोद् व्याख्यां विष्णुसहस्रनामगाम्॥ खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमुखाभिधे। मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलङ्कृते॥" इनमें यह बात स्पष्ट कथित है कि सं० १७५० अर्थात् सन् १६९३ ई० में महादेव वेदान्ती ने विष्णुसहस्रनाम-व्याख्या समाप्त की। इस प्रकार महादेव का समय

१७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है, जब कि विज्ञानभिक्षु का समय ईसवी १६वीं शताब्दी इसके पूर्व सिद्ध किया जा चुका है। अतएव इस आधार पर महादेव का विज्ञान-भिक्षु से परवर्ती होना सुनिश्चित है।

अब रहे इस मान्यता के विरुद्ध शास्त्री जी के पूर्वोल्लिखित चारों तर्क, उनका खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है :—प्रथम तर्क में केवल इतनी बात कही गई है कि चूंकि महादेव वेदान्ती ने विज्ञानभिक्षु-कृत भाष्य को देख कर स्वकीय 'वृत्तिसार' लिखने की कहीं भी चर्चा नहीं की है, जब कि अनिरुद्ध-कृत 'वृत्ति' को देख कर लिखने का स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थारम्भ में हीं किया है, अत: स्पष्ट है कि उन्होंने विज्ञान-कृत 'भाष्य' नहीं देखा था और अगर देखा होता तो जैसे अनिरुद्धवृत्ति को देख कर स्वग्रन्थ-रचना करने का स्पष्ट उल्लेख निस्संकोच किया है, उसी प्रकार विज्ञान-भाष्य को देख कर स्वग्रन्थ-रचना करने का भी स्पष्ट उल्लेख करते। अनुकर्ता तो अनुकर्ता ही, जैसे एक का, वैसे ही दो का। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि भाष्य को देख कर स्वग्रन्थ लिखने की बात का उल्लेख न करना इस बात का द्योतक हो सकता है कि अपने द्वारा अनुसरण की गई अनिरुद्ध-वृत्ति में प्रतिपादित अनेक मतों का विरोध करने के कारण विज्ञान-कृत भाष्य की महादेव ने उपेक्षा की हो और इसी कारण उसका उल्लेख न किया हो। परस्पर विरोध होने पर भी दोनों के ही अनिरुद्धवृत्ति से प्रभावित होने के कारण अविरुद्ध स्थलों में परस्पर समानता का होना कोई अस्वाभाविक अथवा असम्भव बात नहीं है। क्या यह कोई आवश्यक बात है कि यदि कोई लेखक किसी अन्य लेखक का उल्लेख न करे तो वह उसकी अपेक्षा पूर्ववर्ती ही हो।

शास्त्री जी का द्वितीय तर्क पिष्ट-पेषण मात्र है। उन्होंने डा० गार्बे की इस उक्ति को खूब रगड़ा है कि 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' के प्रथम दो अध्यायों की महादेव-कृत टीका विज्ञान-कृत भाष्य की प्रतिलिपि-मात्र है। उनका कथन है कि महादेव के ग्रन्थ के विषय में गार्बे की यह उक्ति उनके ही 'परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः। कृता सन्दर्भ-शुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः ॥' इत्यादि उक्ति के साथ संगत नहीं होती, क्योंकि 'प्रतिलिपि' में न अर्थ का विभावन है और न सन्दर्भ का संशोधन। 'प्रतिलिपि' शब्द को इतना रगड़ने की क्या आवश्यकता है? गार्बे का तात्पर्य शायद इतना ही रहा होगा कि महादेव ने अपनी टीका के प्रारम्भिक दो अध्यायों में अनिरुद्ध के अतिरिक्त विज्ञान का भी अनुसरण किया है और प्रचुर मात्रा में किया है। इससे न तो अनिरुद्ध-वृत्ति के महादेव-कृत अर्थ-विभावन (खुलासा) में कोई कमी आती है और न संशोधन में ही। प्रतिलिपि' का विशुद्ध वाच्यार्थ लेने पर ही गड़बड़ी पैदा होती है। फिर प्रो० गार्बे के एक शब्द-विशेष को इतना महत्त्व देना कि उसको महादेव और विज्ञान के पौर्वापर्य का आधार ही बना देना, कहाँ तक ठीक है?

तीसरे तर्क में शास्त्री जी ने कहा है कि अनिरुद्ध और उनके आधार पर महादेव ने भी सांख्यों को 'अनियतपदार्थवादी' कहा है जिसे विज्ञान ने अपने भाष्य में 'मूढप्रलाप' कहा है। अब यदि महादेव ने विज्ञान-कृत भाष्य देखा होता तो या तो वे इस वाद को अस्वीकार कर देते, या फिर इसको 'मूढ-प्रलाप' कहने वाले विज्ञान के लेख की वे कुछ न कुछ आलो-

चना अवश्य करते। पर शास्त्री जी का यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता। किसी के कथन की आलोचना करना या न करना बहुत-कुछ लेखक-विशेष की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। हो सकता है कि विज्ञान के इस कथन के सम्बन्ध में महादेव का किसी कारण-वश उपेक्षा-भाव रहा हो जिससे उन्होंने इसकी आलोचना न की हो। वह कारण-विशेष पर-मत के खण्डन में न जाकर केवल स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करना आदि हो सकता है।

चौथे तर्क के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। अनिरुद्ध एवं महादेव दोनों ने ही सूक्ष्म शरीर को अठारह तत्त्वों का बना हुआ बताया है, जब कि विज्ञानभिक्षु ने अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सूक्ष्म शरीर के घटक तत्त्वों की संख्या सत्रह ही मानी है। इस विषय में महादेव के अनिरुद्ध का अनुसरण करने तथा विज्ञानभिक्षु का अनुसरण न करने से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होती कि महादेव विज्ञानभिक्षु से पहले के हैं, क्योंकि यहाँ भी पूर्ववत् वही स्वरुचि अथवा मनोवृत्ति की बात आती है। महादेव को अनिरुद्ध का अनुसरण करते हुए अहङ्कार को बुद्धि से पृथक् रखना तथा सूक्ष्म शरीर में अठारह तत्त्व मानना ही अच्छा और ठीक लगा होगा, विज्ञानभिक्षु की भाँति अहङ्कार को बुद्धि में अन्तर्भूत करके उस (सूक्ष्म शरीर) में सत्रह ही तत्त्व मानना नहीं। विज्ञानभिक्षु के परवर्ती आचार्यों में भावागणेश तो विज्ञानभिक्षु के शिष्यों में अन्यतम थे, अतः उनकी विशिष्ट मान्यताओं का अनुसरण भावागणेश के लिए स्वाभाविक ही था। इसी से लिङ्ग शरीर के निरूपण के प्रसंग में "तेषु त्रयोविंशतितत्त्वेषु) **पञ्चमहाभूतानि वर्जयित्वाहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसञ्ज्ञं भवति वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां स्वस्वबीजभूतप्रकृतिसंयोगात् सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति, तेनैव चेहलोकपरलोकयोर्जीवानां संसरणं भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो लिङ्ग-शरीरे पृथक् न निर्दिश्यते बुद्धावेवान्तर्भावात्।**"[1] इत्यादि लिखा है। इसी प्रकार इनके परवर्ती षिमानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सांख्यतत्त्वविवेचन' में पृष्ठ ३८ पर '**लिङ्गशरीरं तु बुद्ध्यहङ्कारमनोबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियपञ्चतन्मात्राणामष्टादशानां समुदायः**' लिखकर भी उसी के आगे '**त्रयोविंशतितत्त्वमध्ये पञ्चभूतानि वर्जयित्वा अहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसञ्ज्ञं भवति वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति तेन चैवेहलोकपरलोकयोः संसरणं जीवानां भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो न लिङ्गशरीरात् पृथङ् निर्दिश्यते।**'[2] इत्यादि पंक्तियों में भावागणेश की ही पूर्वोद्धृत पंक्तियों को प्रायः ज्यों की त्यों रख दिया है। स्पष्ट है कि षिमानन्द के समक्ष विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश का उपर्युक्त लेख था जिसके साथ अपने लेख का समन्वय करने के लिए ही षिमानन्द ने भावागणेश की भाँति अहङ्कार को बुद्धि में अन्तर्भूत करके सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों की संख्या सत्रह भी बता दी, और इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट कर दिया कि दोनों कथनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। यों, प्रथम अठारह

१. द्रष्टव्य, सांख्यसंग्रह में संख्या २ पर मुद्रित 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन', पृ० ६६-७।
२. ,, ,, ,, १ ,, 'सांख्यतत्त्वविवेचन', पृ० ३६।

अनिरुद्ध के मत से सांख्य पदार्थों की नियत संख्या न मानने के कारण अनियतपदार्थवादी दर्शन है। अनिरुद्ध का ही अनुसरण करते हुए महादेव वेदान्ती ने भी सां० सू० १।६१ के अपने व्याख्यान में 'अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः' लिखा है। परन्तु इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु ने सां० सू० १।६१[1] के भाष्य में अनिरुद्ध के इस मत का खण्डन करते हुये इसे 'मूढप्रलाप' कह कर उपेक्षणीय बताया है। उनके कथन[2] का तात्पर्य यह है कि सूत्र में तो स्पष्ट ही पच्चीस तत्त्वों या पदार्थों का कथन है। सांख्य मत से धर्म और धर्मी में अभेद होने के कारण द्रव्य रूप इन्हीं पच्चीस तत्त्वों में गुण, कर्म, सामान्य आदि का अन्तर्भाव समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त पदार्थ माने जाने पर तो उन-उन से भी पुरुष का विवेक अथवा भेद वाञ्छनीय होने से पदार्थों में उनका संग्रह न होने पर न्यूनता का प्रसङ्ग उठेगा। अतएव सांख्यानुयायियों को अनियतपदार्थवादी बताना 'मूढप्रलाप'—मूर्खतापूर्ण कथन—है और इसी कारण उपेक्षणीय है। विज्ञानभिक्षु के पक्ष में यहाँ इतना अवश्य वक्तव्य है कि उनका कथन सां० सू० १।६१ से सर्वथा समर्थित है। उसमें पदार्थ-संख्या 'पञ्चविंशति' शब्दतः कथित है। फिर अनिरुद्ध का उसको अनियत बताना सूत्र-विरुद्ध लगता है। स्वयं अनिरुद्ध ने अपने कथन का कोई स्पष्टीकरण या समर्थन नहीं किया है। ऐसी स्थिति में उनके अभिप्राय के सम्बन्ध में कुछ विशेष कह सकना कठिन है।

अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु की लिङ्गशरीर-विषयक मान्यतायें भी परस्पर पर्याप्त भिन्न हैं। अभी थोड़ा ही पीछे वेदान्ती महादेव के काल-निर्णय के प्रसङ्ग में इस की कुछ चर्चा की जा चुकी है। उससे यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अनिरुद्ध एवं उनकी सांख्यसूत्र-वृत्ति के टीकाकार महादेव, दोनों ही लिङ्ग शरीर को अठारह तत्त्वों से बना मानते हैं, जब कि इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु एवं उनके शिष्य भावागणेश उसमें सत्रह ही तत्त्वों का समावेश करते हैं। **'सप्तदशैकं लिङ्गम्'** [सां० सू० ३।६] सूत्र की व्याख्या करते हुए अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में **'सप्तदश च एकं च अष्टादश, तैर्लिङ्गं सूक्ष्मदेह उत्पद्यते। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति।'** इत्यादि लिखा है, जिससे सुस्पष्ट है कि उनके मत से लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर में अठारह तत्त्व होते हैं। अनिरुद्ध से बहुत पूर्व वाचस्पति मिश्र आदि ने भी ४० वीं सांख्यकारिका[3] की टीका में इसी मत का प्रतिपादन किया था। कारिका का **'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्'** पद स्वयमेव ऐसा है कि उससे दो अर्थ निकल ही नहीं सकते। ४० वीं के पूर्व २२ वीं कारिका[4] में सृष्टि-क्रम स्पष्टतः कथित होने

---

१. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।

२. इत्येवं पञ्चविंशतिर्गणः पदार्थव्यूहः, एतदतिरिक्तः पदार्थो नास्तीत्यर्थः। अथवा सत्त्वादीनां प्रत्येकव्यक्त्यानन्त्यं गणशब्दो वक्ति। अयं च पञ्चविंशतिको गणो द्रव्यरूप एव। धर्मधर्म्यभेदात् तु गुणकर्मसामान्यादीनामत्रैवान्तर्भावः। एतदतिरिक्तपदार्थत्वे सति हि ततोऽपि पुरुषस्य विवेक्तव्यतया तदसंग्रहन्यूनतापद्येत। एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः। दिक्कालौ चाकाशमेव 'दिक्कालावाकाशादिभ्य' इत्यागामिसूत्रात्।

३. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

४. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

से महत् से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रों तक [महत्, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियाँ एवं पञ्च तन्मात्र] सब अठारह तत्त्व होते हैं। इसी से माठर, शंकरार्य एवं वाचस्पति मिश्र आदि सभी टीकाकारों ने ४० वीं कारिका की टीका में 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' पद से इन्हीं अठारह तत्त्वों का ग्रहण किया था।[१] इन सब आचार्यों के बहुत बाद होने वाले अनिरुद्ध ने भी सम्भवतः अपने पूर्ववर्तियों के लेखों को देखकर अथवा स्वयमेव 'सप्तदशैकं' पद का 'सप्तदश च एकं च अष्टादश' अर्थ किया। अनिरुद्ध के टीकाकार वेदान्ती महादेव ने भी मूल का ही अनुसरण करते हुए **'सप्तदश च एकं चेति समाहारद्वन्द्वः, बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति सूक्ष्मं लिंगमिति चोच्यते।'** इत्यादि व्याख्या की है। परन्तु इसके विपरीत आचार्य विज्ञानभिक्षु ने उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए अपना भिन्न मत इस प्रकार प्रकट किया है :—**'सूक्ष्मशरीमप्याधाराधेयभावेन द्विविधं भवति। तत्र सप्तदश मिलित्वा लिंगशरीरं, तच्च सर्गादौ समष्टिरूपमेकमेव भवतीत्यर्थः। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश। अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः। चतुर्थसूत्रे वक्ष्यमाणप्रमाणादेतान्येव सप्तदश लिङ्गं मन्तव्यं, न तु सप्तदशमेकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्। उत्तरसूत्रेण व्यक्तिभेदस्योपपाद्यतयात्र लिंगैकत्वे एकशब्दस्य तात्पर्यावधारणाच्च।'** आचार्य भिक्षु के इस कथन से उनका सूक्ष्मशरीर-विषयक मतभेद स्पष्ट प्रकट हो जाता है। उनके अनुसार प्रथमतः शरीर दो प्रकार का होता है—एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। फिर सूक्ष्म शरीर भी दो प्रकार का होता है—एक लिङ्ग शरीर और दूसरा अधिष्ठान शरीर। इनमें अधिष्ठान शरीर लिङ्गशरीर का आधार होता है और लिङ्गशरीर उसका आधेय। अधिष्ठान शरीर का भी आधार षाट्कौशिक मातापितृज स्थूल शरीर होता है। एवं सब तीन शरीर होते हैं। इनमें अधिष्ठान शरीर पञ्च सूक्ष्म भूतों (तन्मात्रों) का होता है। यह तथ्य **'तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः।'** [सांख्यसूत्र ३।११] के **'लिंगसम्बन्धादधिष्ठानस्य देहत्वमधिष्ठानाश्रयत्वाच्च स्थूलस्य देहत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः। अधिष्ठानशरीरं च सूक्ष्मं पञ्चभूतात्मकं कथ्यते तथा च शरीरत्रयं सिद्ध्यति।'** इस भिक्षु-भाष्य से स्पष्ट है। इसके आगे भिक्षु जी ने दो ही शरीर का उल्लेख करने वाले **'आतिवाहिक एकोऽस्ति देहोऽन्यस्त्वाधिभौतिकः। सर्वासां भूतजातीनां ब्रह्मणस्त्वेक एव किम्॥'** इत्यादि शास्त्रीय वचन का रहस्य अधिष्ठान और लिङ्ग शरीर के परस्पर-नियत एवं सूक्ष्म होने के कारण दोनों का एक मान या समझ लिया जाना बताया है। अपनी इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने अगले सूत्र[२] को अधिष्ठानशरीर-विषयक प्रमाण का उपन्यास करने वाला माना है :—**'यथा छाया निराधारा न तिष्ठति यथा वा चित्रमित्यर्थः, तथा च स्थूलदेहं**

---

१. (i) पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चतन्त्रमाणि मनो बुद्धिरहङ्कार एवमष्टादश महदादिसूक्ष्मपर्यन्तमिति।—माठर

(ii) बुद्धिरादिर्यस्य तत् महदादि, सूक्ष्मविषयास्तन्मात्रलक्षणाः पर्यन्तं यस्य तत् सूक्ष्मपर्यन्तम्। बुद्धिरहंकार एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणीन्येतत्परिमाणमित्यर्थः।—जयमङ्गलाकार

(iii) 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं' महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्।—वाचस्पति मिश्र

२. न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च॥ सां० सू० ३।१२।

त्यक्त्वा लोकान्तरगमनाय लिंगदेहस्याधारभूतं शरीरान्तरं सिद्धयतीति भावः।' पञ्चम अध्याय के 'न स्थूलमिति नियम अतिवाहिकस्यापि सत्त्वात्' [५।१०३] सूत्र के भाष्य में भी इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है:—**'एतादृशं च शरीरं स्थूलं प्रत्यक्षमेवेति न नियमः। कुतः? आतिवाहिकस्याप्रत्यक्षतया सूक्ष्मस्य भौतिकस्य शरीरान्तरस्यापि सत्त्वादित्यर्थः लोकाल्लोकान्तरं लिङ्गदेहमतिवाहयतीत्यातिवाहिकम्। भूताश्रयतां विना चित्रादिवद् गमनाभावस्य प्रागेवोक्तत्वात्। इदं च सूत्रं तस्यैव स्पष्टीकरणमात्रार्थम्।** इतना ही नहीं, पूर्वोल्लिखित सूत्र के अग्रिम भाष्यांश में भिक्षु महोदय ने उनतालीस से इकतालीस तक की कारिकाओं[1] को भी एतदर्थपरक ही प्रदर्शित किया है:—**'तस्य च स्वरूपं कारिकायामुक्तं 'सूक्ष्माः ....निवर्तन्ते ।।' इति। अत्र तन्मात्रकार्यं मातापितृजशरीरापेक्षया सूक्ष्मं यद्भूतपञ्चकं यावल्लिंगस्थायि प्रोक्तं, तदेव लिङ्गाधिष्ठानं शरीरमिति लब्धं कारिकान्तरेण 'चित्रं...लिङ्गम् ।।' इति। विशेषैः स्थूलभूतैः सूक्ष्माख्यैः स्थूलावान्तरभेदैरिति यावत्। अस्यां कारिकायां सूक्ष्माख्यानां स्थूलभूतानां लिङ्गशरीराद् भेदावगमेन 'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' इत्यादिपूर्वोदाहृतकारिकायां सूक्ष्मभूतपर्यन्तस्य लिङ्गत्वं नार्थः, किन्तु महदादिरूपं यल्लिङ्गं तत् स्वाधारसूक्ष्मपर्यन्तं संसरति तेन सह संसरतीत्यर्थः।"**

उद्धृत कारिकाओं का यह अर्थ जहाँ वाचस्पति मिश्र आदि प्रसिद्ध कारिकाटीकाकारों के अर्थ से भिन्न है, वहाँ उद्धृत सांख्य-सूत्रों का भिक्षु-कृत उपर्युक्त अर्थ भी अनिरुद्ध-कृत अर्थ से सर्वथा भिन्न है। इसका एकमात्र कारण भिक्षु का तीन शरीर मानना है। अन्य सभी आचार्य सूक्ष्म शरीर को एक ही प्रकार का मानते हैं और उसे लिङ्ग शरीर से अभिन्न समझते हैं। इसके विपरीत आचार्य भिक्षु सूक्ष्म शरीर के दो प्रकार या भेद मानते हैं—अधिष्ठान शरीर और लिङ्ग शरीर। इनमें लिङ्ग शरीर को आधेय तथा अधिष्ठान शरीर को आधार मानते हैं। स्थूल शरीर से विहीन हो जाने पर अत्यन्त सूक्ष्म लिङ्ग शरीर को एक लोक से दूसरे लोक में गमन कराने अथवा ले जाने के कारण ही इसे 'आतिवाहिक' शरीर भी कहा जाता है। यह शरीर परिमाण अथवा माप में अङ्गुष्ठ के बराबर होता है, जैसा कि ५।१०३ के भाष्य में भिक्षु द्वारा उद्धृत 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।' इत्यादि श्रुति, तथा 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद् यमः।' इत्यादि स्मृति से स्पष्ट है। उनका कथन है कि सकल शरीर में व्याप्त लिङ्ग शरीर स्वतः तो अङ्गुष्ठ-मात्र हो नहीं सकता। अतः उसके आधार का ही यह परिमाण हो सकता है। जैसे समस्त गृह में अपने प्रकाश द्वारा व्याप्त दीप तैल-सिक्त बत्ती आदि पार्थिव अंश के कलिकाकार होने से स्वयं भी कलिकाकार हो जाता है, वैसे ही समस्त शरीर में व्याप्त लिङ्गशरीर भी अपने अधिष्ठान-भूत सूक्ष्म भूतों के अंगुष्ठ-परिमाण वाला होने से अंगुष्ठमात्र होगा, ऐसा अनुमान होता है।[2] इस अधिष्ठान शरीर का भी आधार वे स्थूल शरीर को स्वीकार करते हैं।

१. सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः। सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया। तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम् ॥

२. द्रष्टव्य, सांख्यसूत्र ५।१०३ का भिक्षु-भाष्य।

इसके विपरीत अनिरुद्ध, वाचस्पति मिश्र इत्यादि अन्य आचार्यों की भाँति दो ही शरीर—स्थूल, और सूक्ष्म या लिङ्ग—मानते हैं। सां० सू० ५।१०३ की वृत्ति से यह बात स्पष्ट है :—"**मनसो निराश्रयस्य गत्यभावात् मरणे देहप्राप्तये मनस आश्रयो वक्तव्यः। स एवातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिति। श्रुतिरपि 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद् यमः।' पुरि स्थूलशरीरे शेत इति पुरुषः सूक्ष्मदेहः।**" इस प्रकार अनिरुद्ध के मत से आतिवाहिक एवं सूक्ष्म शरीर एक ही हैं और सूक्ष्म तथा लिङ्ग शरीर भी एक ही हैं। 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' [सां० सू० ३।९] की व्याख्या करते हुए अनिरुद्ध ने लिङ्ग के लिए 'सूक्ष्म देह' पद का प्रयोग किया है :—"**सप्तदश च एकं च अष्टादश। तैर्लिङ्गं सूक्ष्मदेह उत्पद्यते। बुद्ध्यहङ्कार-मनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणि च।**" विज्ञानभिक्षु तो लिङ्ग से पृथक् आतिवाहिक या अधिष्ठान शरीर मानते हैं और उद्धृत स्मृति में 'पुरुष' शब्द से उसी का ग्रहण करते हैं। यह आतिवाहिक शरीर सूक्ष्म पञ्च भूतों का ही नामान्तर है। इसके विपरीत स्थूल शरीर स्थूल भूतों का कार्य होता है। इसके लोम (चर्म या त्वक्), लोहित, मांस, स्नायु, अस्थि तथा मज्जा नामक षट् कोश पञ्च महाभूतों से निर्मित मातृ-पितृ-शरीर से प्राप्त होते हैं। इसी से आचार्य भिक्षु ने इसे स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म कहा है। लिङ्ग शरीर इससे भी सूक्ष्म होता है क्योंकि इसके बुद्धि, एकादश इन्द्रिय तथा पञ्च तन्मात्र—ये सत्रहों तत्त्व सूक्ष्म होते हैं। अन्य आचार्यों से भिक्षु का सूक्ष्मशरीर-विषयक यह दूसरा मतभेद है।

३।९ सूत्र के पूर्वोद्धृत भाष्य से स्पष्ट है कि बुद्धि में ही अहङ्कार का समावेश या अन्तर्भाव करके भिक्षु ने लिङ्ग शरीर के तत्त्वों की संख्या परम्परागत अठारह से सत्रह निर्धारित की है, एवं उसके 'एकम्' पद का तात्पर्य उन्होंने सर्ग के आदि में भगवान् हिरण्यगर्भ के समष्टिभूत एक लिङ्ग शरीर से लिया है। हिरण्यगर्भ का यही एक लिङ्ग शरीर जीवों के नाना कर्म-भेद से बाद में नानात्व को प्राप्त हो जाता है। आचार्य भिक्षु के मत से अगले (३।१०) सूत्र[१] में यही बात कही गई है। इसके औचित्यानौचित्य पर द्वितीय खण्ड के '**सृष्टि एवं बन्धन**' नामक अध्याय में विचार होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विज्ञानभिक्षु की लिङ्गशरीर-विषयक धारणा वाचस्पति, अनिरुद्ध आदि अन्य सांख्य-टीकाकारों की धारणा से भी भिन्न है, शांकर वेदान्तीय कल्पना से तो भिन्न है ही। लिङ्ग शरीर के सांख्योक्त पञ्चतन्मात्र रूप अवयवों के स्थान में वेदान्त द्वारा पञ्च प्राणों की कल्पना उनके लिये अप्रामाणिक है।[२] लिङ्ग शरीर में पञ्च प्राणों को अलग से न मानने में उनके मत से कोई न्यूनता नहीं, क्योंकि ये बुद्ध्यादि त्रिविध अन्तःकरण के सामान्य व्यापार या कार्य होने से उन्हीं में अन्तर्भूत हैं, उनकी क्रिया-शक्ति के कारण उन्हीं के नामान्तर हैं।[३] पर तन्मात्रों को उसमें न मानना ठीक नहीं है।

---

१. व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्॥ सां० सू० ३।१०॥

२. द्रष्टव्य सां० सू० ३।१२ के भिक्षु-भाष्य का अन्तिम वाक्य :—यत्तु मायावादिनो लिङ्ग-शरीरस्य तन्मात्रस्थाने प्राणादिपञ्चकं प्रक्षिपन्ति पुर्यष्टकं चान्यथा कल्पयन्ति, तदप्रामाणिकमिति।

३. द्रष्टव्य सां० सू० २।३१ [सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च] के भिक्षु-भाष्य का

इस प्रसंग से विज्ञानभिक्षु का अन्य सांख्य-व्याख्याकारों से एक तीसरा मत-भेद भी प्रकट होता है। यह मत-भेद पञ्च प्राणों की कल्पना के विषय में है। माठर, गौडपाद, जयमंगलाकार शङ्करार्य, वाचस्पतिमिश्र आदि कारिका-टीकाकारों तथा सांख्यसूत्र-वृत्तिकार अनिरुद्ध, सभी ने मूल[1] के **'प्राणाद्या वायवः पञ्च'** कथन को गौण या लाक्षणिक न मानकर मुख्य ही माना है। यह तथ्य उनकी व्याख्याओं से स्पष्ट है। वाचस्पतिमिश्र ने प्रस्तुत कारिकांश का व्याख्यान करते हुए इस प्रकार लिखा है :—**'त्रयाणामपि करणानां पञ्च वायवो जीवनं वृत्तिः, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्।'** इसके आगे भी 'प्राण' 'अपान' आदि पाँचों की व्याख्या करके अन्त में **'इति पञ्च वायवः'** ऐसा लिखा है। उनके इन लेखों से स्पष्ट है कि वे प्राण इत्यादि को वास्तविक या मुख्य ही रूप से वायु मानते हैं। केवल विभिन्न स्थानों में रहने एवं विभिन्न रूपों का होने के कारण वायु ही 'प्राण' इत्यादि सार्थक नाम धारण करता है। इसी प्रकार इस सूत्रांश का व्याख्यान करते हुए अनिरुद्ध ने भी इन्हें मुख्य रूप से ही वायु के विभिन्न रूप माना है :—**'पञ्च प्राणाद्या वायवस्त्रिभिः करणैर्धार्यन्ते।'** परन्तु इन व्याख्यानों के विपरीत विज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य के आरम्भ में ही इस प्रकार लिखा है :—**प्राणादिरूपाः पञ्च वायुवत् सञ्चारात् वायवो ये प्रसिद्धास्ते सामान्या साधारणी करणस्यान्तःकरणत्रयस्य वृत्तिः परिणामभेदा इत्यर्थः।'** उन्होंने भाष्य का उपसंहार करते हुए फिर इस प्रकार लिखा है :—**'अन्तःकरणपरिणामेऽपि वायुतुल्यसञ्चारविशेषाद्वायुदेवताधिष्ठितत्वाच्च वायुव्यवहारोपपत्तिरिति।'**

इन दोनों ही उद्धरणों से स्पष्ट है कि विज्ञानभिक्षु के मत से पञ्च प्राण वस्तुतः वायु नहीं हैं, अपितु वायु की ही भाँति सञ्चार करने एवं वायु देवता से अधिष्ठित होने के कारण 'वायु' नाम से व्यवहृत होते हैं। दूसरे शब्दों में इसी तथ्य को इस प्रकार रख सकते हैं कि जहाँ अन्य सांख्याचार्यों के मत से पञ्च प्राण वस्तुतः वायु ही होने के कारण मुख्य रूप से 'वायु' कहे जाते हैं, वहाँ आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत से वे वस्तुतः वायु न होने पर भी कारण-विशेष से गौण रूप से 'वायु' कहे जाते हैं, 'वायु' नाम से व्यवहृत होते हैं। लगता है कि भिक्षु जी ने अनिरुद्ध या वाचस्पति अथवा दोनों ही आचार्यों के पूर्वोक्त लेखों को देखा था और उन्हें मन में रख कर ही भाष्य लिखते समय पहले अपना मन्तव्य देकर फिर उनके मत का निम्न प्रकार से खण्डन किया :—

"अत्र कश्चित् 'प्राणाद्या वायुविशेषा एव, ते चान्तःकरणवृत्त्या जीवनयोनिप्रयत्नरूपया व्याप्रियन्त इति कृत्वा प्राणाद्याः करणवृत्तिरित्यभेदनिर्देश' इत्याह, तन्न। 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' इति वेदान्तसूत्रेण प्राणस्य वायुत्ववायुपरिणामत्वयोः स्फुटं प्रतिषेधादत्रापि तदेकवाक्यतौचित्यात्। मनोधर्मस्य कामादेः प्राणक्षोभकतया सामानाधिकरण्येनैवौचित्याच्च। वायुप्राणयोः पृथगुपदेशश्रुतयस्तु 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥' इत्याद्या इति।

---

*उपान्त्य वाक्य :—अतएव लिङ्गशरीरमध्ये प्राणानामगणनेऽपि न न्यूनता, बुद्धेरेव क्रियाशक्त्या सूत्रात्मप्राणादिनामकत्वादिति।

१. द्रष्टव्य कारिका २९, तथा सांख्यसूत्र २।३१।

स्पष्ट है कि विज्ञानभिक्षु के मत से प्राण इत्यादि को वायु या उसका परिणाम-विशेष मानना अपसिद्धान्त है। अपनी इस मान्यता को उन्होंने वेदान्तसूत्र २।४।९ एवं मुण्डक-श्रुति २।१।३ को उद्धृत करके पुष्ट किया है।

सांख्य शास्त्र में पारस्परिक मत-भेद का एक महत्त्वपूर्ण विषय विषयों के ज्ञान या भोग का स्वरूप भी है। पीछे आसुरि के प्रसङ्ग में लिखते समय इस सम्बन्ध में निवेदन किया जा चुका है कि हरिभद्रसूरि-कृत षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादमञ्जरी तथा अन्य जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में आसुरि के नाम से जो "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥' श्लोक उद्धृत मिलता है, उसमें वर्णित पुरुष के भोग का स्वरूप षड्दर्शनसमुच्चय में ही अन्यत्र उद्धृत विन्ध्यवासी के 'पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्। मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥' श्लोक में वर्णित भोग के स्वरूप से भिन्न है। एक के अनुसार, पुरुष में प्रतिबिम्बित बुद्धि ही उस (पुरुष) का भोग है। अर्थात् बुद्धि के सब धर्म उसी में होते रहते हैं, पुरुष का भोग इतना ही है कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमें प्रतिबिम्बित हो रही है। दूसरे के अनुसार, अविकृतात्मा अर्थात् असंग रहता हुआ ही पुरुष स्व-सान्निध्य से अचेतन [मन अर्थात् बुद्धि] को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन-सदृश कर देता है, जैसे लाल कमल इत्यादि (उपाधि) अपने सान्निध्य से स्फटिक को लाल बना देता है। अर्थात् सान्निध्य के कारण चेतन पुरुष बुद्धि में प्रतिफलित हो जाता है। यही उसका भोग है। इस प्रकार जहाँ आसुरि के मत से असंग पुरुष में आहार्य भोग सम्भव है, वहाँ विन्ध्यवासी के मत से पुरुष में आहार्य भोग भी सम्भव नहीं है, बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि के सम्भव न होने से पुरुष में भोग का केवल उपचार होता है अन्यथा भोग तो मुख्यतः बुद्धि ही में होता है। ईश्वरकृष्ण का एतद्विषयक मत आसुरि के ही मत के समान है।[१] प्रायेण ऐसा ही मत-भेद अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु में भी है। अनिरुद्ध ने सां० सू० १।९७-९९ की वृत्ति में ऐसे वाक्य लिखे हैं जिनसे उनका ऐसा अभिप्राय प्रकट होता प्रतीत होता है कि भोग बुद्धि में ही होता है, पुरुष को तो उसका केवल अभिमान होता है। इस अभिप्राय को प्रकट करने वाले उनके कुछ वाक्य ये हैं :—"वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न त्वात्मा जीवः, आहाराविविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्तृत्वमात्मनो अपरिणामित्वात्। [सू० ९७] .... तात्त्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशः। तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः। [९८]......अन्तःकरणस्य बुद्धौ पुरुषच्छायापत्त्या तच्चैतन्येनोज्ज्वलितस्य चेतनत्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम्...।" [९९]

विज्ञानभिक्षु ने १।९९ के स्वकृत भाष्य में इसका उल्लेख करके इस प्रकार खण्डन किया है :—"कश्चित्तु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छाविभिर्ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यानुभवादन्यस्य मानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह। तदात्मज्ञानमूलकत्वादुपेक्षणीयम्। एवं हि बुद्धेरेव ज्ञातृत्वे 'चिदवसानो भोगः' इत्यागामिसूत्रद्वयविरोधः, पुरुषे

१. द्रष्टव्य कारिका ३७ :—सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः। सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥

प्रमाणाभावश्च; पुरुषलिङ्गस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात् ।" विज्ञानभिक्षु की इन पंक्तियों का तात्पर्य इस प्रकार है :—किसी का जो यह मत है कि 'बुद्धि में चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण वही (बुद्धि) सब अर्थों की ज्ञाता है, ज्ञान और इच्छा के सामानाधिकरण्य का जीवन में अनेकशः अनुभव होने के कारण ज्ञान को चेतन पुरुष में तथा प्रवृत्ति को बुद्धि में मानना कथमपि समीचीन नहीं प्रतीत होता, अतः सब पदार्थों का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता है, ऐसा ही मानना समीचीन है' यह उपेक्षणीय है; क्योंकि ऐसा मानने वाला व्यक्ति आत्मा अर्थात् पुरुष के स्वरूप को नहीं समझता । यदि बुद्धि को ही ज्ञाता मान लिया जाय तो आगामी सूत्र के साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमें चेतन आत्मा के ही भोग की बात कही गई है, बुद्धि के भोग की नहीं । इसके अतिरिक्त इसको मानने में एक और भी दोष है और वह यह है कि तब फिर पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण भी नहीं मिलेगा, क्योंकि उक्त मान्यता के अनुसार पुरुष के अनुमान में लिङ्ग बनने वाले भोग को तो बुद्धि में ही स्वीकार कर लिया गया । इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ अनिरुद्ध भोग को बुद्धि में ही स्वीकार करते हैं, पुरुष को केवल उसका अभिमान होना मानते हैं, वहाँ विज्ञानभिक्षु भोग को पुरुष में ही स्वीकार करते हैं, भले ही वह आहार्य हो अर्थात् स्वतः न होकर बुद्धि द्वारा उसमें आनीत या सम्पादित हो ।

अब तक अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के मत से विषय-ज्ञान या भोग के पुरुष-गत अथवा बुद्धि-गत होने का जो विचार हुआ है, उसी से सम्बद्ध 'प्रमाण' के स्वरूप का प्रश्न भी है । गत पृष्ठों में यह निश्चय किया जा चुका है कि जहाँ अनिरुद्ध के मत से किसी भी प्रमेय या पदार्थ की प्रमा या उसका ज्ञान मुख्यतया बुद्धि को ही होता है और पुरुष को तो उसका केवल अभिमान ही होता है, वहाँ विज्ञानभिक्षु के अनुसार बाह्य ज्ञानेन्द्रियों एवं मन तथा अहङ्कार नामक अन्तःकरणों के द्वार (साहाय्य) से सम्पादित एवं परम्परया बुद्धि (जो सर्व-प्रधान—द्वारिणी—है) को समर्पित वह ज्ञान बुद्धि के द्वारा पुरुष को समर्पित किया जाने, उस तक आहार्य या आनीत होने, के कारण पुरुष-गत ही होता है । प्रमा अथवा ज्ञान के विषय में होने वाले इस मत-वैषम्य से दोनों आचार्यों की प्रमाण-विषयक धारणा या कल्पना में भी वैषम्य या भेद का होना स्वाभाविक है, क्योंकि 'प्रमाण' तो प्रमा या ज्ञान का साधन ही है और जब प्रमा या ज्ञान के विषय में दोनों की कल्पनायें या धारणायें भिन्न हैं तो प्रमाण-विषयक कल्पनायें भी भिन्न होनी ही चाहिये। अब चूँकि आचार्य विज्ञान भिक्षु को विषय की प्रमा (ज्ञान) का आहार्य रूप से पुरुष-निष्ठ होना मान्य है, अतः इसे सम्पादित करने वाली बुद्धि-वृत्ति (बुद्धि का व्यापार अर्थात् उसका विषयाकार परिणाम) ही उनके मत से एकमात्र प्रमाण है । इसी से सांख्यसूत्र १।८७ [**द्वयोरेकतरस्य [1]वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम् ।**] में कथित उभयविध 'प्रमा' तथा 'प्रमाण' का सूत्रानुसारी व्याख्यान कर चुकने के अनन्तर विज्ञानभिक्षु ने योग-सूत्रों के व्यास-भाष्य की गवाही देते हुये स्वाभिमत सिद्धान्त इस प्रकार प्रकट किया है :—**"पातञ्जलभाष्ये तु व्यासदेवैः पुरुषनिष्ठबोधः प्रमेत्युक्तः, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्त्या**

१. यहाँ अनिरुद्ध-धृत पाठ 'चाप्य....' है।

फलस्य पुरुषनिष्ठताया एवौचित्यात् । अतोऽत्रापि स एव मुख्यः सिद्धान्तः ।" व्यासदेव-कृत योगभाष्य की जिन पंक्तियों में पुरुष-निष्ठ बोध के 'प्रमा' कहे जाने का उल्लेख है, वे ये हैं :—'**इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणं, फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः ।......सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वसम्बोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात् तदार्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः ।"**[२] इन पंक्तियों में यह तथ्य सुस्पष्ट कथित है कि 'प्रमाण' चित्त या बुद्धि की वृत्ति का नाम है, एवं तज्जन्य पुरुष-निष्ठ बोध (प्रमा या ज्ञान) उसका फल या कार्य है । प्रत्यक्ष प्रमाण के निरूपण में इन्द्रिय को 'प्रणालिका' (पनाली, द्वार) कहने से भी यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष नहीं अपितु इन दोनों के योग से उत्पन्न हुई चित्त (बुद्धि)-वृत्ति ही है । इसी प्रकार अनुमान एवं शब्द प्रमाण भी चित्त-वृत्ति रूप ही हैं । भेद तीनों में यह है कि प्रत्यक्ष कही जाने वाली चित्त-वृत्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न एवं विशेषावधारण-प्रधान होती है, अनुमान कही जाने वाला चित्त-वृत्ति व्याप्ति आदि के ज्ञान से उत्पन्न एवं सामान्यावधारण-प्रधान (अर्थात् पदार्थ का सामान्य रूप से निश्चय कराने वाली) होती है, तथा शब्द प्रमाण कही जाने वाली चित्त-वृत्ति वाक्यार्थ-ज्ञान से उत्पन्न होती है ।

विज्ञानभिक्षु से बहुत पूर्व आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने भी चतुर्थ सांख्यकारिका की स्व-रचित टीका तत्त्वकौमुदी में 'प्रमाण' एवं 'प्रमा' पदों की यही व्याख्या की थी । इस सम्बन्ध में उनकी ये पंक्तियाँ अवधेय हैं :—"**अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं, तन्निर्वचनं च लक्षणम् । प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते । तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः । बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा । तत्साधनं प्रमाणमिति ।"** इस सन्दर्भ से विज्ञानभिक्षु की ही प्रमा और प्रमाण की कल्पना का स्पष्टतः समर्थन होता है । तत्त्वकौमुदी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित टीकाकार वंशीधर मिश्र ने इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए अपने 'सांख्यतत्त्वदिवाकर' में इस तथ्य को अत्यन्त संक्षेप में बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से इस प्रकार कहा है :—"**सिद्धान्ते चक्षुरादेः करणत्वाभावादाह—'चित्तवृत्ति' रिति । 'तत्साधनं प्रमाणम्' इत्यत्रान्वेति ।"** किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सांख्यकारिका एवं उसकी टीका तत्त्वकौमुदी के अन्यान्य टीकाकार भी ऐसा ही मानते हैं । तत्त्वकौमुदी के पिछले सन्दर्भ में स्थित 'तच्च' पद का अर्थ वंशीधर मिश्र ने 'प्रमाणं च' किया है जिससे स्पष्ट है कि 'प्रमाण' का ही अन्वय 'चित्तवृत्ति' पद के साथ है, अन्य किसी का नहीं । परन्तु तत्त्वकौमुदी के अन्य टीकाकार, जैसे बालराम उदासीन, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य, राजेश्वर शास्त्री, शिवनारायण शास्त्री, इत्यादि—'तच्च' पद को निकाल देते हैं और वाक्य को 'चित्तवृत्तिः' पद तक ही न लेकर आगे के 'प्रमा' पद तक लेते हैं, एवं 'तत्साधनं प्रमाणमिति' को स्वतन्त्र वाक्य स्वीकार करते हैं । इस प्रकार ये सभी इन दोनों वाक्यों का यह अर्थ लेते हैं कि सन्देह एवं भ्रम से रहित तथा पूर्व अनधिगत या अगृहीत अर्थात् अभिनव विषय

२. द्रष्टव्य, योगसूत्र १।७ का व्यास-भाष्य ।

वाली चित्तवृत्ति, और पुरुष-निष्ठ बोध या ज्ञान—ये दोनों ही 'प्रमा' या फल है एवं इनके दोनों ही साधन 'प्रमाण' हैं।" परन्तु निस्सन्देह वाचस्पति मिश्र का यह मन्तव्य नहीं प्रतीत होता, उनके टीकाकारों का (द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्' इस सांख्य-सूत्र के आधार पर) भले ही हो, क्योंकि पाँचवीं कारिका के **'उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते, इदं तत् प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः।'** इत्यादि वाचस्पति-कृत व्याख्यान से तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र 'प्रमाण' तथा पुरुष-गत बोध ही एकमात्र 'प्रमा' ज्ञात होते हैं। इस प्रकार व्यासदेव (योगभाष्यकार), वाचस्पति मिश्र आदि का साक्ष्य उपलब्ध होने के कारण विज्ञानभिक्षु ने भी सां० सू० १।८७ के स्वकृत भाष्य से पूर्व उद्धृत सन्दर्भ में चित्तवृत्ति रूप एकविध प्रमाण एवं पुरुष-निष्ठ बोध रूप एकविध प्रमा को ही सांख्याचार्यों का मुख्य सिद्धान्त कहा है।

परन्तु प्रमाण और प्रमा के ऐकविध्य के विषय में वाचस्पति मिश्र के साथ ऐकमत्य होने पर भी बुद्धिवृत्ति और पुरुष में परस्पर होने वाले सम्बन्ध के प्रकार के विषय में विज्ञानभिक्षु का उनसे मतभेद है। वाचस्पति मिश्र तो अन्तःकरण या बुद्धि की वृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानते हैं। पाँचवी सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी में 'प्रमाण' एवं 'प्रमा' का व्याख्यान करते हुए उन्होंने इस प्रकार लिखा है :—उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरित्ति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत् प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः'। इसमें स्थित 'अनुग्रह' पद का अगली पंक्तियों में व्याख्यान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार लिखा है :—सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते'। स्पष्ट है कि 'तत्प्रतिबिम्बितः' पद से वाचस्पति मिश्र ने बुद्धिवृत्ति अथवा अन्तःकरण में पुरुष के प्रतिबिम्ब का ही निर्देश किया है। अनिरुद्ध भी पुरुष को ही बुद्धि या अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित मानते हैं, जैसा कि अनिरुद्धवृत्ति से उद्धृत 'तात्त्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशस्तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः' [सां० सू० १।९८ की वृत्ति] इत्यादि सन्दर्भों से स्पष्ट है। इस प्रकार इस विषय में वाचस्पति मिश्र एवं अनिरुद्ध का ऐकमत्य है परन्तु विज्ञानभिक्षु का इन दोनों ही आचार्यों से मतभेद है। अनिरुद्ध के उद्धृत सन्दर्भ के खण्डन की दृष्टि से ही विज्ञानभिक्षु ने १।९९ के भाष्य में 'कश्चित्तु बुद्धिगतया.........' इत्यादि पूर्वोद्धृत पंक्तियाँ लिखी हैं। यही नहीं, इसके भी पूर्व प्रत्यक्ष-सूत्र १।८७ के भाष्य में प्रमा के उदय की प्रक्रिया इस प्रकार दी है :—'इन्द्रियप्रणालिकयार्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वाऽऽदौ बुद्धेरर्थाकारा वृत्तिर्जायते......सा च वृत्तिरर्थोपरक्ता प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषारूढा सती भासते, पुरुषस्यापरिणामितया बुद्धिवत् स्वतोऽर्थाकारत्वासम्भवात्।......तदेतद् वक्ष्यति जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमान इति, योगसूत्रं च 'वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति। स्मृतिरपि—'तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः।' वस्तुतः विज्ञानभिक्षु

के कथन का यह भाव नहीं है कि केवल अर्थाकाराकारित अर्थात् आरूढ विषय (पदार्थ) वाली बुद्धि का ही पुरुष में प्रतिबिम्बन होता है। प्रत्युत इसका भाव यह है कि अर्थाकार रूप से परिणत बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बन भी उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष का तादृश बुद्धि में। यह प्रतिबिम्बन उभयपक्षीय घटना है, एकपक्षीय नहीं। इस पारस्परिक प्रतिबिम्बन के लिए विज्ञानभिक्षु ने दोनों के बीच एक विशेष प्रकार का संयोग माना है जिससे चित् पुरुष बुद्धि अथवा अन्तःकरण में बिना संसक्त हुए प्रतिबिम्बित हो जाता है। जैसे लोहे के साथ अग्नि का संयोग-विशेष ही उस (लोहे) का उज्ज्वलन है, अग्नि का प्रकाश आदि उसमें संक्रान्त नहीं होता; वैसे ही पुरुष का भी बुद्धि के साथ संयोग-विशेष ही उसमें प्रतिबिम्बन है। एतदर्थ बुद्धि का ही सत्त्वोद्रेक रूप परिणाम होता है, पुरुष का नहीं। चूँकि सत्त्वोद्रेक-परिणाम के बिना बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्बन उसी प्रकार असम्भव है जैसे मटमैले जल अथवा धूल से आवृत दर्पण में आकृति का, इसीलिए तदर्थ बुद्धि एवं पुरुष के बीच संयोग-विशेष की कल्पना की जाती है। यह सब तथ्य १।९९ के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :—"······अन्तःकरणं हि तप्तलोहवच्चेतनोज्ज्वलितं भवति। अतस्तस्य चेतनायमानतयाधिष्ठातृत्वं घटादिव्यावृत्तमुपपद्यत इत्यर्थः। नन्वेवं चैतन्येनान्तःकरणस्योज्ज्वलने चितेः सङ्गित्वमग्निवदेव स्यादिति चेत्, न। नित्योज्ज्वलचैतन्यसंयोगविशेषमात्रस्य संयोगविशेषजन्यचैतन्यप्रतिबिम्बस्यैवान्तःकरणोज्ज्वलनरूपत्वात्। न तु चैतन्यमन्तःकरणे संक्रामति येन सङ्गिता स्यात्। अग्नेरपि हि प्रकाशादिकं न लोहे संक्रामति किन्त्वग्नियोगविशेष एव लोहस्योज्ज्वलनमिति।......अयं च संयोगविशेषोऽन्तःकरणस्यैव सत्त्वोद्रेकरूपात् परिणामात् भवतवीति फलबलात् कल्प्यते......। अयमेव च संयोगविशेषोः बुद्ध्यात्मनोरन्योन्यप्रतिबिम्बने हेतुः।"

सूत्रोक्त द्विविध प्रमा एवं द्विविध प्रमाण की व्याख्या आचार्य भिक्षु ने भाष्य के प्रारम्भ में ही इस प्रकार की है :—"**असन्निकृष्टः प्रमातर्यनारूढोऽनधिगत इति यावत्। एवम्भूतस्यार्थस्य वस्तुनः परिच्छित्तिरवधारणं प्रमा। सा च द्वयोर्बुद्धिपुरुषयोरेव धर्मो भवतु किं वैकतरमात्रस्य, उभयथैव तस्याः प्रमाया यत् साधकतमं......तत् त्रिविधं वक्ष्यमाणरूपेणेत्यर्थः। अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमुच्यते तदा बुद्धिवृत्तिरेव प्रमाणम्। यदि च बुद्धिनिष्ठमात्रमुच्यते, तदा तूक्तेन्द्रियसन्निकर्षादिरेव प्रमाणम्। पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव, न प्रमातेति। यदि च पौरुषेयबोधो बुद्धिवृत्तिश्चोभयमपि प्रमोच्यते, तदा तूक्तमुभयमेव प्रमाभेदेन प्रमाणं भवति। चक्षुरादिषु तु प्रमाणव्यवहारः परम्परयैव सर्वथेति भावः**"।

सूत्रानुसारी व्याख्यान करने वाली इन पंक्तियों का भाव सर्वथा स्पष्ट है। इनमें भिक्षु जी ने यह बात स्पष्ट की है कि यदि पुरुष-निष्ठ प्रमा को प्रमाण का फल या कार्य माना जाय तो बुद्धिवृत्ति को प्रमाण मानना होगा, यदि बुद्धिवृत्ति को ही प्रमाण का फल माना जाय तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रमाण मानना होगा, और यदि पुरुष-गत बोध एवं बुद्धिवृत्ति, दोनों को ही प्रमाण माना जाय तो बुद्धिवृत्ति और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, दोनों को ही क्रमशः प्रमाण माना होगा। [न्यायादि शास्त्रों में मान्य] चक्षुरादि इन्द्रियों के विषय में 'प्रमाण' का व्यवहार तो केवल परम्परा से ही समझना चाहिए। यहाँ इतनी बात और वक्तव्य है कि

अनिरुद्ध के व्याख्यान से प्रमा एवं प्रमाण की द्विविधता के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। अनिरुद्ध ने 'द्वयोरेकतरस्य चापि......' इत्यादि पदों का अन्यथा ही अर्थ किया है :—'**द्वयोरितीन्द्रियार्थयोर्विद्यमानयोः प्रत्यक्षे, एकतरस्य चापीति विद्यमानस्य लिङ्गस्य शब्दस्य वाऽनुमाने शब्दे च।**' अनिरुद्ध के टीकाकार महादेव वेदान्ती ने तो प्रमाण-सूत्रों का कोई व्याख्यान ही नहीं किया। इसलिए इन दोनों के एतद्विषयक मत के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ विशेष कह सकना कठिन है।

प्रमा एवं प्रमाण के स्वरूप-विवेचन के अनन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों के सम्बन्ध में भी यहाँ थोड़ा विचार कर लेना अनपेक्षित या अप्रासङ्गिक न होगा, क्योंकि इनको लेकर अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न दार्शनिकों में परस्पर पर्याप्त मतभेद या विचार-वैषम्य रहा है, एवं सांख्यप्रवचनसूत्रों के इन दो प्रसिद्ध व्याख्याताओं में भी है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों ही प्रमाण माने गये हैं। प्रत्यक्ष प्रमा निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से दो प्रकार की होती है। निर्विकल्पक प्रमा का लक्षण '**बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्**' तथा '**नामजात्यादि-योजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्**' इत्यादि दिया गया है। अर्थात् जिस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य इत्यादि प्रकार से नाम, जाति इत्यादि की प्रतीति न हो, वस्तु के स्वरूप-मात्र की प्रतीति होती हो, वह बालक या गूंगे के ज्ञान का सा ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। वस्तु के स्वरूप-ज्ञान की दृष्टि से अबोध बालक और बड़ी अवस्था के व्यक्ति के ज्ञान में कोई अन्तर न होने पर भी व्यवहार-काल में नाम, जाति आदि के अज्ञान के कारण एक में उनकी योजना न होने तथा उनके ज्ञान के कारण दूसरे में उनकी योजना होने से, दोनों में अन्तर हो जाता है। 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मा-रकम्' 'अर्थात् सम्बद्ध पदार्थों में से एक का ज्ञान तुरन्त दूसरे का स्मरण करा देता है,' इस नियम के अनुसार प्रौढ़ पुरुष को अर्थ का स्वरूप-ज्ञान होते ही तत्काल उसके नाम, जाति आदि का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार दर्शन-क्षण का उसका निर्विकल्पक ज्ञान सवि-कल्पक ज्ञान में परिणत हो जाता है। प्रत्यक्ष-ज्ञान के ये उभय प्रकार न्याय और वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शन-सम्प्रदायों को भी मान्य हैं। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने प्रत्यक्षसूत्र के श्लोकवार्तिक ११२ तथा १२० में इनका वर्णन क्रमशः इस प्रकार किया है :—"**अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तु-जम्॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥**" २७वीं सांख्यकारिका के व्याख्यान में मन के 'सङ्कल्प' धर्म को समझाते हुये वाचस्पतिमिश्र ने "**सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग् गृह्णन्त्यविकल्पितम्। तत् सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः।**" इस श्लोक के साथ श्लोकवार्तिक के इन दोनों श्लोकों को भी उद्धृत किया है। मध्व, वल्लभ तथा भर्तृहरि (वैयाकरण) के अनुसार सारा ज्ञान सविकल्पक ही होता है। वे ज्ञान के उत्पत्ति-क्रम में पदार्थ के सामान्य-मात्र या स्वरूप-मात्र के बोध का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते। वे विशेषण-विशेष्य-भाव से रहित कोई ज्ञान नहीं मानते। उनके मत से प्रत्येक ज्ञान में किसी न किसी प्रकार के विशेष का भान (प्रतीति) अवश्य होता रहता है। जैन दर्शन निर्विकल्पक की सत्ता तो मानता है पर उसे प्रत्यक्ष की कोटि

में न रखकर उससे बाहर रखता है। वह केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है। इसीलिये आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को 'अनध्यवसाय' रूप कहकर प्रमाण की कोटि से बाहर ही रक्खा है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है। दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चय ग्रन्थ का **'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'** कथन परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों की एतद्विषयक मान्यता के लिये पथप्रदर्शक सिद्धान्त बन गया। आचार्य धर्मकीर्ति इत्यादि प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिकों ने नाम जाति आदि विकल्पों अथवा विशेषों को कल्पना-मात्र मानते हुये उनकी प्रतीति को विशुद्ध प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) की कोटि से बाहर ही रक्खा।

सांख्यकारिका और सांख्यसूत्रों के टीकाकारों के साक्ष्य के अनुसार सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों ही रूप अथवा प्रकार मानता है। वाचस्पतिमिश्र के साक्ष्य की चर्चा अभी की जा चुकी है। अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के भी टीका-ग्रंथों में इस बात का साक्ष्य विद्यमान है कि दोनों को ही प्रत्यक्ष के दोनों प्रकार मान्य हैं। प्रत्यक्ष-सूत्र १।८६ [यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।] की वृत्ति लिखते हुए अनिरुद्ध ने सविकल्पक को भी प्रत्यक्ष मानते हुये बौद्धों के एतद्विपरीत मत का इस प्रकार खण्डन किया है :—**"सविकल्पमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम्। बौद्धास्तु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति वर्णयन्ति कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति। नामजात्यादियोजनात्मिका प्रतीतिः कल्पना, सा च सविकल्पकेऽप्यस्तीति न प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तन्न, अदुष्टसाक्षात्कारिप्रमाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम्। तदुभयं, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। किन्तु सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते। अतएवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति विशेषसंज्ञा। न च स्मृत्या कश्चिद् दोषः सामग्रीप्रत्यवायो वा जनितः। अथ स्मृत्या सहितत्वान्न प्रमाणम्? अहो नैपुण्यं यत् सहकारिप्रामाण्यं बाधते। तथा च—'संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता।"** इस सन्दर्भ से यह बात सुस्पष्ट है कि अनिरुद्ध निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही प्रत्यक्षों को प्रामाणिक मानते हैं। उनका कथन है कि सादृश्य से संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर स्वरूपमात्रतः या वस्तुतः ज्ञात होते हुये पदार्थ के नाम, जाति आदि विकल्पों (धर्मों) का स्मृति के द्वारा ज्ञान हो जाता है। इस अधिक उपलब्धि के कारण ही उसका 'सविकल्पक' नाम रक्खा गया है। इस स्मृति से प्रत्यक्ष-ज्ञान में न तो कोई दोष उत्पन्न होता है, और न प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पादक सामग्री में कोई प्रत्यवाय या विघ्न ही। स्मृति के सहित उत्पन्न होने के कारण ही उसे प्रामाणिक न मानना ठीक नहीं है, क्योंकि सहकारी के स्मृत्यात्मक होने भर से उसका प्रामाण्य न मानने में भला कौन सी बुद्धिमत्ता या कौशल है? आचार्य विज्ञानभिक्षु ने आचार्य अनिरुद्ध की इसी मान्यता का खण्डन करते हुए सां० सू० २।३२[1] के स्वकीय भाष्य में इस प्रकार लिखा है :—"कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यञ्च भवति, सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह। तन्न, योगभाष्ये व्यासदेवैर्विशिष्टज्ञानस्याप्यैन्द्रि-

१. क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः।

यकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् । इन्द्रियैर्विशिष्टज्ञाने बाधकाभावाच्च ।" विज्ञानभिक्षु-कृत खण्डन से स्पष्ट है कि यद्यपि वे निर्विकल्पक और सविकल्पक, दोनों को ही अनिरुद्ध की भांति प्रत्यक्ष मानते हैं तथापि उनके विपरीत सविकल्पक को भी निर्विकल्पक की ही तरह इन्द्रिय-जन्य मानते हैं, स्मृति की तरह केवल मनोजन्य नहीं । उनका कथन है कि योगभाष्य में व्यासदेव ने भी सविकल्पक ज्ञान की इन्द्रिय-जन्यता स्थापित की है, इन्द्रियाँ उसमें कथमपि बाधक नहीं हैं ।

प्रस्तुत सन्दर्भ के अनन्तर ही विज्ञानभिक्षु ने उक्त सूत्र की अनिरुद्ध-कृत व्याख्या का इस प्रकार उल्लेख-पूर्वक खण्डन किया है :–"**स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे–बाह्येन्द्रियमारभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिरुत्सर्गतः क्रमेण भवति । कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेष्वेकदैव वृत्तिर्भवतीत्यर्थ इति । तदप्यसत् । सूत्रे इन्द्रियवृत्तीनामेव क्रमिकाक्रमिकत्ववचनात् । न बुद्ध्यहंकारवृत्त्योः प्रसङ्गोऽप्यस्ति । किञ्चैकदाऽनेकेन्द्रियवृत्तावेव वादिविप्रतिपत्त्या तन्निर्णयपरत्वमेव सूत्रस्योचितं मनोऽणुत्वप्रतिषेधाय, न तु काकदन्तान्वेषण-परत्वमिति ।**" विज्ञानभिक्षु ने अनिरुद्ध के जिस अर्थ की प्रस्तुत आलोचना उपस्थित की है, उसे उन्होंने सूत्र २।३२ के 'अक्रमशश्च' पद की व्याख्या में इस प्रकार से लिखा है :—"**अक्रमशश्च—रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटित्यपसरति, तत्र चतुर्णामिकदा वृत्तिः ।**" वृत्ति का '**चतुर्णाम्**' पद उसके पूर्व भाग में 'क्रमशः' पद की व्याख्या के प्रसङ्ग में उल्लिखित अर्थ-सन्निकृष्ट इन्द्रिय, मन, अहङ्कार तथा बुद्धि के लिये प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार उद्धृत सन्दर्भ का तात्पर्य यही है कि रात्रि में बिजली चमकने के समय व्याघ्र आदि को देखने के साथ ही व्यक्ति का जो अपसरण या पलायन है, वह इन्द्रिय, मन, अहङ्कार और बुद्धि, इन चारों के 'अक्रमिक' अर्थात् एक साथ व्यापारशील अथवा प्रवृत्त होने का उदाहरण है । अनिरुद्ध के व्याख्यान से स्पष्ट है कि उन्होंने बाह्य इन्द्रियों, अन्तरिन्द्रिय मन, अहङ्कार तथा बुद्धि, इन चारों ही करणों की वृत्तियों के क्रमिकाक्रमिकत्व को सूत्र-प्रतिपाद्य मानकर उनका वैसा वर्णन या कथन किया है । उनके इसी कथन को विज्ञानभिक्षु ने असत् कहा है । असत् कहने का कारण उन्होंने यह बताया है कि सूत्र में तो केवल इन्द्रियों की ही वृत्तियों के क्रमिकत्व एवं अक्रमिकत्व का कथन है, बुद्धि एवं अहङ्कार की वृत्तियों का तो वहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं है । इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि एक ही समय में अनेक इन्द्रियों की वृत्ति होने में ही वादी को विप्रतिपत्ति होने के कारण, मन के अणुत्व के खण्डन के लिये सूत्र में उसी का निर्णय होना उचित है, न कि कौवे के दांत गिनने के समान (अप्रासङ्गिक) बुद्धि और अहङ्कार की वृत्तियों का व्यर्थ प्रसङ्ग । उनकी इस आलोचना का तात्पर्य यह है कि चूंकि न्याय में मन के अणुत्व के कारण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की समस्त वृत्तियों का अक्रमिकत्व या यौगपद्य (एक साथ होना) मान्य नहीं है क्योंकि समस्त इन्द्रियों के साथ अणु मन का एक ही समय में सन्निकर्ष या सम्बन्ध असम्भव है, अतः इसी विवादास्पद विषय अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियों के वृत्ति-यौगपद्य का निर्णय सूत्र का प्रतिपाद्य होना चाहिये ताकि उसकी सिद्धि के आधार पर विरोधी के सिद्धान्त (मन के अणुत्व) का खण्डन एवं अपने सिद्धान्त (मन के मध्यम परिमाण) की प्रतिष्ठा या स्थापना हो सके ।

यहाँ यह वक्तव्य है कि २।३२ की अनिरुद्ध-व्याख्या की विज्ञान-कृत आलोचना अवश्य ही सही है क्योंकि उक्त सूत्र में तो सचमुच ही इन्द्रियों की क्रमिक और अक्रमिक वृत्ति की ही बात कथित है जब कि अनिरुद्ध ने 'करणानां वृत्तीराह' शब्दों के द्वारा सूत्र की अवतारणा करके उसका व्याख्यान करते समय केवल इन्द्रियों की नहीं अपितु समस्त 'करणों'—जिनमें इन्द्रियों के अतिरिक्त अहङ्कार एवं बुद्धि भी अन्तर्भूत हैं—की वृत्तियों के क्रमिकाक्रमिकत्व का कथन किया है। विज्ञानभिक्षु का यह कथन सत्य है कि सूत्र में इन्द्रियों की वृत्तियों के क्रमिकत्व के अतिरिक्त अक्रमिकत्व का कथन होने से मन के मध्यम परिमाण वाला होने का सांख्यीय सिद्धान्त भी अर्थतः सूचित हो जाता है। परन्तु अनिरुद्ध को तो इन्द्रियों की वृत्तियों का सूत्रोक्त अक्रमिकत्व अर्थात् कभी-कभी क्रमशः न होकर एक साथ होना मान्य ही नहीं है। उन्होंने सूत्रस्थ 'अक्रमशः' पद की सोदाहरण व्याख्या कर देने पर भी इन्द्रियों के अक्रमिक व्यापार को अवास्तविक ही माना है। इसीलिये सूत्र की स्वकीय वृत्ति का उपसंहार उन्होंने इस प्रकार किया है :—यद्यपि वृत्तीनामेकदाऽसम्भवात् तत्रापि क्रम एव, तथाप्युत्पलशतपत्रव्यतिभेदवदवभासनादक्रम इत्युक्तमिति।" इसका तात्पर्य यह है कि व्याघ्र-दर्शन वाले दृष्टान्त में भी करणों की वृत्ति क्रमशः ही होती है, अक्रमशः या युगपद् वृत्ति असम्भव है। सूत्र में इसके कथित होने का कारण यह है कि व्याघ्र-दर्शन इत्यादि में क्रम होने पर भी, विभिन्न वृत्तियों के बीच अत्यल्प समय-व्यवधान (अन्तर) होने के कारण, उसकी प्रतीति नहीं होती। जैसे कमल के सैकड़ों पत्रों के सूई द्वारा क्रम से ही विद्ध होने पर भी, उनके अत्यन्त सुकुमारत्व के कारण विद्ध होने में लगने वाले समय के अत्यल्प होने से, उसकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार व्याघ्र-दर्शन आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

वस्तुतः करणों के व्यापारों की क्रमिकता और अक्रमिकता को लेकर कारिकाओं और सूत्रों के व्याख्याकारों की दो विचार-धारायें उपलब्ध होती हैं। यद्यपि ३०वीं सांख्य-कारिका[1] तथा सां० सू० २।३२, दोनों ही में करणों के द्विविध—क्रमिक एवं अक्रमिक या युगपद्—व्यापार का स्पष्ट कथन है, तथापि दोनों के ही व्याख्याकारों में से कुछ ने केवल क्रमिक, तथा कुछ ने क्रमिक एवं अक्रमिक, दोनों ही माना है। कारिकाओं के व्याख्याकार माठर एवं युक्तिदीपिकाकार का मत है कि दृष्ट और अदृष्ट, सभी स्थलों में करणों की वृत्ति वस्तुतः क्रम से ही होती है, कहीं-कहीं उसकी प्रतीति भले ही न हो। माठर की 'ह्रस्वकालत्वात् विभागो न शक्यते वक्तुं, ततो युगपदित्युच्यते, यथा बालपत्रशतं सूच्यग्रेण विद्धमिति' [पृ० ४७], एवं युक्तिदीपिकाकार की 'मेघस्तनितादिषु क्रमाननुगतेर्युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्' [पृ० १३०] पंक्तियों से यह बात सर्वथा स्पष्ट है। इस प्रकार इन दोनों व्याख्याकारों की दृष्टि से मेघ-गर्जन आदि के प्रत्यक्ष में भी क्रम अवश्य रहता है। इनके बाद के गौडपाद दृष्ट में क्रमिक और अक्रमिक दोनों प्रकार की, तथा अदृष्ट (अर्थात्, अतीत अनागत एवं व्यवहित विषय) में केवल क्रमिक वृत्ति मानते हैं[2]। गौडपाद

१. युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः॥

२. द्रष्टव्य गौडपाद-भाष्य, पृ० २३-२४:—चतुष्टयस्य दृष्टे प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद् वृत्तिः...।

के परवर्ती जयमङ्गलाकार दृष्ट और अदृष्ट, दोनों के विषय में करणों की वृत्ति को उभयथा—क्रमिक तथा अक्रमिक—ही मानते हैं। उनकी "येयमुभयथा वृत्तिः सा कस्मिन् विषये इत्याह—'दृष्टे' इति। 'अदृष्टे' तर्हि नास्तीत्याह—'तथाप्यदृष्टे' इति।" इत्यादि पंक्ति से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है। जयमङ्गलाकार के परवर्ती वाचस्पति मिश्र की भी यही मान्यता है। उनकी तत्त्वकौमुदी की 'अन्तःकरणत्रयस्य युगपत् क्रमेण च वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति। अनुमानागमस्मृतयो हि परोक्षेऽर्थे दर्शनपूर्वा प्रवर्तन्ते नान्यथा। यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति योजना।' इत्यादि उपसंहारात्मक पंक्तियाँ इसमें प्रमाण हैं। ऐसी स्थिति में पं० उदयवीर शास्त्री का जयमङ्गलाकार को इस स्थल में गौडपादानुसारी बताकर वाचस्पति का उनसे इस विषय में भेद बताना[1] भ्रान्तिमूलक है। अनिरुद्ध ने अपनी एतद्विषयक मान्यता में माठर और युक्तिदीपिका के मतों का अनुसरण किया है, यह तो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही हो चुका है। तब फिर डा० गार्बे का यह कथन कथमपि संगत नहीं कहा जा सकता कि 'सांख्यसूत्र २।३२ की अनिरुद्ध-व्याख्या का उत्तरार्ध सांख्यकारिका ३० की वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी से लिया गया है।' विज्ञानभिक्षु का एतत्सम्बन्धी मत सूत्रानुसारी ही प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अनिरुद्ध की भाँति उसमें कथित वृत्ति-यौगपद्य के विषय में कोई टीका-टिप्पणी नहीं की है, केवल 'सुगमम्' लिखकर ही वे दूसरे विषय पर चले गये हैं। पं० उदयवीर शास्त्री का दोनों के एतद्विषयक व्याख्यानों में साम्य देखना भ्रमात्मक एवं असत् है।

इन्द्रियों की वृत्तियों के क्रमिकत्व एवं अक्रमिकत्व (यौगपद्य) के विषय में ही नहीं अपितु उन इन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में भी अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु की अपनी विशिष्ट मान्यतायें हैं। सांख्यकारिका २५[2] एवं सां० सू० २।१८[3] में यह प्रसङ्ग आया है। कारिका का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'वैकृत' अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण, भूतादि अर्थात् तामस अहङ्कार से पञ्च तन्मात्रों का तामस गण, एवं 'तैजस' अर्थात् राजस अहङ्कार से दोनों ही (गण) उत्पन्न होते हैं। कारिकाओं के प्रायः सभी टीकाकारों का इस विषय में ऐकमत्य है। तत्त्वकौमुदी की एतद्विषयक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं: – "प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतादहङ्कारात् प्रवर्तते।" इसीलिये २६वीं कारिका की व्याख्या के आरम्भ में ही वाचस्पतिमिश्र ने इन्द्रियों का लक्षण 'सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्' दिया है। इसका अर्थ यह है कि जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहङ्कार उपादान कारण हो, वह 'इन्द्रिय' है। इससे यह बात स्पष्ट है कि ईश्वरकृष्ण और उनके प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पतिमिश्र, दोनों के ही अनुसार इन्द्रियाँ आहङ्कारिक हैं। पीछे उल्लिखित सांख्यसूत्र २।१८ में भी यही तथ्य प्रतिपादित हुआ प्रतीत होता है क्योंकि २५वीं कारिका का पूर्वार्ध एवं यह सूत्र, दोनों शब्दतः भी एक ही हैं, केवल

किं च....तस्येति चतुष्टयस्य क्रमशश्च वृत्तिर्भवति ।....अदृष्टेऽनागतेऽतीते च काले बुद्ध्यहङ्कारमनसां....क्रमशो वृत्तिः, वर्तमाने युगपत् क्रमशश्च ।

१. द्रष्टव्य, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ३०६ की पाद-टिप्पणी।

२. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्। भूतादेस्तान्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥

३. सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।

कारिका के 'सात्त्विक एकादशकः' के स्थान में सूत्र में 'सात्त्विकमेकादशकम्' पाठ है। यह लिंग-भेद इस कारण से हुआ होगा कि २५वीं कारिका में 'सात्त्विक एकादशकः' पाठ पूर्व की २४वीं कारिका में आये हुये 'गणः' इस पुंल्लिग शब्द की अपेक्षा से रक्खा गया है, और सू में 'सात्त्विकमेकादशकम्' पाठ उसके ठीक पूर्व के सूत्र २।१७ [एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्] में स्थित 'कार्यम्' पद की अपेक्षा से रक्खा गया है। दोनों सूत्रों का संयुक्त अर्थ सामान्यतः यही होना चाहिये कि "एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्र, ये सोलह तत्त्व अहङ्कार के कार्य हैं, जिनमें एकादश इन्द्रियों का गण 'वैकृत' अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक है।" सूत्र २।१८ का 'एकादशकम्' पद कारिका के 'एकादशकः' पद की ही भाँति 'गण' अर्थ में प्रयुक्त होना चाहिये, जैसे तीसरी कारिका के 'षोडशकस्तु विकारो...' इत्यादि उत्तरार्ध का 'षोडशक' पद 'षोडश संख्या से परिमित गण' अर्थ में आया है। परन्तु अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु, दोनों ने ही 'एकादशकम्' पद का अर्थ 'ग्यारहवाँ' लेकर उसे 'मन' के लिये प्रयुक्त हुआ माना है। सूत्र २।१८ की **'महद्विकाराहङ्कारात् सात्त्विकं सत्त्वसहकृतमेकादशकमेकादशेन्द्रियं प्रवर्तते।'** इत्यादि 'वृत्ति' में मूल के 'एकादशकम्' पद के पर्याय रूप में प्रयुक्त 'एकादशेन्द्रियम्' पद के एकवचन से यह बात स्पष्ट है कि अनिरुद्ध 'एकादशकम्' पद को मन के लिये ही प्रयुक्त हुआ मानते हैं। विज्ञानभिक्षु की **'एकादशानां पूरणमेकादशकं मनः षोडशात्मगणमध्ये सात्त्विकम्'** इत्यादि व्याख्या तो इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में ही कह देती है, जिससे उनके मन्तव्य के विषय में किसी भी प्रकार के सन्देह अथवा तर्क के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इस प्रकार दोनों ही सूत्र-व्याख्याकारों के अनुसार समस्त इन्द्रियों का आहंकारिकत्व सुसिद्ध होने पर भी सात्त्विकाङ्कारोपादानकत्व केवल अन्तरिन्द्रिय मन का ही सिद्ध होता है। इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र तथा कारिकाओं के अन्य अनेक टीकाकारों से अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्ष का मत-भेद सुस्पष्ट है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के विशिष्ट उपादानों के विषय में अनिरुद्ध ने तो अपनी व्याख्या में कुछ स्पष्ट नहीं किया है किन्तु विज्ञानभिक्षु ने ऊपर उद्धृत पंक्ति के आगे ही **'अतस्तद्वैकृतात् सात्त्विकाहङ्काराज्जायत इत्यर्थः, अतश्च राजसाहङ्कारद्दशेन्द्रियाणि तामसाहङ्काराच्च तन्मात्राणीत्यपि गन्तव्यम्'** लिखकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सात्त्विक अहङ्कार से मन, राजस अहङ्कार से दस इन्द्रियां (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ), तथा तामस अहङ्कार से पाँच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं, अपितु पुराणों का उद्धरण देकर इसे प्रमाणित भी किया है। यह उद्धरण इस प्रकार है—"वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा। अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्॥ वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः। तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च॥ तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः॥" इन पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव तथा मन, राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, तथा तामस अहंकार से पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति की प्रक्रिया देखकर भिक्षु जी ने 'सात्त्विकमेकादशकम्' (सां० सू० २।१८) का अपने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में तदनुकूल अर्थ किया है। एवं सांख्य-कारिकाओं के अपने व्याख्यान में भी २५वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुये उन्होंने **"सात्त्विक एकादशक इत्यनेन मनो ग्राह्यं, तैजसादुभयमित्युभयपदेव च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम।"**—ऐसा लिखा

है। इससे स्पष्ट है, कि विज्ञानभिक्षु के मतानुसार केवल ग्यारहवाँ इन्द्रियाँ मन ही सात्त्विक है, अन्य दसों इन्द्रियाँ आहंकारिक होती हुई भी राजस हैं, सात्त्विक नहीं। सांख्य-सिद्धान्त की दृष्टि से यह मत उचित या अनुचित जो भी हो, पर सांख्य-कारिका की प्रस्तुत पंक्ति के अर्थ की दृष्टि से तो यह अवश्य ही युक्त नहीं लगता; क्योंकि, जैसा उदासीन जी ने विद्वत्त-षिणी में लिखा है, 'एकादशक' शब्द 'एकादश-संख्या-परिमित गण'—इसी अर्थ का द्योतक होने से केवल मन का वाचक हो ही नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि ग्यारह के वाचक 'एकादश' शब्द में पूरणार्थ 'डट्' प्रत्यय लगाने से 'ग्यारहवाँ' इस अर्थ को देने वाले 'एका-दश' शब्द के बन जाने पर 'स्वार्थे' 'क' प्रत्यय लगकर 'एकादशक' शब्द बना है और इस प्रकार 'ग्यारहवाँ'—इस अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जायगी, तो यह कथन भी असंगत है; क्योंकि ऐसा होने पर 'मनस्' शब्द के नपुंसकलिङ्ग होने के कारण कारिका में 'सात्त्विकमेकादशकम्' ऐसा ही पाठ होना चाहिये था। यदि यह कहा जाय कि सांख्य-सूत्र 'सात्त्विकमेकादशकम्' के अनुरोध से यहाँ भी 'सात्त्विकमेकादशकम्' ही पाठ उचित है, एवं पुंल्लिङ्ग-पाठ प्रमाद है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि सांख्य-सूत्रों में उपर्युक्त सूत्र के बाद के 'कर्मेन्द्रिय-बुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्' सूत्र में 'एकादशकम्' पद से ग्यारह इन्द्रियों का ही ग्रहण होने के कारण इसके पूर्व के सूत्र ('सात्त्विकमेकादशकम्') का भी 'ग्यारहों इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं'—यही तात्पर्य ज्ञात होता है, 'ग्यारहवाँ इन्द्रिय (मन) सात्त्विक है'—यह नहीं।

अब जहाँ तक दोनों अर्थों के सांख्य-सिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न है, वहाँ भी तत्त्वकौमुदीकार का अर्थ अधिक सङ्गत लगता है। यदि इस अर्थ के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं, उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए तो ऐसी ही शंका तो विज्ञानभिक्षु के भी अर्थ के सम्बन्ध में होगी; क्योंकि यदि सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक नहीं हैं, केवल मन ही सात्त्विक है तो फिर बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश क्यों करती हैं? पूर्व अर्थ के विरुद्ध उठी हुई शंका का तो समाधान भी है और वह यह कि चूँकि उत्कृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से बुद्धीन्द्रियाँ तथा निकृष्ट-सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, अतएव जहाँ मन सर्वाधिक विषय-प्रकाशक है, वहाँ बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुई भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाश करती ही नहीं, तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी हैं, अन्यथा ऐसी न होतीं। परन्तु द्वितीय अर्थ के विरुद्ध उठी हुई शंका का कोई भी परिहार नहीं दिखाई पड़ता।

इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य-शास्त्रीय मुख्य सिद्धन्त का यही स्वरूप है। यों, प्राचीन काल में सांख्य दर्शन की अठारह शाखायें थी [इस बात का उल्लेख प्राचीन दर्शन साहित्य में प्राप्त होता है] जिनमें सांख्य-सिद्धान्तों के विभिन्न रूप प्रचलित थे। इन्द्रियों का भौतिकत्व न्याय और वेदान्त की भाँति सांख्य के भी कुछ सम्प्रदायों में मान्य था, इसका पता कारिकाओं की युक्तिदीपिका एवं सुवर्णसप्ततिशास्त्र नामक टीकाओं में उपलब्ध कुछ प्राचीन उक्तियों से लगता है। उनके एतद्विषयक क्या तर्क थे, कुछ कहा नहीं जा

सकता। जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक श्रवण आदि इन्द्रियों को क्रमशः आकाश आदि भूतों से उत्पन्न मानते हैं और उसमें 'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् दीपवत्' 'त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत्', 'रसनं जलीयं रूपादिषु पञ्चसु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् दन्तान्तस्तोयवत्' इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं, उनकी यह मान्यता सर्वथा भ्रम-रहित या विशुद्ध नहीं प्रतीत होती, क्योंकि विचार करने पर इसके विरुद्ध जो बात आपाततः मन में आती है, वह यह है कि यदि ये इन्द्रियाँ प्रकाशक सात्त्विक अहङ्कार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश, वायु आदि पाँच भूतों से पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुईं तो वे प्रकाशक कैसे हुईं ? आकाश इत्यादि की भाँति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिये, प्रकाशक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त प्रकार के अनुमानों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द, स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में (पृथक्-पृथक्) करण हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों में प्राप्त या उपस्थित नहीं है। जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप 'रूप' के प्रत्यक्ष में करण नहीं है, क्योंकि करण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो; परन्तु रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं। अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय-सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता। जब उदाहरण ही असिद्ध है, तब अनुमान कहाँ से सिद्ध होगा ?

इन्द्रियों की ही भाँति स्थूल शरीर के भी उपादान के विषय में अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के विचार परस्पर भिन्न होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। अतः संक्षेप में उनका भी यहाँ उल्लेख वाञ्छनीय है। तीसरे अध्याय में स्थूल शरीर के विषय में तीन सूत्र आये हैं, जो इस प्रकार हैं :—**पाञ्चभौतिको देहः ॥१७॥ चातुर्भौतिकमित्यन्ये ॥१८॥ ऐकभौतिकमित्यपरे ॥१९॥** अठारहवें तथा उन्नीसवें सूत्रों में क्रमशः आये हुये 'अन्ये' तथा 'अपरे' पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें प्रतिपादित मत दूसरों के हैं। सत्रहवें सूत्र में प्रोक्त मत किसी ऐसे पद के द्वारा प्रकट न किये जाने से स्वकीय प्रतीत होता है। व्याख्याकार अनिरुद्ध ने इसकी अवतारणा भी 'विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वमतमाह' शब्दों द्वारा की है, जिससे स्पष्ट है कि उनके अनुसार भी यह सूत्रकार का अपना निश्चित मत या सिद्धान्त है। इतना ही नहीं, प्रत्युत अगले दोनों (१८, १९) सूत्रों की अवतारणा उन्होंने 'का विप्रतिपत्तिरित्याह' शब्दों के द्वारा की है, जिससे स्पष्ट है कि उनके अनुसार भी ये विरोधी पक्षों का ही उल्लेख करते हैं। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि वही अनिरुद्ध पाँचवें अध्याय के सूत्र १०२ [न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्] की अवतारणा 'पञ्चभूतारब्धं शरीरमित्यत्राह' शब्दों द्वारा करके उसका उपन्यास अन्य मत के रूप में करते हुये इस प्रकार अर्थ करते हैं :—**बहूनां भिन्नजातीयानाम्। उपष्टम्भकत्वे चतुर्णां निमित्तत्वमस्त्येव तेन च पाञ्चभौतिकत्वमुच्यत इति।'** इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल शरीर मुख्यतया पाञ्चभौतिक नहीं है क्योंकि विभिन्नजातीय तत्त्वों का एकत्र समावेश दुर्घट है। शरीर में पार्थिवतत्त्व के सहायक या सहयोगी रूप में तो शेष चारों की उपस्थिति रहती ही है और इसी कारण से यह पाञ्चभौतिक कहा भी जाता है। अर्थात् मुख्यतः शरीर ऐकभौतिक अर्थात्

पार्थिव, एवं गौण रूप से पाञ्चभौतिक होता है। अनिरुद्ध के अनुसार स्थूलशरीरविषयक सांख्य मत का यही स्वरूप है। विज्ञानभिक्षु ने भी उपर्युक्त दोनों सूत्रों (२।१८, १९) की अवतारणा 'मतान्तरमाह' शब्दों द्वारा की है जिससे स्पष्ट है कि उनके भी मत से ये दोनों सूत्र विरुद्ध मतों का उल्लेख करते हैं, सिद्धान्त-भूत स्वमत का नहीं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि १९ वें सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये वे उसके सिद्धान्त होने का इस प्रकार संकेत करते हैं :—**पार्थिवमेव शरीरमन्यानि च भूतान्युपष्टम्भकमात्राणीति भावः। अथवैकभौतिकमेकैकभौतिकमित्यर्थः। मनुष्यादिशरीरे पार्थिवांशाधिक्येन पार्थिवता, सूर्यादि-लोकेषु च तेजआद्याधिक्येन तैजसादिता शरीराणां सुवर्णादीनामिवेतीममेव पक्षं पञ्चमाध्या-येऽपि सिद्धान्तयिष्यति।'** इसका तात्पर्य यह है कि ऐहलौकिक स्थूल शरीर मुख्यतः पार्थिव होता है, एवं अन्य चार भूतों की उसमें निमित्त या सहायक रूप से उपस्थिति रहती है। वरुण, सूर्य आदि लोकों के शरीरों में क्रमशः जल, तेजस् आदि एक-एक तत्त्व की प्रधानता रहती है जिससे वे जलीय, तैजस, तथा वायवीय कहे जाते हैं। [आकाश तो किसी प्रकार के शरीर का उपादान नहीं बनता] अपनी इसी मान्यता के अनुसार विज्ञानभिक्षु पाँचवें अध्याय के स्थूलशरीर-विषयक सूत्र की अवतारणा **"द्वितीयाध्याये (? तृतीयाध्याये) शरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वादिरूपैर्मतभेदा एवोक्ता न तु विशेषोऽवधृतः। अत्रापरपक्षं प्रति-षेधति।"** शब्दों द्वारा करके अनिरुद्ध के सर्वथा समान ही उसका व्याख्यान करते हैं :— **"बहूनां भिन्नजातीयानां चोपादानत्वं घटपटादिस्थले न दृष्टमिति सजातीयमेवोपादानम्। इतरच्च भूतचतुष्टयमुपष्टम्भकमित्याशयेन पाञ्चभौतिकत्वव्यवहारः। एकोपादानकत्वेऽपि पृथिव्येवोपादानं सर्वशरीरस्येति वक्ष्यति।"** तात्पर्य यह है कि अनिरुद्ध की ही भाँति विज्ञानभिक्षु भी शरीर को मुख्यतः तो ऐकभौतिक ही, किन्तु गौणतः पाञ्चभौतिक भी मानते हैं। सम्भवतः इसी सूत्र एवं इसकी इन्हीं व्याख्याओं को देखकर प्रो० कीथ ने भी सांख्यीय स्थूल शरीर की यही कल्पना अपने सांख्य-विषयक ग्रन्थ (Sankhya System) के पृ० ९७ पर प्रस्तुत की है[1]।

परन्तु ये विचार सही नहीं प्रतीत होते क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शरीर का पाञ्चभौतिकत्व ही तृतीय अध्याय के १७ वें सूत्र में सिद्धान्त रूप में उपन्यस्त है तथा चातुर्भौतिकत्व और ऐकभौतिकत्व अगले दो सूत्रों में सांख्य-विरोधी मतों के रूप में। अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित मत न्याय और वैशेषिक शास्त्रों के हैं, जैसा कि न्याय-सूत्र ३।१।२८-३२ तथा वैशेषिक-सूत्र ४।२।२-४ से स्पष्ट है। न्यायसूत्र

1. On the other hand, further details are given of the process of growth of the gross body which is really composed of earth, not of three elements, fire, water and food, that is, earth, as in the view of the Vedanta, nor of four, attributed to Pancashikha himself. The other four elements aid only in producing the stability of the body : water sustains the blood, fire the heat of the body, air the breath, and ether the wind-pipe.

इस प्रकार है :—**पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः॥२८॥ पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥२६॥ निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥३०॥ गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ॥३१॥ श्रुतिप्रामाण्याच्च** ॥३२॥ २८ वें सूत्र का वात्स्यायन-भाष्य यह है—"तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्......भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध इति। आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि, तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति।" इन सूत्रों एवं इनके वात्स्यायन-भाष्य से स्पष्ट है कि अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के उपर्युक्त मत अर्थतः और बहुत कुछ शब्दतः भी इसी पर आधारित हैं। वैशेषिक-सूत्र ४।२।२-४ इस प्रकार हैं :—**प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकत्वं न विद्यते ॥२॥ गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥३॥ अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः** ॥४॥ अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के प्रतिपादन में सारी असंगति वस्तुतः सां० सू० ५।१०२ के सिद्धान्त रूप में उपन्यस्त होने के कारण आई है। यदि कहीं इस असंगति पर उनकी दृष्टि गई होती, यदि उनका ध्यान इस बात पर गया होता कि ३।१७ में प्रतिपादित स्वपक्ष का ही ५।१०२ में प्रत्याख्यान हो रहा है, तो सम्भवतः इस सूत्र के प्रक्षिप्त होने की आशङ्का उनके मन में उठती। लेकिन उन्होंने इसे सिद्धान्त का ही निषेधात्मक कथन मान लिया एवं ३।१८-१६ में इसी के लिए लिखे गए 'मतान्तरमाह' इत्यादि स्वकीय शब्दों को भुला दिया। स्थूल शरीर का पाञ्चभौतिकत्व ही सांख्य सिद्धान्त है, इस बात का संकेत पिछले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में उद्धृत डा० कीथ के उस वचन से मिलता है जिसमें इस बात का उल्लेख है कि स्थूल शरीर के विषय में लोक में प्रचलित 'पाञ्चभौतित्व' का सिद्धान्त महाभारत में स्वयं पञ्चशिख का कहा गया है। यद्यपि डा० कीथ ने इसका प्रतिषेध या खण्डन किया है, तथापि पूर्वोक्त सारी बात को दृष्टि में रख कर इसे ही सांख्य का स्वकीय सिद्धान्त कहना पड़ता है। वेदान्त का भी एतद्विषयक यही सिद्धान्त है, यह बात भाष्यकार शङ्कराचार्य, उनके टीकाकारों, एवं अन्य अनेक आचार्यों के वचनों से अनेकशः स्पष्ट है।

सृष्टि-सामान्य के प्रारम्भ के विषय में विज्ञानभिक्षु ने सां० सू० ५।१०१ की अवतरणिका में जो बात लिखी है, वह भी इसी प्रकार अपसिद्धान्त होने से अमान्य ही है। वहाँ उन्होंने यह बात लिखी है :—"**प्रकृतेः क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगस्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्तः**।' कितनी उल्टी-पल्टी बात है यह? प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति और पुरुष का संयोग, और उससे सृष्टि? अथवा प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति में क्षोभ और उससे सृष्टि? यदि क्षोभ को संयोग के पूर्व माना जायगा, तो संयोग का कारण तो क्षोभ हो जायगा पर क्षोभ का कारण क्या होगा? क्षोभ को अनादि तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा होने पर तो प्रलय कभी होगा ही नहीं, यह इसलिए कि भाव रूप क्षोभ अनादि होने से नित्य होगा और उसके नित्य होने से उसके कारण प्रकृति के तीनों गुणों में होने वाला वैषम्य नित्य और उससे होने वाली सृष्टि भी नित्य। इसके अतिरिक्त प्रकृति और पुरुष के संयोग का कारण सूत्रकार के द्वारा अनेकशः अविवेक कहा गया है, क्षोभ नहीं :—'**तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्** ॥१।५५॥ **नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते** ॥३।७१॥ **निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः**

॥३।७४॥ निस्सङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥६।२७॥ इत्यादि । स्वयं विज्ञानभिक्षु ने भी १।५५ के भाष्य में 'अविवेकश्च संयोगद्वारैव बन्धकारणं प्रलये दर्शनात्' लिख कर अविवेक से साक्षात् संयोग के ही होने की बात कही है । फिर प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति में क्षोभ और उससे सृष्टि मानने पर ऐसी कोई असंगति भी नहीं होगी, जैसी प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति-पुरुष-संयोग एवं उससे सृष्टि होने में दिखाई जा चुकी है । संयोग का कारण अविवेक तो अनादि है, जैसा कि 'अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः' [६।१२] इत्यादि सांख्य-सूत्रों में कथित है और इसलिए उसका कारण ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं ।

षटध्यायी सांख्यप्रवचनसूत्र के सर्वप्रसिद्ध दोनों व्याख्याकारों की कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण मान्यताओं का यही संक्षिप्त विवरण एवं विवेचन है । महादेव वेदान्ती की वृत्तिसार नामक व्याख्या, जैसा उसके नाम से ही प्रकट होता है, अनिरुद्ध-कृत सांख्यसूत्र-वृत्ति प· आधारित है, एवं एक प्रकार से उसी का सारांश है । इसके काल एवं ग्रन्थ के सम्बन्ध में वक्तव्य बहुत-कुछ सामग्री पीछे अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु के प्रसङ्ग में दी जा चुकी है । अतः उसका पिष्ट-पेषण यहाँ नहीं किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त किसी रामभद्रयति-शिष्य की लिखी एक और टीका का उल्लेख पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में किया है । उन्होंने उसमें पृष्ठ २८२ पर लिखा है कि 'अभी यह अप्रकाशित है, इसका हस्तलेख तामिल लिपि में है जो पञ्चनद (पंजाब) विश्वविद्यालय के लाहौर-स्थित पुस्तकालय में विद्यमान है ।' सन् १९४७ के राजनीतिक उथल-पुथल के कारण लाहौर छूट जाने से शास्त्री जी स्वयं इसका उपयोग न कर सके । इसकी अन्य किसी हस्त-प्रति की उपलब्धि न होने से यहाँ इसका कोई विवरण नहीं दिया जा रहा है । वृहत् सांख्य-प्रवचन-सूत्र के इन टीकाकारों के अतिरिक्त अत्यन्त संक्षिप्त तत्त्वसमास-सूत्र के व्याख्याकारों एवं उनकी व्याख्याओं के परिचय के बिना सांख्य की ऐतिहासिक परम्परा अधूरी ही रहेगी । अतः प्रस्तुत स्थल में उनका भी विवरण प्रस्तुत करना वाञ्छनीय है । यह विवरण अपेक्षाकृत बहुत संक्षिप्त होगा, क्योंकि इनका मूल ग्रन्थ तत्त्वसमास-सूत्र ही अत्यन्त लघुकाय[1] ग्रन्थ है जैसा कि इसके नाम ही से स्पष्ट है ।

तत्त्वसमास-सूत्र के व्याख्याकार

तत्त्वसमास-सूत्र की सब मिलाकर छः व्याख्यायें उपलब्ध हैं । वे ये हैं :—
१—सांख्यतत्त्वविवेचन; २—तत्त्वयाथार्थ्यदीपन; ३—सर्वोपकारिणी टीका; ४—सांख्य-सूत्रविवरण ५—तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति—क्रमदीपिका; तथा ६—कापिलसूत्रविवरण । इनमें से प्रथम पाँच इसी क्रम से ईसवी सन् १९१८ में चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से सांख्यसंग्रह नाम से प्रकाशित ग्रन्थ में संग्रहीत हैं । छठीं व्याख्या इनसे भी पूर्व सन् १८६० ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी । ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक में ग्रन्थकार

१. तत्त्वयाथार्थ्यदीपन टीका के रचयिता भावागणेश एवं सांख्यतत्त्वविवेचन के रचयिता षिमानन्द के अनुसार इसमें २५ सूत्र, सर्वोपकारिणी टीका के अनुसार २२ सूत्र, सांख्यसूत्रविवरण एवं क्रमदीपिका या तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति के अनुसार २३ सूत्र हैं ।

ने इसका नाम **कापिलसूत्रवृत्ति** रक्खा है। परन्तु ग्रन्थान्त में मुद्रित पुष्पिका से इसका नाम **कापिलसूत्रविवरण** प्रतीत होता है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के आधार पर इसके रचयिता का नाम **माधव है**। पुष्पिका के आधार पर ये किसी 'हरिहर' नामक वेदान्तविद् के पुत्र, एवं स्वयं भी शाङ्करवेदान्त सम्प्रदाय के संन्यासी प्रतीत होते हैं। यह पुष्पिका इस प्रकार है :—"**इति श्रीवेदान्तवागीशश्रीहरिहरात्मजेन परमहंसाचार्यमाधवपरिव्राजकेन विरचितं कापिलसूत्रविवरणं समाप्तम्।**" '**पंच कर्मयोनयः**' इस तत्त्वसमास-सूत्र की व्याख्या में सांख्य-प्रवचन-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का उल्लेख होने के कारण ये व्याख्याकार उनसे अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। बालराम उदासीन द्वारा स्वकीय व्याख्या के साथ सम्पादित सांख्यतत्त्वकौमुदी के उपोद्घात में उसके लेखक पाण्डेय श्री कान्त शर्मा ने लिखा है कि इन २७ सूत्रों का श्रीविद्यारण्य स्वामी ने भी व्याख्यान किया है जो मुद्रित एवं प्रकाशित है। इस पर पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के पृ० ३३४ पर इस प्रकार लिखा है :—"अभी तक हम ऐसी प्रकाशित व्याख्या का पता नहीं लगा सके जिसका रचयिता श्री विद्यारण्य स्वामी था। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पाण्डेय महोदय ने कदाचित् माधव परिव्राजक की इस व्याख्या को ही विद्यारण्य स्वामी की रचना समझ लिया हो, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि प्रसिद्ध वेदभाष्यकार माधव का परिव्राजक अवस्था का नाम विद्यारण्य था। इस प्रकार नाम-साम्य से ऐसा भ्रम होना सम्भव हो सकता है। एक बात अवश्य है। विद्यारण्य अथवा माधवमन्त्री की प्रसिद्ध रचनाओं में प्रारम्भिक श्लोकों की जो एक समानता सर्वत्र प्रतीत होती है, वह इस कापिलसूत्रवृत्ति के प्रारम्भिक श्लोक[१] में नहीं है, तथा विद्यारण्य के अन्य ग्रन्थों की रचना के सम्मुख इसकी रचना भी शिथिल है। इतना अवश्य है कि इसमें वेदान्तसम्बन्धी विचार सर्वथा स्पष्ट हैं।" शास्त्री जी के विचारों के समर्थन में इतना और भी वक्तव्य है कि पाण्डेय जी का मत निरा भ्रम ही है क्योंकि ग्रन्थकार ने परिव्राजकावस्था का नाम माधव दिया है, गृहस्थावस्था का नहीं, जब कि विद्यारण्य स्वामी का गृहस्थावस्था का नाम माधव था। 'परमहंसाचार्य परिव्राजक' विशेषण-पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कृति ग्रन्थकार की संन्यासावस्था की है एवं उस अवस्था में वे माधव नामधारी थे। यदि यह कृति 'माधव' इस अन्य नाम वाले विद्यारण्य स्वामी की होती तो 'माधव' के स्थान में 'विद्यारण्य' ही नाम होता। फिर विज्ञानभिक्षु से अर्वाचीन होने के कारण भी यह माधव उनसे पूर्ववर्ती माधवापरनामक विद्यारण्य कदापि नहीं हो सकते।

षिमानन्द

सांख्यसंग्रह में मुद्रित प्रथम टीका **सांख्यतत्त्वविवेचन** इष्टिकापुर-निवासी किसी षिमानन्द की कृति है जिनके पिता का नाम रघुनन्दन था। यह तथ्य प्रारम्भिक श्लोक से ज्ञात होता है, जो इस प्रकार है :—'रघुनन्दनसुतेनेदमिष्टिकापुरवासिना। कान्यकुब्जद्विजाग्र्येण षिमानन्देन तन्यते॥' इष्टिकापुर [अथवा इष्टकापुर] आधुनिक इटावा का ही संस्कृत नामान्तर

१. अचिन्त्यमव्यक्तमनादिमव्ययं जगन्निदानं परमाक्षरं विभुम्।
नम्य वाचा मनसा च कायकैर्विनिर्म्मे कापिलसूत्रवृत्तिकाम्॥

प्रतीत होता है। षिमानन्द के अपने को 'कान्यकुब्जद्विजाग्र्य' कहने से भी इस बात की सम्भावना बढ़ जाती है, क्योंकि आधुनिक इटावा और उसके आसपास के प्रदेश कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के गढ़ हैं। षिमानन्द के अनुसार तत्त्वसमास-सूत्रों की संख्या पच्चीस है जिन्हें कपिल मुनि ने निर्विण्ण आसुरि को दिया था[1]। ग्रंथ के दो भाग हैं जिनमें प्रथम सूत्रव्याख्यात्मक है। द्वितीय भाग निबन्धात्मक है जिसमें सांख्य-मत का स्वतन्त्र निरूपण या विवेचन है। सूत्र-व्याख्यान केवल बाईस पर ही है। अन्तिम तीन सूत्रों का विषय पूर्व व्याख्यान से ही स्पष्ट हुआ जान कर शायद अन्तिम तीन सूत्रों पर व्याख्यान नहीं किया। इन तीन सूत्रों के व्याख्यान के त्रुटित होने की सम्भावन का निषेध प्रथम भाग के अन्त में दिये गये 'एतत् समासतः प्रोक्ता सूत्रव्याख्या यथामति। प्रक्रियां च प्रवक्ष्यामि पौराणिकहिताय च ॥' – इस श्लोक से हो जाता है। इसके ठीक पूर्व के तीन श्लोकों में ग्रन्थकार ने 'त्रिविधं दुःखम्'—इस २२वें सूत्र का व्याख्यान किया है। इससे इसी बान की सम्भावना अधिक है कि अन्तिम तीन का व्याख्यान ग्रन्थकार ने नहीं प्रस्तुत किया।

पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के पृ० ३२२ पर यह सूचना दी है कि षिमानन्द का लिखा हुआ एक और भी ग्रन्थ 'नवन्यायरत्नाकर' है जिसकी एक हस्तलिखित प्रति पञ्चनद (पञ्जाब) विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संख्या ६५६१ पर सुरक्षित है। इसकी पुष्पिका[2] के आधार पर इस बात का निश्चय हो जाता है कि सांख्यतत्त्वविवेचन और इस ग्रन्थ के रचयिता षिमानन्द एक ही व्यक्ति हैं। इसके प्रारम्भ के पञ्चम श्लोक[3] में ग्रन्थकार ने अपने न्यायविद्या-गुरु का नाथ 'दिनकर' दिया है। इसके आधार पर शास्त्री जी ने उनका समय इसवी सत्रहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध के पूर्व सिद्ध किया है। उनका कथन है कि यदि षिमानन्द के गुरु दिनकर को मुक्तावली का व्याख्याकार दिनकर मिश्र ही समझा जाय[4] तो इनका कालसम्बन्धी विवेचन अधिक स्पष्ट हो जाता है। सर्वदर्शनसंग्रह की अन्तिम सूचियों में अभ्यङ्कर महोदय ने दिनकर का समय खीष्ट १६६० लिखा है। परन्तु इस प्रतिलिपि का संवत् १७४८ है जो १६९१ खीस्ट में आता है। इस प्रतिलिपि के अन्तिम 'श्रीभवाणीशहाय' पदों से यह बात प्रतीत होती है कि यह प्रति ग्रन्थकार की स्वयं लिखी हुई नहीं है। प्रत्युत किसी अन्य व्यक्ति ने किसी पहली प्रति के आधार पर प्रतिलिपि की है। उस प्रतिलिपिकार ने ही संवत् और इन अन्तिम पदों का उल्लेख किया है। षिमानन्द स्वयं इस तरह के अशुद्ध पदों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। संवत का निर्देश भी यदि वे स्वयं करते तो उसे श्लोक-बद्ध कर सकते थे। इस प्रकार से पृथक् संवत् लिखने की प्रथा ग्रन्थ-रचयिताओं में नहीं पाई जाती। प्रतिलिपियों में संवत् का पृथक् उल्लेख रहता है।

---

१. द्रष्टव्य, आरम्भ का चौथा श्लोक :—एवं पृष्टो मुनिः प्राह निर्विण्णाय कृपानिधिः। पंचविंशतिसूत्राणि व्याख्य'तानि महात्मभिः ॥

२. इति श्रीकान्यकुब्जतिलकइष्टकापुरनिवासिदीक्षितरघुनन्दनसुतषिमानन्दकृते नवन्यायरत्नाकरे गौतमसूत्रव्याख्यानरूपो नवकल्लोलः समाप्तः। संवत् १७४८। श्रीभवानीसहायः।

३. येन न्यायसुत्राम्भोजमपूरि श्रवणे मम। शान्तावस्त्मसं चान्तः सन्तं दिनकरं नुमः ॥

४. श्लोक के प्रथमार्ध के आधार पर ऐसा समझना सर्वथा स्वाभाविक है।

ऐसी स्थिति में षिमानन्द का काल अवश्य इससे कुछ पूर्व ही माना जाना चाहिये । इसलिये खीस्ट सप्तदश शतक के पूर्वार्ध में षिमानन्द का विद्यमान होना सामञ्जस्य-पूर्ण हो सकता है ।

भावागणेश

सांख्यसंग्रह में संगृहीत दूसरी व्याख्या भावागणेश-कृत तत्त्वयाथार्थ्यदीपन है । भावागणेश विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे, यह बात प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक[1] से स्पष्ट है जिसमें उन्होंने समस्त कार्यों की सिद्धि एवं बुद्धि-वृद्धि के लिये कपिल, आसुरि एवं पञ्चशिख, सांख्य की इस गुरुत्रयी के साथ अपने गुरुवर्य विज्ञानभिक्षु को नमस्कार किया है । इसके अतिरिक्त भावागणेश ने ग्रन्थ के बीच में भी दो स्थलों पर अपने समर्थन में विज्ञानभिक्षु के सांख्यप्रवचनभाष्य के उद्धरण नामोल्लेख-पूर्वक दिये हैं । इनमें प्रथम स्थल तो प्रमा और प्रमाण के विवेचन का है । पिछले प्रकरण में विज्ञानभिक्षु की विशिष्ट मान्यताओं का वर्णन करते हुये प्रमा एवं प्रमाण के विषय में उनकी यह मान्यता स्पष्ट की जा चुकी है कि विज्ञानभिक्षु पुरुष में प्रमाण-भूत चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब एवं पुरुष द्वारा उसके अभिमान को स्वीकार करते हुये उसे प्रमाता और भोक्ता मानते हैं । विषय के साथ पुरुष का सम्बन्ध इसी प्रकार का है । भावागणेश की भी मान्यता यही है जिसे संक्षेप में देकर उन्होंने भिक्षु की सांख्यभाष्य-गत कारिकाओं के उद्धरण द्वारा पुष्ट किया है । संक्षेप में वह सन्दर्भ इस प्रकार है :—

"अन्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियवृत्तिद्वाराऽर्थसन्निकृष्टा भवति, तत इन्द्रियवृत्त्या सह अर्थाकारा परिणमते, सा चार्थाकारा वृत्तिर्गुणरूपा सर्वात्मनां विभुत्वेऽपि स्वस्वामिन्येवात्मनि प्रतिबिम्बते नान्यत्र......स्वामित्वं च स्वनिष्ठसंस्कारजनकवृत्तिप्रकाशकत्वं, सा च वृत्तिरात्मनि स्थिता सती अर्थाकारा आत्माकारा च स्वसमानाकारं परिणामान्तरं धत्ते, स एवात्मनि वृत्तिप्रतिबिम्बो विषयाताख्यः सम्बन्ध इति तदवच्छिन्नं चैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा घटमहं जानामीत्याकारार्थात्मविषयिणी । (पृ० ८४)...एवं व्याप्तिप्रमाजन्यसाध्यविशिष्टपक्षाकारा वृत्तिरनुमानं, तत्प्रतिबिम्बावच्छिन्नचैतन्यमनुमितिरित्यनुमानप्रक्रिया । यथार्थपदस्मृतिजन्या पदार्थसंसर्गाकारा वृत्तिः शब्दप्रमाणं, तत्प्रतिबिम्बावच्छिन्नचैतन्यं शाब्दी प्रमा । इदं प्रमाणद्वयमान्तरमेव । अपरोक्षत्वं स्मृतित्वं परोक्षत्वं संशयत्वं विपर्ययत्वं प्रमात्वमप्रमात्वं च सर्वे वृत्तिधर्मा एव तत्प्रतिबिम्बवशाच्चैतन्येऽप्युपचर्यन्ते ।...अत्र प्रमात्रादिविभागविषये विज्ञानाचार्याणां कारिकाः—'प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च । प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥ प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते । वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥ साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम् ।' इति । (पृ० ८५)

द्वितीय स्थल, जहाँ भावागणेश ने अपने गुरु के मत का नामोल्लेख-पूर्वक उद्धरण दिया है, समस्त आत्माओं के उपनिषत्प्रतिपादित अभेद के तात्पर्य के सांख्य मत से विवेचन का है । उस अभेद के शाङ्करवेदान्तानुसारी तात्पर्य का खण्डन करते हुये भावागणेश ने इस प्रकार लिखा है :—"सांख्यानां च सर्वात्मनामवैधर्म्याभेद एव तत्त्वमसिवाक्यार्थो नाविभा-

---

१. कपिलासुरिपञ्चशिखान् गुरून् विज्ञानवर्यांश्च ।
प्रणमामि बुद्धिवृद्ध्यै सिद्ध्यै वा सर्वकार्याणाम् ।

गादिः, तज्ज्ञानस्यैवाभिमाननिवर्तकत्वात्, तद्वाक्यस्य च श्वेतकेतोरनूचानत्वाद्यभिमाननिवृत्त्यर्थमेव प्रवृत्तेः। तथा च लयावशिष्टचित्सामान्यं तत्पदार्थः, तदुक्तं विज्ञानाचार्यवर्यैरस्मद्गुरुभिर्भाष्यश्लोकेन 'एकोऽद्वितीय इति वेदवचांसि पुंसि, सर्वाभिमानविनिवर्तनतोऽस्य मुक्त्यै। वैधर्म्यलक्षणभिदा विरहं वदन्ति, नाखण्डतां ख इव धर्मशताविरोधात्॥ इति।" [पृ० ८८-८९] इस प्रकार भावागणेश भी स्व-गुरु विज्ञानभिक्षु की भाँति उपनिषत्प्रोक्त आत्माभेद या आत्माद्वैत का अर्थ उसका अविभाग, अपार्थक्य या उसकी अखण्डता न लेकर अवैधर्म्य रूप अभेद लेते हैं। अर्थात् समस्त आत्मा चिन्मात्र होने से एक हैं, अभिन्न हैं, समानधर्मा हैं, विषमधर्मा या विभिन्नधर्मा नहीं हैं। परन्तु हैं सभी पृथक्-पृथक् या विभक्त, जिससे संख्या में वे एक नहीं, अनेक हैं। 'पुरुषः' इस तृतीय सूत्र की व्याख्या में भी भावागणेश ने सांख्य और वेदान्त के एतद्विषयक मतभेद को स्पष्ट करते हुये इस प्रकार लिखा है :—"एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयो...न्यायवैशेषिकाश्च बहून् पुरुषानात्मत्वेन वदन्ति औपनिषदाश्चाचार्या हरिहरहिरण्यगर्भव्यासादय एभ्योऽतिरिक्तमेकमेव नित्येश्वरं सर्वेषामात्मानं वदन्ति। कस्मादेवम्? पुरुषमेवेदं सर्वमिति, तदेवाग्निस्तदादित्य इति,......स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च। वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम्॥....इत्यादिप्रमाणेभ्यः। सांख्यास्तु आदिपुरुषविषयतया लयावशिष्टनिर्विशेषचिन्मात्रतया वा एतानि श्रुतिवाक्यानि योजयन्ति।" [पृ० ६१] आगे 'प्रतिसञ्चरः' इस छठें तत्त्वसमाससूत्र की व्याख्या में भी आचार्य ने अपना यही मन्तव्य इन शब्दों में प्रकट किया है :—"प्रतिसञ्चरान्ते यन्निर्विशेषं चित्सामान्यमवशिष्यते, तदेव सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिषु सद्ब्रह्मादिपदवाच्यम्। अद्वितीयत्वं तु अवैधर्म्याविभागाख्याभेदेनेति।" [पृ० ७०]।

इन दोनों स्थलों के अतिरिक्त भी भावागणेश ने अपने ग्रन्थ में सांख्य के विभिन्न तत्त्वों एवं मतों के व्याख्यान में बिना नामोल्लेख किये अपने गुरु की व्याख्या-सरणि का प्रायेण अवलम्बन लिया है। एकाध-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। जैसे, 'सञ्चरः' इस पञ्चम तत्त्वसमास-सूत्र की व्याख्या में तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति बताकर, लिङ्गशरीर-विषयक धारणा स्पष्ट करते हुये भावागणेश ने इस प्रकार लिखा है :—"...एवं त्रयोविंशतितत्त्वानां सृष्टिः। तेषु पञ्चमहाभूतानि वर्जयित्वाहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसञ्ज्ञं भवति, वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां स्वस्वबीजभूतप्रकृतिसंयोगात् सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति।......प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो लिङ्गशरीरे न पृथक् निर्दिश्यते बुद्धावेवान्तर्भावात्। तस्य च लिङ्गशरीरस्य परमसूक्ष्माणि पञ्च महाभूतानि तेजःप्रधानान्याश्रयः चित्रादिवत्, आश्रयं विना लोकान्तरगमनासम्भवात्। तदुक्तं सप्तत्याम्—'चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया। तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥' इति।" [पृ० ६६-७] विज्ञानभिक्षु की विशिष्ट मान्यताओं के विवेचन के प्रसग में स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार भिक्षु जी अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके लिङ्ग शरीर में सत्रह तत्त्व ही मानते हैं, एवं उसके आश्रय रूप से 'अधिष्ठान' नामक एक अतिरिक्त शरीर की कल्पना करते हैं, और उसमें 'चित्रं यथाश्रयमृते...' इत्यादि ४१वीं सांख्यकारिका का प्रमाण देते हैं।

भावागणेश की भी ठीक यही मान्यतायें प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होती हैं। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि भिक्षु जी की भाँति ही भावागणेश भी पञ्च प्राणों को बुद्धि का ही वृत्ति-भेद मानने के कारण उसी में अन्तर्भूत करते हैं जिससे लिङ्ग शरीर में उसकी पृथक् गणना नहीं करनी पड़ती, जैसी वेदान्त में। भावागणेश ने १२वें सूत्र 'पञ्च वायवः' के व्याख्यान में भी इस विषय का स्वतन्त्र रूप से कथन किया है :—"हृदि प्राणो गुदेऽपानो व्यानः सर्वशरीरगः। उदानः कण्ठदेशे च समानो नाभिसंस्थितः॥ एते पञ्च क्रियाशक्तिमदन्तःकरणवृत्तिभेदा अपि वायुसमानगतिकत्वाद्वायुदेवताकत्वाच्च वायव इत्युक्तम्।" अर्थात् यद्यपि प्राण, अपान आदि क्रियात्मक–परिणामी–अन्तःकरण के ही विशिष्ट कार्य या परिणाम हैं, तथापि वायु के समान ही गतिशील एवं वायु देवता से अधिष्ठित होने के कारण ये सूत्र में 'वायु' कहे गये हैं। यही बात ठीक इसी रूप में विज्ञानभिक्षु की विशिष्ट मान्यताओं के प्रसंग में उद्धृत इस सन्दर्भ में भी कहीं गई है :—'प्राणादिरूपाः पञ्च वायुवत् सञ्चारात् वायवो ये प्रसिद्धास्ते सामान्या साधारणी करणत्रयवृत्तिः परिणामभेदा इत्यर्थः।' [सांख्यप्रवचनसूत्र २।३१ का भिक्षु-भाष्य]

इस समस्त विवेचन से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि भावागणेश आचार्य विज्ञानभिक्षु के शिष्यों में अन्यतम थे एवं उन्होंने अपने गुरु की विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर ही तत्त्वसमास-सूत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत किया है। इससे भावागणेश का विज्ञानभिक्षु का समसामयिक होना सुसिद्ध है। इसी अध्याय के पूर्व भाग में विज्ञानभिक्षु का समय ईसवीय सोलहवीं शताब्दी सिद्ध किया जा चुका है। अतः वही समय भावागणेश का भी होगा। पीछे षिमानन्द के प्रसंग में उनका समय ईसवीय सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक सीमित किया जा चुका है। इससे भी भावागणेश का समय सोलहवीं के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि षिमानन्द का भावागणेश से परवर्ती होना इस कारण से सुसिद्ध है कि षिमानन्द ने अपने ग्रन्थ के पृ० ३९ पर लिङ्गशरीर-विषयक अपना जो मत प्रकट किया है[1], वह अर्थतः और शब्दतः भी भावागणेश का पीछे उद्धृत एतद्विषयक मत ही है, और इसी तरह के भावागणेश के अन्य सन्दर्भ भी न्यूनाधिक रूप से षिमानन्द के सांख्यतत्त्वविवेचन में प्राप्त होते हैं।

ऊपर भावागणेश को विज्ञानभिक्षु का शिष्य सिद्ध करने के प्रसङ्ग में ही उनके मुख्य सिद्धान्तों का भी संक्षेप में कथन किया जा चुका है। सिद्धान्तों के ही सम्बन्ध में इतना और ज्ञातव्य है कि 'एतत् परं याथार्थ्यम् ।२३। एतज्ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात् ।२४। न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते। ५।' —इन अन्तिम तीन सूत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत करके ग्रन्थान्त में शास्त्र और साधना का रहस्य ग्रन्थकार ने इन शब्दों में उद्घाटित किया है :—"अन्यच्च, अत्र सांख्यविद्यायां भगवद्भक्तेरेवासाधारणकारणत्वं ज्ञेयम्, अन्यथा देवकृत-

१. लिंगशरीरं तु बुद्ध्यहङ्कारमनोबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियपञ्चतन्मात्राणामष्टादशानां समुदायः। त्रयोविंशतितत्त्वमध्ये पञ्चभूतानि वर्जयित्वा अहंकारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिंगशरीरसंज्ञं भवति, वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति तेन चैवेहलोकपरलोकयोः संसरणं जीवानां भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो न लिंगशरीरात्पृथङ् निर्दिश्यते। तस्य च लिंगशरीरस्य सूक्ष्माणि पञ्च भूतानि आश्रयश्चित्रादिवत्, आश्रयं विना परमसूक्ष्मस्य लोकान्तरगमनासम्भवात्।

विघ्नैर्योगध्वंसो भवत्येव । यथोक्तं भागवते:—'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्त-भावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।। श्रेयः-श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो ! क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।' इति । इदानीन्तना केचन वैष्णवा एतादृशवाक्यैर्भग-वद्भक्तिं पुरस्कृत्य सामान्यतो ज्ञानमार्गं खण्डयन्ति । ते तु विद्याविवेकानभिज्ञाः स्थूल-मतय एव । नारदीये च सांख्यविद्याधिकारे—'मायाप्रवर्तके विष्णौ कृता भक्तिर्दृढा नृणाम् । सुखेन प्रकृतेरन्यं स्वं दर्शयति दीपवत् ।। चित्तं हि स्ववशे योगः सिद्ध्येत् तत्तु जगत्पतिम् । कोऽनाश्रित्य निगृह्णीयादव्यक्तमतिचञ्चलम् ।। तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः । चित्तेन चिन्तयानेन वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा ।।' इति । गीतायां चतुर्दशाध्याये 'मां च योऽव्यभिचा-रेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैव ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।' इति ।...तस्माद् भगवद्भ-क्तिरेव मुख्यं साधनं सांख्ययोगविद्यायाम् ।" [पृ० ६१-६२] इससे स्पष्ट है कि भावागणेश अपने गुरु की ही भाँति सांख्य को ज्ञान-निष्ठा अर्थात् ज्ञानमार्ग मानते हैं जिसमें मुक्ति साक्षात् ज्ञान से ही मानी जाती है, भक्ति से नहीं, यद्यपि भगवद्भक्ति उस ज्ञान में असाधा-रण कारण है ।

सर्वोपकारिणी

सांख्यसंग्रह में मुद्रित तीसरी टीका 'सर्वोपकारिणी' है । इसके आदि, अन्त अथवा पुष्पिका आदि में कहीं भी रचयिता के नाम का उल्लेख नहीं है । पं० उदयवीर शास्त्री ने इसके प्रारम्भिक भाग में स्थित एक सन्दर्भ के आधार पर यह सम्भावना प्रकट की है कि हो न हो, इसका रचयिता कोई वेदान्ती हो और वह वेदान्ती कदाचित् सांख्यषडध्यायी पर 'वृत्तिसार' टीका लिखने वाला महादेव वेदान्ती ही रहा हो । वह सन्दर्भ इस प्रकार है :— "सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीता । इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः ।" इसमें दो पृथक्-पृथक् 'कपिल' मुनियों का उल्लेख है, जिन दोनों का ही सांख्य से सम्बन्ध कहा गया है । भगवान् नारायण के [पञ्चम] अवतार कपिल को बाईस [सर्वोपकारिणी के अनुसार] सूत्रों वाले तत्त्वसमास-सूत्र का, एवं अग्नि के अवतार कपिल को षडध्यायी सांख्यप्रवचनसूत्र का रच-यिता बताया गया है । अपने इस लेख का आधार टीकाकार ने वृद्धों को बताया है । ये वृद्ध जन कौन हो सकते हैं ? क्या उनका कोई ग्रन्थ था जिसमें उन्होंने यह बात लिखी थी, अथवा मौखिक रूप से ही परम्परया चली आती हुई उक्ति के आधार पर टीकाकार ने ऐसा लिख दिया ? कुछ कहा नहीं जा सकता । विज्ञानभिक्षु ने अवश्य सांख्यप्रवचनसूत्र के अन्तिम सूत्र के भाष्य में इस बात का निर्देश किया है कि किसी वेदान्ती ने अग्नि के अवतार कपिल को सांख्यषडध्यायी का रचयिता बताया है । उन्होंने इस कथन का प्रत्याख्यान भी किया है[1] । पं० उदयवीर जी का कथन है कि 'अभी तक किसी भी वेदान्ती के ग्रन्थ में हमें इस

---

१. द्रष्टव्य सांख्यप्रवचनसूत्र ६।७० :—तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोक-हिताय प्रकाशितवान् । यत् तत्र वेदान्तिब्रुवः कश्चिदाह—सांख्यप्रणेता कपिलो न विष्णुः किन्त्वग्न्यवतारः कपिलान्तरम् 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः' इति स्मृतेरिति, तल्लोकव्यामोहनमात्रम् ।..

प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। सम्भव है, विज्ञानभिक्षु का निर्देश इसी व्याख्या की ओर हो और उसके ज्ञान में इस व्याख्या का रचयिता कोई वेदान्ती हो। क्या यह सम्भावना संगत होगी कि यह वेदान्ती कदाचित् महादेव ही हो जिसने सांख्यषडध्यायी पर भी वृत्ति लिखी है।"[1] पीछे विज्ञानभिक्षु के समय-निर्धारण के प्रसंग में शास्त्री जी की इस मान्यता का खण्डन किया जा चुका है कि महादेव वेदान्ती विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती थे। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा प्रश्नमुखेन प्रदर्शित सम्भावना खण्डित समझी जानी चाहिये।

सर्वोपकारिणी व्याख्या में अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा अर्थ-गत वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। **'अध्यात्मम्, अधिभूतम्, अधिदैवम्'** का सर्वोपकारिणी-स्थित अर्थ वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी की ही अक्षरशः पुनरावृत्ति है। क्रमदीपिका, तत्त्व या थार्थ्यदीपन, सांख्यतत्त्वविवेचन, एवं सांख्यसूत्र-विवरण— इन चारों ही टीकाओं में इससे भिन्न एक सा अर्थ किया गया है। सर्वोपकारिणी में इनका अर्थ क्रमशः आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक, इन त्रिविध दुःखों से लिया गया है, जब कि अन्य सभी टीकाओं में त्रयोदश करणों (बुद्धि, अहङ्कार तथा ग्यारह इन्द्रिय) में से प्रत्येक के सम्बन्ध से अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव दिखाये गये हैं, जैसे बुद्धि अध्यात्म, बोद्धव्य अधिभूत तथा ब्रह्मा अधिदैव, अहङ्कार अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत तथा रुद्र अधिदैव, मन अध्यात्म, संकल्पित अधिभूत तथा चन्द्र अधिदैव इत्यादि। इसी प्रकार इनके ठीक बाद के **'पञ्चाभिबुद्धयः', पञ्च कर्मयोनयः', 'पञ्च वायवः',** तथा पञ्च कर्मात्मानः' के अर्थ भी सर्वोपकारिणी में अन्य टीकाओं से विलक्षण ही मिलते हैं। उसमें इनके अर्थ क्रमशः पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, प्राण-अपान आदि पञ्च वायु, एवं उनके पृथक्-पृथक् पाँच कार्य दिये गये हैं, जब कि अन्य चारों टीकाओं में इनसे भिन्न एक-से अर्थ मिलते हैं। केवल 'पञ्च वायवः' सूत्र का अर्थ सभी ने प्राण, अपान इत्यादि पाँच वायुओं से ही लिया है। हाँ, भावागणेश ने अपने गुरु का अनुसरण करते हुये सबसे पृथक् यह मत प्रतिपादित किया है कि प्राण इत्यादि वायु अन्तःकरण (या बुद्धि) के ही व्यापार-विशेष हैं एवं वायुवत् सञ्चरण करने के कारण 'वायु' कहलाते हैं, वस्तुतः वायु नहीं हैं। विज्ञानभिक्षु एवं उनके शिष्य भावागणेश का यही मत है। इसके विपरीत अन्य व्याख्याताओं का मत यह है कि ये वस्तुतः अन्तर्गत वायु ही हैं। विभिन्न स्थानों में स्थित रहकर विभिन्न कार्य करता हुआ शरीरन्तर्गत एक ही वायु तदनुसार प्राण, अपान आदि पाँच नाम प्राप्त करता है। सर्वोपकारिणी के लेखक का भी यही मत है। **'पञ्च वायवः'** सूत्र की सर्वोपकारिणी से यह बात स्पष्ट है। इसके सम्बन्ध में इतना और वक्तव्य है कि इसकी पंक्ति-पंक्ति २६वीं कारिका के उत्तरार्ध की तत्त्वकौमुदी से अक्षरशः मिलती है। इसी प्रकार **'अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः** सूत्र के व्याख्यान में ग्यारह इन्द्रियों के उपघात से होने वाली बुद्धि की ग्यारह 'अशक्तियों' का 'वाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडताजिघ्रता तथा। मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमन्दताः॥' इत्यादि श्लोक के द्वारा वर्णन ४६वीं कारिका के 'एकादशेन्द्रियवधाः' पद के व्याख्यान में तत्त्वकौमुदी में भी इसी रूप में मिलता है। यों, यह श्लोक अन्य व्याख्याओं में भी उद्धृत है पर यहाँ-वहाँ पाठ-भेद के साथ। परन्तु तत्त्वकौमुदी एवं सर्वोपकारिणी,

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३२८।

दोनों ही में उपर्युक्त श्लोक ठीक इसी रूप में उपलब्ध है। पर इस सबसे बढ़कर **'दश मूलिकार्थाः'**—इस सूत्र के व्याख्यान में सर्वोपकारिणी में उद्धृत राजवार्तिक, एवं मूलभूत प्रकृति तथा पुरुष पर आश्रित दसों मौलिक पदार्थों की व्यवस्था सर्वथा तत्त्वकौमुदी से ही ली गई प्रतीत होती है। इस सबसे सिद्ध होता है कि **सर्वोपकारिणी** टीका का रचयिता वाचस्पतिमिश्र से परवर्ती है।

सांख्यसूत्रविवरण

सांख्यसंग्रह में संख्या ४ पर मुद्रित टीका **सांख्यसूत्रविवरण** है। यह टीका **सर्वोपकारिणी** की भाँति ही बहुत संक्षिप्त है। इसमें भी टीकाकार का नाम निर्दिष्ट नहीं है। इनमें **क्रमदीपिका** की प्रश्नोत्तर-शैली अपनाई गई है। जैसे **क्रमदीपिका** में 'भगवन्! किमिह परं, किं याथातथ्यं, किं कृत्वा कृतकृत्यः स्याम्'[1] इत्यादि प्रश्नों के द्वारा तत्त्वों का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार **सांख्यसूत्रविवरण** में भी 'काः पुनस्ताः (प्रकृतयः),...के पुर्नविकाराः, कति'[2] इत्यादि प्रश्नों के द्वारा तत्-तत् तत्त्वों का निरूपण किया गया है। यद्यपि यह टीका साधारण है, तथापि एकाध उल्लेखनीय वैशिष्ट्य इसमें अवश्य हैं। प्रायः तो इसमें अन्य प्राचीन टीकाओं का ही आधार लिया गया है। इसके मुख्य सिद्धान्त टीकाकार के ही शब्दों में इस प्रकार हैं :—'महतोऽहङ्कारः स च त्रिविधः, वैकृतिको भूतादिस्तैजसश्चेति। तत्र वैकृतादिन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते, भूतादेस्तन्मात्राणि, तैजसादुभयम् इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च। [पृ० १०७] **तत्त्वयाथार्थ्यदीपन** के रचयिता **भावागणेश** जहाँ इन्द्रियों को अपने गुरु **विज्ञानभिक्षु** की भाँति तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार से उत्पन्न हुई मानते हैं, **सर्वोपकारिणी** इस विषय में चुप है, एवं **क्रमदीपिका** 'स चाहङ्कारस्त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहङ्कारादेव इन्द्रियाणि चोत्पद्यन्ते भूतादेस्तन्मात्राणि, तैजसादुभयम्' इत्यादि सन्दर्भ में इन्द्रियों को वैकारिक अर्थात् सात्त्विक बताती हुई भी तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले 'उभय' के विषय में चुप है, कुछ भी नहीं कहती, वहाँ **सांख्यसूत्रविवरण** का एतद्विषयक कथन सुस्पष्ट है। इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक अहङ्कार से इन्द्रियाँ, तामस अहङ्कार से तन्मात्र, एवं राजस अहङ्कार से 'उभय' अर्थात् इन्द्रिय एवं तन्मात्र, दोनों ही उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत सामान्यतः मान्य सिद्धान्त यह है कि राजस अहङ्कार से 'उभय' अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ, दोनों ही उत्पन्न होती हैं।

इसमें 'अध्यात्म', 'अधिभूत' एवं 'अधिदैव' 'पञ्चाभिबुद्धयः' इत्यादि सूत्रों का अर्थ तत्त्वसमास की अन्य टीकाओं की तरह किया गया है। 'पञ्च वायवः' सूत्र के अर्थ में भी 'वायु' पद का तात्पर्य वाच्यार्थपरक ही लिया गया है, जैसा भावागणेश को छोड़ कर अन्य सभी टीकाकार लेते हैं।

तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति या क्रमदीपिका

इस टीका के कर्त्ता ने भी न तो कहीं भी अपना नाम दिया है और न अपना कोई

---

१. द्रष्टव्य क्रमदीपका, पृ० ११७।

२. द्रष्टव्य सांख्यसूत्रविवरण, पृ० १०५।

३. द्रष्टव्य तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, पृ० ५७ :—तैजसानीन्द्रियाणि स्युर्देवा वैकारिका दश।...

परिचय ही। ग्रन्थ का नाम अवश्य दिया है पर वह भी दो प्रकार से। अन्त में दी हुई पुष्पिका[१] में 'सूत्रवृत्ति' नाम दिया हुआ है परन्तु उपसंहारात्मक दो श्लोकों में से अन्तिम[२] में 'क्रमदीपिका'। प्रथम नाम तो साधारण ही है क्योंकि 'टीका' के लिए 'वृत्ति', 'व्याख्या', 'विवरण' आदि शब्दों का पर्याय रूप से प्रयोग प्रायः देखा जाता है। परन्तु 'क्रमदीपिका' शब्द अवश्य कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञात होता है। वस्तुतः 'क्रमदीपिका' ही मुख्य नाम प्रतीत होता है, और 'सूत्रवृत्ति' गौण, क्योंकि 'वृत्ति' का अर्थ संक्षिप्त व्याख्या या टीका है और सूत्रों की वृत्ति होने के कारण इसे 'सूत्रवृत्ति' कह दिया। 'क्रमदीपिका' नाम देने का कारण ग्रन्थकार ने स्वयमेव दिया है और वह यह कि चूँकि यह व्याख्या सूत्रों के क्रम से ही लिखी गई है, इसलिए यह 'क्रमदीपिका'—सूत्रों के क्रम से उनका अर्थ प्रकाशित करने वाली—है। इस पर अपना विचार प्रकट करते हुए पं० उदयवीर शास्त्री ने इस प्रकार लिखा है:—"इससे यह भावना ध्वनित होती है कि सम्भवतः इससे पूर्व इन सूत्रों का क्रमशः व्याख्यान न हुआ हो। आचार्यों ने यत्र-तत्र प्रसङ्ग-वश उल्लिखित सूत्रों का थोड़ा-बहुत या विस्तृत व्याख्यान किया हो। ऐसी स्थिति में सबसे प्रथम सूत्रों का क्रमपूर्वक व्याख्यान करने वाली यही रचना होगी, तभी इसका यह नाम उस अर्थ के आधार पर सार्थक कहा जा सकता है।"[३] हम शास्त्री जी के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं। तत्त्वसमास के अनेक सूत्रों के अत्यन्त सरल एवं सुबोध होने के कारण उनकी रचना होने के बहुत काल बाद तक प्रत्येक सूत्र का व्याख्यान करने वाली किसी टीका का न होना सम्भव ही नहीं अपितु स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। ऐसा स्थिति में पूर्वोल्लिखित सभी टीकाओं की अपेक्षा इस टीका की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके कुछ और भी कारण शास्त्री जी ने दिए हैं,[४] जो संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) इसकी रचना-शैली प्राचीन प्रतीत होती है। ग्रन्थारम्भ तो माठरवृत्ति के ढंग पर किया गया है और प्रत्येक सन्दर्भ के प्रारम्भ करने की शैली युक्तिदीपिका की है।

(२) अट्ठाईस शक्तियों में एकादश इन्द्रिय-वध का निर्देश करने के लिए सांख्य-ग्रन्थों में एक श्लोक का उल्लेख मिलता है जो युक्तिदीपिका से लेकर बाद के सभी टीका-ग्रन्थों में उद्धृत है, केवल माठर-वृत्ति और क्रमदीपिका में यह श्लोक नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि क्रमदीपिका भी माठर-वृत्ति की तरह युक्तिदीपिका से प्राचीन है।

(३) दश मौलिक अर्थों का निर्देश करने के लिए जयमंगला एवं तत्त्वकौमुदी में किसी राजवार्तिक से दो श्लोक उद्धृत हैं। परन्तु कारिकाओं के प्राचीन टीकाकार माठर ने इसके लिए एक दूसरा (उपजाति छन्द में लिखा हुआ) पद्य उद्धृत किया है। क्रमदीपिका में भी यही श्लोक उद्धृत है, जयमंगला और तत्त्वकौमुदी वाला नहीं, यद्यपि अपनी रचना के अनन्तर ये व्याख्यायें अध्ययन और अध्यापन की परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध रहीं हैं।

---

१. इति श्री तत्त्वसमासाख्या सूत्रवृत्तिः समाप्ता।

२. सांख्यसूत्रक्रमेणैषा व्याख्याता क्रमदीपिका। अनुष्टुप्छन्दसा चात्र ज्ञेयं श्लोकशतत्रयम्॥

३. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ३३३।

४. द्रष्टव्य वही पृ० ३३०-३१॥

इससे यह प्रतीत होता है कि क्रमदीपिका माठर के आधार पर इन टीकाओं से पूर्व रची गई होगी।

(४) २०वीं सांख्यकारिका की जयमंगला में एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत है :— "तथा चोक्तम्—'प्रवतमानान् प्रकृतेरिमान् गुणांस्तमोऽभिभूतो विपरीतदर्शनः। अहं करोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यनीश्वरः ॥' इति।" यही श्लोक क्रमदीपिका में बिना उद्धरण-चिह्नों के उपलब्ध होता है।[1] केवल 'विपरीतदर्शनः' के स्थान में उसमें 'विपरीतदर्शनात्' पाठ है, पर इतना पाठ-भेद नगण्य है। क्रमदीपिका में इस पद्य के पूर्व न तो 'अत्राह' इत्यादि है न और इसके बाद 'इति' इत्यादि ही। प्रत्युत इसके अर्थ को एक गद्यात्मक वाक्य में रखते हुए उसके समर्थन में 'अत्राह' शब्दों के साथ गीता के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह श्लोक क्रमदीपिकाकार की अपनी रचना है। अतः इसे उद्धृत करने वाले जयमंगलाकार की अपेक्षा क्रमदीपिकाकार प्राचीन होंगे।

यद्यपि माठरवृत्ति को पिछले अध्याय में शङ्कराचार्य के बाद की रचना सिद्ध किया गया है, तथापि आचार्य माठर की सर्वाधिक प्राचीनता स्वीकार की गई है। अतः माठर-वृत्ति के सम्बन्ध से ऊपर कही गई बातें सत्य हो सकती हैं। पर न होने पर भी अन्य कारणों से क्रमदीपिका की प्राचीनता हो सकती है। कारिकाओं के गौडपाद- भाष्य की तरह इसमें भी अव्यक्त के पर्यायों में 'ब्रह्म' आदि को गिनाया गया है, जो अन्य किसी टीका में नहीं मिलता :—'अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म परं ध्रुवं बहुधानकमक्षरं क्षेत्रं तमःप्रसूतमिति'। यह ऐसा विशिष्ट उद्धरण है कि किसी एक के दूसरे से लिए जाने की सम्भावना प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में क्रमदीपिका से चाहे गौडपाद-भाष्य ने लिया हो और चाहे क्रमदीपिका ने गौडपाद-भाष्य से, क्रमदीपिका का प्राचीन होना निश्चित लगता है। प्रकृति को ब्रह्म कहने के अतिरिक्त इसका यह भी एक वैशिष्ट्य है कि इसमें वेदान्त के ढंग पर परम पुरुष से अधिष्ठित अव्यक्त से सृष्टि बताई गई है :—'तत्रोत्पत्तिर्नामाव्यक्तात् प्रागुपदिष्टात् सर्वतः पुरुषेण परेणाधिष्ठिता बुद्धिरुत्पद्यते।' [पृ० १२८] इसी प्रकार क्रमदीपिका की लिङ्गशरीर-विषयक कल्पना भी विशिष्ट है :—'ज्ञानेन्द्रियपञ्चप्राणबुद्धिमनसां गणः सूक्ष्मः लिङ्गशरीराणीत्यर्थः।' [पृ० १३७] इसमें दो विशिष्ट बातें हैं। एक तो यह है कि कर्मेन्द्रियों की गणना इसमें नहीं की गई है, दूसरी यह कि पञ्च तन्मात्रों के स्थान में वेदान्त की तरह इसमें भी पञ्च प्राणों की गणना की गई है। इस प्रकार क्रमदीपिका में सब मिला कर तेरह ही तत्त्वों का समावेश किया गया है। तेरह संख्या में उतनी विशेषता नहीं है जितनी तन्मात्रों के स्थान में प्राणों का समावेश करने में, क्योंकि जहाँ सांख्यकारिकाओं की प्राचीन संस्कृत टीका के चीनी अनुवाद में लिङ्ग शरीर में १३ तत्त्व माननेवालों का उल्लेख है, वहाँ तन्मात्रों के स्थान में प्राणों का समावेश करने वाले सांख्याचार्यों का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिला है। इस प्रकार यह टीका अन्यों से प्राचीन होने के साथ-साथ विशिष्ट भी कही जा सकती है।

---

१. द्रष्टव्य, क्रमदीपिका पृ० १२४।

२. द्रष्टव्य वही, पृ०-११९।